प्रकाशक :
हर्ष वर्धन जैन
कॉलेज बुक हाउस
चौड़ा रास्ता, जयपुर
फोन : 46098

प्रमुख वितरक :
राज पुस्तक मन्दिर
चौड़ा रास्ता, जयपुर

प्रथम संस्करण
द्वितीय पुनः मुद्रित संस्करण,

मूल्य : 30·00

मुद्रक :
ज्ञानधारा कम्पोजिंग केन्द्र के लिए
भारत-भारती प्रेस, जयपुर द्वारा मुद्रित ।

भूमिका

आज समाजशास्त्र एक अत्यन्त रोचक, व्यवहारोपयोगी एवं प्रतिष्ठा-प्राप्त विषय हो गया है। अपने जन्म से लेकर अब तक समाजशास्त्र की विकास-यात्रा में अनेक नवीन आयाम जुड़ गये हैं। समाजशास्त्र की इस प्रारम्भिक कृति की रचना करने में मेरा उद्देश्य यह रहा है कि समाज-शास्त्र विषय से सर्वथा अपरिचित एवं इस विषय का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को समाजशास्त्रीय अवधारणाओं की सरल-सुबोध भाषा शैली में विधिवत् जानकारी दी जा सके तथा वे इस विषय का सुरुचि-पूर्वक अध्ययन कर सकें। प्रस्तुत पुस्तक की रचना राजस्थान विश्वविद्यालय के नवीनतम निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार की गयी है।

मैं यह कहना उचित एवं यथार्थ-संगत नहीं समझता कि यह पुस्तक एक मौलिक रचना है। इस पुस्तक की विषय-वस्तु एवं कलेवर संदर्भ ग्रन्थों से जुटाया गया है। यह भी सम्भव है कि अनजाने में मैंने किन्हीं लेखकों के विचारों को अपनी भाषा-शैली में अपने ही विचारों की तरह प्रतिपादित कर दिया है।

पुस्तक को अधिकाधिक उपयोगी एवं बोध-गम्य बनाने के लिए यथा-स्थान उपयुक्त एवं सार्थक रेखाचित्र दिये गये हैं एवं विषय-वस्तु के निरूपण में बिन्दुओं एवं नवीनतम जानकारी का समावेश कर दिया गया है और पुस्तक की समस्त विषय-वस्तु को रुचिकर तथा सुग्राह्य बनाने का मेरा प्रयास रहा है।

पुस्तक को और भी अधिक परिष्कृत तथा उपयोगी बनाने के लिए सुधी पाठकों के समीचीन सुझावों की मैं कामना करता हूँ।

मैं अपने प्रकाशक उत्साही श्री हर्षवर्धन जैन प्रोप्राइटर कॉलेज बुक हाउस के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने पुस्तक को सर्वथा शुद्ध एवं आकर्षक रूप में मुद्रित कराकर समय पर प्रकाशित किया है।

एम. एस. त्रिवेदी

Syllabus

Section (A)—1. Sociology—Meaning and Nature, Development of Sociology in India and West.

Section (B)—2. Concepts—Society, Social Structure, Culture, {Institution, Socialization, Stratification, Status and Role, Norms and Values, Group.

3. Types of Society—Urban, Rural and Tribal.

Section (C)—4. Social Change—Concept, Patterns and Factors.

5. Social Control—Concept and Agencie.

पाठ्यक्रम

खण्ड (अ)—1. समाजशास्त्र—अर्थ एवं प्रकृति, भारत एवं पश्चिम में समाजशास्त्र का विकास

खण्ड (ब)—2. अवधारणायें—समाज, सामाजिक संरचना, संस्कृति, संस्था, समाजीकरण, स्तरीकरण, प्रस्थिति एवं भूमिका, प्रतिमान एवं मूल्य, समूह

3. समाज के प्रकार—नगरीय ग्रामीण एवं जनजातीय

खण्ड (स)—4. सामाजिक परिवर्तन—अवधारणा, प्रतिमान एवं कारक

5. सामाजिन नियन्त्रण—अवधारण एवं अभिकरण

अनुक्रमणिका

1

समाजशास्त्र-अर्थ एवं प्रकृति भारत एवं पश्चिम में समाजशास्त्र का विकास

SOCIOLOGY—MEANING AND NATURE DEVELOPMENT OF SOCIOLOGY IN INDIA & WEST

समाजशास्त्र—एक परिचय
समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
समाजशास्त्र का क्षेत्र
समाजशास्त्र की विषय-वस्तु
समाजशास्त्र की प्रकृति
समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
भारत एवं पश्चिम में समाजशास्त्र
का विकास

समाजशास्त्र—एक परिचय
(Sociology—An Introduction)

'**समाजशास्त्र**' (Sociology) के विषय में प्रत्येक व्यक्ति थोड़ा-बहुत पहले से ही जानता है। वह जीवन-भर समाज का एक सदस्य रहा है और उसने लगातार सामाजिक सम्बन्धों का व्यक्तिगत अनुभव किया है। वह जानता है कि उसने पश्चिमी सभ्यता की एक लम्बी परम्परा उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त की है तथा उसके बहुत से विचारों एवं रीति-रिवाजों का प्रादुर्भाव (origin) उन समाजों से हुआ है जो उसके स्वयं के समाज से भी प्राचीन हैं। वह यह भी जानता है कि कुछ मामलों में वह अन्य सभी व्यक्तियों के समान है, कुछ में वह कुछ ही व्यक्तियों के समान है तथा कुछ मामलों में वह किसी के समान न होकर अपनी ही तरह का एक व्यक्ति है। यही समाजशास्त्रीय ज्ञान है—सामाजिक सम्बन्धों में उसका भाग लेना, सामाजिक उत्तराधिकार में उसका सहभागी बनना तथा व्यक्तियों की आपसी विभिन्नताओं एवं समानताओं का उसको ज्ञान होना। ये सब मिलकर उसे अपनी ओर आकर्षित करने वाले विषय (उसको) समाजशास्त्र में अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं।"[1] **डॉन मार्टिनडेल** (Don Martindale) ने लिखा है, "यदि मानव प्रकृति से दार्शनिक (Philosopher) है तो वह स्वभावतः समाजशास्त्री (Sociologist) भी है, क्योंकि सामाजिक जीवन उसका स्वाभाविक उद्देश्य है।"[2]

समाजशास्त्र का औपचारिक शुभारम्भ प्रसिद्ध फ्रांसिस दार्शनिक **ऑगस्त कॉम्ट** (Auguste Comte) ने **1838** में मानव-समाज के अध्ययन के सन्दर्भ में किया। इसीलिए कॉम्ट को **समाजशास्त्र का जनक या पिता** (Father of Sociology) कहा जाता है। वैसे तो समाज एवं मानवीय सम्बन्धों के बारे में अनेक दार्शनिकों एवं विद्वानों ने अतीत में अलग-अलग परिप्रेक्ष्य से विभिन्न विचार समय-समय पर प्रस्तुत किये थे, लेकिन समाज के विभिन्न अंगों एवं मानवीय तथा सामाजिक सम्बन्धों के अनेक प्रतिमानों का विश्लेषणात्मक अध्ययन एक विशिष्ट विषय के रूप में **ऑगस्त कॉम्ट** ने ही प्रारम्भ किया। कॉम्ट की इस परम्परा को **हरबर्ट स्पेन्सर** (Herbert Spencer), **इमाइल दुर्खीम** (Emile Durkheim) तथा **मैक्स वेबर** (Max Weber) जैसे समाजशास्त्रियों ने आगे बढ़ाया। **कार्ल मार्क्स** (Karl Marx) ने भी अपने विचारों से समाजशास्त्रीय जगत् को समृद्ध बनाया।

---

1. **Robert Bierstedt** : The Social Order ; p. 3.
2. **Don Martindale** : The Nature and Types of Sociological Theory ; p. 3.

समाजशास्त्रियों की मध्य की श्रृंखला में अनेक समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र के विकास में अपना योगदान दिया जिनमें **परेटो** (Pareto), **वार्ड** (Ward), **समनर** (Summner), **गिडिंग्स** (Giddings), **स्मॉल** (Small), **वेबलिन** (Veblen) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके बाद की श्रृंखला में **कूले** Cooley), **पार्क** (Park), **थॉमस** (Thomas), **रॉस** (Ross), **सोरोकिन** (Sorokin), **बेकर** (Beker) के नाम रखे जा सकते हैं। आधुनिक समाजशास्त्रियों में **पारसन्स** (Parsons), **मर्टन** (Merton), **डेविस** (Davis), **मील्स** (Mills), **होरोविट्ज़** (Horowitz), **गाउल्डनर** (Gouldner), **शूट्ज** (Schutz), **गार्फिकल** (Garfinkel), **मैनहाइम** (Manhhaim) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र ने विगत शताव्दी में मानव-समाज का वैज्ञानिक अध्ययन कर सामाजिक विज्ञानों में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। वर्तमान में समाजशास्त्र का लक्ष्य समाज में व्याप्त घटनाओं का उनकी व्यावहारिक तथा आनुभविक पृष्ठभूमि में अध्ययन कर उसे सैद्धान्तिक परिपक्वता के ऊँचे स्तर पर पहुँचाना है। समाजशास्त्र के अन्तर्गत प्रत्येक प्रकार के समाज की सामाजिक अन्त:क्रियाओं, प्रक्रियाओं, सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक परिवर्तनों एवं सामाजिक नियन्त्रण आदि का विस्तृत अध्ययन किया जाता है।

समाजशास्त्र की कहानी
(The Story of Sociology)

समाजशास्त्र के संक्षिप्त परिचय के उपरान्त अब हम आपको समाजशास्त्र के जन्म की कहानी सुनाते हैं। समाजशास्त्र के आधुनिक स्वरूप को समझने के लिए हमें उसके विकास की कहानी को समझना अति आवश्यक है, क्योंकि जिन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया-स्वरूप और जिन परिस्थितियों में इसका जन्म हुआ और इसका शैशव-काल बीता, उन्होंने इसके स्वरूप पर अपनी अमिट व स्पष्ट छाप छोड़ दी है। **लियो ब्रेमसन** (Leon Bramson) ने 'द पॉलिटिकल कॅन्टेक्स्ट ऑफ सॉशियालॉजि' में लिखा है, "समाजशास्त्र के विभिन्न लेखकों एवं विचारकों ने अपने समाजशास्त्र का उद्देश्य विभिन्न सामाजिक एवं राजनैतिक दर्शनों के आधार पर समझा है। ये सब दर्शन समाजशास्त्र का अंग बन गये हैं।"[1]

---

1. Leon Bramson : The Political Context of Sociology ; p. 11.

रॉबर्ट बियरस्टेड (Robert Biersted) ने "द सोशॅल ऑर्डर' में समाजशास्त्र की कहानी को समझाते हुए लिखा है—"समाजशास्त्र का अतीत तो बहुत लम्बा है, परन्तु इसका इतिहास संक्षिप्त है। सभ्यता के प्रारम्भ से ही समाज के साथ-साथ वे सभी घटनायें जो मानव के चंचल एवं जिज्ञासु मस्तिष्क को आन्दोलित करती रही हैं, चिन्तन एवं अध्ययन का विषय रही हैं। यह कहना निश्चय ही सही है कि पश्चिम में **प्लेटो** (Plato) का **रिपब्लिक** (Republic) तथा पूर्व में **कन्फ्यूसियस** का **ऐनालेक्टस** (Analects) समाजशास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ हैं। परन्तु समाज का अध्ययन गत एक शताब्दी में ही पृथक् विषय तथा एक पृथक् विज्ञान बन गया है।"[1] इतना ही नहीं, प्रायः सभी युगों की सांस्कृतिक व बौद्धिक परम्पराओं में ऐसे विचार प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं जो समाजशास्त्र की विरासत हैं, लेकिन विभिन्न विवेचकों के विचारों में जिन विचारों ने अन्ततोगत्वा समाजशास्त्र का रूप ग्रहण किया, वे मुख्यतः निम्नलिखित हैं :

(1) विभिन्न समाजों (विशेषकर दूरस्थ समाजों) के वृत्तान्त,

(2) विभिन्न बौद्धिक परम्पराओं में समाज-व्यवस्था की प्रवृत्ति के विषय में दार्शनिक एवं अध्यात्मवादी परिकल्पनायें,

(3) राजनीति, प्रशासन व शासकों के आचरण से सम्बन्धित परिकल्पनायें, एवं

(4) समाजों के विश्लेषणात्मक अन्वेषण के प्रयत्न जो यद्यपि बहुत मात्रा में हुए।[2]

सभी विज्ञान पहले विज्ञानों की महान् जननी **दर्शनशास्त्र** (Philosophy) के एक भाग थे, लेकिन पश्चिमी सभ्यता के विकास के साथ ही विशेषकर नवजाग्रति-काल में ही समाज विज्ञान एक पृथक् विषय के रूप में विकसित हुआ, जबकि अन्य विज्ञान भी दर्शनशास्त्र से पृथक् हुए। दर्शनशास्त्र से अलग होने में **खगोलशास्त्र** (Astronomy) तथा **भौतिक शास्त्र** प्रथम थे। तत्पश्चात् क्रमशः **रसायनशास्त्र**, **प्राणिशास्त्र**, **भूगर्भशास्त्र**, **मनोविज्ञान** तथा **समाजशास्त्र** पृथक् विज्ञान के रूप में विकसित हुए। जो पहले कभी प्राकृतिक दर्शन (Natural Philosophy) था, वह भौतिक विज्ञान (Physical Science) बन गया; जो पहले कभी मानसिक दर्शनशास्त्र (Mental Philosophy) था, वह मनोविज्ञान (Psychology) बन गया तथा तथा जो सामाजिक दर्शनशास्त्र (Social Philosophy) था, वह समाजशास्त्र बन गया। अनेक प्रवृत्तियों तथा तनावों ने जिनमें कुछ बौद्धिक तथा कुछ

---

1. Robert Bierstedt : Op. cit. ; p. 3–4.
2. S.N. Eisentadt & M. Curelaru : The Form of Sociology—Paradigms and Crisis ; p. 1.

नैतिक हैं, मिलकर समाजशास्त्र का निर्माण किया है। उनमें से दो अधिक महत्त्व के हैं जो निम्नलिखित हैं :

(1) प्रथम समाज-कल्याण एवं समाज-सुधार में रुचि तथा

(2) इतिहास के दर्शन (Philosophy of History) में रुचि।

इन दोनों ने मिलकर समाजशास्त्र को किस प्रकार जन्म दिया, यह एक ऐसी रोचक कहानी है जिसका इस प्रारम्भिक पुस्तक में प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। विद्यार्थियों के लिए केवल इतना ही जानना पर्याप्त होगा कि किस प्रकार इन पृथक् एवं विषम वैचारिक तनावों ने मिलकर इस नये विज्ञान को जन्म दिया।[1] **मोरिस जिन्सबर्ग** (Morris Ginsberg) ने भी लिखा है—स्थूल रूप में यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र की चतुर्विध उत्पत्ति राजनीतिक दर्शन, इतिहास का दर्शन, विकास के जैविक सिद्धान्तों तथा सुधार के लिए होने वाले सामाजिक एवं राजनैतिक आन्दोलनों से हुई, जिन्होंने सामाजिक दशाओं का सर्वेक्षण करना आवश्यक समझा।"[2] लेकिन समाजशास्त्र का औपचारिक शुभारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ। इस शताब्दी में प्रसिद्ध फ्रांसिस दार्शनिक एवं विचारक **ऑगस्त कॉम्ट** (Auguste Comte) ने **पोजिटिव फिलॉसॉफि** (*Positive Philosophy*) नामक ग्रन्थमाला में समाज के अध्ययन की एक वैज्ञानिक पद्धति और सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत की। **कॉम्ट** ने प्रारम्भ में ज्ञान की इस नवीन शाखा का नाम **सामाजिक भौतिकी** (Social Physics) रखना चाहा, लेकिन जब कॉम्ट को ज्ञात हुआ कि यह नाम वेल्जियन के सांख्यिकीशास्त्री **अदोल्फ क्वेतलेत** (Adolphe Quetelete) ने चुरा लिया है तो **1938** में उसने लेटिन भाषा (Latin Language) के शब्द **'Socius'** (समाज या साथी) तथा ग्रीक भाषा (Greek Language) के **'Logos'** (वार्त्तालाप, शब्द अथवा विज्ञान) को मिलाकर इसका नया नाम **समाजशास्त्र** (Sociology) रखा।[3] किन्तु दुर्भाग्य से **सॉशियस** एक **लेटिन** शब्द तथा **लोगॉस** एक **ग्रीक या यूनानी** शब्द है। इस प्रकार समाज विज्ञान दो भाषाओं की 'दोगली सन्तान' है। इस कारण उन्नीसवीं शताब्दी के एक अन्य दार्शनिक एवं सामाजिक विचारक **जॉन स्टुअर्ट मिल** (John Stuart Mill) ने इस नये विज्ञान के लिए **आचारशास्त्र** (Ethology) शब्द सुझाया जो यूनानी (Greek) था। परन्तु यह नाम प्रत्यक्ष रूप से अन्य लेखकों को आकर्षित न कर सका।[4] शुरू में **कॉम्ट** ने समाजशास्त्र के इस प्रकार दो भाषाओं की दोगली सन्तान होने पर क्षोभ प्रकट

---

1. Robert Bierstedt : Op. Cit., ; p. 4.
2. Morris Ginsberg : Reason and Unreason in Society ; p. 2.
3. L. A. Coser : Masters of Sociological Thought ; p. 3.
4. Robert Bierstedt : Ob. Cit. ; p. 5.

किया, लेकिन बाद में उसने इसकी उपयोगिता भी बतायी कि यह दो ऐतिहासिक स्रोतों की याद दिलाता है—एक बौद्धिक और दूसरा सामाजिक, जिनसे कि आधुनिक सभ्यता की उत्पत्ति हुई है।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश दार्शनिक व समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने अपनी कृति **सिन्थेटिक फिलॉसफि** (Synthetic Philosophy) के मुख्य समाजशास्त्रीय खण्ड **प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियॉलॉजि** (Principles of Sociology) में समाजशास्त्र नाम को ही पसन्द किया। इसका कारण उन्होंने यह बताया कि "समाजशास्त्र की व्युत्पत्ति चाहे कैसी भी हो, यह अपनी अन्तर्वस्तु के लिए एक अधिक सुझावपूर्ण एवं सुग्राह्य प्रतीक है।"[2] इस प्रकार स्थायी रूप से ज्ञान की इस नवीन शाखा को "समाजशास्त्र" कहा जाने लगा तथा **ऑगस्त कॉम्ट** को **'समाजशास्त्र का जनक या पिता'** (Father of Sociology) माना गया। कॉम्ट ने न केवल समाजशास्त्र का नामकरण ही किया, बल्कि उसने समाजशास्त्र के निश्चित सम्प्रदायों को भी अनुप्राणित किया।[3]

समाजशास्त्र के विकास की कहानी तब तक अधूरी है जब तक हम इसमें ब्रिटिश **हरबर्ट स्पेन्सर**, फ्रांस के **इमाइल दुर्खीम**, जर्मनी के **कार्ल मार्क्स** एवं **मैक्स वेबर** के नामों एवं कार्यों का उल्लेख न करें। इन विद्वानों ने अपने-अपने तरीकों से न केवल समाजशास्त्र की अध्ययन-विधियों को उद्घाटित और अन्तर्वस्तुओं को नियोजित किया, बल्कि समाज की प्रकृति और उसके विकास के नियमों की वे महान् व्यवस्थायें भी प्रतिपादित कीं जिनके द्वारा अब तक का समाजशास्त्र प्रकाशित हो रहा है।

बीसवीं शताब्दी में समाजशास्त्र का अभूतपूर्व एवं द्रुतगति से विकास हुआ। यह विकास सबसे अधिक फ्रांस, जर्मनी एवं संयुक्त राज्य अमेरिका में हुआ। किन्तु यहाँ विकास की अवस्थायें भिन्न-भिन्न रहीं।

समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Sociology)

समाजशास्त्र की एक समुचित परिभाषा देना सहज कार्य नहीं है। विगत सवा सौ वर्षों की ऐतिहासिक यात्रा में समाजशास्त्र के स्वरूप एवं उसके क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए हैं। इस कारण विभिन्न कालों में समाजशास्त्र की परिभाषायें और उसके अध्ययन-क्षेत्र की परिकल्पनायें अलग-अलग रही हैं।

1. T. B. Bottomore : Sociology ; p. 13.
2. Herbert Spencer : Principles of Sociology ; Introduction ; p. 1.
3. Encyclopaedia of Social Sciences : Vol. 13–14 ; p. 236.

समाजशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं एवं उनके निष्कर्षों को प्रस्तुत करने से पहले यह अधिक उपयुक्त होगा कि हम यह समझें कि समाजशास्त्र क्या नहीं है। समाजशास्त्र के सम्बन्ध में लोगों के मस्तिष्क में अनेक प्रकार की भ्रान्तियों का होना पाया जाता है। जनसाधारण या लोगों का सामान्य यह मानना है की समाजशास्त्र एक अत्यन्त सरल (Simple) विषय है। कुछ लोग इसे 'समाजवाद' (Socialism) से भी सम्बन्धित मान लेते हैं। कुछ लोग सोचते हैं कि इसका कार्य 'समाज-सुधार' या 'समाज-कल्याण' (Social welfare) है। कभी-कभी यह भी माना जाता है कि समाजशास्त्र पढ़ने से व्यक्ति अधिक सोशियल (Social) बनता है। कुछ लोग समाजशास्त्र को लड़कियों (Girls) का विषय मानते हैं। लेकिन वस्तुत: ये सब भ्रान्तियां हैं और इनमें कोई सत्यता नहीं है। समाजशास्त्र पढ़ने से न तो व्यक्ति विनम्र होता है और न ही विनयशील व्यवहार समाजशास्त्र की देन है। इसका सम्बन्ध न तो समाज-सुधार व समाज-कल्याण से है और न ही इसको पढ़ने से समाजवाद आने की सम्भावना है।

समाजशास्त्र को परिभाषित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम विभिन्न समाजशास्त्रियों के विचारों एवं उनके द्वारा प्रदत्त परिभाषाओं को प्रस्तुत करें, परन्तु समस्त समाजशास्त्रियों के विचारों एवं उनकी परिभाषाओं को यहाँ प्रस्तुत करना न तो सम्भव है, और न ही यहाँ उपयुक्त ही होगा। अतः हम प्रमुख समाजशास्त्रियों की परिभाषाओं को कुछ श्रेणियों में वर्गीकृत कर रहे हैं। मोटे तौर पर समाजशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं को चार वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता हैं :

1. समाजशास्त्र समाज (मानव-समाज) का वैज्ञानिक अध्ययन है।
2. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है।
3. समाजशास्त्र क्रियाओं एवं अन्त:क्रियाओं का अध्ययन है, एवं
4. समाजशास्त्र समूहों का अध्ययन है।

यहाँ हम उपर्युक्त कोटियों (Categories) की विस्तृत विवेचना कर रहे हैं।

1. समाजशास्त्र समाज (मानव-समाज) का वैज्ञानिक अध्ययन है–
(Sociology is the Scientific Study of Society (Human Society)

अनेक समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को समाज या मानवीय समाज का वैज्ञानिक अध्ययन माना है। ऐसे समाजशास्त्रियों में आंगस्त कॉम्ट एफ. एच. गिडिंग्स (F. H. Giddings), एल. एफ. वार्ड (L. F. Ward), एच. डब्ल्यू. ओडम (H. W. Odum) तथा समकालीन समाजशात्रियों में किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) तथा जी. डंकन मिचेल (G. Duncan Mitchell) के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

ऑगस्त कॉम्ट (Auguste Comte) ने **'समाजशास्त्र'** शब्द को लेटिन एवं ग्रीक शब्दों क्रमशः **'सोशियस'** (Socius) एवं **'लोगोस'** (Logos) को मिलाकर बनाया। इन शब्दों के अर्थ क्रमशः **'समाज'** (Society) एवं **विज्ञान** (Science) भी लगाये जाते हैं। इस प्रकार **समाजशास्त्र की व्युत्पत्तीय परिभाषा** (Etymological Definition) **'समाज का वैज्ञानिक अध्ययन'** (Scientific Study of Society) है।

एफ. एच. गिडिंग्स (F. H. Giddings) के अनुसार समाजशास्त्र समाज का वैज्ञानिक अध्ययन है।[1]

एल. एफ. वार्ड (L. F. Ward) के मत में "समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।"[2]

एच. डब्ल्यू. ओडम (H. W. Odum) का कहना है कि "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।"[3]

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने लिखा है कि "समाजशास्त्र मानवीय समाज का अध्ययन है।"[4]

जी. डंकन मिचेल (G. Duncan Mitchell) के शब्दों में "समाजशास्त्र मानव-समाज के संरचनात्मक पक्षों का विवरणात्मक (Descriptive) एवं विश्लेषणात्मक (Analytical) शास्त्र है।"[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्रियों का एक वर्ग इसे समाज का वैज्ञानिक अध्ययन मानता है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उपयुक्त है कि 'समाज' से आशय यहाँ 'मानवीय समाज (Human Society)' से ही है, पशु-समाज (Animal Society) से नहीं है।

2. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है—
(Sociology is the Study of Social Relationships)

समाजशास्त्रियों का एक दूसरा वर्ग इसे 'सामाजिक सम्बन्धों (Social Relationships)' का अध्ययन मानता है। यहाँ हमें यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि सामाजिक सम्बन्ध समाज (Society) से पृथक् हैं। वस्तुतः सामाजिक सम्बन्धों

---

1. F. H. Giddings: Introductive Sociology; p. 9.
2. L. F. Ward: Popular Science Monthly, June. 1902, p. 113
3. H. W. Odum: Understanding—The Principles of Dynamic Sociology; p. 5
4. Kingsley Davis: Human Society; p. 1
5. G. Duncan Mitchell: Sociology; The Study of Social Systems; p. 5

के बिना समाज की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। केवल अवधारणात्मक भिन्नता के कारण कुछ लोगों ने इसे 'सामाजिक सम्बन्धों का विज्ञान' कहा है।

समाजशास्त्र को 'सामाजिक सम्बन्धों का विज्ञान' मानने वाले समाजशास्त्रियों में मैकाइवर तथा पेज (Maciver & Page), एच. पी. फेयरचाइल्ड, (H. P. Fairchild), जे. एफ. क्यूबर (J. F. Cuber), ब्लेकमार तथा गिलिन (Blackmar & Gillin), ए. डब्ल्यू ग्रीन (A. W. Green), वान वीजे (Von Wiese) तथा आरनोल्ड रोज (Arnold Rose) एवं मैक्स वेबर (Max Weber) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मैकाइवर तथा पेज (Maciver & Page) ने अपनी कृति 'सोसाइटी' में लिखा है कि 'समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के विषय में है और सामाजिक सम्बन्धों के जाल (Network) को हम समाज कहते हैं।"[1] एक अन्य स्थान पर आपने लिखा है—समाजशास्त्र की विषय-सामग्री सामाजिक सम्बन्ध ही हैं।"[2]

एच. पी. फेयरचाइल्ड (H. P. Fairchild) लिखते हैं कि "समाजशास्त्र मनुष्यों और उनके एक दूसरे के प्रति सम्बन्धों में मानव-पर्यावरण का अध्ययन है।"[3]

जे एफ. क्यूबर (J. F. Cuber) लिखते हैं—समाजशास्त्र को मानव-सम्बन्धों के वैज्ञानिक ज्ञान की शाखा के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[4]

ब्लेकमार तथा गिलिन (Blackmar and Gillin) के अनुसार "समाज-शास्त्र मानव-जाति के सम्बन्ध से उत्पन्न समाज की प्रघटनाओं का अध्ययन करता है।"[5]

ए. डब्ल्यू. ग्रीन (A. W. Green) का कहना है—"समाजशास्त्र मनुष्य का उसके समस्त सामाजिक सम्बन्धों का संश्लेषण करने वाला और सामान्यीकरण करने वाला विज्ञान है।"[6]

---

1. Maciver and Page; Society; A Text Book of Sociology, p. Preface.
2. Maciver & Page : Ibid; p. 7
3. H. P. Fairchild : General Sociology; p. 90
4. J. F. Cuber : Sociology; p. 4
5. Blackmar & Gillin : Outlines of Sociology; p. 14
6. A. W. Green : Sociology; An Analysis of Life in Modern Society; p. 1

लियोपाल्ड वॉन विजे (Leopold Von Wiese) ने लिखा है कि "सामाजिक सम्बन्ध ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के एकमात्र वास्तविक आधार हैं।"[1]

जोर्ज सीमल (George Simmel) की परिभाषा है—"समाजशास्त्र मानवीय अन्तःसम्बन्धों के स्वरूपों (Forms) का विज्ञान है।"[2]

ऑरनोल्ड एम. रोज (Arnold M. Rose) के अनुसार "समाजशास्त्र मानव-सम्बन्धों का विज्ञान है।"[3]

मैक्स वेबर (Max Weber) ने अपनी कृतियों में परिभाषित किया है कि "समाजशास्त्र प्रधानतः सामाजिक सम्बन्धों एवं कृत्यों का अध्ययन है।"[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं में समाजशास्त्र को किसी न किसी रूप में सामाजिक सम्बन्धों का विज्ञान बतलाया गया है। कुछ विद्वानों ने सामाजिक सम्बन्धों के विशिष्ट पहलुओं को आधार मानकर समाजशास्त्र को परिभाषित किया है तो कुछ विद्वानों ने सामाजिक सम्बन्धों के व्यापक क्षेत्र को समाजशास्त्र में सम्मिलित किया है। वस्तुतः सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर ही समाज की नींव रखी जाती है। सम्पर्क (Contact), संचार (Communication) एवं अन्तःक्रिया (Inter-action) तथा पारस्परिक जागरूकता (Mutual Awareness) के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों में सम्बन्ध पनपते हैं और इन्हीं के आधार पर समाज का निर्माण होता है। इस प्रकार समाजशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों के वैज्ञानिक अध्ययन से है।

3. समाजशास्त्र क्रियाओं एवं अन्तःक्रियाओं का अध्ययन है—
(Sociology is the Study of Actions and Inter--actions)

समाजशास्त्रियों की तीसरी श्रेणी में उन विद्वानों को रखा जा सकता है जो समाजशास्त्र को क्रियाओं (Actions) या सामाजिक क्रियाओं (Social Actions) या अन्तःक्रियाओं (Inter-actions) के अध्ययन का विज्ञान मानते हैं। इस श्रेणी के प्रमुख समाजशास्त्रियों में **मैक्स वेबर** (Max Weber), **मोरिस जिन्सबर्ग** (Morris Ginsberg), **गिलिन और गिलिन** (Gillin & Gillin) तथा समकालीन समाजशास्त्रियों में **टालकट पारसन्स** (Talcott Parsons) को रखा जा सकता है।

---

1. **Leopold Von Wiese** : Sociology & **Howard Becker**; Systematic Sociology; p. 772
2. **George Simmel**: The Sociology or George Simmel; p. 9
3. **Arnold M. Rose**: The Stuay of Human Relations; p. 3
4. **Max Weber**: Quoted by Alex Inkeles; What is Sociology; p. 15

मेक्स वेबर (Max Weber) ने लिखा है कि "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रिया (Social Action) का विश्लेषणात्मक बोध कराने का प्रयत्न करता है।"[1]

मोरिस जिन्सबर्ग (Morris Ginsberg) कहते हैं "समाजशास्त्र मानवीय अन्तःक्रियाओं (Human Inter-actions) और अन्तःसम्बन्धों, उनकी दशाओं एवं परिणामों का अध्ययन है।"[2]

गिलिन और गिलिन (Gillin & Gillin) के अनुसार "व्यापक अर्थ में समाजशास्त्र व्यक्तियों के एक-दूसरे के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्तः क्रियाओं का अध्ययन कहा जा सकता है।"[3]

टॉलकट पारसन्स (Talcott Parsons) के अनुसार "समाजशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक क्रियाओं के अध्ययन से है।" आपने आगे कहा है कि "अन्तः क्रियाओं (Inter–actions) में सबसे प्राथमिक वस्तु सामाजिक क्रिया (Social Action) है। सामाजिक क्रिया वह क्रिया है जो मनुष्य दूसरों की चेतना को ध्यान में रखकर जान-बूझकर करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रियाओं व अन्तःक्रियाओं का अध्ययन भी समाजशास्त्र करता है।

4. समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का अध्ययन है—
(Sociology is the Study of Social Groups)

कुछ समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र की परिभाषा में 'सामाजिक समूहों' को महत्व दिया है। इनके अनुसार समाजशास्त्र की परिभाषा सामाजिक समूहों के आधार पर की जा सकती है।

इस श्रेणी के समाजशास्त्रियों में हम **हैरी एम. जॉनसन** (Harry M. Johnson) **किम्बाल यंग** (Kimball Young), **नोब्स, हाइन एवं फ्लेमिंग** (Nobbs, Hine and Flemming) को रख सकते हैं।

हैरी एम. जॉनसन (Harry M. Johnson) ने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का विज्ञान है" सामाजिक समूह सामाजिक अन्तःक्रियाओं की ही एक व्यवस्था है।"[4]

---

1. Max Weber: Theory of Social and Economic Organisation; p. 80
2. Morris Ginsberg: Op. cit; p. 9
3. Gillin & Gillin: Cultural Sociology; p. 5
4. Harry M. Johnson: Sociology—A Systematic Introduction; p. 3

जॉनसन का मानना है कि "समाशास्त्र को केवल सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन कह देना पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इससे कोई निष्कर्ष निकाला नहीं जा सकता, अतएव समाजशास्त्र को इससे आगे बढ़कर सामाजिक समूहों का अध्ययन करना चाहिये।" **जॉनसन** के मत में 'सामाजिक समूह' का अर्थ केवल व्यक्तियों के समूह से न होकर व्यक्तियों के मध्य उत्पन्न होने वाली अन्तःक्रियाओं की एक व्यवस्था से है। विभिन्न व्यक्ति जब एक दूसरे के सम्पर्क (Contact) में आते हैं एवं परस्पर संचार (Communication) करते हैं तो अन्तःक्रियायें (Inter-actions) उत्पन्न होती हैं और इन्हीं अन्तःक्रियाओं की गोद में समूह जन्म लेते हैं। **जॉनसन** स्वयं ने एक अन्य स्थान पर लिखा है कि "समाजशास्त्र में व्यक्तियों में हमारी रुचि केवल वहीं तक है, जहाँ तक वे सामाजिक अन्तःक्रियाओं की व्यवस्था में भाग लेते हैं।"[1]

किम्बाल यंग (Kimball Young) ने लिखा है कि "समाजशास्त्र समूहों में मनुष्यों के व्यवहारों का अध्ययन है।"[2]

नोब्स, हाइन तथा फ्लेमिंग (Nobbs, Hine & Flemming) ने लिखा है कि "समाजशास्त्र समूहों में लोगों का वैज्ञानिक और व्यवस्थित अध्ययन है।"[3]

समाजशास्त्र की एक अन्य महत्वपूर्ण परिभाषा **पितृम ए. सोरोकिन** (Pitrim A. Sorokin) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'कन्टम्परेरि सोशियॉलॉजिकल थ्योरीज' में प्रस्तुत की है। आपके अनुसार "**प्रथम**—यह सामाजिक प्रघटनाओं के बीच सम्वन्धों अथवा सह-सम्बन्धों (आर्थिक तथा धार्मिक, पारिवारिक एवं नैतिक व न्यायिक, गतिशीलता एवं राजनीतिक प्रघटनाओं आदि), **द्वितीय**—सामाजिक और असामाजिक (भौगोलिक, प्राणिशास्त्रीय आदि) प्रघटनाओं; **तृतीय**—सामाजिक प्रघटनाओं के समस्त वर्गों के सामान्य व्यापक लक्षणों के अनुशीलन का अध्ययन प्रतीत होता है।"[4]

सोरोकिन की इस परिभाषा में जिन तीन बातों पर मुख्यतः प्रकाश डाला गया है, वे निम्नलिखित हैं—

1. समाजशास्त्र सामाजिक प्रघटनाओं के विभिन्न प्रकारों के मध्य वन्धुता व सह-सम्बन्धों का अध्ययन है।

---

1. **Harry M. Johnson**: Ibid; p. 8
2. **Kimball Young**: An Introductory Sociology; p. 13
3. **J. Nobbes, B. Hine & M. Flemming**: Sociology; p. 1
4. **Pitrim A. Sorokin** : Contemporary Sociological Theories; p. 760—761

2. यह सामाजिक तथा असामाजिक प्रघटनाओं के सह-सम्बन्धों का अध्ययन है, एवं

3. यह समस्त वर्गों की सामाजिक प्रघटनाओं के सामान्य लक्षणों का अध्ययन है।

प्रो. निकोलस एस. टिमाशेफ (N. S. Timasheff) जो समाजशास्त्र के समकालीन विचारक हैं, ने भी अपनी पुस्तक 'सोश्योलोजिकल थ्योरी--इट्स नेचर एण्ड ग्रोथ' में प्रो. सोरोकिन की परिभाषा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्र की अधिकांश महत्वपूर्ण परिभाषाओं को हमने ऊपर तीन वर्गों में विभक्त किया है। संक्षेप में इनको हम निम्नलिखित चार्ट के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

समाजशास्त्र की परिभाषायें
(Definitions of Sociology)

प्रमुख श्रेणियाँ (Major Categories)	प्रमुख समाजशास्त्री (Major Sociologists)
1. समाज (मानव-समाज) का वैज्ञानिक अध्ययन	ऑगस्ट कॉम्ट, गिडिंग्स, वार्ड, ओडम, किंग्सले डेविस एवं डंकन मिचेल
2. सामाजिक सम्बन्धों का वैज्ञानिक अध्ययन	मैकाइवर एवं पेज, फेयरचाइल्ड, क्यूबर, ब्लेकमार एवं गिलिन, ग्रीन, वॉन वीजे, सीमल, रोज एवं मैक्स वेवर ।
3. सामाजिक क्रियाओं एवं अन्तः-क्रियाओं का अध्ययन	मैक्स वेवर, मोरिस जिन्सवर्ग, गिलिन एवं गिलिन एवं टॉलकट पारसन्स
4. सामाजिक समूहों का वैज्ञानिक अध्ययन	हैरी जॉनसन, किम्वाल यंग, नाव्स हाइन एवं फ्लेमिंग

1. N. S. Timasheff : Sociological Theory—Its Nature and Growth; p. 8

उपर्युक्त परिभाषाओं को यदि हम समग्र रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं तो समाजशास्त्र को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि **"समाजशास्त्र समाज (मानवीय समाज), सामाजिक सम्बन्धों, क्रियाओं एवं अन्त:क्रियाओं तथा सामाजिक समूहों का अध्ययन है।"**

किंतु समाजशास्त्र की पारिभाषिक विवेचना तब तक अधूरी है जब तक हम समाजशास्त्र के प्रमुख संस्थापक जनकों (Founding Fathers) के विचारों का उल्लेख न करें। प्रसिद्ध अमेरीकन समाजशास्त्री **एलेक्स इंकेल्स** (Alex Inkeles) ने 1965 में "वॉट इज सोशियोलोजि–एॅन इन्ट्रोडक्शन टू द डिसिप्लिन एण्ड प्रोफेशन' (What is Sociology—An Introduction to the Discipline and Profession) में समाजशास्त्र को एक सर्वथा नये आधार पर परिभाषित करने का प्रयास किया है। यह एक ऐसा समय था जब विभिन्न समाजशास्त्री अपनी-अपनी परिभाषाओं के द्वारा समाजशास्त्र का क्षेत्र निर्धारित करने का राग अलापा करते थे, लेकिन किसी भी समाजशास्त्री के विवेचन को सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता था। ऐसे समय में **एलेक्स इंकेल्स** द्वारा प्रस्तुत विवेचना ने समाजशास्त्रीय परिभाषा के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया। इंकेल्स ने परम्परागत समाजशास्त्रियों या संस्थापक जनकों से लेकर समकालीन समाजशास्त्रियों तक के विचारों के आधार पर समाजशास्त्र को परिभाषित करने का प्रयास किया है।

एलेक्स इंकेल्स ने समाजशास्त्र को परिभाषित करने के जो तीन पथ निर्धारित किये,[1] वे निम्नलिखित हैं—

1. **ऐतिहासिक** (Historical)
2. **आनुभाविक** (Empirical) एवं
3. **विश्लेषणात्मक** (Analytical)

1. ऐतिहासिक (Historical)—

ऐतिहासिक पथ के अन्तर्गत समाजशास्त्र की परिभाषा शास्त्रीय समाजशास्त्रियों (Classical Sociologists) के कार्यों के आधार पर निर्धारित की जा सकती है। इसमें हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि इन शास्त्रीय समाजशास्त्रियों की रचनाओं में विषय-वस्तु का केन्द्र-विन्दु क्या रहा है? इसके लिए एलेक्स इंकेल्स ने एक प्रश्न निर्धारित किया कि 'समाजशास्त्र के संस्थापक जनकों ने इसके बारे में क्या कहा है? इंकेल्स कहते हैं कि समाजशास्त्रियों में इस बात को लेकर भी विवाद है कि संस्थापक जनक किन्हें माना जाये। **पितृम सोरोकिन** ने 1000 व्यक्तियों को आधुनिक समाजशास्त्र के विकास का श्रेय दिया है। **बेकर एवं बार्न्स** (Baker &

---

1. Alex Inkels : What is Sociology ? : An Introduction to the Discipline and Profession ; p. 1

Barnes) ने 1078 पृष्ठों में महत्वपूर्ण समाजशास्त्रियों के विचारों को प्रस्तुत किया है।[1] लेकिन इंकेलस कहते हैं कि अधिकांश समाजशास्त्रियों में इस बात पर मतैक्य है कि **ऑगस्त कॉम्ट, हरबर्ट स्पेन्सर, इमाइल दुर्खीम एवं मैक्स वेबर** के समाजशास्त्रीय विचारों को हम अग्रणी लेखकों या संस्थापक जनकों (Founding Fathers) के विचारों के रूप में स्वीकार करें। इस श्रेणी में **कार्ल मार्क्स** (Karl Marx) को भी रखा जा सकता है। इन संस्थापक जनकों के मूल विचारों को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है—

ऑगस्त कॉम्ट (Auguste Comte)

ऑगस्त कॉम्ट ने ही सर्व-प्रथम 'समाजशास्त्र' शब्द का निर्माण कर **'समाजशास्त्र के पिता'** कहलाने का श्रेय प्राप्त किया। कॉम्ट ने अपना अधिकांश समय समाजशास्त्र को एक पृथक् विषय के रूप में स्थापित करने में लगाया। कॉम्ट का मानना है कि मानवीय मस्तिष्क का बौद्धिक विकास धार्मिक (Theological) तात्विक (Metaphisical) **अवस्था** से गुजरता हुआ **प्रत्यक्षवादिक** (Positivistic) अवस्था तक होता है। उन्होंने समाजशास्त्र को जिन दो प्रमुख भागों में विभाजित कर स्पष्ट किया है, वे निम्नलिखित हैं।

1. सामाजिक स्थिरता (Social Statics) एवं

2. सामाजिक गतिशीलता (Social Dynamics)



ऑगस्त कॉम्ट

जन्म 1798 — मृत्यु 1857

1. समाजशास्त्र के पिता
2. ज्ञान के विकास का तीन स्तरीय सिद्धान्त :
   (A) धार्मिक (B) तात्विक
   (C) वैज्ञानिक
3. समाजशास्त्र के दो रूपों की व्याख्या :
   (A) सामाजिक स्थिरता
   (B) सामाजिक गतिशीलता
4. प्रत्यक्षवाद के जन्मदाता एवं समाजशास्त्र को प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति ही एक विज्ञान के रूप में स्थापित करने के पक्षधर।

कॉम्ट के अनुसार 'सामाजिक स्थिरता समाज में विभिन्न वर्गों की परस्पर क्रियाओं व प्रतिक्रियाओं की खोज से सम्बन्धित है, जबकि सामाजिक गतिशीलता के अन्तर्गत समाज

1. Alex Inkeles : Ibifl : p. 1

के विकास एवं परिवर्तन की प्रक्रिया के अध्ययन पर बल दिया जाता है।'[1]

कॉम्ट को 'प्रत्यक्षवाद (Positivism) का जन्मदाता' भी माना जाता है। प्रत्यक्षवाद का आशय 'वैज्ञानिक' है। कॉम्ट का आग्रह था कि समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में स्थापित करना चाहिये, ताकि प्राकृतिक प्रघटनाओं की भाँति ही सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण किया जा सके। इस प्रकार कॉम्ट ही वह प्रथम समाजशास्त्री माना जा सकता है जिसने समाजशास्त्र का औपचारिक शुभारम्भ किया।

हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) :

ब्रिटिश समाजशास्त्री एवं दार्शनिक 'हरबर्ट स्पेन्सर' एक दूसरे प्रमुख समाजशास्त्री थे जिन्होंने 1877 में 'प्रिन्सिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी' के तीन ग्रन्थों की रचना कर समाजशास्त्र को सुस्पष्ट, उन्नत एवं विस्तृत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। स्पेन्सर ने समाज के क्रमबद्ध अध्ययन का सूत्रपात किया एवं स्पेन्सर के ही प्रयास से इस नूतन विज्ञान का नाम स्थायी रूप से 'समाजशास्त्र' पड़ा।

डार्विन के 'उद्विकासीय सिद्धान्त' से प्रभावित होकर आपने



हरबर्ट स्पेन्सर

जन्म 1820 — मृत्यु 1902

1. प्राणिशास्त्रीय उद्विकास के नियम के आधार पर समाजशास्त्र में 'सामाजिक उद्विकास के नियम' की प्रस्थापना।

2. 'समाज की एक सावयव (जीव) के रूप में' विवेचना।

3. समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का दो भागों में विभाजन :

(A) सामाजिक व राजनैतिक संस्थायें—धर्म, परिवार राजनीति आदि।

(B) संस्थाओं पर अधिकार रखने के लिए नियन्त्रण-व्यवस्था—समितियाँ, समुदाय, स्तरीकरण, सामाजिक विभेदीकरण, श्रम-विभाजन, सामाजिक ज्ञान, विज्ञान आदि।

1. Auguste Comte : The Positive Philosophy of Auguste Comte; p. 457

समाजशास्त्र में 'सामाजिक उद्विकास के नियम' (Law of Social Evolution) की प्रस्थापना की एवं 'समाज की एक सावयव' (जीव) (Society as an organism) के रूप में विवेचना की।

स्पेन्सर ने समाजशास्त्र में परिवार, राजनीति, धर्म, सामाजिक नियन्त्रण, उद्योग-कार्य आदि को सम्मिलित किया। इसके अतिरिक्त स्पेन्सर ने समाजशास्त्र में समितियों, समुदायों, स्तरीकरण, सामाजिक विभेदीकरण, ज्ञान के समाजशास्त्र, विज्ञान के समाजशास्त्र एवं संगीत तथा कला के समाजशास्त्र का भी उल्लेख किया।[1]

मोटे तौर पर हम देखते हैं कि हरबर्ट स्पेन्सर ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु (Subject-matter) को दो भागों में विभाजित किया है।

1. सामाजिक व राजनैतिक संस्थायें, जिनमें परिवार, राजनीति, धर्म आदि को रखा जा सकता है।

2. संस्थाओं पर अधिकार रखने वाली नियन्त्रण-व्यवस्था जिसमें वह समीतियों, समुदायों, श्रम-विभाजन, सामाजिक विभिन्नतायें, स्तरीकरण तथा सामाजिक ज्ञान व विज्ञान को सम्मिलित करता है।[2]

इमाइल दुर्खीम (Emile Durkheim) :

समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र तथा वैषयिक या विषयपरक अथवा



इमाइल दुर्खीम

जन्म	मृत्यु
1858	1917

1. समाजशास्त्र को स्वतन्त्र एवं वैषयिक (Objective) विज्ञान बनाने का सफल प्रयास।

2. 'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियमों की रचना।

3. एक निश्चित वैज्ञानिक व सैद्धान्तिक संरचना के आधार पर अनेक अनुभवात्मक अध्ययनों —विशेषकर श्रम-विभाजन, आत्म-हत्या, धर्म की रचना।

4. समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में निम्नलिखित बिन्दुओं का समावेश :

(A) सामान्य समाजशास्त्र

(B) धर्म का समाजशास्त्र

---

1. **Herbert Spencer** : The Principles of Sociology; Vol. I. p. 437—440
2. **Alex Inkeles** : Op. cit.; p. 5

वस्तुनिष्ठ (Objective) विज्ञान बनाने में फ्रेंच समाजशास्त्री 'इमाइल दुर्खीम' का स्थान बहुत ऊँचा है। दुर्खीम ही वह प्रथम विचारक है जिसने समाजशास्त्र को मनोविज्ञान, इतिहास तथा दर्शनशास्त्र से पृथक् किया। दुर्खीम ने ही **'समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम'** (Rules of Sociological Method) नामक कृति की रचना के आधार पर समाजशास्त्र को विज्ञान बनाने का प्रयास किया। **श्रम-विभाजन** (Division of Labour), **आत्म-हत्या** (Suicide) एवं **धर्म** (Religion) पर किये गये दुर्खीम के आनुभविक अध्ययनों का आज भी कोई विकल्प नहीं है। Annee Sociologique' नामक पत्रिका की स्थापना एवं सम्पादन दुर्खीम ने किया। अपनी उपर्युक्त पत्रिका के एक विशिष्ट अंक में दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में निम्नलिखित उपादानों का समावेश किया—

(C) कानून का समाजशास्त्र
(D) नैतिकता का समाजशास्त्र
(E) राजनीति का समाजशास्त्र
(F) आर्थिक समाजशास्त्र
(G) सामाजिक संगठन
(H) विवाह, परिवार,
(I) अपराध
(J) जनसंख्या
(K) ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय
(L) सौन्दर्य का समाजशास्त्र

"साधारण या सामान्य समाज-शास्त्र, धर्म, कानून, नैतिकता, राजनीति का समाजशास्त्र, सामाजिक संगठन, विवाह, परिवार, अपराध, व्यावसायिक समूह आर्थिक समाजशास्त्र, जनसंख्या, ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय एवं सौन्दर्य का समाजशास्त्र आदि।"

मोटे तौर पर समाजशास्त्र में दुर्खीम के योगदान को तीन बिन्दुओं में रखा जा सकता है :

1. एक सैद्धान्तिक संरचना में विज्ञानवाद एवं समूहवाद (Agelicism) का श्रेष्ठ समन्वय।

2. इस सैद्धान्तिक योजना के अनुसार अनेक आनुभविक (अनुभवात्मक या अनुभूतिमूलक—(Empirical) समस्याओं का अन्वेषण एवं विश्लेषण।

3. समाजशास्त्र की विषय-वस्तु (Subject-Matter) का निर्धारण।

मैक्स वेबर (Max Weber) :

जर्मन समाजशास्त्री 'मैक्स वेबर' ने भी समाजशास्त्र के विकास में सराहनीय कार्य किया है। मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र में **'वेरस्टेहेन'** (Verstehen) पद्धति को प्रस्तुत

किया। समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए वेवर ने लिखा है कि "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो कि 'सामाजिक क्रिया' (Social Action) का निर्वचनात्मक वोध (Interpretative understanding) करने का प्रयत्न करता है, जिससे कि इसकी (सामाजिक क्रिया की) गतिविधियों तथा परिणामों की कारण-सहित व्याख्या प्रस्तुत की जा सके।"[1]

मैक्स वेवर ने सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method) तथा मूल्यांकनात्मक निर्णय-पद्धति (Value-Judgement Method) में अन्तर किया है तथा इस वात पर वल दिया कि मानवीय सम्वन्धों के अध्ययन में इन दोनों को कभी मिलने नहीं देना चाहिये। वेवर ने आदर्श-प्रारूप (Ideal Type) की अवधारणा को भी प्रस्तुत किया। आदर्श प्रारूप से आशय है कुछ वास्तविक तथ्यों के तर्क-संगत आधार पर यथार्थ अवधारणाओं का निर्माण करना।

मैक्स वेवर ने सामाजिक क्रिया के अतिरिक्त सामाजिक वर्ग एवं स्थिति, सत्ता (Authority), कर्मचारी तन्त्र (Bureaucracy), सामाजिक संगठन, श्रम-विभाजन, धर्म का समाजशास्त्र, आर्थिक जीवन के विभिन्न अंग आदि पर विस्तृत अध्ययन-कार्य प्रस्तुत किया।[2]



मैक्स वेवर

जन्म 1864 — मृत्यु 1920

1. समाजशास्त्र में वेरेस्टेहेन (Verstehen) पद्धति की स्थापना।

2. समाजशास्त्र सामाजिक क्रिया (Social Action) का अध्ययन करता है।

3. आदर्श--प्रारूप (Ideal Type) की अवधारणा की स्थापना।

4. समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में निम्नलिखित विषयों का समावेश :

(A) धर्म का समाजशास्त्र

(B) राजनीति 'सत्ता, दल, कर्मचारी तन्त्र आदि)

(C) सामाजिक संगठन

(D) श्रम-विभाजन

(E) सामाजिक वर्ग एवं स्थिति

(F) आर्थिक जीवन के विभिन्न अंग

(G) कला, संगीत का समाजशास्त्र

---

1. Max Weber : Theory of Social and Economic Organisaton ; p. 80
2. Max Weber : Ibid; p. 115

इस प्रकार वेवर ने वहुत व्यापक रूप से समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की विवेचना की एवं यह प्रयास किया कि सामाजिक घटनाओं के अध्ययन में एक वैज्ञानिक मानदण्ड रखा जाये ।

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) :

यद्यपि अनेक विद्वान मार्क्स को एक प्रमुख समाजशास्त्री के रूप में स्वीकार नहीं करते, किन्तु समाजशास्त्र के अधिकांश अध्येताओं की यह मान्यता रही है कि कार्ल मार्क्स भी एक प्रमुख एवं अग्रणी समाजशास्त्री रहे हैं । मार्क्स ने अनेक पुराने विचारों को विशद एवं व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया और उनको सर्वथा नवीन, यथार्थ एवं प्रभावकारी दृष्टिकोण प्रदान किया । मार्क्स को आधुनिक एवं वैज्ञानिक साम्यवाद के जन्मदाता के रूप में जाना जाता है । मार्क्स ने **'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद'** (Dialectical Materialism), **ऐतिहासिक भौतिकवाद** (Historical Materialism), **वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष** (Class and Class-Conflict) तथा **सामाजिक परिवर्तन** (Social Change) के सिद्धान्तों का निरूपण कर समाजशास्त्र एवं सामान्य जगत् में प्रचलित विचारों को एक सर्वथा नवीन दिशा प्रदान की । मार्क्स ने 'मानवीय चिन्तन की प्रत्येक विचारधारा व मानवीय अनुभूति को एक नये साँचे में ढ़ाला, उनकी आलोचना की, मजदूर वर्ग के आन्दोलनों की कसौटी पर उनको परखा और ऐसे निष्कर्ष निकाले जो पूँजीवादी अन्धविश्वासों में जकड़े हुए विचारक नहीं निकाल सकते थे ।



कार्ल मार्क्स

जन्म	मृत्यु
1818	1883

1. आधुनिक एवं वैज्ञानिक साम्यवाद के जन्मदाता ।

2. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, ऐतिहासिक भौतिकवाद, वर्ग एवं वर्ग-संघर्ष, सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों की व्याख्या ।

3. कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' (Communist Manifesto) अर्थात् साम्यवादी नीति-घोषणा एवं पूँजी (Capital) जैसे ग्रन्थों का निर्माण ।

इस प्रकार उपर्युक्त समस्त समाजशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से समाजशास्त्र की व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं । लेकिन फिर भी इन समाजशास्त्रियों या संस्थापक जनकों

की व्याख्याओं में अनेक समानतायें पायी जाती हैं। **प्रथम**—इन सभी समाजशास्त्रियों का मानना है कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत परिवार (Family) से लेकर राज्य (State) तक की समस्त सामाजिक संस्थाओं का अध्ययन किया जाना चाहिये। **द्वितीय**—इन समाजशात्रियों के अनुसार विभिन्न संस्थाओं के परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन भी समाजशास्त्र में किया जाना चाहिए। **तृतीय**—समाजशास्त्र में सामाजिक क्रियाओं एवं सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन उनके संस्थात्मक परिप्रेक्ष्य के विना भी किया जा सकता है एवं **चतुर्थ**—समाजशास्त्र में यह भी अध्ययन किया जाना चाहिये कि विभिन्न समाज समान अथवा भिन्न क्यों हैं ?

2. **आनुभविक** (Empirical)

आनुभविक पथ के अन्तर्गत इंकेल्स के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि आधुनिक समाजशास्त्री क्या कर रहे हैं (What are sociologists doing) ? और इस प्रश्न का हल जानने के लिए इंकेल्स ने तीन उपायों पर कार्य किया—

(A) समाजशास्त्र की विभिन्न पाठ्य पुस्तकों (Text books) की विषय-सूचियों का अवलोकन किया जाये और पता लगाया जाये कि किन विषयों का उनमें समावेश किया गया है।

(B) निवर्तमान या समकालीन समाजशास्त्री समाजशास्त्र की किन-किन शाखाओं या उपशाखाओं के अध्ययन में रुचि रखते हैं, एवं

(C) समाजशास्त्री आजकल किस प्रकार के अनुसंधान में लगे हुए हैं।

इंकेल्स ने उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने के लिए लगभग 24 पाठ्य पुस्तकों का अवलोकन किया तथा 'अमेरिकन सोश्योलॉजिकल ऍसोसियेशन' के सदस्यों से उनकी रुचि के क्षेत्र माँगे एवं अमेरिकन सोशियोलॉजिकल' रिव्यू' के पिछले अंकों का सर्वेक्षण किया। इस आधार पर उन्होंने पता लगाया कि समाजशास्त्र में वैज्ञानिक विधि, समाज में व्यक्तित्व, संस्कृति, मानव-समूह, जनसख्या, जाति और वर्ग, प्रजाति, सामाजिक परिवर्तन, आर्थिक संस्थायें, परिवार, शिक्षा और धर्म आदि वारह ऐसे विषय हैं जो सामान्य रूप से सभी पाठ्य पुस्तकों में पाये जाते हैं। अधिकांश समाजशास्त्रियों ने भी इन्हीं क्षेत्रों में अपनी रुचि दिखाई जबकि कुछ ने राजनैतिक, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध तथा युद्ध एवं स्तरीकरण के अध्ययन की विशेषतायें वतायीं। अनुसन्धान के विषय भी पाठ्य पुस्तकों में पाये गये विषय ही हैं, जबकि कुछ समाजशास्त्री विभिन्नीकरण, स्तरीकरण, सामाजिक नियन्त्रण एवं वैज्ञानिक विधि आदि पर अनुसन्धान कर रहे हैं।

3. **विश्लेषणात्मक** (Analytical)

इंकेल्स के अनुसार विश्लेषणात्मक पथ के अन्तर्गत हमें यह देखना होगा कि तर्क द्वारा किन विषयों का समाजशास्त्र के अन्तर्गत समावेश किया जा सकता

है जिससे कि विभिन्न विषयों की विषय-वस्तुओं का स्पष्ट निरूपण किया जा सके। इस प्रकार समाजशास्त्र की तर्क के आधार पर जो परिभाषा होगी, उसमें हमें यह देखना होगा कि समाजशास्त्र एक स्पष्ट, बोधगम्य एवं अभिज्ञेय (Recognizable) शास्त्र होना चाहिए।

प्रत्येक सामाजिक विज्ञान की अपनी निश्चित सीमायें होती हैं। यदि हम इन विज्ञानों की सीमाओं की अन्तर्वस्तु का विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि कुछ विषय ऐसे हैं जिनका अध्ययन अभी पर्याप्त रूप से नहीं हुआ तथा इन विषयों का अध्ययन होना चाहिये। इन विषयों में परिवार, अपराध, सामाजिक वर्ग, नृ-जातीय समूह (Ethnic Group), प्रजातीय समूह (Racial Group) तथा शहरी व ग्रामीण समुदाय आते हैं। तर्क के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन विषयों का अध्ययन अन्य विज्ञानों में नहीं किया जाता है और ये विषय अछूते रहे हैं। समाजशास्त्र को इनका अध्ययन करना चाहिये। यदि इस तर्क को स्वीकार करते हैं तो समाजशास्त्र सामाजिक विज्ञानों की अवशिष्ट कोटि (Residual category) के अध्ययन का विज्ञान होगा।[1]

उपर्युक्त विवेचन के बाद **एलेक्स इंकेल्स** (Alex Inkeles) निष्कर्ष निकालते हैं कि समाजशास्त्र की परिभाषा में तीन बातों को सम्मिलित किया जाना चाहिये जो निम्नलिखित हैं—

1. समाजशास्त्र समाज का अध्ययन है।
   (Sociology is the Study of Society)
2. समाजशास्त्र संस्थाओं का अध्ययन है, एवं
   (Sociology is the Study of Institutions)
3. समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन है।
   (Sociology is the Study of Social Relationships)

किन्तु समाजशास्त्र की यह कोई सर्व-मान्य परिभाषा हो, ऐसा नहीं है। समकालीन समाजशास्त्र में ऐसे अनेक विषयों को सम्मिलित किया गया है जो परम्परागत रूप से समाजशास्त्र में सम्मिलित नहीं किये गये हैं। स्वयं **सोरोकिन** (Sorokin) ने लिखा है कि "समाजशास्त्र के नाम पर जिन विषयों का अध्ययन होता रहा है, वे विषय समाजशास्त्र की परिभाषाओं में इंगित विषयों से भिन्न हैं। यदि हम समाजशास्त्रियों की परिभाषाओं को स्वीकार कर लें तो आधुनिक समाज-शास्त्र के बहुत से विषयों को हमें समाजशास्त्र से निकाल देना होगा। जो कुछ शेष बचेगा, वह इतना महत्त्वपूर्ण न होगा कि उसे समाजशास्त्र का नाम दिया जा सके।"[2]

---

1. Alex Inkeles : Op. cit.; p. 13
2. P. Sorokin : Op. cit.; p. 760

वीसवीं शताब्दी के समाजशास्त्र पर टिप्पणी करते हुए हंटिंगटन केरन्स ने लिखा है कि "जब तक समाजशास्त्री स्वयं यह परिभाषित न करें कि उनके अध्ययन का विषय क्या है, यह कहना उचित होगा कि अपने को समाजशास्त्री कहने वाले लोग जिस विषय पर लिखते हैं, वही समाजशास्त्र का विषय है।"[1]

समाजशास्त्र का क्षेत्र
(Scope of Sociology)

क्षेत्र (Scope) से तात्पर्य उन सम्भावित सीमाओं से है जिनके अन्तर्गत किसी विषय का अध्ययन किया जा सकता है। समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र को सीमावद्ध करना सरल कार्य नहीं है। इसका प्रमुख कारण यह है कि समाजशास्त्र के सम्पूर्ण विकास-काल में समाजशास्त्र के स्वरूप एवं उसके क्षेत्र में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है। फलस्वरूप विभिन्न कालों में समाजशास्त्र की परिभाषायें एवं उसके अध्ययन-क्षेत्र की परिकल्पनायें भिन्न-भिन्न रही हैं और जिस समाजशास्त्री ने समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र की जो सीमायें या विस्तार देखा, उसी के अनुरूप उसने समाजशास्त्र को परिभाषित किया। समाजशास्त्र की इस अनिश्चितता के विषय में वी. एफ. कालवर्टन (V. F. Calberton) ने 'दि मेकिङ्ग ऑफ सोसाइटी' में लिखा है चूँकि समाजशास्त्र इतना लचीला विज्ञान है कि यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि इसकी सीमायें कहाँ से प्रारम्भ होती हैं और कहाँ समाप्त होती हैं, कहाँ समाजशास्त्र सामाजिक मनोविज्ञान वन जाता है और कहाँ समाज मनोविज्ञान समाजशास्त्र वन जाता है अथवा कहाँ आर्थिक सिद्धान्त समाजशास्त्रीय सिद्धान्त वन जाता है, अथवा कहाँ जैविकीय सिद्धान्त समाजशास्त्रीय सिद्धान्त वन जाता है।"[2]

मोटे तौर पर यह स्वीकार किया गया है कि समाजशास्त्र के क्षेत्र को व्यापक रूप से दो श्रेणियों में रखा जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं—

1. स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टात्मक सम्प्रदाय
   (Formal or Specialistic or Particularistic School)
2. समन्वयात्मक या संश्लेषणात्मक सम्प्रदाय
   (Synthetic School)

1. Huntington Airense : Quoted by Gorvitch & others, Twentieth Century Sociology; p. 4
2. V. F. Calberton : The Making of Society; p. 8

यहाँ हम इन दोनों सम्प्रदायों की एवं इन सम्प्रदायों के समर्थक समाजशास्त्रियों की विस्तार से विवेचना करेंगे। समाजशास्त्र के स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के समर्थक समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धों के **स्वरूपों** (Forms) का अध्ययन मानते हैं जबकि समन्वयात्मक सम्प्रदाय के पक्षधर इसे एक सामान्य अध्ययन (General Study) मानते हैं।

1. स्वरूपात्मक अथवा विशिष्टात्मक सम्प्रदाय :
(Formal School)

समाजशास्त्र के स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के समर्थक समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान (Specific Science) मानते हैं एवं इसे सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों (Forms) के अध्ययन तक सीमित करते हैं।

इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक जर्मन समाजशास्त्री **जॉर्ज सीमल** (George Simmel) थे। इनका मानना था कि जिस प्रकार हम रेखागणित में वस्तु से भिन्न केवल आवृतियों (त्रिकोण, वृत्त आदि) का अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार हमें समाजशास्त्र में इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति के प्रत्यक्ष या वास्तविक व्यवहारों का अध्ययन नहीं करना चाहिये, वरन् सामाजिक व्यवहारों के स्वरूपों (Forms) का अध्ययन करना समाजशास्त्र का अध्ययन-विषय होना चाहिये।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थकों में जॉर्ज सीमल के अतिरिक्त **वीरकान्त** (Vierkandt), **लियोपाल्ड वॉन विजे** (Leopold Von Wiese), **मैक्स वेबर** (Max Weber), **फर्डिनाण्ड टॉनिज** (F. Tonnis) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जॉर्ज सीमल के विचार (Views of George Simmel) :

जर्मन समाजशास्त्री 'जॉर्ज सीमल' ने समाजशास्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है—"समाजशास्त्र मानव-अन्तःसम्बन्धों के स्वरूपों का विज्ञान है।"[1] सीमल का मानना था कि समाज केवल मनुष्यों का समूह नहीं है, बल्कि समाज मनुष्यों तथा उनकी अन्तःक्रियाओं में निहित होता है। इन्हीं अन्तःक्रियाओं के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन करना समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की विशेषता है। इस प्रकार सीमल का कहना है कि समाजशास्त्र में केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का ही अध्ययन किया जाना चाहिय, न कि उनकी अन्तर्वस्तु (Content) का। सीमल 'स्वरूप' एवं अन्तर्वस्तु' में भेद करते हैं। सीमल के अनुसार किसी भी वस्तु का एक वाह्य (Outer) रूप होता है तथा दूसरा उसका आन्तरिक (Inner) रूप। वाह्य रूप को वस्तु का स्वरूप (Form) कहा जाता है तथा आन्तरिक रूप को

---

1. George Simmel : (Trams): The Sociology of George Simmel Gleancoe III, 1950

उसकी अन्तर्वस्तु (Content) कहा जाता है। उदाहरण के लिए एक बोतल को ले लीजिये। बोतल टिन, प्लास्टिक या शीशे की बनी हो सकती है। उसकी लम्बाई-चौड़ाई, गहराई इत्यादि नापकर उसके स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है। लेकिन बोतल के अन्दर की वस्तु पानी, दूध या शराब इत्यादि कुछ भी हो सकती है। बोतल के स्वरूप का न तो उसके अन्दर की वस्तु पर कोई प्रभाव पड़ता है और न ही बोतल का स्वरूप उसके अन्दर की वस्तु से प्रभावित होता है। दोनों ही एक दूसरे से अप्रभावित रहते हैं। सीमल का तर्क है कि स्वरूप और अन्तर्वस्तु के इस भेद को सामाजिक सम्बन्धों में भी लागू किया जा सकता है। सामाजिक सम्बन्धों में भी हम 'स्वरूप एवं अन्तर्वस्तु के भेद को प्रयोग में ला सकते हैं। उदाहरण के लिए **प्रतिस्पर्धा** (Competition), **संघर्ष** (Conflict), **सहयोग** (Co-operation), **प्रभुत्व** (Domination), **श्रम-विभाजन** (Division of Labour), **सम्पर्क** (Contact), **विरोध** (Opposition) आदि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप हैं।

इस प्रकार सीमल के अनुसार समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान के रूप में केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों के अध्ययन तक स्वयं को सीमित रखना चाहिये, न कि अन्तर्वस्तु का अध्ययन करना चाहिये।

वीरकान्त के विचार (Views of Vierkandt) :

एक अन्य जर्मन विचारक **एल्फ्रेड वीरकान्त** ने भी जॉर्ज सीमल के विचारों का समर्थन किया है। वीरकान्त भी समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाने के पक्षधर हैं। **वीरकान्त** के अनुसार "समाजशास्त्र उन मानसिक सम्बन्धों के अन्तिम स्वरूप का अध्ययन है जो कि मनुष्यों को एक दूसरे से बाँधते हैं।"[1] **वीरकान्त** का मानना है कि मानसिक तत्त्व ही सामाजिक सम्बन्धों के मूल में हैं। आपके अनुसार **प्रीति, प्रेम, द्वेष, करुणा, सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष** आदि ऐसे मूल मानसिक तत्त्व हैं जो मनुष्यों को एक दूसरे के साथ विविध प्रकार के सम्बन्ध विकसित करने की प्रेरणा देते हैं। उदाहरणार्थ 'प्रेम' के आधार पर ही 'परिवार' (Family) की सृष्टि होती है। वीरकान्त का मानना है कि समाजशास्त्र एक स्वतन्त्र एवं पृथक् विज्ञान का रूप तभी प्राप्त कर सकता है जबकि वह अमूर्त सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन तक स्वयं को सीमित करे।

लियोपॉल्ड वॉन विजे के विचार (Views of Leopold Von Wiese) .

लियोपॉल्ड वॉन विजे के अनुसार "समाजशास्त्र एक विशिष्ट सामाजिक विज्ञान है जो मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करता है और यही उसका विशिष्ट क्षेत्र है। वॉन विजे ने व्यक्तियों तथा समाजों में पाये जाने वाले सम्बन्धों

1. **Alfred Vierkandt** : *Gesellschaftsihere, Quoted by Morris Ginsberg : Sociology.*

के स्वरूपों में भेद किया है। प्रत्येक प्रकार के सम्बन्धों को अनेक श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। वॉन विज़े के अनुसार व्यक्तियों के मध्य के सम्बन्धों के तीन प्रमुख स्वरूप हो सकते हैं।[1]

(i) एक दूसरे के प्रति (ii) एक दूसरे से परे एवं (iii) मिले-जुले।

समाजों एवं समूहों के मध्य पाये जाने वाले सम्बन्धों के मुख्य रूप से चार स्वरूप हो सकते हैं—

(i) विभेदीकृत (ii) साम्यवादी (iii) विनाशकारी एवं (iv) रचनात्मक।

इन श्रेणियों को हम अनेक उप-श्रेणियों में बाँट सकते हैं और इस प्रकार सामाजिक प्रक्रियाओं के 650 स्वरूपों का अध्ययन किया जा सकता है।

मैक्स वेबर के विचार (Views of Max Weber) :

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के समर्थकों में 'मैक्स वेबर' (Max Weber) का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। वेबर ने भी समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान माना है। वेबर के अनुसार "समाजशास्त्र सामाजिकक्रियाओं (Social Actions) का अध्ययन करता है।" सामाजिक क्रियायें व्यवहारों से पैदा होती हैं। अतः वेबर के अनुसार समाजशास्त्र में सामाजिक व्यवहारों का अध्ययन किया जाना चाहिये। वेबर के अनुसार समस्त प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध सामाजिक व्यवहार नहीं होते। सामाजिक व्यवहारों से अभिप्राय उन व्यवहारों से है जो व्यवहार करने वाले की इच्छा से किसी अन्य के व्यवहार से सम्बन्धित होते हैं तथा उसी से उनका निर्धारण होता है। व्यवहार के इसी रूप को सामाजिक क्रिया कहते हैं। मैक्स वेबर के अनुसार समाजशास्त्र के अनुभवात्मक नियमों का निर्माण सामाजिक क्रियाओं की विस्तृत व्याख्या एवं विश्लेषण से ही सम्भव है।[2]

फर्डिनाण्ड टॉनिज के विचार (Vilws of F. Tonnis)—

फर्डिनाण्ड टॉनिज के अनुसार किसी भी समाज अथवा उसमें पाये जाने वाले सामाजिक सम्बन्धों के दो प्रमुख स्वरूप होते हैं :

1. समाज की विशेषताओं वाले स्वरूप (Gessellschaft)
2. समुदाय की विशेषताओं वाले स्वरूप (Gemeinschaft)

टॉनिज के अनुसार समाजशास्त्र का उद्देश्य इन्हीं दो स्वरूपों का अध्ययन करना है।[3]

---

1. Leopold Von Wiese : Quoted from J. Milton Singer : An Introduction to the History of Sociology; p. 376
2. Max Weber : Op. cit.; p. 80
3. P. N. Sorokin : Contemporary Sociological Theories; p. 497

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के समर्थकों में उपर्युक्त विचारों के अतिरिक्त **क्लिसटीन बॉगल** (Celestian Bougle), **रॉस** (E. A. Ross), **पार्क एवं बर्गेस** (Park & Burgess) आदि के नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार इन सभी विद्वानों का मत है कि "**समाजशास्त्र एक विशिष्ट विज्ञान** (Specific Science) **है तथा इसका विशिष्ट क्षेत्र सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों** (Forms) **तक ही सीमित है जो अन्य सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्रों से पृथक् एवं भिन्न है।**"

आलोचना (Criticism) :

समाजशास्त्र के क्षेत्र का स्वरूपात्मक सम्प्रदाय यद्यपि एक विशिष्ट दृष्टिकोण से समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बनाने का प्रयास करता है, तथापि इस सम्प्रदाय पर अस्पष्टता, अनिश्चितता एवं परिवर्तनशीलता तथा अनुमान पर आधारित होने के आक्षेप लगाये जाते हैं। इस दृष्टि से यह अभी भी दार्शनिक या काल्पनिक समाजशास्त्र की स्थिति में है।"[1] **जे. एच. फीचर** (J. H. Fitcher) ने भी लिखा है कि "इन्हें समाजशास्त्री नहीं कहकर सामाजिक दार्शनिक कहना ठीक होगा, क्योंकि इन्होंने सामाजिक जीवन की व्यावहारिक प्रवृत्ति को समझने का प्रयास नहीं किया।"[1] *यही कारण है कि अनेक समाजशास्त्रियों ने इस सम्प्रदाय की आलोचनायें* की हैं जिनमें से प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं—

1. समाजशास्त्र को केवल **स्वरूपों** (Forms) के अध्ययन तक ही सीमित कर देने से इसका विषय–क्षेत्र सीमित हो जाता है, जबकि वस्तुतः समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र को किसी विशेष पक्ष के अध्ययन तक सीमित नहीं किया जा सकता।

2. **पी. ए. सोरोकिन** ने लिखा है कि "स्वरूपों का अध्ययन अन्य विज्ञानों द्वारा भी किया जाता है, अतः समाजशास्त्र के लिए मानवीय सम्बन्धों के स्वरूपों का विज्ञान के रूप में कोई स्थान नहीं है।"[2] उदाहरण के लिए विधि विज्ञान के अन्तर्गत युद्ध, विरोध, समझौता, सम्पर्क, संघर्ष आदि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन किया जाता है।

3. **एफ. जे. राइट** (F. J. Wright) का कहना है कि सामाजिक जीवन की वास्तविकता से दूर हटकर सामाजिक सम्बन्धों का अर्थ समझना कठिन तथा अपूर्ण होगा। सामाजिक सम्बन्धों के केवल अमूर्त स्वरूपों का अध्ययन करके ही समाजशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है।"[3]

---

1. **J. H. Fitcher** : Sociology ; p. 1
2. **P. A. Sorokin** : Op. cit. : p. 497.
3. **F. J. Wright** : The Elements of Sociology : p. 27.

4. इस सम्प्रदाय में सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों को उनकी अन्तर्वस्तुओं से भिन्न माना गया है। परन्तु क्या ऐसा सम्भव है? **पी. ए. सोरोकिन** (P. A. Sorokin) ने लिखा है कि "हम एक गिलास को शराब, जल या चीनी के बिना उसके स्वरूप को परिवर्तित किये हुए भर सकते हैं, परन्तु मैं एक सामाजिक संस्था के विषय में कल्पना भी नहीं कर सकता कि उसके सदस्यों के परिवर्तित होने पर उसका स्वरूप परिवर्तित न हो।"[1]

5. स्वरूपात्मक समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को एक परिशुद्ध एवं स्वतन्त्र विज्ञान मान लिया है, परन्तु एक पूर्ण स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की कल्पना यथार्थ धरातल से कोसों दूर है। **सोरोकिन** ने ही लिखा है कि "शायद ही ऐसा कोई विज्ञान हो जो कि अन्य विज्ञानों से किसी न किसी रूप में सम्बन्ध न रखता हो।"[2]

6. स्वरूपात्मक समाजशास्त्रियों ने अनेक अमूर्त श्रेणियों की रचना की है जिनके आधार पर कोई वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है। **जी. डंकन मिचेल** (G. Duncan Mitchell) ने लिखा है कि "वे (स्वरूपवादी) समाज का एक विज्ञान स्थापित करने में पूरी तरह असफल रहे हैं।"[3]

7. स्वरूपात्मक समाजशास्त्रियों ने कुछ भ्रमात्मक निष्कर्ष (Erroneous Conclusions) प्रस्तुत किये हैं। एक स्थान पर **जॉर्ज सीमल** ने लिखा है कि "समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप हैं तो एक अन्य स्थान पर उन्होंने यह लिखा है कि 'समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र समाजीकरण के स्वरूप हैं।" ज्ञातव्य है कि मानव-सम्बन्धों के स्वरूपों के अन्तर्गत समाजीकरण तथा असमाजीकरण दोनों ही आते हैं।

8. **पी. ए. सोरोकिन** ने एक अन्य पुस्तक में लिखा है कि "स्वरूपवादियों ने जो श्रेणियाँ विकसित की हैं, उनका अवलोकन करने से यह स्पष्ट नहीं होता कि उनमें से कौनसी प्रक्रियायें स्थायी एवं सार्वभौमिक हैं अर्थात् जो सभी सामाजिक समूहों में पायी जायें तथा कौनसी प्रक्रियायें विशेषतः अस्थायी हैं अर्थात् जो कुछ कालों व कुछ समूहों में पायी जाती हैं।"[4]

9. स्वरूपात्मक समाजशास्त्रियों ने मूलतः अन्तःसमूह के सम्बन्धों में पाये जाने वाले संघर्षों के अध्ययन करने पर ही अधिक बल दिया है।

---

1. **P. A. Sorokin** : Elements of Sociology ; p. 291.
2. **P. A. Sorokin** : Op. cit. ; p. 495.
3. **G. Duncan Mitchell** : Dictionary of Sociology, 1968.
4. **P. A. Sorokin** : Society, Culture and Personality : Their Structure and Dynamics ; p. 29.

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की मान्यतायें पूरी तरह सही नहीं हैं। **पी. ए. सोरोकिन** का कहना है कि "यदि इस सम्प्रदाय की मान्यतायें स्वीकार कर ली जाती हैं तो समाजशास्त्र एक मृतप्राय विज्ञान होता है जिसमें मानव-सम्बन्धों की एक सूची मात्र रह जाती है।"[1]

2. समन्वयात्मक या संश्लेषणात्मक सम्प्रदाय :
(Synthetic School)

समाजशास्त्र के क्षेत्र के समन्वयात्मक या संश्लेषणात्मक सम्प्रदाय के समर्थकों का मानना है कि समाजशास्त्र एक पृथक् विशेष विज्ञान (Specific Science) न होकर एक 'सामान्य विज्ञान' (General Science) है। समाजशास्त्र का प्रमुख कार्य सामाजिक जीवन की सामान्य दशाओं का अध्ययन करना है, न कि सामाजिक सम्बन्धों के विशिष्ट स्वरूपों का अध्ययन करना। समन्वयात्मक सम्प्रदाय के समर्थकों में **ऑगस्त कॉम्ट** (Auguste Comte), **हरबर्ट स्पेन्सर** (Herbert Spencer), **इमाइल दुर्खीम** (Emile Durkheim), **एल. टी. हॉबहाउस** (L. T. Hobhouse), **मोरिस जिन्सबर्ग** (Morris Ginsberg), **डब्ल्यू. एच. ऑडम** (W. H. Odum), **पी. ए. सोरोकिन** (P. A. Sorokin), **एफ. एच. गिडिंग्स** (F. H. Giddings), **गमप्लोविज** (Gumplowich) एवं **हैरी जॉनसन** (Harri Johnson) के नाम लिये जा सकते हैं।

ऑगस्त कॉम्ट के विचार (Views of Auguste Comte) :

कॉम्ट ने ही समाजशास्त्र की स्थापना की और चूँकि वे किसी विषय के अध्यापक नहीं थे और शिक्षा-जगत् के विभिन्न सामाजिक शास्त्रों के अनुशासन से स्वतन्त्र थे, इसलिए उनके लिए यह सोचना कि समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज के अध्ययन का विज्ञान है, एक आश्चर्य की बात नहीं है। कॉम्ट ने जहाँ एक ओर समाज की **स्थायी** (Static) प्रकृति के अध्ययन पर बल दिया, वहाँ दूसरी ओर उसके **गतिशील** (Dynamic) रूप के अध्ययन को भी समाजशास्त्र में सम्मिलित किया। जब हम समाज की स्थिर या स्थायी प्रकृति का अध्ययन करते हैं तो हम वस्तुतः सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न भागों की क्रियाओं, व प्रतिक्रियाओं में निहित सामाजिक नियमों का ज्ञान करने का प्रयास करते हैं और समाज की गतिशील प्रकृत्ति के अध्ययन में हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि कालान्तर में समाजों का विकास किस प्रकार हुआ, इनमें परिवर्तन किस प्रकार हुआ तथा इनके विकास एवं परिवर्तन में किस प्रकार के सामाजिक नियम क्रियाशील होते हैं।"[2]

---

1. **P. A. Sorokin** : Op. cit. ; p. 513.
2. **Auguste Comte** : The Positive Philosophy, 1835.

हरबर्ट स्पेन्सर के विचार (Views of Herbert Spencer) :

हरबर्ट स्पेन्सर की भी यही मान्यता थी कि समाजशास्त्र का उद्देश्य समाज के विभिन्न अंगों के मध्य पाये जाने वाले अन्तःसम्बन्धों का अध्ययन करके यह ज्ञात करना है कि ये सम्पूर्ण समाज को कैसे प्रभावित करते हैं और स्वयं सम्पूर्ण समाज से कैसे प्रभावित होते हैं ? स्वयं स्पेन्सर ने लिखा है कि 'समाज के विभिन्न तत्वों में एक स्थिर सम्बन्ध पाया जाता है जो समाज को एक अर्थपूर्ण अर्थात् सार्थक अस्तित्व प्रदान करता है। सम्पूर्ण समाज को एक इकाई मानकर इन स्थिर सम्बन्धों तथा इनकी क्रियाशीलता से उत्पन्न संरचनाओं का अध्ययन करना ही समाजशास्त्र का उद्देश्य है।"[1] इस प्रकार स्पेन्सर भी समाजशास्त्र को 'सामान्य विज्ञान' बनाने पर बल देते हैं।

इमाइल दुर्खीम के विचार (Views of Emile Durkheim) :

प्रसिद्ध फ्रेंच समाजशास्त्री दुर्खीम भी समाजशास्त्र को एक 'सामान्य विज्ञान' बनाने का समर्थन करते हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'समाजशास्त्र समाजों का विज्ञान है।' दुर्खीम का मानना है कि 'समाजशास्त्र को सामाजिक तथ्यों (Social Facts) का अध्ययन करना चाहिये।'[2] एक अन्य स्थान पर दुर्खीम लिखते हैं कि "कितने ही जटिल सामाजिक तथ्यों की व्याख्या करना तब तक सम्भव नहीं है जब तक समस्त सामाजिक श्रेणियों अथवा समाजों में उनके सम्पूर्ण विकास का हम अध्ययन न करलें।"[3]

इस प्रकार दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्र को समाज की आधारभूत संस्थाओं तथा उनके मध्य पाये जाने वाले सम्बन्धों तथा उनकी संरचनाओं का अध्ययन करना चाहिये।

अपनी पत्रिका **'एन्ने सोशियॉलॉजीक्यू'** (Annee Sociologique) के प्रथम खण्ड के सम्पादकीय प्राक्कथन में दुर्खीम लिखते हैं कि 'समाजशास्त्र की विशेष शाखाओं से सम्बन्ध रखने वाले बहुत सीमित विषयों के अध्ययनों में अभिवृद्धि करना हमारा प्रयास होगा, क्योंकि सामान्य समाजशास्त्र इन विशिष्ट विज्ञानों का केवल संश्लेषण हो सकता है।"[4]

एल. टी. हॉबहाउस के विचार (Views of L. T. Hobhouse) :

ब्रिटिश समाजशास्त्री **हॉबहाउस** समन्वयात्मक सम्प्रदाय के प्रबल पक्षधर हैं। हॉबहाउस ने समाजशास्त्र को "एक ऐसा विज्ञान बताया है जिसका कार्यक्षेत्र

1. **Herbert Spencer** : The Principles of Sociology : 1876.
2. **Emile Durkheim** : The Rules of Sociological Method ; p: 4.
3. **Emile Durkheim** : Ibid ; p. 23.
4. **Emile Durkheim** : Annee Sociologique, I. 1878 : p. IV

मनुष्य का सम्पूर्ण सामाजिक जीवन है।" हॉबहाउस के अनुसार समाजशास्त्र का कार्य विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में संश्लेषण करना है। हॉबहाउस के शब्दों में 'सामान्य समाजशास्त्र विशिष्टवाद के प्रारम्भ होने से पूर्व न तो स्वयं में पूर्ण एक पृथक् विज्ञान है और न ही सामाजिक विज्ञानों का एक संश्लेषण मात्र है, जिसमें यांत्रिक सान्निध्य में उनके परिणामों का समावेश हो। यह एक जीवनदायी सिद्धान्त है जो समस्त-सामाजिक अनुसन्धान में समाविष्ट है, उसका पोषण करता है और स्वयं उससे पोषित होता है, जो जाँच को प्रोत्साहित करने, परिणामों को परस्पर सम्बद्ध करने, सम्पूर्ण के जीवन को दो भागों में प्रदर्शित करने और भागों के अध्ययन से लौटकर सम्पूर्ण की एक व्यापक जानकारी देने से सम्बन्वित है।"[1]

मोरिस जिन्सबर्ग के विचार (Views of Morris Ginsberg) :

मोरिस जिन्सबर्ग के अनुसार समाजशास्त्र का अभिप्राय सम्पूर्ण समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करना है। समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करने से हमारा अभिप्राय मानवीय अन्तःक्रियाओं तथा मानवीय अन्तःसम्बन्धों के ताने-बाने का अध्ययन करने से है। मानव प्राणियों के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर समाज में जो कुछ भी घटित होता है, वह सब समाजशास्त्र की अध्ययन की परिधि में आ जाता है। जिन्सबर्ग कहते हैं कि यह दृष्टिकोण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी इस रूप में भिन्न है कि इसमें हम केवल विशेष तथ्यों का वर्णन या वर्गीकरण करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, बल्कि हम सामान्य सामाजिक नियमों की रचना करने का भी प्रयत्न करते हैं।"[2]

डब्ल्यू. एच. ऑडम के विचार (Views of W. H. Odum) :

डब्ल्यू० एच० ऑडम के मत में समाजशास्त्र का अभिप्राय यह ज्ञात करना है कि समाज क्या है, यह कैसे क्रियाशील होता है तथा यह अपने वर्तमान स्वरूप में किस प्रकार विकसित होकर आया है? एक समाजशास्त्री का मुख्य कार्य मानव-समाज की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि की तथा मनुष्यों एवं उनकी परिस्थितियों के बीच पाये जाने वाले सम्पूर्ण अन्तःसम्बन्धों की व्याख्या करना है। एक समाजशास्त्री यह भी ज्ञात करने का प्रयास करता है कि समाज में सदैव परिवर्तनशील संसार के साथ अपना समायोजन करने की कितनी क्षमता है। साथ ही समाजशास्त्र व्यवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन करने का भी प्रयास करता है, जिसके द्वारा कोई भी समाज अपने साध्यों को प्राप्त करता है।"[3]

---

1. **L. T. Hobhouse** : Editorial Introduction : The Sociological Review. 1908.
2. **Morris Ginsberg** : Essays in Sociology and Social Philosophy. p. 24.
3. **W. H. Odum** : Op. cit. ; p. 5.

पी० ए० सोरोकिन के विचार (Views of P. A. Sorokin) :

पितृम सोरोकिन ने भी समाजशास्त्र की समन्वयात्मक विचारधारा का समर्थन किया है। सोरोकिन के अनुसार सामाजिक जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जो पूर्णतया स्वतन्त्र हो। सामाजिक जीवन के विभिन्न अंग एक दूसरे से अन्त:सम्वन्धित होते हैं। अत: समाजशास्त्र का अभिप्राय समस्त प्रकार की सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं, उनके पारस्परिक सम्वन्धों तथा सह-सम्वन्धों का अध्ययन करके सामान्य सामाजिक नियमों का पता लगाना है। **सोरोकिन** के शव्दों में "प्रत्येक विज्ञान में कुछ तत्त्व निहित हैं जिनका अध्ययन समाजशास्त्र में संश्लेषण के आधार पर किया जाता है।"[1]

एफ० एच० गिडिंग्स के विचार (Views of F. H. Giddings) :

एफ. एच. गिडिंग्स के अनुसार समाजशास्त्र को समाज का तीन प्रकार से अध्ययन करना चाहिये। पहले हमें उन दशाओं को ज्ञात करना चाहिये जो केवल मानवों का समूहों में संगठित होने तथा अन्त:क्रियायें करने को निश्चित करती हैं। इसके वाद हमें उन नियमों को ज्ञात करना चाहिये जो सामाजिक चुनावों को नियन्त्रित करते हैं एवं तव हमें यह ज्ञात करना चाहिये कि वे कौनसे नियम हैं जो प्राकृतिक चुनावों तथा अस्तित्व के चुनावों को नियन्त्रित करते हैं।"[2]

लुडविग गमप्लोविज (Ludwig Gumplowitz) ने भी लिखा है कि "समाजशास्त्र केवल समाज के व्यक्तियों का ही अध्ययन नहीं है, वल्कि व्यक्ति जिन समूहों का निर्माण करते हैं, उन समस्त समूहों का वैज्ञानिक अध्ययन भी है।"[3]

हैरी एम. जॉनसन (Harry M. Johnson) के अनुसार भी समाजशास्त्र मानवीय समूहों का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। वह इनके आन्तरिक स्वरूपों अथवा संगठन के प्रकारों तथा प्रक्रियाओं का अध्ययन करता है जो इन स्वरूपों में होने वाले परिवर्तनों को व्यवस्थित करते हैं।"[4]

इस प्रकार समन्वयात्मक सम्प्रदाय समाजशास्त्र को एक 'सामान्य विज्ञान' वनाने पर वल देता है तथा इसका मूल उद्देश्य समाज का उसकी समग्रता एवं सम्पूर्णता में अध्ययन करना है, केवल 'स्वरूपों' का अध्ययन करना नहीं।

---

1. **P. A. Sorokin** : Society, Culture and Personality : Their Structure and Dynamics ; p. 7
2. **F. H. Giddings** : The Elements of Sociology ; p. 12
3. **Ludwig Gumplowitz** : The Outlines of Sociology ; p. 82-83
4. **Harry M. Johnson** : Sociology : A Systematic Introduction ; p. 4.

ग्रालोचना (Criticism) :

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की भाँति समन्वयात्मक सम्प्रदाय को भी सम्पूर्ण रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, अपितु इसके विरुद्ध भी अनेक तर्क एवं आलोचनायें प्रस्तुत की गयी हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख ग्रालोचनायें निम्नलिखित हैं :

1. समन्वयात्मक सम्प्रदाय समाज का समग्र एवं वैज्ञानिक अध्ययन करके प्राकृतिक विज्ञानों के समान सामान्य निष्कर्ष निकालने का दावा करता है, लेकिन क्या अमूर्त समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करना सम्भव है ?

2. समन्वयात्मक सम्प्रदाय पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि यदि समाजशास्त्र में समस्त प्रकार के सामाजिक तथ्यों व प्रघटनाओं का अध्ययन किया जायेगा तो यह शास्त्र कई विज्ञानों का एक मिश्रित शास्त्र बन जायेगा।

3. समन्वयात्मक सम्प्रदाय सामाजिक जीवन की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन करके सामान्य निष्कर्ष निकालने का दावा करता है। इस प्रकार की सामान्य विशेषताओं को ज्ञात करना प्राकृतिक विज्ञानों में तो उचित है, किन्तु जटिल सामाजिक वास्तविकता के क्षेत्र में यह इतना सरल नहीं है।

4. समन्वयात्मक सम्प्रदाय समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र विज्ञान का दर्जा देने का प्रयत्न करता है, लेकिन जब इसका कोई स्वतन्त्र विषय-क्षेत्र नहीं रह जायेगा, तब यह केवल प्राकृतिक एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों पर आश्रित होकर ही रह जायेगा।

5. समाजशास्त्र को यदि एक समष्टिवादी विज्ञान बनाकर उसमें मनुष्यों से सम्बन्धित प्रत्येक क्रिया का अध्ययन किया जायेगा तो ऐसी स्थिति में उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व विकसित नहीं हो पायेगा तथा यह अनुसन्धानों की एक पद्धति (Method) मात्र बनकर रह जायेगा।

समाजशास्त्र का यथार्थ क्षेत्र :
(Real Scope of Sociology)

समाजशास्त्र के क्षेत्र के इन दोनों स्वरूपात्मक एवं समन्वयात्मक सम्प्रदायों में पाये जाने वाले दोषों को ध्यान में रखते हुए कुछ अन्य समाजशास्त्रियों ने एक ऐसा दृष्टिकोण अपनाने का सुझाव रखा जिसमें इन दोनों का समन्वय पाया जाये। यह माना जाता है कि इन दोनों सम्प्रदायों के दृष्टिकोण एकांगी हैं। यथार्थ में समाजशास्त्र का क्षेत्र न तो स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की भाँति केवल सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करना है और न ही समन्वयात्मक सम्प्रदाय की भाँति समस्त सामाजिक प्रघटनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करना है। समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के अन्तर्गत जहाँ एक ओर सामाजिक प्रघटनाओं के अध्ययन में एक विशिष्ट दृष्टिकोण पर जोर दिया जाता है, वहीं दूसरी ओर इसके अन्तर्गत सामाजिक प्रघटनाओं

के सामान्य पक्षों का संश्लेषणात्मक अध्ययन भी किया जाता है। **प्रो. मोरिस जिन्सवर्ग** ने प्राणिशास्त्र एवं समाजशास्त्र की तुलना करके इसे स्पष्ट किया है। आपने लिखा है कि "सभी जानते हैं कि प्राणिशास्त्र एक अर्थ में अनेक विज्ञानों का संकलन है, जिसमें प्रत्येक विज्ञान स्पष्टतः एक विशेष विज्ञान है, परन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इन विशिष्ट विज्ञानों के अतिरिक्त एक सामान्य प्राणिशास्त्र भी होता है जो जीवन की सामान्य दशाओं का एक उन्नत ज्ञान-भण्डार है। उसी प्रकार समाजशास्त्र में भी सामाजिक जीवन के विभिन्न टुकड़ों से सम्बन्धित अनेक विशेष विज्ञान हैं और इस रूप में समाजशास्त्र समस्त सामाजिक विज्ञानों के एक समग्र समूह के समान है। एक दूसरे अर्थ में यह (समाजशास्त्र) स्वयं ही एक विशेष विज्ञान है जिसका उद्देश्य अन्य विज्ञानों के बीच पाये जाने वाले पारस्परिक सम्बन्धों को खोजना और सामाजिक सम्बन्धों की सामान्य विशेषताओं का विवरण देना है।"[1]

जिन्सवर्ग के इस कथन से स्पष्ट है कि समाजशास्त्र एक विशिष्ट विज्ञान एवं एक सामान्य विज्ञान दोनों ही है।

केरकिस हन्टिंगटन (Cairkis Huntington) ने लिखा है कि "समाजशास्त्र सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन है, जिसके विभिन्न भागों का अध्ययन या अन्य सामाजिक विज्ञानों में होता है, लेकिन समाजशास्त्र को छोड़कर अन्य कोई भी सामाजिक विज्ञान उन सबका न तो अध्ययन करता है और न ही उनका समाजशास्त्रीय ढंग से अध्ययन ही करता है। चूँकि विभिन्न सामाजिक विज्ञान एक सम्पूर्ण के विभिन्न भागों का जिनका विभाजन स्पष्ट रूप से सम्भव नहीं है, अध्ययन करते हैं, इसलिए फिर भी कुछ विशेष तत्त्व बच जाते हैं जिसे हम '**समाजशास्त्रीय**' (Sociological) कहते हैं। इसका बोध करने के लिए न तो ऐसा कोई नाम है जो सन्तोषजनक जान पड़े और न ही इसके क्षेत्र को ढकने के लिए किसी धारणा को विकसित किया गया है।"

केवल मोटवानी (Kewal Motwani) ने भी लिखा है कि "समाजशास्त्र एक भवन के समान सामाजिक जीवन के तथ्यों का सुव्यवस्था-पूर्ण समन्वय का एक सिद्धान्त और एक स्वतन्त्र विज्ञान दोनों ही है जो विलीनीकरण का अन्तिम परिणाम होता है।"

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र न तो केवल विशिष्ट स्वरूपों का अध्ययन ही है और न ही यह समस्त सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन है,

---

1. Morris Ginsberg : Op. cit. ; P. 16-17.

अपितु यह दोनों के समन्वय का एक विज्ञान है। इसको निम्नलिखित चित्र से समझाया जा सकता है :

समाजशास्त्र का क्षेत्र

(Scope of Sociology)

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Formal School)	समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School)
समाजशास्त्र एक विशिष्ट विज्ञान है— ↑ **सीमल, वीरकान्त, वॉनविजे, वेबर, टॉनिज, वॉगल, पार्क, बर्गस, रॉस**	**समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है—** ↑ **कॉम्ट, स्पेन्सर, दुर्खीम, हॉबहाउस, जिन्सबर्ग, ऑडम, सोरोकिन, गिडिंग्स, गमप्लोविज, जॉनसन**

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु
Subject-Matter of Sociology

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के संदर्भ में समाजशास्त्रियों में मतैक्य या एकमतता का अभाव है। अनेक समाजशास्त्री ऐसे भी हैं जिन्होंने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु एवं क्षेत्र में कोई अन्तर नहीं किया है। लेकिन वस्तुतः यह सही नहीं है। क्षेत्र (Scope) एवं विषय-वस्तु (Subject-Matter) में पर्याप्त अन्तर है। क्षेत्र का आशय एक विषय की सीमाओं (Boundaries) से है, जबकि विषय-वस्तु का आशय उस विषय के अन्तर्गत अध्ययन किये जाने वाले विषयों से है। फ्रेंच समाजशास्त्री 'इमाइल दुर्खीम' ने जो 'समन्वयात्मक सम्प्रदाय' (Synthetic

School) के प्रमुख विचारक हैं, समाजशास्त्र के क्षेत्र का वर्णन करते समय इसकी विपय-वस्तु का ही उल्लेख करते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु से हमारा आशय यह है कि वे कौनसे विषय हैं जिन्हें हम समाजशास्त्रीय अध्ययन के अन्तर्गत समाविष्ट कर सकते हैं । जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है कि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के विषय में सभी समाजशास्त्री एकमत नहीं हैं, परन्तु उनके मतों में वहुत अधिक भिन्नता हो, ऐसा भी नहीं माना जाना चाहिये । मोटे तौर पर देखने से प्रतीत होता है कि समाज, समूह, सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक संरचना, सामाजिक क्रियायें, प्रक्रियायें आदि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु हैं, तथापि सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र की आधारभूत विषय-वस्तु वास्तव में सामाजिक सम्बन्ध (Social Relationship) ही हैं ।

फ्रेंच समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को तीन भागों में विभाजित किया है—

1. **सामाजिक स्वरूपशास्त्र** (Social Morphology)
2. **सामाजिक शरीरशास्त्र** (Social Physiology)
3. **सामान्य समाजशास्त्र** (General Sociology)

सामाजिक स्वरूपशास्त्र के अन्तर्गत लोगों के जीवन के भौगोलिक आधार का एवं उनके सामाजिक संगठनों के प्रकारों का अध्ययन किया जाता है । उदाहरण के लिए जनसंख्यात्मक अध्ययन में जनसंख्या का आकार, जनसंख्या का घनत्व, जनसंख्या-वितरण, जनसंख्या की समस्यायें आदि सम्मिलित किये जाते हैं ।

सामाजिक शरीरशास्त्र में सामाजिक जीवन के विभिन्न अंगों का अध्ययन किया जाता है । इसमें धर्म, नीति, भाषा, कानून, अर्थ आदि का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से अध्ययन किया जाता है ।

सामान्य समाजशास्त्र में सामान्य सामाजिक नियमों का अध्ययन किया जाता है । ये नियम सामाजिक जीवन की स्थिरता एवं निरन्तरता के लिए आवश्यक होते हैं । दुर्खीम इसे समाजशास्त्र का दार्शनिक अंग कहता है ।[1]

मोरिस जिन्सबर्ग (Morris Ginsberg) ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को चार भागों में रखा है[2] :

1. **सामाजिक स्वरूपशास्त्र** (Social Morphology)
2. **सामाजिक नियन्त्रण** (Social Control)

---

1. **Emile Durkheim** : The Rules of Sociological Methods; p.14.
2. **Morris Ginsberg** : The Problems and Methods of Sociology : Study of Society. p. 436-437.

3. **सामाजिक प्रक्रियायें** (Social Processes)

4. **सामाजिक व्याधिकीय** (*Social Pathology*)

सामाजिक स्वरूपशास्त्र में जिन्सवर्ग ने सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाले प्रमुख सामाजिक समूहों एवं संस्थाओं के अध्ययनों तथा जनसंख्यात्मक अध्ययनों को सम्मिलित किया है।

सामाजिक नियन्त्रण में समाज के लोगों के सामाजिक व्यवहारों को नियन्त्रित करने वाले विषयों का अध्ययन किया जाता है, जैसे धर्म, आचार, रूढ़ियाँ, फैशन, कानून आदि नियन्त्रण के साधनों का अध्ययन किया जाता है।

सामाजिक प्रक्रियायें जिन्सवर्ग के अनुसार, मनुष्यों के बीच अथवा समूहों के बीच पाये जाने वाले अन्तःसम्बन्धों से बनती हैं, जैसे सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष, अनुकूलन, अनुकरण आदि।

सामाजिक व्याधिकीय का आशय सामाजिक समस्याओं के अध्ययन से है, जैसे अपराध, बाल-अपराध, निर्धनता, सामूहिक विघटन आदि।

जॉर्ज सीमल (George Simmel) के अनुसार "समाजशास्त्र की विषय-वस्तु केवल सामाजिक प्रक्रियायें (Social Processes) हैं।" सहयोग, संघर्ष, प्रतिस्पर्द्धा, अनुकूलन, सात्मीकरण (Assimilation), अनुकरण आदि सामाजिक प्रक्रियायें हैं।

रयूटर एवं हार्ट (Reuter and Hart) के अनुसार 'समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में तीन बातों को सम्मिलित किया जा सकता है[1]—

1. **सामाजिक विरासत** (Social Heritage)
2. **व्यक्तित्व तथा उसका विकास** (Personality and its Development)
3. **सामाजिक प्रक्रियायें** (Social Processes)

पितृम सोरोकिन (Pitrim Sorokin) ने भी समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का उल्लेख तीन बिन्दुओं में किया है[2]—

1. सामाजिक घटनाओं के विभिन्न प्रकारों में पारस्परिक सम्बन्धों एवं सह-सम्बन्धों का अध्ययन।
2. सामाजिक तथा असामाजिक तथ्यों व घटनाओं के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों तथा सह-सम्बन्धों का अध्ययन।
3. समस्त सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन।

मेरिल एवं एल्ड्रिज (Merrill & Eldridge) के अनुसार समाजशास्त्र की विषय-वस्तु निम्नलिखित है।[3]

---

1. Reuter & Hart : Introduction to Sociology; p. 3-6.
2. *Pitrim Sorokin : Op. cit.; p. 760-761.*
3. Merrill & Eldridge : Culture and Society; P. 10-13.

1. मानवीय सम्बन्धों के व्यापक क्षेत्र का अध्ययन।
2. इन मानवीय सम्बन्धों के परिणामों का अध्ययन।
3. मानवीय क्रियाओं के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन, एवं
4. सामाजिक मूल्यों का अध्ययन।

कॉर्ल मैनहीम (Karl Mannheim) के अनुसार समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में निम्नलिखित बातें सम्मिलित की जाती हैं—

1. व्यवस्थित तथा सामान्य समाजशास्त्र (Systematic & General Sociology)
2. ऐतिहासिक समाजशास्त्र (Historical Sociology)
   A. तुलनात्मक समाजशास्त्र (Comparative Sociology)
   B. सामाजिक गत्यात्मकता (Social Dynamics)

केवल मोटवानी (K. Motwani) ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में निम्न-लिखित बिन्दुओं को रखा है—[1]

1. समाजशास्त्र उन सिद्धांतों की खोज करता है जिनके कारण सामाजिक जीवन के आधारभूत तत्त्वों में सामन्जस्य स्थापित है।
2. समाजशास्त्र सामाजिक संस्थाओं के विकास, प्रकृति, कार्यों और अन्तः सम्बन्धों की व्याख्या करता है।
3. समाजशास्त्र सामाजिक संगठन के उन तत्त्वों की ओर संकेत करता है जो सामाजिक परिवर्तन की दिशा निर्धारित करते हैं।
4. समाजशास्त्र सामाजिक अव्यवस्था को दूर करने के लिए व्यावहारिक उपाय प्रस्तुत करता है।

एलक्स इंकेल्स (Alex Inkeles) ने 'वॉट इज़ सोश्योलॉजि' में ऐतिहासिक, आनुभविक एवं विश्लेषणात्मक आधारों पर जिनकी विशद विवेचना हम परिभाषा एवं अर्थ के साथ कर आये हैं, समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को प्रतिपादित किया है। आपके अनुसार समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में निम्नलिखित विषयों को सम्मिलित किया जा सकता है—[2]

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु की एक सामान्य रूपरेखा
(A General Outline of the Subject—Matter of Sociology)

---

1. समाजशास्त्रीय विश्लेषण (Sociological Analysis):
   मानव-संस्कृति एवं समाज (Human Culture and Society)

---

1. Kewal Motwani : Sociology · A Comparative Outline; p. 49.
2. Alex Inkeles : Op. cit; p. 12.

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Sociological Perspective)

सामाजिक विज्ञानों में वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method in Social Science)

2. **सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाइयाँ** (Primary Units of Social Life) :

सामाजिक क्रियायें एवं सामाजिक सम्बन्ध (Social Acts and Social Relationships)

मानव का व्यक्तित्व (The Individual Personality)

समूह—आंचलिक एवं वर्ग-सहित (Groups including ethnic and class)

समुदाय : नगरीय एवं ग्रामीण (Communities : Urban & Rural)
समितियाँ एवं संगठन (Associations and Organizations)
जनसंख्यायें (Populations)
समाज (Society)

3. **आधारभूत सामाजिक संस्थायें** (Basic Social Institutions) :

परिवार एवं नातेदारी—बन्धुत्व (The Family and Kinship)
आर्थिक (Economic)
राजनैतिक एवं वैधानिक (Political and Legal)
धार्मिक (Religious)
शैक्षिक एवं वैज्ञानिक (Educational and Scientific)
मनोरंजनात्मक एवं कल्याणकारी (Recreational and Welfare)
सौन्दर्यात्मक एवं अभिव्यक्ति-परक (Aesthetic and Expressive)

4. **मौलिक सामाजिक प्रक्रियायें** (Fundamental Social Processes) :

विभेदीकरण तथा स्तरीकरण (Differentiation and Stratification)

सहयोग, समायोजन, सात्मीकरण (Co-operation, Accommodation, Assimilation)

सामाजिक संघर्ष (क्रांति एवं युद्ध-सहित) (Social Conflict including Revolution and War)

संचार—जनमत-निर्माण, अभिव्यक्ति एवं परिवर्तन-सहित (Communication–including Opinion-formation, Expression and Change)
समाजीकरण एवं सैद्धान्तीकरण (Socialization and Indoctrination)

सामाजिक मूल्यांकन—मूल्यों का अध्ययन (Social Evaluation—The Study of Values)

सामाजिक नियन्त्रण (Social Control)

सामाजिक विचलन—अपराध, आत्महत्या आदि (Social Deviance—Crime, Suicide etc.)

सामाजिक एकीकरण (Social Integration)

सामाजिक परिवर्तन (Social Change)

समाजशास्त्र की विषय-वस्तु के बारे में एलेक्स इंकेल्स का उपर्युक्त प्रयास एवं उपर्युक्त विषयों की सूची निस्सन्देह अब तक किये गये प्रयासों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं सराहनीय है, परन्तु फिर भी इस सूची को अन्तिम मान लेना अनुपयुक्त ही होगा। केवल कुछ विषयों की गणना करा देने से समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। स्प्रॉट (Sprott) ने बहुत सुन्दर ढंग से इस बात को रखा है। वे समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को सीमाओं में बाँधने के प्रयत्न पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि "यह प्रयत्न ऐसा ही है जैसा कि हम पदार्थों के बहुत बड़े ढ़ेर को कबूतर खाने के छोटे-छोटे डिब्बों में बन्द करें और पदार्थ फिसल-फिसल कर निकलते जायें।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को कुछ अध्यायों, विषयों या शीर्षकों में बाँधना अनुपयुक्त ही है। प्रत्येक वस्तु जो किसी भी प्रकार से समाज को, सामाजिक सम्बन्धों को, सामाजिक प्रक्रियाओं या सामाजिक संरचना को प्रभावित करती है, वह समाजशास्त्र की विषय-वस्तु है।

एलेक्स इंकेल्स ने ठीक ही लिखा है कि "आज भी समाजशास्त्री इस बात पर मतैक्य नहीं रखते कि समाजशास्त्र का कार्य सिद्धान्तों का निर्माण करना होना चाहिये अथवा तथ्यों को एकत्रित करने में अपना समय बिताना। उनमें इस बात पर भी मतैक्य नहीं है कि समाजशास्त्र मूल्य–तटस्थ (Value-neutral) हो अथवा उसे मूल्यों की प्रस्थापना में योग देना चाहिये। न ही समाजशास्त्री किसी एक विशिष्ट उपागम (Approach) के माध्यम से ही अध्ययन करने के लिए एक मत हैं।"[2]

किंतु वस्तुत: यह स्थिति समाजशास्त्र के लिए चिन्ताजनक न होकर सुखद है, क्योंकि किसी विषय की बौद्धिक परिपक्वता के लिए यह प्रथम शर्त है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि समाजशास्त्र की विषय-वस्तु भौतिक विज्ञानों की विषय-वस्तु से अधिक जटिल (Complex) है, क्योंकि सामाजिक जीवन की विषयपरकता भौतिक विज्ञानों में अभिलक्षित नहीं होती। भविष्य में समाजशास्त्र की विषय-विस्तु में नये आयाम (Dimensions) जुड़ेंगे, ऐसी अपेक्षा करना अनुचित नहीं है।

---

1. W.J.H. Sprott : Sociology; p. 7.
2. Alex Inkeles : Op; cit.: p 17.

समाजशास्त्र की प्रकृति
(Nature of Sociology)

मनुष्य के सामाजिक जीवन एवं सामाजिक सम्बन्धों के बारे में विभिन्न विद्वानों ने समय-समय पर विभिन्न आधारों पर अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। लगभग सभी समाजशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि समाजशास्त्र के अन्तर्गत हम सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक प्रघटनाओं एवं सामाजिक संरचनाओं का अध्ययन करते हैं। लेकिन प्रारम्भ से ही इस बात को लेकर मतभेद रहे हैं कि सामाजिक सम्बन्धों व सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन करने के उपागम (Approaches) क्या हों ?

समाजशास्त्र की प्रकृति को लेकर दो प्रकार के दृष्टिकोण समाजशास्त्र की विकास-यात्रा से जुड़े हैं। **प्रथम** दृष्टिकोण के अनुसार समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक (Scientific) है एवं **द्वितीय** दृष्टिकोण के अनुसार समाजशास्त्र एक मानविकी (Humanities) है।

समाजशास्त्र के जन्मदाता **ऑगस्त कॉम्ट** (Auguste Comte) स्वयं ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान माना है। एक स्थान पर **कॉम्ट** ने लिखा है कि "समाजशास्त्र विज्ञानों की रानी (Queen of Sciences) है। कॉम्ट के बाद के प्रमुख समाजशास्त्रियों जिनमें **दुर्खीम** (Durkheim), **वेबर** (Weber), **परेटो** (Pareto), **पारसन्स** (Parsons), **मर्टन** (Merton) आदि के नाम लिये जा सकते हैं, ने समाजशास्त्र को एक विज्ञान के रूप में प्रस्थापित करने का प्रयास किया। दूसरी ओर कुछ विद्वानों ने समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति पर आपत्ति की है। बहुत समय पहले **1873 में हरबर्ट स्पेन्सर** (Herbert Spencer) ने यह प्रश्न उठाया था कि क्या कोई सामाजिक विज्ञान है ?" (Is there any Social Science ?)।[1] इस तरह के प्रश्न अन्य अनेक समाजशास्त्रियों ने समय-समय पर उठाये हैं।[2]

---

1. Herbert Spencer : The Study of Sociology ; p. 29–42.
2. See ; Russell Kirk : Is Social Science Scientific ? 1961.. See 6.
   Robert K. Merton: Now the case for Sociology : New York Times, 16 July 1961, See 6.
   Russell Kirk : The Battle for Sociology, New York Times, 23 July, 1961.

समाजशास्त्रियों का एक समूह इसे प्रारम्भ से ही विज्ञान की अपेक्षा मानविकी का विषय मानता रहा है। इनका मानना है कि समाजशास्त्र का सम्वन्ध मूल्यांकन, आलोचना तथा सहानुभूतिक अवबोधन(Understanding) से है, न कि विज्ञान के सामान्य धन्धों (Pursuits) से। अनेक समकालीन समाजशास्त्री भी इसी पक्ष में हैं। **रॉबर्ट वियरस्टेड़** (Robert Bierstedt) ने लिखा है कि "समाजशास्त्र का उचित स्थान केवल विज्ञानों में ही नहीं है, अपितु मानवीय मस्तिष्क को स्वतन्त्र बनाने वाले कला के विषयों में भी है।"[1] **सी. राइट मिल्स** (C. Wright Mills) ने अपनी पुस्तक सोश्योलॉजीकल इमेजीनेशन' में लिखा है कि "समाजशास्त्र को विज्ञान की अपेक्षा एक शिल्प (Craft) के रूप में अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है।" उनके अनुसार "नियन्त्रण तथा भविष्यवाणी वर्तमान कर्मचारीतन्त्र के समाजशास्त्रियों की देन है जो अपने पुरातन आदर्शों से विचलित हो रहे हैं।"[2]

इस प्रकार समाजशास्त्र की प्रकति के बारे में दो तरह के दृष्टिकोण पाये जाते हैं :

1. **समाजशास्त्र एक विज्ञान के रूप में** (Sociology as a Science)
2. **समाजशास्त्र एक मानविकी के रूप में** (Sociology as an Humanistic)

उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोणों की यहाँ विस्तार से विवेचना की जाती है—

1. समाजशास्त्र एक विज्ञान के रूप में :
(Sociology as a Science)

जब हम समाजशास्त्र की एक विज्ञान के रूप में विवेचना करते हैं तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि विज्ञान क्या है ? यह उपयुक्त होगा कि समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति की विवेचना से पूर्व हम विज्ञान की अवधारणा को समझलें।

विज्ञान क्या है ? (What is Science ?)

विज्ञान शब्द अँग्रेजी भाषा के **'Science'** का हिन्दी रूपान्तर है। अँग्रेजी भाषा का **Science** शब्द लैटिन भाषा के **'Scia'** से बना है जिसका अर्थ है 'जानना'। सामान्यतः विज्ञान यथार्थ या वास्तविकता (Reality) के अध्ययन, अवलोकन एवं प्रयोग के द्वारा प्राप्त तथ्यों का सामान्यीकरण (Generalisation) करके ज्ञान-प्राप्ति का एक उपागम (Approach) है।

---

1. Robert Bierstedt : Sociology and Human Learning ; American Sociological Review, 1960 XXV ; P. 3.
2. C. Wright Mills : The Sociological Imagination; P. 113–117.

विज्ञान की सामान्य लोकप्रिय धारणा (General Popular Conception of Science):

आधुनिक युग में विज्ञान का वहुत सम्माननीय स्थान है, तथापि इसके अर्थ के सम्वन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ व्याप्त हैं। सामान्य धारणा के अनुसार विज्ञान का अर्थ इस तरह आता है कि जैसे एक व्यक्ति सफेद कोट पहने प्रयोगशाला में टेस्ट-ट्यूब व अन्य उपकरणों से कोई परीक्षण कर रहा है, जिसके कार्य करने के घण्टे अनियन्त्रित हैं तथा जो अपना समय ऐसी गहन एवं रहस्यपूर्ण समस्याओं की शोध में लगाता है जो सामान्य मनुष्यों की समझ से परे होती हैं। अनेक बार अज्ञानतावश विज्ञान का अर्थ विभिन्न उपकरणों-पंखा, कार, स्कूटर, टी. वी.. वीडीयो, कम्प्यूटर आदि से लगाया जाता है। ये सव उपकरण तकनीकी विकास के परिणाम हैं, न कि विज्ञान। किसी भी वस्तु को स्थापित व स्वीकृत करने के लिए यह प्रायः कहा जाता है कि यह वैज्ञानिक है। कभी-कभी विज्ञान का सम्वन्ध विशेष विषय-वस्तुओं जैसे इलेक्ट्रोन्स, प्रोटोन्स, ऐटम. मोलीक्यूलो, जीवाणुओं, पिण्डों, नक्षत्रों, घटकों आदि से जोड़ा जाता है, परन्तु यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार विज्ञान का विषय-वस्तुओं से कोई सम्वन्ध नहीं है। "**स्टुअर्ट चेज** (Stuart Chase) के अनुसार विज्ञान पद्धति का सहगामी है, न कि विषय-वस्तु का।"[1] **बीसंज एवं बीसंज** के मत में "यह (विज्ञान) एक मार्ग है, न कि विषय-सामग्री जो विज्ञान की कसौटी है।"[2] **लुण्डबर्ग** (Lundberg) ने तो यहाँ तक लिखा है कि "विज्ञान को विषय-सामग्री के रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न करना मात्र भ्रम में डालने का कारण होगा।"[3] **कार्ल पियरसन** (Karl Pearson) भी लिखते हैं कि "समस्त विज्ञानों की एकता उसकी पद्धति में है, न कि विषय-वस्तु में।"[4]

विज्ञान का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Science)—इस प्रकार विज्ञान का अर्थ जो सामान्य वोलचाल की भाषा में लगाया जाता है, वह इसके सही अर्थ से भिन्न है।

गुडे एवं हट्ट (Goode & Hatt) ने लिखा है कि "विज्ञान समस्त अनुभव-सिद्ध संसार के प्रति उपागमों की एक विधि (Method of Approach) है।"[5]

---

1. Sturrt Chase : The Proper Study of Mankind ; p. 6.
2. J. Biesanz & M. Biesanz : Modern Society; An Introduction to Social Science; p. 3.
3. George Lundberg : Social Research ; p. 3.
4. Karl Pearson : The Grammar of Science ; p. 10.
5. Goode & Hatt : Methods of Social Research ; p. 1

लुण्डबर्ग (G. A. Lundberg) ने लिखा है कि "एक विशेष क्षेत्र के लिए प्रयुक्त विज्ञान के पद (Term) से निकलने वाला सब आशय क्षेत्र से है जिसका निश्चित सिद्धान्तों अर्थात् वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार अध्ययन किया गया है।"[1]

चर्चमैन एवं एकॉफ (Churchman & Ackoff) ने लिखा है कि "विज्ञान एक दक्ष जांच-पड़ताल अथवा पूछताछ है।"[2]

एल. एल. बर्नार्ड (L. L. Bernard) के अनुसार "विज्ञान की परिभाषा उसमें होने वाली छः प्रमुख प्रक्रियाओं के रूप में की जा सकती है। ये प्रक्रियायें **परीक्षा** (Testing), **सत्यापन** (Verification), **परिभाषा** (Definition), **वर्गीकरण** (Classification), **संगठन** (Organisation) तथा अभिमुखन (Orientation) हैं जिनमें पूर्वानुमान (Prediction) तथा व्यवहार में लाना (Application) भी सम्मिलित हैं।"[3]

पॉल हान्ले फर्फे (Paul Hanley Furfey) के मत में "हमें वैज्ञानिक ज्ञान को ऐसे ज्ञान के रूप में परिभाषित करना चाहिए जो एक विशेष मात्रा तक निश्चित, कारणयुक्त तथा सामान्य हो। इस प्रकार का व्यवस्थित ज्ञान विज्ञान है।"[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि विज्ञान मौलिक रूप से यथार्थ की किसी घटना के विषय में विश्वसनीय ज्ञान प्राप्त करने की एक विधि है। इसकी आधारभूत विशेषता 'वैज्ञानिक पद्धति' या 'वैज्ञानिक उपागम' है। समस्त विज्ञानों की एकता केवल उनकी विषय-वस्तु से सम्बन्धित न होकर उनके अन्तर्गत प्रयुक्त विधि में सन्निहित है।

विज्ञान की अनिवार्य शर्तें, तत्व या विशेषतायें
(Essential Conditisons, Elements or Characteristics of Science)

विज्ञान को समझने के लिए हमें उसकी विभिन्न विशेषताओं का विश्लेषण करना पड़ेगा।

---

1. **G. A. Lundberg** : Op. cit ; p. 4.
2. **Churchman & Ackoff** : Methods of Inquiry ; An Introduction to Philosophy and Scientific Method; p. 10.
3. **L. L. Bernard** : Fields and Methods of Sociology ;p. 273-274.
4. **Paul Hanley Furfey** : The Scope and Methods of Sociology; p. 57-58.

रोबर्ट बियरस्टेड (Robert Bierstedt) ने विज्ञान की निम्नलिखित विशेपताओं का उल्लेख किया है :[1]

1. वस्तुनिष्ठता (Objectivity)
2. सापेक्षवादिता (Relativism)
3. नैतिक तटस्थता (Ethical Neutrality)
4. मितव्ययिता (Parsimony) एवं
5. संशयवाद (Scepticism)

गिलिन एवं गिलिन (Gillin & Gillin) ने विज्ञान की पाँच विशेपताओं का उल्लेख किया है।[2]

1. वस्तुनिष्ठता (Objectivity)
2. धैर्य (Patience)
3. कठिन परिश्रम (Hard Work)
4. जिज्ञासा की प्रवृत्ति (Attitude of Inquisitiveness)
5. रचनात्मक विचार-शक्ति (Creative Thinking Power)

पॉल हान्ले फर्फे (Paul Hanley Furfey) के अनुसार विज्ञान में चार विशेषताएँ अनिवार्य हैं।[3]

1. ज्ञान का व्यवस्थित समूह (Systematic Body of Knowledge)
2. निश्चितता (Definiteness)
3. कारणता (Causality) एवं
4. सामान्यीकरण (Generalization)

रॉय फ्रांसिस (Roy Francis) ने विज्ञान की पाँच विशेषताओं का उल्लेख किया है—

1. विज्ञान आनुभविक है (Science is Empirical)
2. विज्ञान तार्किक है (Science is Logical)
3. विज्ञान प्रत्यक्षवादी है (Science is Conceptual)
4. विज्ञान समस्याओं को सुलझाता है (Science is Problem-solving)
5. विज्ञान में निरन्तरता है (Science is Continuum)

---

1. Robert Bierstedt :Op. cit ; p. 27–32
2. Gillin & Gillin : Op. cit ; p. 10
3. Paul Hanley Furfey : Op. cit. ; p. 57-58

जोवर्ग एवं नेट (Sjoberg & Nett) ने लिखा है कि "वैज्ञानिक अध्ययन में हमें निम्नलिखित बातों को स्वीकार करना पड़ेगा :"[1]

1. इसमें घटनाओं की निरन्तरता एक निश्चित क्रम पर निर्भर होती है।
2. इसमें ज्ञान का उद्देश्य अज्ञानता का निराकरण है, अतः वह श्रेष्ठ है।
3. अवलोकन विज्ञान की महत्त्वपूर्ण पद्धति है।
4. भौतिक व सामाजिक व्यवस्था में कार्य-कारण सम्बन्ध है।

उपर्युक्त विद्वानों के विचारों के आधार पर हम विज्ञान की कुछ सामान्य विशेषताओं का उल्लेख कर सकते हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. **व्यवस्थितता** (Systematization)–विज्ञान की सर्व-प्रथम महत्त्वपूर्ण शर्त 'ज्ञान की व्यवस्थितता' है। यह व्यवस्थितता वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर लायी जा सकती है।

2. **आनुभविकता** (Empiricism)—विज्ञान आनुभविक होता है एवं एक वैज्ञानिक अपने तथ्यों को इन्द्रियानुभव (Sense Experience) के आधार पर ही स्वीकार करता है। वे अनुभव जो इन्द्रियों से परे हैं या जिनका आधार अन्तर्ज्ञान (Intuition) या दैविक है, वे विज्ञान में नहीं रखे जाते।

3. **कारणता** (Causality)—विज्ञान की तीसरी प्रमुख शर्त कारणता है। ज्ञान को समझने का यह एक बौद्धिक स्वरूप है जो इस बात की विस्तार से विवेचना करता है कि तथ्य ऐसा क्यों है ?

4. **वस्तुनिष्ठता** (Objectivity)—विज्ञान वस्तुनिष्ठ होता है। वह अच्छाई-बुराई, सही-गलत से परे व्यक्तिगत अभिरुचियों से स्वतन्त्र घटनाओं की वैसी ही व्याख्या करता है, जैसी वे हैं।

5. **निरन्तरता** (Continuity)—विज्ञान संचयी (Cumulative) होता है, अर्थात् विज्ञान हमेशा निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। **न्यूटन** ने लिखा है कि "अगर मैं आगे देख सका हूँ तो उसका कारण यह रहा है कि मैं दिग्गजों के कन्धों पर खड़ा हूँ।"

6. **संशयवादिता** (Scepticism)—विज्ञान जिसका अध्ययन वह करता है, उसे सत्य मानकर नहीं चलता, वल्कि वह उसमें संशय उत्पन्न करता है और यह दृष्टिकोण अपनाता है कि क्या यह सत्य है ?

समाजशास्त्र एक विज्ञान के रूप में :
(Sociology as a Science)

विज्ञान की विशेषताओं के प्रतिपादन से हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र में वैज्ञानिक अध्ययन की क्या प्रक्रिया होनी चाहिये। **कॉम्ट, दुर्खीम, परेटो** व

---

1. Sjoberg & Nett : A Methodology for Social Research ; P. 23–31.

अन्य प्रतिष्ठित समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने पर वल दिया। समाजशास्त्र को एक विज्ञान मानने के अनेक तर्क दिये जा सकते हैं जिनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं—

1. **समाजशास्त्र व्यवस्थित है** (Sociology is Systematic) :—समाजशास्त्र एक व्यवस्थित विज्ञान माना जाता है। यह व्यवस्थितता समाजशास्त्र को वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method) का प्रयोग करने से प्राप्त होती है। समाजशास्त्र सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन, विश्लेषण एवं निर्वचन वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर करता है।

2. **समाजशास्त्र आनुभविक है** (Sociology is Empirical) :—समाजशास्त्रीय अध्ययनों में हम सामाजिक प्रघटना को इन्द्रियगत अनुभवों (Sense Experiences) के आधार पर समझते हैं, अतः समाजशास्त्र आनुभविक माना जाता है। समाजशास्त्रीय निष्कर्ष अन्तर्ज्ञान (Intuition) या दैविक आधार पर नहीं प्राप्त किये जाते हैं, अतः वे वैज्ञानिक होते हैं।

3. **समाजशास्त्र एवं कारणता** (Sociology and Causality) :—अरस्तु ने वैज्ञानिक ज्ञान की एक आवश्यक शर्त यह रखी कि हमें किसी वस्तु के कारण को जानना चाहिये। समाजशास्त्र विस्तृत रूप से अपने अध्ययनों में कारणों पर विचार करता है, अतः यह वैज्ञानिक ज्ञान के इस विशिष्ट मानदण्ड को पूरा करता है।

4. **समाजशास्त्र वस्तुनिष्ठ है** (Sociology is Objectiive):—समाजशास्त्र प्रघटनाओं का अध्ययन वस्तुनिष्ठता के आधार पर ही करता है। समाजशास्त्र क्या है ? का वर्णन व विश्लेषण करता है। "क्या होना चाहिये" या "यह होता तो अच्छा होता'—जैसे अध्ययन समाजशास्त्र में नहीं किये जाते हैं।

5. **समाजशास्त्र एवं निरन्तरता** (Sociology and Continuity) :—समाजशास्त्रीय अध्ययन भी वैज्ञानिक अध्ययनों की भाँति अन्तिम सत्य नहीं होते हैं। हैरी जॉनसन ने कहा है कि वैज्ञानिक ज्ञान संचयी (Cumulative) होता है अर्थात् जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन विज्ञान करता है और जिन तथ्यों को विज्ञान खोजता है वे अन्तिम सत्य न होकर इस तरह प्रस्थापित किये जाते हैं कि नवीन तथ्यों के आधार पर सत्य का नया स्वरूप उभर सके[1]

6. **समाजशास्त्र एवं सशंयवादिता** (Sociology and Scepticism) :—समाजशास्त्र अपने ज्ञान को सत्य मानकर नहीं चलता, वल्कि उसमें संशय उत्पन्न करता है। इस संशय का निवारण वह नियमों के परीक्षण एवं पुर्ननिरीक्षण के द्वारा करता है। दुर्खीम के आत्म-हत्या-सम्वन्धी नियम,[1] वेवर का धर्म-सम्वन्धी

---

1. **Emile Durkheim** : Suicide.

सिद्धान्त,[1] सीमल का संघर्ष सिद्धान्त,[2] सोरोकिन का संस्कृति सिद्धान्त[3] पुनः परीक्षण के उपरान्त ही प्रमाणित पाये गये।

इन उपर्युक्त आधारों के अलावा भी समाजशास्त्र को वैज्ञानिक मानने के कुछ निम्नलिखित कारण और हैं :

1. समाजशास्त्र वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method) का प्रयोग करता है।
2. समाजशास्त्र भविष्यवाणी (Prediction) करने की क्षमता रखता है।
3. समाजशास्त्रीय नियम सार्वभौमिक (Universal) होते हैं।
4. समाजशास्त्र में निश्चितता (Definiteness) है।
5. समाजशास्त्र समस्याओं को सुलझाता है।
6. समाजशास्त्र में सिद्धान्तों की स्थापना की जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है। एलेक्स इन्केलस ने लिखा है कि "अन्य विज्ञानों की भाँति यह (समाजशास्त्र) भी इस विचार को लेकर चलता है कि प्रकृति में एक व्यवस्था है और उस व्यवस्था को खोजा जा सकता है, बताया जा सकता है और समझा जा सकता है। जिस प्रकार भौतिकशास्त्र भौतिक वस्तुओं के वास्तविक सम्बन्धों को निर्दिष्ट करने वाली निहित व्यवस्था को बताता है, नक्षत्रशास्त्र नक्षत्रों की व्यवस्था को बताता है,........उसी प्रकार समाजशास्त्र उस व्यवस्था को खोजने, बताने और समझाने का प्रयत्न करता है, जो मनुष्य के सामाजिक जीवन का लक्षण बनी हुई है।

समाजशास्त्र एक विज्ञान नहीं है। (Sociology is not a Science):

अनेक विचारकों ने समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति पर अपनी आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। समाजशास्त्र की प्रकृति को वैज्ञानिक मानने में मूलतः उन दार्शनिकों एवं सामाजिक सिद्धान्तकारों ने विरोध प्रकट किया है जिन्होंने प्राकृतिक विज्ञानों और ऐतिहासिक, सामाजिक व सांस्कृतिक विज्ञानों में कठोर अन्तर करने की चेष्टा की है। इवान्स प्रिचार्ड (E. E. Evans Pritchard) ने लिखा है कि "मेरी दृष्टि में सामाजिक मानवशास्त्र, सामाजिक इतिहास, सामाजिक संस्थाओं और

---

1. Max Weber : The Protestent Ethic and the Spirit of Capitalism.
2. George Simmle : The Sociology of Conflict, Trans. Small American Journal of Sociology, 490–529.
3. P. A. Sorokin : Social and Cultural Dynanics. Vol. f. p. 103

विचारों का इतिहास वर्णनात्मक एवं राजनैतिक इतिहास के विपरीत ऐतिहासिक ज्ञान की एक शाखा के रूप में है, न कि प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति ।[1]

समाजशास्त्र को एक विज्ञान न मानने के पक्ष में गुडे एवं हट्ट (Goode and Hatt) ने 'मैथड्स इन सोशल रिसर्च' में इस बात को स्पष्ट किया है कि मानवीय व्यवहार को वैज्ञानिक अध्ययन से न समझ पाने के कुछ कारण हैं। उनके अनुसार ये कारण निम्नलिखित हैं:[2]

1. मनुष्य का व्यवहार अत्यन्त परिवर्तनशील (Changeable) है और वह एक समय से लेकर दूसरे समय तक इतना भिन्न हो जाता है कि किसी प्रकार की भविष्यवाणी मनुष्य के व्यवहार के बारे में करना कठिन लगता है।

2. मनुष्य का व्यवहार बहुत जटिल (Complex) एवं बड़ा भ्रामक भी है जिससे कि सही रूप में मनुष्य के व्यवहार के बारे में किसी सिद्धान्त का निर्माण करना कठिन प्रतीत होता है।

3. साथ ही मनुष्य स्वयं मनुष्य का अध्ययन करता है जिससे अध्ययन-कर्त्ता के स्वयं के विचार, भावनायें, व पूर्वाग्रह उसके अध्ययन को प्रभावित कर सकते हैं।

4. प्रयोगशाला (Laboratory) की नियन्त्रित स्थिति सामाजिक क्षेत्र में सम्भव नहीं है। हम समूह, परिवार, भीड़ जैसी स्थितियों को प्रयोगशाला में अपनी इच्छानुसार निर्मित नहीं कर सकते।

समाजशास्त्र को विज्ञान मानने के विपक्ष में जो तर्क प्रस्तुत किये गये, उनके कुछ प्रमुख कारण थे जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं:

1. **सामाजिक प्रघटनाओं की जटिलता** (Complexity of Social Phenomena) :—समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के संदर्भ में एक सबल तर्क यह दिया जाता है कि प्राकृतिक विज्ञानों की अपेक्षा सामाजिक प्रघटनायें अत्यन्त जटिल होती हैं। इसका कारण सामाजिक सम्बन्धों की परिवर्तनशीलता है। जॉर्ज लुण्डबर्ग लिखते हैं कि "मानव-समूह व्यवहार का एक वास्तविक विज्ञान होने के लिए सम्भवत: सर्वाधिक महत्त्व की उत्तेजक बाधा इसकी अध्ययन-वस्तु की जटिलता है।[1]

2. **वस्तुनिष्ठता का अभाव** (Lack of Objectivity) :—समाजशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानों में जैसी वस्तुनिष्ठता नहीं पायी जा सकती। इसका कारण यह है कि समाजशास्त्री जिन सामाजिक प्रघटनाओं का अध्ययन करता है, वह स्वयं भी उसका एक अविभाज्य अंग होता है। परिणाम-स्वरूप उसका पूर्वाग्रह, उसकी पसन्द तथा नापसन्द उसके अध्ययन को प्रभावित करती हैं।

---

1. E. E. **Evans Pritchard** : *Social Anthropology*; p. 11
2. **Goode & Hatt** : *Methods in Soical Research.*, p. 3.

3. **सामाजिक प्रघटनाओं की गतिशीलता** (Dynamic Nature of Social Phenomena) :—भौतिक या प्राकृतिक विज्ञानों के विपरीत समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के विरुद्ध एक और आपत्ति यह लगायी जाती है कि सामाजिक प्रघटनाओं की प्रकृति अत्यन्त गतिशील एवं परिवर्तनशील होती है। गतिशीलता एवं परिवर्तनशीलता वैज्ञानिक ज्ञान में बाधक होती हैं।

4. **एकरूपता का अभाव** (Lack of Homogeneity) :—सामाजिक प्रघटनाएँ सदैव समान नहीं होतीं और जब वे विभिन्न होती हैं तो वैज्ञानिक विधि का प्रयोग नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत प्राकृतिक प्रघटनाएँ सदैव समान होती हैं, जैसे सूर्य की गर्मी एवं चन्द्रमा की शीतलता सभी स्थानों पर समान होती हैं, परन्तु 'परिवार की संरचना' सभी स्थानों पर अलग-अलग होती है।

इनके अतिरिक्त कुछ सामान्य आक्षेप भी समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति पर लगाये जाते हैं जो निम्नलिखित हैं :

1. समाजशास्त्र में सामाजिक प्रघटनाओं को मापा नहीं जा सकता।
2. समाजशास्त्र में प्रयोगशाला (Laboratory) का अभाव है।
3. समाजशास्त्र में भविष्यवाणी करने की क्षमता नहीं है।
4. समाजशास्त्र में परिशुद्धता (Accuracy) का नितान्त अभाव पाया जाता है।
5. समाजशास्त्र में सार्वभौमिकता (Universality) का अभाव पाया जाता है।
6. समाजशास्त्र में स्वतन्त्रता व अनिश्चितता होती है।
7. समाजशास्त्र की विषय-वस्तु गुणात्मक (Qualitative) होती है।
8. समाजशास्त्र में कार्य-कारण सम्बन्धों का नितान्त अभाव पाया जाता है।
9. समाजशास्त्र में पूर्वानुमान की क्षमता नहीं है।
10. समाजशास्त्र मूल्य-तटस्थ (Value-Neutral) नहीं है।

उपर्युक्त आधारों पर समाजशास्त्र को सामान्यत: विज्ञान नहीं माना जाता है।

2. समाजशास्त्र की मानविकी प्रकृति:
(Humanistic Nature of Sociology)

समाजशास्त्र को जब विज्ञान मानकर इसे औपचारिक एवं नियमबद्ध तथा प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति ही मशीनी प्रवृत्ति का एक शास्त्र बनाने का उपक्रम किया गया तो यह शास्त्र मानवीय समस्याओं को समझने तथा उनका व्यावहारिक समाधान करने से विलग हो गया। अत: कुछ ऐसे विचारक थे जो दूसरी दिशा में सोचने लगे ताकि इसे मानवीय रंग दिया जा सके। तब यह माना गया कि सामा-

---

1. George Lund berg : Op. cit,. p. 16

जिक प्रघटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या निरर्थक है और यथार्थ (Reality) को समझने में अनुपयोगी है। समाजशास्त्रियों ने इस बात से भी असंतोष व्यक्त किया कि वैज्ञानिक पद्धतियों, आँकडों की बहुलता, कम्प्यूटरों का उपयोग तथा अपार धन-राशि खर्च करने के बाद भी समाजशास्त्र वह स्थिति प्राप्त नहीं कर पा रहा है जिससे कि हम समाज को भलीभाँति समझ सकें।

इस प्रकार समाजशास्त्र में एक नवीन दृष्टिकोण का जन्म हुआ जिसे हम मानविकी दृष्टिकोण के नाम से जानते हैं। सुदीर्घ काल-पूर्व **मैक्स वेबर** (Max Weber) ने भी इसी दिशा में एक प्रयास किया था।

मैक्स वेबर (Max Weber) ने इस बात पर जोर दिया था कि समाजशास्त्र को समाज में अपने स्पष्टीकरणों का आधार लोगों के कार्यों एवं अभिप्रेरणाओं की आन्तरिक समझ में बनाना चाहिए। **अल्फ्रेड शूट्ज** (Alfred Schutz) ने वेबर की निगमनात्मक पद्धति के साथ **एडमण्ड हुसरल** (Edmond Husseral) के घटना क्रियावाद को मिला दिया। इसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि मनुष्य प्रतिबिम्ब और व्याख्या की अनन्त प्रक्रिया के माध्यम से अपने अनुभवों को अर्थ देता है। **शूट्ज** (Schutz) के अनुसार समाजशास्त्र का उत्तरदायित्व पहले उस कार्य को समझना है जो व्यक्तियों ने अपने अनुभवों को दिया और तब उन अनुभवों और उनके अर्थों का अधिक मूर्त्त स्पष्टीकरण करना है।

मानवीय प्रकृति के समर्थकों की इस विचारधारा ने इस बात पर भी बल दिया कि 'हमें क्या करना चाहिए।[1] **रॉबर्ट लाइण्ड** (Robert Lyand) ने अपनी प्रसिद्ध कृति **'ज्ञान किस लिए'** (Knowledge for What) में इसी विचारधारा का उल्लेख किया है। स्थिति यह हो गई है कि **'ज्ञान किस लिए'** बदलकर **'ज्ञान किसके लिए'** (Knowledge for whom) को प्रस्तुत किया गया। लाइण्ड लिखता है कि "सामाजिक विज्ञान वास्तव में समाज के तनाव एवं संस्कृति की अनियमितता का सामना करने का साधन है।[1] **क्रान्तिकारी समाजशास्त्र** (Radical Sociology) का जन्म भी इसी कारण हुआ, जिसमें इस बात की स्पष्ट विवेचना की गई कि समाजशास्त्रियों को अपने ज्ञान का उपयोग गरीब व शोषित वर्ग के लाभ के लिए करना चाहिए, न कि उद्योगपतियों और अभिजात वर्ग के लोगों के लाभ के लिए।

सी. राईट मिल्स (C. Wright Mills) ने इस बात पर चिन्ता प्रकट की कि "समाजशास्त्र ने सुधार के पक्ष को भुला दिया है, आधुनिक युग में स्वतन्त्रता एवं विवेक से बड़ा खतरा है, परन्तु आधुनिक समाजशास्त्र इस स्वतन्त्रता एवं विवेक की रक्षा करने के लिए आगे नहीं आ रहा है।[2]

---

1. **Robert Lynd : Knowledge for What ? p. 114, 120, 181.**
2. **C. Wright Mills : Sociological Imagination; p. 165-176.**

इस प्रकार समाजशास्त्र में एक नवीन मानवीय प्रकृति का आगमन हुआ। इस मानवीय प्रकृति के समर्थकों ने समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति का विरोध किया और एक तरह से इसे असंगत ठहराया।

मानवीय प्रकृति के समर्थक :
(The Supporters of Humanistic Nature)

समाजशास्त्र की मानवीय प्रकृति का अनेक समकालीन समाजशास्त्रियों ने समर्थन किया है। इस विचारधारा के समर्थक मूलतः वे लोग हैं जो परम्परागत समाजशास्त्र को पसन्द नहीं करते हैं और एक प्रकार से उसके विरोधी हैं। इसका कारण यह है कि मानवीय प्रकृति का जन्म ही **विज्ञानवाद** (Scienticism) के विरोध में हुआ है।

मानवीय प्रकृति के प्रमुख समर्थकों में हम **नव-मार्क्सवादियों** (New Marxian), अल्फ्रेड शूट्ज (Alfred Schutz), **हेरॉल्ड गार्फिकेल** (Harold Garfinkel), **सी. राईट मिल्स** (C. Wright Mills), **एलविन गाउल्डनर** (Alvin Gouldner), **टर्नर** (Turner), **सिसोरल** (Cicowrel), **सैक्स** (Sacks) व अनेक समकालीन समाजशास्त्रियों को सम्मिलित करते हैं।

मानवीय प्रकृति के समर्थकों में **सी. राईट मिल्स** का नाम अति महत्त्वपूर्ण है। **सी. राईट मिल्स** ने अपनी कृति **'द सोशियोलॉजिकल इमेजिनेशन'**-में परम्परागत समाजशास्त्र को चुनौती दी थी। मिल्स उन समाजशास्त्रियों में से एक है जिन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही परम्परागत समाजशास्त्रीय सीमा से हटकर काम किया।

स्वीडन के **गुनार मिर्डल** (Gunnar Mirdal) ने लिखा है कि "अस्त-व्यस्तता अपने आप व्यवस्था में नहीं बदल जाती। हमें दृष्टिकोण चाहिए और दृष्टि-कोण मूल्य को लेकर चलते हैं। इसलिए 'निर्लिप्त समाज विज्ञान' इस दृष्टिकोण से निरी मूर्खता है। यह 'निर्लिप्त समाज विज्ञान' न कभी रहा है और न कभी रहेगा।[1]"

अल्फ्रेड शूट्ज मानवीय प्रकृति के प्रबल समर्थकों में से एक हैं। शूट्ज ने प्रसिद्ध दार्शनिक एडमण्ड हसरल के तथाकथित घटना-क्रियावादी (Phenomenological) उपागम को समाजशास्त्र में लागू किया। शूट्ज ने अनेक एकल अध्ययनों (Case Studies) द्वारा यह समझाने का प्रयास किया कि विशिष्ट सामाजिक स्थितियों का उनके लिए विशिष्ट अर्थ होता है जो उनमें भाग लेते हैं।

---

1. Gunnar Mirdal : The Relation between Social Theory and Social Policy, British Journal of Sociology, 1953; p. 242.

संयुक्त राज्य अमेरिका में एक नया सम्प्रदाय 'एथनोमेथडोलोजिस्ट्स' (Ethnomethodologists) का है, जिसके सदस्य शूट्ज के विचारों से प्रभावित हैं और इसे 1960 में लॉस ऐन्जिल्स में केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के हेराल्ड गार्फिन्केल के इर्द-गिर्द एकत्रित शोधकर्त्ताओं के समूह ने विकसित किया।[1] इसके बाद यह अमेरिका के अन्य भागों में तथा यूरोप के समूहों में विकसित हुआ और इसने व्यापक रूप से ध्यान आकर्षित किया। यह सम्प्रदाय नये समाजशास्त्रियों के मध्य अधिक लोकप्रिय हुआ जो अपने आपको समाजशास्त्रीय स्थापना के विरुद्ध मानते थे। एलविन गाउल्डनर (Alvin Gouldner) ने भी 'दि कमिंग क्राइसेस ऑफ वेस्टर्न सोश्योलॉजी' में मानवीय प्रकृति का समर्थन किया है।[2] गाउल्डनर का नाम उन समाजशास्त्रियों की सूची में मुख्य है जिन्होंने समाजशास्त्र को राजनैतिक प्रतिवद्धता से मुक्त एक अनुशासन के रूप में पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। गाउल्डनर ने अपनी पुस्तक का एक बहुत बड़ा भाग पारसन्स (Parsons) की और अमेरिकी समाजशास्त्र के तथाकथित संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक सम्प्रदाय (Structural-Functional School) की आलोचना में लिखा है—"हमें ध्यान रखना चाहिए कि पारसन्स समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के अत्यन्त प्रवल समर्थक थे। इसी पुस्तक में गाउल्डनर ने बाद में 'प्रतिवर्तात्मक समाजशास्त्र' (Reflexive Sociology) के दृष्टिकोण को भी प्रस्तुत किया है।

इनके अलावा पीटर बर्जर (Peter Berger) की प्रमुख पुस्तक 'इनविटेशन टु सोश्योलॉजी' भी मानवीय प्रकृति का समर्थन करती है। स्वयं बर्जर के अनुसार मानवीय दृष्टिकोण जर्मन और फ्रांसीसी परम्पराओं की श्रेणी में है।[3]

इस प्रकार समाजशास्त्र की प्रकृति को लेकर दो प्रकार के मत प्रचलित हैं। यद्यपि वैज्ञानिक प्रकृति के समर्थक और मानवीय प्रकृति के समर्थक अपनी पद्धतियों एवं समाजशास्त्र के उपयोग में मतभेद रखते हैं, तथापि दोनों ही प्रकृतियों का मूल लक्ष्य सामाजिक प्रघटना को समझना है। यह स्थिति विषय की परिपक्वता की द्योतक मानी जानी चाहिए।

समाजशास्त्र की प्रकृति के दोनों मतों की विवेचना के बाद अन्त में हम रॉवर्ट बियरस्टेड (Robert Bierstedt) के विचारों का उल्लेख करना चाहेंगे। बियरस्टेड ने समाजशास्त्र की प्रकृति का एक विशेष प्रकार से उल्लेख किया है।

---

1. Harold Garfinkel : Studies in Ethnomethodology; 1967.
2. Alvin Gouldner : The Coming Crisss of Western Sociology: 1971.
3. Peter Berger : Invitation to Sociology; 1970.

आपके अनुसार समाजशास्त्र की प्रकृति में निम्नलिखित विन्दुओं को सम्मिलित करना चाहिए।[1]

1. समाजशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है, न कि प्राकृतिक विज्ञान।
(Socialogy is a Social Science and not a Natural Science)
2. समाजशास्त्र एक निरपेक्ष विज्ञान है, न कि आदर्शात्मक।
(Sociology is a Categorical Science and not a Normative Science)
3. समाजशास्त्र एक परिशुद्ध विज्ञान है, न कि व्यावहारिक।
(Sociology is a Pure Science and not an Applied one)
4. समाजशास्त्र सापेक्षिक रूप से एक अमूर्त्त विज्ञान है, न कि मूर्त्त।
(Sociology is a Relatively Abstract Science and not a Concrete one)
5. समाजशास्त्र एक सामान्यीकरण का विज्ञान है, विशिष्टवादी अथवा व्यक्तिवादी नहीं।
(Sociology is a Generalizing and not a Particularizing or Individualizing Science)
6. समाजशास्त्र एक तार्किक एवं अनुभवात्मक विज्ञान है।
(Sociology is both a Rational and an Empirical Science)
7. समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक विज्ञान है, विशिष्ट विज्ञान नहीं।
(Sociology is a General not a Special Social Science)

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य
(Sociological Perspective)

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की विवेचना से पूर्व यह उपयुक्त होगा कि हम यह समझलें कि परिप्रेक्ष्य क्या है ?

किसी शास्त्र के सन्दर्भ में 'परिप्रेक्ष्य' (Perspective) का अर्थ यह है कि उसके अध्ययन में विश्लेषण इकाई को एक विशेष दृष्टि से देखा जाये। किसी भी प्रघटना (Phenomenon) या वस्तु-स्थिति एवं गतिविधि के अनेक आयाम (Dimensions) हो सकते हैं। अध्ययन करने वाला अवलोकन-कर्त्ता इन आयामों में

1. Robert Bierstedt: The Social Order; p. 11-15.

से कुछ आयामों पर विशेष ध्यान देता है और अन्य आयामों को अनदेखा कर देता है। यह प्रवृत्ति ही उसके विशेष **परिप्रेक्ष्य** (Perspective) या **दृष्टिकोण** की परिचायक है। किसी निश्चित उद्देश्य के लिए उपयुक्त परिप्रेक्ष्य वह होता है जो उस उद्देश्य के साथ कोई पूर्ण या अन्तिम प्रतिबद्धता नहीं रखता। विश्लेषण की विषय-वस्तु के प्रति **परिप्रेक्ष्यों की अनेकता** (Multiplicity of Perspectives) के परिणाम-स्वरूप किसी अध्ययन में अनेक सम्प्रदाय जन्म लेते हैं। एक ही परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित विभिन्न सम्प्रदाय एक-दूसरे के सहायक होते हैं।

अनेक बार इस सम्बन्ध में मतभेद दिखाई देता है कि किसी प्रघटना या विषय-वस्तु (Subject-Matter) का अध्ययन किस विषय के अन्तर्गत किया जाये और उसी विषय के अन्तर्गत क्यों किया जाये ? वस्तुतः यह प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि यह प्रश्न कि उस विशेष प्रघटना या विषय-वस्तु का अध्ययन किस परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण से और किस **सन्दर्भ-परिधि** (Frame of Reference) को ध्यान में रखकर किया जाये। एक ही प्रघटना या विषय-वस्तु का अध्ययन अलग-अलग विज्ञान कर सकते हैं, परन्तु उनके अध्ययन का **परिप्रेक्ष्य** या **दृष्टिकोण** (View-point) अथवा सन्दर्भ-परिधि भिन्न-भिन्न होंगे। विभिन्न विज्ञानों अथवा विषयों में विषय-वस्तु के समान होने पर भी परिप्रेक्ष्य की भिन्नता उन विषयों के अध्ययन की सीमाओं को स्पष्ट कर देती है।

प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि अनेक ऐसे अन्य सामाजिक विज्ञान (Social Sciences) हैं जो मानव समाज (Human Society) के अध्ययन में कार्यशील हैं, जैसे अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, राजनीति विज्ञान, लोक प्रशासन, दर्शनशास्त्र आदि। इस प्रकार विभिन्न विषयों ने सामाजिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों को अपने-अपने परिप्रेक्ष्य से समझने का प्रयास किया है। इस प्रकार सामाजिक प्रघटना को अनेक दृष्टिकोणों से समझा व विश्लेषित किया जा सकता है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि हर विषय अपने व्यापक परिप्रेक्ष्य की परिधि में एक सामाजिक प्रघटना को समझने का दायित्व उठाता है।

उदाहरण के लिए हम यह देखते हैं कि **अर्थशास्त्र** (Economics) का परिप्रेक्ष्य **आर्थिक** (Economic) है, अर्थात् एक अर्थशास्त्री किसी वस्तु का अध्ययन **आर्थिक दृष्टिकोण** से करता है। अर्थशास्त्री अपने अध्ययन से यह जानने का प्रयत्न करेगा कि वस्तु का क्रय और विक्रय मूल्य क्या है तथा उसे बेचने से कितना लाभ होता है या हानि होती है। इस प्रकार अर्थशास्त्रियों की आर्थिक घटनाओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने की क्षमता अपूर्ण होती है और इसका कारण उनका विशिष्ट परिप्रेक्ष्य है। वे व्यक्तिगत प्रेरणाओं, प्रयोजनों तथा संस्थात्मक बाधाओं जैसे कारकों को आवश्यक महत्त्व नहीं दे पाते हैं। **इतिहास** (History) भी सामाजिक प्रघटनाओं की व्याख्या **ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य** (Historical Perspective) से करता है। इतिहासकार का काम अपने विशिष्ट परिप्रेक्ष्य के कारण अत्यन्त

सरल हो जाता है। वह यह पता लगाने का प्रयास करता है कि किस समयावधि (क्रम) में विभिन्न घटनायें घटित हुईं। इतिहासकार सामान्यतः स्वयं को भूतकाल (Past) के अध्ययन तक सीमित रखता है। इस प्रकार उसका प्रमुख कार्य विभिन्न कालों में संस्थात्मक स्वरूपों का अध्ययन करना नहीं होता। यह कार्य समाजशास्त्री करता है। **राजनीति विज्ञान** (Political Science) वस्तु या घटना का अध्ययन इस दृष्टिकोण से करेगा कि वह राज्य, शक्ति, शक्ति-सम्बन्धों, सरकार एवं विभिन्न राजनैतिक दलों आदि के प्रभाव को देख पाये। इस प्रकार राजनीति-विज्ञानी राजनैतिक **परिप्रेक्ष्य** (Political Perspective) से वस्तु या घटना को समझने का प्रयास करता है।

मनोविज्ञान (Psychology) का अध्ययन-केन्द्र व्यक्ति है, अतः वह व्यक्तित्व (Personality) के अध्ययन पर विशेष जोर देता है। मनोविज्ञान अपने **मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य** के अन्तर्गत व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों का सम्बन्ध व्यक्ति की मानसिक संरचना के साथ जोड़कर देखता है। इसी प्रकार **मानवशास्त्र** (Anthropology) विश्व के किसी भी क्षेत्र में निवास करने वाले आदिम मानव (Primitive Man) के जीवन के समस्त पक्षों के अध्ययन से स्वयं को सम्बन्धित करता है और यही **मानवशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य** (Anthropological Perspective) भी है।

समाजशास्त्र इनसे सर्वथा भिन्न परिप्रेक्ष्य से सामाजिक घटनाओं एवं विषय-वस्तु का अध्ययन व विश्लेषण करता है। **किंग्सले डेविस** ने लिखा है कि "मौलिक रूप से हम (समाजशास्त्री) समाज को एक व्यवस्था (अर्थात् एक कार्यशील अंग) तथा सामाजिक सम्बन्धों जिनमें उनके भेद सम्मिलित नहीं हैं, के रूप में देखते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हम इसकी परिधि में सम्पूर्ण विश्व-ज्ञान कोष सम्मिलित कर लेते हैं अथवा उन समस्त तथ्यों को सम्मिलित कर लेते हैं, जिन्हें दूसरे समाज विज्ञान अपने अन्दर समेटे हुए हैं। अपितु हम इसे एक विशेष विज्ञान मानते हैं जो ऐसे कार्य में लगा हुआ है, जिसके द्वारा विभिन्न समाज अपनी एकता तथा निरन्तरता को प्राप्त करते हैं और आवश्यकतानुसार परिवर्तित भी होते हैं। समाज के इस प्रकार के विश्लेषण को ही सामान्य रूप से समाजशास्त्र कहा जाता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी **प्रघटना** (Phenomenon), अथवा विषय-वस्तु का विश्लेपण अनेक विज्ञान या विषय करते हैं, परन्तु उनके अध्ययन का परिप्रेक्ष्य अलग-अलग होता है '**मनुष्य** (Man) **एवं उसके समाज** (Society), को अनेक परिप्रेक्ष्यों से समझा व विश्लेषित किया जाता है। अर्थशास्त्र उसके आर्थिक पक्ष का, मनोविज्ञान उसके मानसिक पक्ष का, इतिहास उसके ऐतिहासिक पक्ष का, राजनीति विज्ञान उसके राजनैतिक पक्ष का, नृत्तत्त्वशास्त्र उसके आदिम जीवन के पक्ष का, लोक प्रशासन उसके प्रशासनिक पक्ष का और समाजशास्त्र मोटे तौर पर उसके 'सामाजिक पक्ष' का अध्ययन करता है।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का अर्थ
(Meaning of Sociological Perspective)

'समाज' का अध्ययन विभिन्न विज्ञानों ने समय-समय पर किया है और सामाजिक जीवन, सामाजिक संस्थाएँ एवं सामाजिक प्रतिमानों को भी समय-समय पर अनेक विद्वानों ने विश्लेपित किया है। परन्तु एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य से सामाजिक प्रघटनाओं को समझाने का प्रयास फ्रेंच दार्शनिक ऑगस्त काम्ट (Auguste Comte) से माना जाता है। कॉम्ट ने ही सबसे पहले 1838 ई० में 'समाजशास्त्र' (Sociology) शब्द का निर्माण किया और सामाजिक विज्ञानों में इसे एक विशिष्ट व नवीन विषय के रूप में प्रस्थापित करने का प्रयास किया।[1] एडवर्ड शिल्स (Edward Shills) ने लिखा है कि "समाजशास्त्र के प्रारम्भिक विकास में कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं हैं। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के विषयों ने समाजशास्त्र की स्थापना का विरोध किया, जिसका कारण अशैक्षणिक ही था। वस्तुतः किसी भी नये विषय की स्थापना व प्रगति से स्थापित विषयों को एक प्रकार का खतरा दिखाई देता है, जिसमें उन विषयों को यह भय रहता है कि नवीन विषय उनके साम्राज्य को कहीं नष्ट न कर दें। अतः जो प्रतिक्रियाएँ समाजशास्त्र के विरोध में प्रारम्भ हुईं, वे प्रायः असुरक्षा की भावना से प्रेरित थीं।"[2]

समाजशास्त्र को परिभाषित करना भी सरल नहीं है और न ही इसकी एक सर्वमान्य परिभाषा ही दी जा सकती है। समाजशास्त्र को अनेक विद्वानों ने अनेक आधारों पर परिभाषित किया है। लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति समाज के किसी पहलू विशेष को लेकर नहीं चलता, वल्कि सम्पूर्ण समाज पर प्रकाश डालता है, अर्थात् मनुष्य के भीतर विद्यमान 'सामाजिकता' की वैज्ञानिक विवेचना करता है।

समाजशास्त्र की परिभाषाओं की व्याख्या हम इस अध्याय के प्रारम्भ में विस्तार से दे आये हैं। इसी पारिभाषिक विश्लेषण के आधार पर हम यहाँ 'समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य' या दृष्टिकोण को सुविधापूर्ण ढंग से समझ सकते हैं। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में हम व्यक्ति का समूह में अथवा समूह (Group) का अध्ययन करते हैं, जिसके अन्तर्गत एक ऐसे सामाजिक यथार्थ का निर्माण होता है जो सामाजिक सम्बन्ध अथवा ऐसी किसी प्रघटना का निर्माण करते हैं जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक महत्त्व है।"

जब हम समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की बात करते हैं तो इसका अभिप्राय यही है कि हम किसी भी वस्तु, घटना या व्यवहार का एक समाजशास्त्री के रूप में

---

1. Auguste Comte : Op. cit. : p. 1
2. Edward Shills : Op. cit. : p. 5

अध्ययन करते हैं, न कि एक इतिहासकार, मनोवैज्ञानिक, अर्थशास्त्री या राजनीतिशास्त्री के रूप में।[1]

इस प्रकार समाजशास्त्र एक विशेष दृष्टिकोण से सामाजिक प्रघटना का अध्ययन करता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण या परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत एक पक्ष तो सामाजिक सम्बन्धों का है, जिसके अन्तर्गत हम दो या दो से अधिक व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का, चाहे वे सहयोग के हों या संघर्ष के हों, एवं उनसे उत्पन्न प्रभावों व उनके निर्माण की परिस्थितियों का अध्ययन करते हैं। इसी दृष्टिकोण का दूसरा पक्ष यह है कि कोई भी वस्तु या प्रघटना हमारे सामाजिक सम्बन्धों सामाजिक संस्थाओं सामाजिक मूल्यों (Social Values), सामाजिक प्रस्थिति, (Social Status), सामाजिक प्रक्रिया एवं सामाजिक नियन्त्रण को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती है।[2]

इस प्रकार कोई वस्तु विशेष एक विषय के अन्तर्गत आये, यह आवश्यक नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम उस वस्तु का किस दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं अथवा हमारे अध्ययन की सन्दर्भ-परिधि (Frame of Reference) क्या है? इस प्रकार दृष्टिकोण की विभिन्नता के कारण हम एक ही वस्तु का अनेक दृष्टिकोणों से अध्ययन कर सकते हैं। कुछ उदाहरणों द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—एक कुर्सी को लिया जा सकता है। कुर्सी का अध्ययन एक वनस्पतिशास्त्री भी कर सकता है और वह इस दृष्टिकोण से अध्ययन करेगा कि कुर्सी की लकड़ी किस वर्ग में आती है? कुर्सी का अध्ययन एक अर्थशास्त्री भी कर सकता है, जो यह देखने का प्रयास करेगा कि कुर्सी कितने में खरीदी गयी, कितने में बेची गयी? उससे विक्रेता को क्या लाभ मिला अथवा क्या हानि हुई? एक समाजशास्त्री कुर्सी को प्रस्थिति प्रतीक (Status Symbol) के रूप में देखेगा। वह यह देखेगा कि उस कुर्सी पर किस पद (Status) का व्यक्ति बैठता है? हम यह जानते हैं कि वही लकड़ी की कुर्सी एक विशेष कक्ष में अधिकारी (Officer) के लिए सुरक्षित रहती है, जबकि लकड़ी की वैसी ही कुर्सी अगर कमरे के बाहर पड़ी है तो चपरासी के लिए होती है। अतः विभिन्न कुर्सियाँ विभिन्न पदों के प्रतीक के रूप में देखी जाती हैं। यह दृष्टिकोण समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य है।[3]

एक और उदाहरण हम टेनिस (Tennis) के खेल का ले सकते हैं। टेनिस के खेल के अध्ययन के भी अनेक परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण हो सकते हैं। एक अर्थशास्त्री (Economist) यह देखने का प्रयास करेगा कि इस खेल का आयोजन करने में कितनी लागत आयेगी एवं टिकटों के बिक जाने से कितनी आय होगी?

---

1. सिंधी एवं गोस्वामी : समाजशास्त्र विवेचन ; पृष्ठ 5
2. सिंधी एवं गोस्वामी : उपर्युक्त ; पृष्ठ 5
3. सिंधी एवं गोस्वामी : उपर्युक्त ; पृष्ठ 5

इससे कुल कितना लाभ या हानि होने की सम्भावना है ? यह अर्थशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से टेनिस खेल का अध्ययन है।

एक इतिहासकार (Historian) की रुचि निस्सन्देह 'टेनिस के इतिहास' में होगी। वह टेनिस की उत्पत्ति एवं उसके क्रमिक विकास का अध्ययन करने में अपनी रुचि प्रदर्शित करेगा।

एक राजनीतिशास्त्री (Politician) यह देखने का प्रयास करेगा कि किस राष्ट्र के साथ टेनिस खेलने में राजनैतिक सम्बन्धों को सुधारा जा सकता है अथवा क्या टेनिस के कप्तान का चयन उसके विशिष्ट राजनैतिक सम्बन्धों के कारण हुआ है ?

एक मनोवैज्ञानिक (Psychologist) खिलाडियों के मनोभावों या दर्शकों की खिलाडियों के प्रति मनःस्थिति का अध्ययन कर सकता है।

एक समाजशास्त्री (Sociologist) खिलाडियों के सम्बन्धों, सहयोग, संघर्ष, प्रतिस्पर्द्धा के दृष्टिकोण से एवं उनकी प्रस्थिति तथा भूमिका (Status and Role) के आधार पर तथा समग्र रूप में अलग-अलग खिलाडियों की क्रियाओं के आधार पर पायी जाने वाली व्यवस्था का अध्ययन करेगा। यही समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Sociological Perspective) है।

किंग्सले डेविस ने भी लिखा है कि "विभिन्न सामाजिक विज्ञानों की प्रकृति को समझने का सर्वश्रेष्ठ मार्ग यह है कि वे जो कुछ भी करते हैं, उस पर ध्यान दिया जाये, उनके कथन मात्र पर ही नहीं। इससे यह ज्ञात होगा कि विभिन्नता का मूलाधार मूर्त्त विषय-वस्तु की भिन्नता नहीं है, क्योंकि समस्त सामाजिक विज्ञान एक ही बाह्य मूर्त्त तत्त्व का अध्ययन कर रहे हैं। वह मूर्त्त तत्त्व है सामाजिक जीवन (Social Life)। वास्तव में भिन्नता केवल उनके दृष्टिकोण तथा 'ध्यान के संकेन्द्रण' (Focus of Attention) में है।[1]

इस प्रकार समाजशास्त्र समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य एवं विशिष्ट दृष्टिकोण से अन्य सामाजिक विज्ञानों से पृथक् है।

भारत एवं पश्चिम में समाजशास्त्र का विकास
(Development of Sociology in India & West)

समाजशास्त्र वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक दोनों ही आधारों से मानव-समाज का अध्ययन माना जा सकता है। समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास का ऐति-

1. Kingsley Davis : Human Society; p. 5

हासिक महत्त्व है और समाजशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए यह ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एक आदेश है, क्योंकि यह समाजशास्त्रीय विज्ञानों में उभरती हुई प्रवृत्तियों को व्यापक रूप से स्पष्ट करता है। यद्यपि समाजशास्त्र के आधारभूत लक्षण प्रकृति (Nature) की दृष्टि से सार्वभौमिक हैं, किन्तु प्रत्येक राष्ट्र एवं क्षेत्र की अपनी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक विशेषतायें होती हैं, इसलिए प्रत्येक राष्ट्र या क्षेत्र की दृष्टि से समाज विज्ञानों का अपना एक विशिष्ट स्वरूप बन जाता है। इसलिए हम ऐसे शीर्षकों से परिचित होते हैं, जैसे भारत का समाजशास्त्र, ब्रिटिश समाजशास्त्र या अमेरिकन समाजशास्त्र आदि।

समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास की व्याख्या सरल नहीं समझी जानी चाहिये। इसका कारण यह है कि अनौपचारिक रूप से सामाजिक जीवन का अध्ययन बहुत पहले से होता रहा है। मूलत: इसलिए **रॉबर्ट बियरस्टेड** (Robert Bierstedt) ने लिखा है कि "समाजशास्त्र का अतीत तो काफी लम्बा है, तथापि इसका इतिहास संक्षिप्त है।"[1]

मैकाइवर एवं पेज (Maciver & Page) ने भी लिखा है कि 'समाज का प्रत्येक क्रियाशील सदस्य एक 'समाजशास्त्री' (Sociologist) भी है, क्योंकि समाज में निवास करने के लिए समाज की क्रियाओं और प्रक्रियाओं में हिस्सा बँटाने के लिए उसे समाज के सम्बन्ध में कुछ न कुछ जानकारी होनी ही चाहिये। इसी जानकारी के आधार पर वह अपने सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में सोचता है, अपने परिवार, पड़ौस, नगर, गाँव, राष्ट्र के बारे में सोचता है, किसी समूह का सदस्य बनता है, धर्म, प्रथा, परम्परा एवं संस्कृति के अन्य तत्त्वों में स्वयं को भागीदार समझता है, और जीवन की दिन-प्रतिदिन की समस्याओं को सुलझाता है।"[2]

समाजशास्त्र का उद्भव (Origin of Sociology) :

आधुनिक युग में राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, एवं मानवशास्त्र महान् सामाजिक विज्ञान माने जाते हैं। इतिहास (History) भी मानव-समाज से सम्बन्वित है, पर यह आधुनिक समस्याओं से सम्बन्ध न रखने के कारण वैज्ञानिक अनुसंधान का विषय नहीं बन सका, यद्यपि विभिन्न सामाजिक विज्ञान को सामग्री प्रदान करने में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

इन पाँच प्रमुख सामाजिक विज्ञानों में **'राजनीतिशास्त्र'** (Political Science) सबसे पुराना विज्ञान है, और इसका आरम्भ हम **'अरस्तु'** (Aristotle) की कृति से मान सकते हैं। **अर्थशास्त्र** (Economics) का श्रीगणेश 18वीं

---

1. Robert Bierstedt : Op. cit.; p. 3
2. Maciver & Page : Society; p. 2

शताब्दी में 'एडम स्मिथ' (Edam Smith) से हुआ। 19वीं शताब्दी में 'समाजशास्त्र' (Sociology) का आरम्भ 'ऑगस्त कॉम्टे' (Auguste Comte) ने किया। मनोविज्ञान (Psychology) एवं मानवशास्त्र (Anthropology) समाजशास्त्र के जन्म के कुछ ही कालोपरान्त प्रारम्भ हुए। समाजशास्त्र के जन्म की कहानी को विधिवत् एवं व्यवस्थित रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम समाजशास्त्र के जन्म की कहानी को समाजशास्त्र के अतीत से प्रारम्भ करें।

प्राचीन समय में समाजशास्त्र (Sociology in Ancient Time)—एक विज्ञान के रूप में तथा विशेषकर एक पृथक् अध्ययन-क्षेत्र के रूप में समाजशास्त्र का उद्भव उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ। यद्यपि अनुमानों पर आधारित सामाजिक विचारधारा पुरातन काल से अभी तक चली आ रही है। वस्तुतः इन प्रारम्भिक प्रयासों को समाजशास्त्र का विकास और समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करने की पृष्ठभूमि तैयार करने वाले माने जा सकते हैं।

जहाँ तक पश्चिमी सभ्यता का प्रश्न है, सामाजिक जीवन के विषय में व्यवस्थित, क्रमबद्ध एवं सुनिश्चित अध्ययन का प्रथम प्रयास यूनानी दार्शनिकों ने किया। आज से लगभग पच्चीस सौ वर्ष पहले इन दार्शनिकों ने सामाजिक सम्बन्धों की सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की थी। इस दिशा में सर्व-प्रथम प्रयास मानव-विचारों के महान् ज्ञाता प्लेटो (Plato) (427–347 B. C.) का माना जा सकता है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'दि रिपब्लिक' (The Republic) में अनेक सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन का उल्लेख किया है। प्लेटो इस बात पर बल देते हैं कि व्यक्ति ठीक उसी प्रकार व्यवहार करता है, जिस प्रकार से समाज उसे व्यवहार कराना सिखाता है, अर्थात् व्यक्ति का व्यवहार (Individual Behaviour) उस समाज की उपज है जिसमें कि एक व्यक्ति जन्म लेता है और पलता है। प्लेटो ने अपनी इस कृति में अनेक स्थानों पर 'समुदाय' (Community) शब्द का भी प्रयोग किया है। हमें ध्यान रखना चाहिये कि प्लेटो के समय में यह मान्यता थी कि समाज को ईश्वर ने बनाया है, एवं वह ईश्वर-कृत नियमों पर चलता है। प्लेटो इस धारणा के विरोधी थे। उन्होंने यह प्रस्थापित करने का प्रयास किया कि 'समाज एक शरीर की भाँति है तथा इसके विभिन्न अंग एक-दूसरे से अन्तःसम्बन्धित एवं अन्योन्याश्रित हैं। प्लेटो का यह कार्य यद्यपि वैज्ञानिक धरातल पर प्रस्तुत नहीं किया गया था, फिर भी इसमें समाजशास्त्रीय विचारधारा के दर्शन सुगमता से किये जा सकते हैं।

प्लेटो के बाद उनका शिष्य 'अरस्तु' (Aristotle) भी अपने समय का सर्व श्रेष्ठ विचारक था। इनकी विद्वत्ता का प्रमाण इनकी दो कृतियाँ 'एथिक्स' (Ethics) एवं 'पोलिटिक्स' (Politics) दे देती हैं। मानव-प्रकृति का विश्लेषण करते हुए अरस्तु ने बताया कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' (Man is a

Social Animal) मनुष्य के सामुदायिक जीवन पर बल देते हुए अरस्तु ने कहा कि "वह मनुष्य जो एक सामान्य जीवन व्यतीत करने में असमर्थ है अर्थात् जो दूसरों के साथ मिल-जुलकर नहीं रह सकता, वह या तो पशु है या परमात्मा।"

मानवीय व्यवहारों के सम्बन्ध में अरस्तु के विचार प्लोटो से विपरीत हैं। प्लेटो के अनुसार समाज की व्यवस्था पर ही मानवीय व्यवहार आधारित हैं। लेकिन अरस्तु के अनुसार व्यक्ति के गुणों के आधार पर ही समाज आधारित है। वह मानवीय प्रकृति को अपरिवर्तित मानता था।

अरस्तु यह भी मानता था कि **परिवार** (Family) का स्थान **'राज्य'** (State) के पहले है तथा समुदाय (Community) परिवारों का ही संकलन है। इस प्रकार प्लेटो एवं अरस्तु, इन दोनों यूनानी विचारकों एवं दार्शनिकों ने समाज, समुदाय, परिवार, पारिवारिक जीवन, रीतियों, प्रथाओं, परम्पराओं, स्त्रियों की स्थिति आदि का वर्णन अत्यन्त विस्तार से अपनी-अपनी पुस्तकों में किया है। प्लेटो एवं अरस्तु के बाद भी अनेक विद्वानों के सिद्धान्तों में हमें समाजशास्त्रीय विचार-धारा के दर्शन होते हैं, इनमें **मारकस ऑरेलियस** (Marcus Aurelius), **सेंट आगस्टाइन** (St. Augustine), **लुक्रेटियस** (Lucretius), **सिसरो** (Cicero) आदि ने विभिन्न समाजों, उनमें पायी जाने वाली रीतियों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, परिवार, पारिवारिक जीवन, अपराध, दण्ड आदि अनेक समाजशास्त्रीय विषयों का अध्ययन व विश्लेषण करने का प्रयास किया।

13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद सामाजिक प्रघटनाओं के अध्ययन में **धर्म** (Religion) के स्थान पर **'तर्क'** (Logic) को महत्त्व दिया जाने लगा। इस समय के उल्लेखनीय विचारको में **थॉमस एक्यूनस** (Thomas Acquinas) एवं **डाण्टे** (Dante) के नाम लिये जा सकते हैं। इन लेखकों ने अपनी-अपनी पुस्तकों में, समाज के परिवर्तनशील तथ्यों का अध्ययन करने के लिए 'कार्य-कारण सम्बन्ध' (Cause and Effect Relationship) को स्पष्ट किया।

15वीं शताब्दी से सामाजिक प्रघटनाओं का स्वतन्त्र अध्ययन प्रारम्भ हुआ। इसी समय से 'वैज्ञानिक विधि' (Scientific Method) का सूत्रपात माना जाता है। इस युग के विचारकों में **माल्थस** (Malthus), **जॉन लॉक** (John Locke), **रूसो** (Rousseau), **थॉमस हॉब्स** (Thomas Hobbes) तथा **मोन्टेस्क्यू** (Montesquieo) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

16वीं शताब्दी में इटली के **मैकियाविली** (N. Machiavelli) एवं **थॉमस मूर** (Thomas Moore) के नाम मुख्य हैं। मैकियाविली की **'दि प्रिन्स'** एवं मूर की **यूटोपिया** (Utopia) नामक पुस्तकों में राज्य, उसके कार्यों, सिद्धान्तों एवं सामाजिक समस्याओं व समाज-व्यवस्था का निरूपण किया गया।

17वीं शताब्दी में अधिकांश सामाजिक प्रघटनाओं की व्याख्या आर्थिक घटनाओं के साथ की जाती थी। इस समय **जैम्स हैरिंग्टन** (James Harrington) ने 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसके आधार पर **मार्क्स** व **ऐंजिल्स** ने अपनी विश्व-विख्यात रचनायें प्रस्तुत कीं। इस शताब्दी के अन्य विचारकों में **गार्नर** (Garner) तथा अर्थशास्त्र के प्रवर्त्तक **एडम स्मिथ** (Adam Smith) प्रमुख हैं।

18वीं शताब्दी में प्रसिद्ध इटालियन विचारक **'विको'** (Viko) एवं फ्रांस के विचारक **मोन्टेस्क्यू** (Montesquieo) के कार्यों ने समाज विज्ञान के उद्भव तथा विकास को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। **विको** की पुस्तक 'द न्यू साइन्स' में यह लिखा गया कि "समाज कुछ विशिष्ट व निश्चित नियमों पर आधारित है जिनकी खोज प्रत्यक्ष अवलोकन व अध्ययन द्वारा ही की जा सकती है।"

19 वीं **शताब्दी** के पूर्वार्द्ध में **ऐडम मूलर** (Adam Muller) **न्यूमन** Neoman), **हसलर** (Hasslar), **रोशर** (Rosher), **लिप्ले** (Lipley), **ऑरनोल्ड** (Arnold), **हलमैन** (Halman) आदि के नाम मुख्य हैं। यह वह समय था जब विभिन्न सामाजिक विज्ञान बहुत उन्नत अवस्था में पहुँच चुके थे, फिर भी उनका पृथक्-पृथक् परिप्रेक्ष्य (Perspective) निर्धारित करना कठिन था।

समाजशास्त्र का जन्म (Birth of Sociology)—19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **जेम्स मिल** (James Mill) ने एक अर्थशास्त्री होने पर भी एक ऐसे विज्ञान की कल्पना की जो सम्पूर्ण समाज का उसकी समग्रता एवं सम्पूर्णता में अध्ययन करे। इस आकांक्षा की पूर्त्ति 1838 में प्रसिद्ध फ्रांसिसी दार्शनिक **ऑगस्त कॉम्ट** (Auguste Comte) ने समाज के अध्ययन की एक सामान्य पद्धति प्रस्तुत करके की। उनकी मान्यता थी कि सभी विज्ञान एक निश्चित एवं तार्किक क्रम में अनुशीलन करते हैं और सभी अन्वेषण वैज्ञानिक स्तर पर पहुँचने तक धार्मिक (Theological) एवं तात्विक (Metaphisical) अवस्था से होकर गुजरते हैं। इस प्रकार समाजशास्त्र का जन्म हुआ और कॉम्ट 'समाजशास्त्र के जनक' (Father of Sociology) कहलाये। इसके बाद की कहानी को हम इस अध्याय के प्रारम्भ में 'समाजशास्त्र की कहानी' में स्पष्ट कर आये हैं।

पश्चिम में समाजशास्त्र का विकास :
(Development of Sociology in West)

समाजशास्त्र के पिता **ऑगस्त कॉम्ट** द्वारा 'समाजशास्त्र' की नींव रख देने के बाद इस विषय का द्रुत विकास विशेषतः **फ्रांस** (France), **जर्मनी** (Germany) एवं **संयुक्त राष्ट्र अमेरिका** (U. S. A.) में हुआ। यहाँ विभिन्न राष्ट्रों में समाजशास्त्र की विकास-यात्रा का वर्णन किया जाता है—

1. इंग्लैण्ड में समाजशास्त्र का विकास :
(Development of Sociology in England)

कॉम्ट के वाद **जॉन स्टुअर्ट मिल** (John Stuart Mill) एवं **हरबर्ट स्पेन्सर** (Herbert Spencer) ने इंग्लैण्ड में समाजशास्त्र विषय का विकास किया। समाजशास्त्र की सबसे पहली पुस्तक 1877 में 'प्रिन्सिपल्स ऑफ सोशियोलॉजि' (Principles of Sociology) के तीन खण्ड प्रकाशित करने का श्रेय हरवर्ट स्पेन्सर को ही है।

इंग्लैण्ड में समाजशास्त्र की विकास-यात्रा से जुड़े अन्य नामों में **मोरिस जिन्सबर्ग** (Morris Ginsberg), **रॉबर्टसन** (Robertson), **बकल** (Buckle), **चार्ल्स बूथ** (Charles Booth), **हॉल्सन** (Holson), **हॉबहाउस** (Hobehouse), **वेस्टरमार्क** (Westermark) एवं **कार्ल मैनहिम** (Karl Mannhim) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने सामाजिक सम्बन्धों एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के विषय में सामाजिक सिद्धान्तों का निरूपण किया, परन्तु फिर भी समाजशास्त्र के विकास की गति इंग्लैण्ड में मन्द ही रही।

2. फ्रांस में समाजशास्त्र का विकास :
(Development of Sociology in France)

ऑगस्त कॉम्ट भी प्रसिद्ध फ्रांसिसी समाजशास्त्री थे, जिनको इस समाजशास्त्र की स्थापना का श्रेय है। फ्रांसिसी सामाजिक विचारकों में कॉम्ट के वाद **इमाइल दुर्खीम** (Emile Durkheim) का नाम अत्यन्त प्रतिष्ठित है। दुर्खीम को कॉम्ट का **'उत्तराधिकारी'** भी माना जाता है। यद्यपि कॉम्ट ने समाजशास्त्र को जन्म दिया, किन्तु वह उसे एक विशिष्ट एवं पृथक् शास्त्र के रूप में तथा अन्य विज्ञानों की कोटि में व तत्कालीन फ्रांसिसी शैक्षिक व्यवस्था में एक स्वतन्त्र विषय के रूप में प्रतिष्ठित न कर सका। यह कार्य 'दुर्खीम' ने किया। 'एल्वुड' (Elwood) ने लिखा है कि "फ्रांस में कॉम्ट ने समाजशास्त्र की नींव डाली, किन्तु समाजशास्त्र को परिशुद्ध रूप में वस्तुनिष्ठ (Objective) विज्ञान वनाने की विचारधारा का दुर्खीम को जनक कहा जा सकता है।"

फ्रांस में दुर्खीम के अतिरिक्त **नान्टेन** (Nontaign), **रूसो** (Rousseau), **मास** (Mauss), **टार्डे** (Tarde), **लिप्ले** (Lipley) आदि अनेक विद्वानों ने समाजशास्त्र के विकास में अपना योगदान दिया। "दुर्खीम के वाद फ्रांस में समाजशास्त्र के विकास की गति वहुत मन्द रही। यहाँ का समाजशास्त्र या तो मार्क्सवादियों द्वारा ग्रहण किया गया था या विदेशों की छाँह में रहा और वह भी विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव में रहा।"[1]

---

1. Peter Berger : Sociology–A Biographical Approach; 1972; p. 30

3. जर्मनी में समाजशास्त्र का विकास :
(Development of Sociology in Germany)

रेमण्ड एरन (Raymond Aron) ने लिखा है कि "जर्मनी में पहले समाजशास्त्र को उसके विश्वकोषीय स्वभाव के कारण अस्वीकार कर दिया गया। दूसरे स्थानों की भाँति यहाँ भी समाजशास्त्र के क्षेत्र को परिभाषित एवं सीमित करने का प्रयास किया गया।"

जर्मनी में समाजशास्त्र की विकास-यात्रा से जुड़े नामों में **फर्डिनेंड टॉनिज** (F. Tonnis) का नाम उल्लेखनीय है। **टॉनिज** ने समाज (Society) एवं समुदाय (Community) में अन्तर का विश्लेषण किया, समूहों के संगठन का विवेचन किया और लोकमत का अध्ययन किया। दूसरा प्रमुख नाम **जॉर्ज सीमल** (George Simmel) का है। **सीमल** ने सामान्य समाजशास्त्र एवं विशिष्ट समाजशास्त्र की चर्चा की एवं 'स्वरूपात्मक सम्प्रदाय' (Formal School) की नींव डाली। सीमल के बाद **वीरकान्त** (Vier Kantd) एवं **वॉन विजे** (Von Wiese) ने भी 'स्वरूपात्मक सम्प्रदाय' का समर्थन किया एवं सामाजिक संगठन को समाजशास्त्र का केन्द्रीय विषय बनाया। किन्तु जर्मनी में समाजशास्त्र के तीव्र विकास का श्रेय **मैक्स वेबर** (Max Weber) को जाता है। मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों से पृथक् एक विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करने का अतुलनीय प्रयास किया। उन्होंने सामाजिक जीवन के क्रिया पक्ष पर अधिक बल दिया और "समाजशास्त्र को सामाजिक क्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला विज्ञान कहा।" जर्मनी के **कार्ल मार्क्स** (Karl Marx) का नाम भी अत्यन्त प्रतिष्ठित समाजशास्त्रियों में गिना जाता है। मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी विशद व्याख्या, वर्ग तथा वर्ग-संघर्ष एवं सामाजिक परिवर्तन की विशद व्याख्या की।

4. अमेरिका में समाजशास्त्र का विकास :
(Development of Sociology in U. S. A.)

अमेरिका को यदि समाजशास्त्र का गढ़ कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। अमेरिका में समाजशास्त्र का विकास बहुत द्रुत गति से हुआ। अमेरिका में समाजशास्त्र की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वहाँ के अधिकांश विचारक समाजशास्त्री ही हैं। इन विचारकों में **बार्नेस** (Barnes), **पारसन्स** (Parsons), **कोजर** (Coser), **रॉस** (Ross), **मैकाइवर** (Maciver), **वार्ड** (Ward), **सोरोकिन** (Sorokin), **पार्क** (Park), **बर्गेस** (Bergess), **जिम्मरमैन** (Zimmerman), **ऑग्बर्न** (Ogburn), **निमकॉफ** (Nimkoff), **लुण्डबर्ग** (Lundberg), **गिडिंग्स** (Giddings), **समनर** (Sumner), **मर्टन** (Merton) आदि प्रमुख हैं। अमेरिकन समाजशास्त्र प्रारम्भ से ही अत्यन्त समृद्ध रहा है। यहाँ

प्रायोगिक समाजशास्त्र पर अधिक बल दिया गया तथा समाज-सुधार व सामाजिक कार्यों पर अत्यधिक मात्रा में काम हुआ।

नये समाजशास्त्र (New Sociology) का जन्म-स्थल भी अमेरिका ही रहा है। यहीं 'क्रान्तिकारी समाजशास्त्र' (Radical Sociology) की नींव भी रखी गयी। समाजशास्त्र का एक पृथक् विषय के रूप में अध्ययन-अध्यापन भी सबसे पहले अमेरिका में ही शुरू हुआ। सबसे पहले **येल विश्वविद्यालय, अमेरिका** में 1876 से समाजशास्त्र प्रारम्भ हुआ। इसके पश्चात् **फ्रांस** में इसका अध्ययन 1889 में शुरू किया गया। 1907 में पहली बार इंग्लैण्ड में समाजशास्त्र पढ़ाया जाने लगा। 1920 में पोलैण्ड में, 1924 में **मिश्र** में, 1947 में **स्वीडन** में इसे एक पृथक् विषय के रूप में स्थापित किया गया। 1923 में भारत में एवं 1947 में यह विषय **लंका** में पढ़ाया जाने लगा। **रंगून** विश्वविद्यालय में 1954 में यह विषय प्रारम्भ हुआ। **ऑक्सफोर्ड** एवं **कैम्ब्रिज** विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र का अध्ययन 1960 के बाद ही प्रारम्भ हो पाया। अमेरिका के **हॉर्वर्ड** जैसे प्राचीनतम विश्वविद्यालय में भी सन् 1930 तक समाजशास्त्र का कोई विभाग नहीं था। **प्रिंसटन** विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र का प्रारम्भ 1960 में ही हुआ। आजकल अमेरिका के सभी प्रमुख विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र को पढाया जाता है।

भारत में समाजशास्त्र का विकास :
(Development of Sociology in India)

भारत में समाजशास्त्र अपेक्षाकृत एक नूतन विषय है। भारत में समाजशास्त्र का इतिहास केवल 67 वर्ष पुराना है। समसामयिक भारतीय समाजशास्त्र के उद्भव तथा विकास में प्रधानतः चार प्रभाव समाविष्ट हैं—

1. पश्चिमी देशों में विकसित समाजशास्त्रीय एवं मानवशास्त्रीय सिद्धान्त तथा अनुसन्धानात्मक पद्धतियों एवं उपागमों का प्रभाव।

2. ब्रिटिश शासनतन्त्र का प्रभाव (औपनिवेशिक शासन के कारण)

3. परम्परागत सामाजिक दर्शन का प्रभाव एवं

4. समसामयिक भारतीय समाज के पुनर्निमाण के संदर्भ में सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का प्रभाव।

भारतीय समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास को हम निम्नलिखित विन्दुओं में रखकर समझ सकते हैं :

1. प्राचीन भारत में सामाजिक अध्ययन (Social Studies in Ancient India.)

2. समाजशास्त्र का संस्थापन--युग (Establishment Era of Sociology)

3. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद समाजशास्त्र का विकास (Development of Sociology after Independance)

यहा हम इनका विस्तृत अध्ययन करेंगे—

1. प्राचीन भारत में सामाजिक अध्ययन :
(Social Studies in Ancient India)

प्राचीन भारत में अनेक विद्वानों द्वारा ऐसे सामाजिक अध्ययन प्रस्तुत किये गये जो समाजशास्त्रीय विचारधारा का पोषण करते हैं। प्राचीन काल में भारत के प्राचीन ग्रन्थों जैसे वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, स्मृतियों आदि में सामाजिक चिन्तन का व्यवस्थित प्रतिपादन किया गया है। प्राचीन भारतीय साहित्य यद्यपि आधुनिक ज्ञान एवं विज्ञान की परम्पराओं से सर्वथा भिन्न है, तथापि सामाजिक चिन्तन की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध एवं व्यापक है।

भारत में श्रुति एवं स्मृतियाँ समाज के कार्य-व्यवहार-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करती है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और मनु की 'मनुस्मृति' व शुक्राचार्य द्वारा प्रणीत 'नीतिशास्त्र' में सामाजिक संरचना पर विचार किया गया है। मुगल काल में अबुलफज़ल द्वारा रचित 'आइने-अकबरी' व नुज्जु की 'बाबर' आदि पुस्तकें मध्यकाल में भारतीय सामाजिक व्यवस्था के कार्य-रूपों के असाधारण अभिलेख हैं।

प्राचीन ग्रन्थों का व्यवस्थित अध्ययन व विश्लेषण प्रो. ब्रजेन्द्रनाथ शील, डॉ. भगवानदास तथा केवल मोटवानी नामक समाजशास्त्रियों ने किया।

2. समाजशास्त्र का संस्थापन-युग :
(Establishment Era of Sociology)

भारत में समाजशास्त्र का औपचारिक प्रारम्भ सन् 1919 से माना जाता है, जब समाजशास्त्र को सर्व-प्रथम बम्बई विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर पैट्रिक गिड्स (Petrick Gedds) की देखरेख में पढ़ाना प्रारम्भ हुआ था।[1] प्रो. गिड्स मुख्य रूप से एक प्राणिशास्त्री थे। बम्बई में समाजशास्त्र एवं नागरिकशास्त्र का एक मिला-जुला विभाग था। इसके दो वर्ष बाद सन् 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय ने समाजशास्त्र को मान्यता प्रदान की तथा समाजशास्त्र के प्रथम भारतीय विद्वान् डॉ. राधाकमल मुखर्जी (Dr. Radha Kamal Mukherji) को समाजशास्त्र का प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष नियुक्त किया गया। 1923 में मैसूर एवं आन्ध्र विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ हुआ।

1924 से गोविन्द सदाशिव घुर्ये (G. S. Ghurye) ने बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग की अध्यक्षता की। प्रो. घुर्ये इस शताब्दी के एक मूर्धन्य

---

1. G. S. Ghorxe : The Teaching of Sociology; Social Psychology and Social Anthropology; p. 148.

तथा सशक्त समाजशास्त्री हैं। आपने लगभग 30 समाजशास्त्रीय पुस्तकों की रचना की है। 1952 में घुर्ये ने ही 'इण्डियन सोश्योलॉजिकल सोसाइटी' की स्थापना की एवं 'सोश्योलॉजिकल बुलेटिन' नामक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया, जो आज एक अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिका है।

3. स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद समाजशास्त्र का विकास :
(Development of Sociology after Independence)

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत में समाजशास्त्र का विकास बहुत द्रुत गति से हुआ। 1947 के बाद उत्तर प्रदेश में आगरा, गढ़वाल, वाराणसी, मेरठ, कानपुर, कुमाऊँ, अलीगढ़, अवध, रुहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, काशी विद्यापीठ आदि में समाजशास्त्र विभागों की स्थापना की गयी तथा समाजशास्त्र को एक पृथक् विषय के रूप में पढाया जाने लगा। मध्य प्रदेश में विक्रम, शिवाजी, रविशंकर, अवदेश प्रतापसिंह, इन्दौर, सागर, जबलपुर तथा भोपाल विश्वविद्यालयों में, राजस्थान में राजपुताना (वर्तमान में राजस्थान), उदयपुर (वर्तमान में सुखाडिया) एवं जोधपुर विश्वविद्यालयों में, बिहार में राँची, मुजफ्फरपुर, पटना आदि में समाजशास्त्र का अध्ययन एक पृथक् विषय के रूप में किया जाने लगा। इनके अतिरिक्त दिल्ली, नागपुर, गुजरात, उस्मानिया, बडौदा, कर्नाटक, पंजाब, मद्रास, कुरुक्षेत्र, उत्कल आदि के विश्वविद्यालयों में भी समाजशास्त्र विषय को तेजी से लोकप्रियता प्राप्त हुई।

भारतीय समाजशास्त्र पर रामकृष्ण मुखर्जी ने अगुवाओं की श्रेणी के रूप में ए. के. कुमार स्वामी, बी. एन. शील, वी. के. सरकार, जी. एस. घुर्ये, बी. पी मुखर्जी, राधाकमल मुखर्जी, एस. वी. केलकर, बी. एन. दत्त, एवं के. पी. चटोपाध्याय के नामों को रखा है।[1]

तथ्यगत रूप से भारतीय समाजशास्त्र 1950 एवं 1960 की कालावधि में वयस्क हो गया एवं अनेक उल्लेखनीय समाजशास्त्री जैसे एम. एन. श्री निवास, एस. सी. दुबे, श्रीमती इरावती कर्वे, आन्द्रे बेंताई, ए. आर. देसाई, आर. एन. सक्सेना, ए. के. सरन, राधाकमल मुखर्जी आदि ने अनेक समाजशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन किया। कुछ विदेशी विद्वानों ने भी भारतीय समाजशास्त्र के विकास में मूल्यवान् योगदान दिया जिनमें डूमो, पोकोक, एफ. जी. बेले, क्लिनाड़, बोटोमोर एवं जिम्मरमेन के नाम मुख्य हैं।

डॉ. योगेन्द्र सिंह (Dr. Yogendra Singh) ने अपने एक लेख में भारत में समाजशास्त्र के विकास की दिशा का उल्लेख किया है। आपने लिखा है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व भारतीय समाजशास्त्र के कुछ प्रमुख लक्षणों को साररूप में निम्नलिखित बिन्दुओं में रखा जा सकता है :

---

1. R. K. Mukherji : Sociology of Indian Sociology.

1. जाति, जनसंख्या, लोकगाथा आदि पर वर्णनात्मक सामग्री में अभिवृद्धि।

2. भारतीय संस्थाओं तथा विशेषकर जाति व ग्राम-समुदायों का विकासवादी ृष्टिकोण से विवेचन जो मानवशास्त्र में उन्नीसवीं शताब्दी से ब्रिटिश विकासवाद ो एक निरन्तरता प्रदान करता है।

3. ग्रामीण सामाजिक संस्थाओं के विश्लेषणात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन ा समारम्भ एवं अन्तिम प्रतिपादन

4. प्रादेशिक परिस्थिति-विज्ञान अथवा पारिस्थितिकी (Ecology) तथा ान-सांख्यिकी समाजशास्त्र की प्रगति जिसमें भारतीय परम्परा की अनुपमता तथा ाश्चिमी अवधारणाओं एवं संस्थाओं की भारतीय समाज तथा संस्कृति पर अप्रतिरोपणीयता पर बल दिया गया है।"[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक भारत में समाजशास्त्र के विकास ी दिशा मूलत: सामाजिक संस्थाओं के अध्ययन तक ही सीमित रही है और इसका ध्ययन-क्षेत्र भी सीमित रहा है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् समाजशास्त्र का विकास द्रुतगति से हुआ एवं भारत में इस विषय ने सैद्धान्तिकता तथा पद्धति शास्त्रीय ृष्टिकोण की दिशा में भी थोड़ी परिपक्वता को प्राप्त किया है।

विश्वविद्यालय प्रश्न
(University Questions)

1. समाजशास्त्र को परिभाषित कीजिये और समाजशास्त्र की विषय-वस्तु-सम्बन्धी विभिन्न समाजशास्त्रियों के विचारों की विवेचना कीजिये।
   (Define Sociology and narrate the views of different Sociologists on the subject-matter of Sociology) (1983)
2. समाजशास्त्र की विज्ञान के रूप में प्रकृति की व्याख्या कीजिये।
   (Discuss the nature of Sociology as a Science) (1983)
3. क्या समाजशास्त्र मानव-समाज जितना ही प्राचीन है?, व्याख्या कीजिये।
   (Is Sociology as old as Human Society? Discuss) (1984)

---

1. Yogendra Singh : Sociology for India, 1976,

4. समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का विवरण दीजिये ।
   (Discuss the subject-matler of Sociology) (1984)

5. "समाजशास्त्र अन्य प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति ही एक विज्ञान है ।" विवेचना कीजिये ।
   ("Sociology is a science like other natural sciences." Discuss) (1985)

6. समाजशास्त्र को परिभाषित कीजिये और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण (परिप्रेक्ष्य) की विवेचना कीजिये ।
   (Define Sociology and explain the Sociological point of view) (1985)

7. समाजशास्त्र का अर्थ एवं क्षेत्र स्पष्ट कीजिये ।
   (Explain the meaning and scope of Sociology) (1986)

8. भारत एवं पश्चिम में समाजशास्त्र के विकास की विवेचना कीजिये ।
   (Discuss the development of Sociology in India and West)

9. "भारत में समाजशास्त्र का विकास पश्चिमी समाजों में समाजशास्त्र के विकास के समान नहीं हो पाया है।" स्पष्ट कीजिये ।
   (Development of Sociology in India is not equal to the development of West.) Explain.

10. भारत में समाजशास्त्र के विकास की विवेचना कीजिये ।
    (Discuss the development of Sociology in India)

11. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य से आप क्या समझते हैं ? विवेचना कीजिये ।
    (What do you understand by Sociological Perspective ? Discuss.)

12. समाजशास्त्र क्या है ? इसके बारे में एलेक्स इंकेल्स के विचारों को स्पष्ट कीजिये ।
    (What is Sociology ? Explain Alex Inkcles's ideas about this.)

13. समाजशास्त्र में 'संस्थापक जनकों के' योगदान का मूल्यांकन कीजिये ।
    (Evaluate the contribution of Founding Fathers in Sociology)

14. निम्नलिखित का सही उत्तर मिलाइये—
(Match the right answers.)

1.	समाजशास्त्र के पिता (Father of Sociology)	हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer)
2.	मैकाइवर एवं पेज की पुस्तक (Maciver and Page's book.)	मानव-समाज (Human Society)
3.	किंग्सले डेविस की पुस्तक (Kingsley Davis's book)	समाज (Society)
4.	जर्मनी के प्रसिद्ध समाजशास्त्री (Famous Sociologist of Germany)	इमाइल दुर्खीम (Emile Durkheim)
5.	ब्रिटेन के प्रसिद्ध समाजशास्त्री (Famous Sociologist of Britain)	आगस्ट कॉम्ट (Auguste Comte)
6.	'रूल्स ऑफ सोश्योलॉजीकल मैथड्स' के रचयिता (Writer of 'Rules of Sociological Methods')	मैक्स वेबर (Max Weber.)
7.	समाजशास्त्र का जन्म कब हुआ ? (When Sociology was borm ?)	1838
8.	एलेक्स इंकेल्स की पुस्तक (Alex Inkcle's book.)	व्हाट इज सोश्योलॉजि (What is Sociology.)

———

2

अवधारणायें
(CONCEPTS)

समाज
सामाजिक संरचना
संस्कृति
संस्था
समाजीकरण
स्तरीकरण
प्रस्थिति एवं भूमिका
प्रतिमान एवं मूल्य
समूह



अवधारणायें—एक परिचय
(Concepts—An Introduction)

प्रत्येक विज्ञान की अपनी एक पारिभाषिक शब्दावली (Terminology) एवं कुछ प्राथमिक अवधारणायें या संकल्पनायें (Concepts) होती हैं। इन्हीं अवधारणाओं के माध्यम से जो प्रायः विशिष्ट (Specific) होती हैं उस, विषय का विवेचन एवं निरूपण किया जाता है। किसी भी विज्ञान में प्रयुक्त अवधारणाओं का अर्थ सुनिश्चित होना आवश्यक है। यही कारण है कि वैज्ञानिकों को अपने विचारों को स्पष्ट रूप से रखने और समझाने के लिए नये शब्द गढ़ने पड़ते हैं। उन्हें कभी-कभी प्रचलित शब्दों को लेकर उनको विशिष्ट अर्थ देना होता है। प्राकृतिक विज्ञानों में अपनी निश्चित एवं विशिष्ट अवधारणायें हैं जिनका प्रयोग उस विषय के विद्वान करते हैं। उदाहरणतः 'H_2O' का आशय 'पानी' के सन्दर्भ में लगाया जाता है। अतएव यह आवश्यक है कि हम इन अवधारणाओं का अर्थ एवं परिभाषायें प्रारम्भ में ही स्पष्ट करदें। सामाजिक विज्ञानों की शब्दावली प्रचलित या सामान्य बोल-चाल की भाषा में ही मिल जाती है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उनके अर्थ भी बोलचाल के अर्थों के समान ही हों। जहाँ ऐसे शब्दों का विशेष अर्थ सन्दर्भों के अनुसार भिन्न-भिन्न रहता है, वहीं इस प्रकार की परिभाषाओं और उनके स्पष्टी-करण की बड़ी आवश्यकता रहती है।

समाजशास्त्र की अपनी शब्दावली है। अतः प्रथमतः समाजशास्त्र में प्रयुक्त होने वाले प्राथमिक शब्दों पर विचार करना आवश्यक है। परन्तु यह इतना सरल नहीं है। कठिनाई मुख्यतः इस बात से होती है कि अन्य सामाजिक विज्ञानों की भाँति ही समाजशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली भी नित्य (दिन-प्रतिदिन) की बोलचाल की भाषा से आयी है, फलतः इसमें भी अस्पष्टता एवं द्विधार्थकता (Ambiguity) आ गयी है। कठिनाई का एक कारण कुछ समाजशास्त्रियों द्वारा अन्य विज्ञानों जैसे जीवविज्ञान, भौतिक विज्ञान तथा मनोविज्ञान के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करने की प्रवृत्ति भी है। सामाजिक सन्तुलन (Social Equilibrium), सामाजिक सावयव (Social Organism), सामाजिक मस्तिष्क (Social Mind) आदि शब्दों ने यद्यपि ये किसी न किसी रूप में सुझावात्मक होते हैं, समस्या का समाधान खोज निकालने में सहायक होने की अपेक्षा और समस्यायें खडी करदी हैं।[1]

हमें यहाँ शब्दों के विवाद में पड़ने की अपेक्षा मानवीय सम्बन्धों का वर्गीकरण करने के क्रम में कतिपय अपरिहार्य व विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों के अर्थ-

1. Morris Ginsberg : Sociology; p. 38

निरूपण तक ही अपना ध्यान केन्द्रित रखना चाहिये। यहाँ हम समाजशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में बहुत व्यापक रूप से प्रयुक्त होने वाली निम्नलिखित कतिपय अवधारणाओं की विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं :

1. समाज (Society)
2. सामाजिक संरचना (Social Structure)
3. संस्कृति (Culture)
4. संस्था (Institution)
5. समाजीकरण (Socialization)
6. स्तरीकरण (Stratification)
7. प्रस्थिति एवं भूमिका (Status and Role)
8. प्रतिमान (मानदण्ड) एवं मूल्य (Norms and Values)
9. समूह (Groups)

समाज
(Society)

समाजशास्त्र की पारिभाषिक विवेचना में हमने अनेक स्थानों पर 'समाज' (Society) शब्द का प्रयोग किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं प्राथमिक अवधारणा 'समाज' ही है। समाजशास्त्र के जनक **ऑगस्त कॉम्ट** (Auguste Comte) ने भी जब समाजशास्त्र शब्द को बनाया तो उन्होंने ज्ञान की इस नवीन शाखा को **'समाज का विज्ञान'** (Science of Society) कहा। समाजशास्त्र का अर्थ भी तब तक भली भाँति नहीं समझा जा सकता जब तक कि हम 'समाज' की अवधारणा को नहीं समझ लें।

मानव-समाज एवं पशु-समाज :
(Human Society and Animal Society)

समाज की अवधारणा को भली भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम **मानव-समाज** (Human Society) एवं **पशु-समाज** (Animal Society) पर एक संक्षिप्त टिप्पणी प्रस्तुत करें। प्रसिद्ध जर्मन-अमेरिकन मनोवैज्ञानिक वोल्फगैंग कोहलर ने अपनी कृति 'द मैण्टिलिटी ऑफ एप्स' (The Mentality of Apes) में लिखा है कि "बन्दरों व लंगूरों के सामाजिक जीवन में मानवीय समाजों की भाँति सारी विशेषतायें जैसे प्रेम और घृणा, सहानुभूति एवं असहानुभूति, मित्रता और

शत्रुता, पारस्परिक मोह, मित्रों के वियोग पर विलाप, प्रसन्नता, निराशा, आत्मीयता का विकसित भाव और सामूहिक एकता आदि हैं।" अतः यह स्पष्ट है कि विश्व में अनेक ऐसे पशु-पक्षी, कीट-पतंगें आदि हैं, जो समाज में रहकर सामूहिक एवं सामाजिक जीवन में भाग लेते हैं। **गिलिन एवं गिलिन** (Gillin & Gillin) ने सामाजिक जीवन के निम्नलिखित पक्षों का उल्लेख किया है :[1]

1. व्यक्तियों का समूह में नियमित रूप से रहना।
2. सदस्यों तथा गैर सदस्यों में भेदभाव।
3. भेदभाव तथा पहचान एन्द्रिक (Sensory) प्रकार पर निर्भर है।
4. प्रकार्यों एवं श्रम-विभाजन का एक निश्चित विशेषीकरण, एवं
5. सहयोग।

उपर्युक्त आधारभूत तत्त्व प्रत्येक समाज चाहे वह पशु-समाज हो या मानव-समाज, के निर्माण के लिए आवश्यक हैं। अतः हम कह सकते हैं कि समाज का निर्माण केवल मनुष्य ही नहीं करते, बल्कि अन्य प्राणी भी करते हैं।

मानवीय समाज एवं पशु-समाज को पृथक् करने के दो प्रमुख आधार हैं—

1. **वंशानुक्रमण** (Heredity) एवं 2. **संस्कृति** (Culture)

पशुओं की सामाजिक व्यवस्था वंशानुक्रमण पर आधारित होती है। **किंग्सले डेविस** (Kingsley Davis) इसे जैवीय-सामाजिक (Bio-Social) व्यवस्था कहते हैं।[2] गाय का बछड़ा पैदा होते ही माँ का दूध पीना शुरू कर देता है और चींटियाँ (Ants) जन्म लेते ही अपनी व्यवस्था में भाग लेना प्रारम्भ कर देती हैं।

मनुष्यों की सामाजिक व्यवस्था वंशानुक्रमण द्वारा निश्चित न होकर 'संस्कृति' (Culture) द्वारा निश्चित एवं निर्धारित होती है। मनुष्य अपने सारे व्यवहार अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश से सीखता है, न कि वंशानुक्रमण से।

यहाँ हम मानव-समाज एवं पशु-समाज की थोड़ी विस्तार से विवेचना करेंगे—

मानव-समाज (Human Society)

ऊपर हमने यह उल्लेख किया है कि पशु-समाज का आधार-तत्त्व वंशानुक्रमण या जैविकीय है एवं मानव-समाज का सामाजिक-सांस्कृतिक। परन्तु इसका आशय यह नहीं लगाया जाना चाहिये कि मानव-समाज में कोई जैविकीय आधार-तत्त्व ही नहीं है। वस्तुतः जैविकीय दृष्टि से मानव-समाज एवं पशु-समाज में कोई विशेष अन्तर नहीं

---

1. Gillin & Gillin : Cultural Sociology : p. 38-40.
2. Kingsley Davis : Human Society : p. 32

है। लिंग, (Sex), कामवृत्ति, ज्ञानेन्द्रियों, रक्त-संचालन, प्रजनन (Reproduction), भूख, मानसिक क्रियाओं आदि के आधार पर मनुष्यों एवं पशुओं में समानता स्थापित की जा सकती है।

किन्तु मानव-समाज के कुछ विशिष्ट जैविक लक्षणों की विवेचना भी यहाँ उपयुक्त है, जो निम्नलिखित है।

1. मनुष्य की श्रेष्ठता संगठित तथा केन्द्रित स्नायुविक व्यवस्था, (Man's Highly Organized and Centralized Nervous System)

2. मनुष्यों की सीधे खड़े होने की क्षमता (Man's Upright Posture)

3. हाथों का लचीलापन (Flexibility of Hands)

4. मनुष्य की स्पष्ट बोलने की क्षमता (Man's ability to speak articulately)

5. अन्य शारीरिक विशेषतायें (Other physiological features)

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव-समाज ने अपने विशिष्ट जैविक लक्षणों के आधार पर एक सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का निर्माण किया है और इसी आधार पर इसको पशु-समाज से अलग किया जा सकता है। **किंग्सले डेविस** (Kingsley Davis) ने लिखा है कि "मानव-समाज तथा पशु-समाज का वास्तविक अन्तर केवल सांस्कृतिक आधारों पर ही स्पष्ट किया जा सकता है।"[1] **गिलिन एवं गिलिन** (Gillin & Gillin) ने भी लिखा है कि "धर्मग्रन्थ (Scriptures) तथा विज्ञान स्वीकार करते हैं कि यद्यपि मनुष्य एक प्राणी है तथापि बहुत महत्त्वपूर्ण पहलुओं में वह अन्य प्राणियों से भिन्न है।"[2]

पशु-समाज (Animal Society) :

पशु-समाज को सामान्यत: दो भागों में बाँटकर समझाया जाता है :

1. **एक-कोषीय प्राणियों का समाज** (Society of Single-celled Organisms) एवं

2. **बहु-कोषीय प्राणियों का समाज** (Society of Multi-cellular Organisms)

1. **एक-कोषीय प्राणियों का समाज**—एक-कोषीय प्राणियों को **प्रोटोजोआ** (Protozoa) कहा जाता है। अधिकांश प्रोटोज़ोआ एक मण्डली (Colony) बनाकर रहते हैं। वे आपस में इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि वे एक-कोषीय प्राणी दिखाई देते हैं, उदाहरण के लिए **हरी शैवाल** (Green Volvex) हैं जो पानी में मण्डली बनाकर

---

1. Kingsley Davis : Ibid ; p. 43
2. Gillin & Gillin : Op. cit. ; p. 45

रहते हैं। इनमें श्रम-विभाजन भी पाया जाता है। कुछ शैवाल प्रजनन एवं भोजन का प्रबन्ध करते हैं, कुछ पानी का मुकाबला करते हैं तो कुछ सुरक्षा का प्रबन्ध करते हैं।

2. **बहु-कोषीय प्राणियों का समाज** —बहु-कोषीय प्राणी एक साथ तो रहते हैं, परन्तु शारीरिक रूप से एक दूसरे के निकट नहीं रहते। इनका सम्बन्ध मानसिक (Psychic) होता है। इन प्राणियों में चींटियों, मधुमक्खियों, ततैया, बर्रों (Warps) आदि को रखा जा सकता है। इनका व्यवहार एक सहजात ज्ञान पर आधारित होता है, जो उन्हें सीखना नहीं पड़ता। **गिलिन एवं गिलिन** के शब्दों में "प्रत्येक चींटी, मधुमक्खी या ततैया पूर्वत: सीखे हुए अपने व्यवहार के साथ उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है, अर्थात् उसका व्यवहार सहजात (Instinctive) होता है।"[1]

स्पष्ट है कि चाहे एक-कोषीय प्राणियों का समाज हो या बहु-कोषीय प्राणियों का, उनके जैविक-सामाजिक समूह की सम्पूर्ण परम्परा वंशानुक्रमण (Heredity) पर आधारित होती है। यदि उनकी सामाजिक व्यवस्था में कोई परिवर्तन लाना है तो यह परिवर्तन प्राथमिक रूप से जनन-द्रव्य (Germ-plasm) अर्थात् जीन (Gene) के द्वारा ही लाया जा सकता है।"[2]

मानव-समाज एवं पशु-समाज में अन्तर (Difference between Human Society and Animal Society) :

मानव-समाज एवं पशु-समाज की उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचना के उपरान्त इन दोनों समाजों में अन्तर किया जा सकता है। इन दोनों समाजों में प्रमुख रूप से निम्नलिखित अन्तर पाया जाता है—

1. मनुष्यों की शारीरिक संरचना प्रायः एक जैसी होती है, जबकि पशुओं की शारीरिक संरचना में विभिन्नतायें पायी जाती हैं।

2. मनुष्यों के पास कुछ विशिष्ट जैविकीय लक्षण—विचारशील एवं विकसित मस्तिष्क, सीधे खड़े होने की क्षमता, दो स्वतन्त्र एवं घुमाये जा सकने वाले हाथ, स्पष्ट बोलने की क्षमता आदि हैं, जबकि पशुओं के पास विशिष्ट जैविकीय लक्षणों का अभाव है।

3. मनुष्यों के पास एक सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश (Socio-cultural Ethos) है, जबकि पशुओं के पास यह नहीं है।

4. पशुओं का सामाजिक जीवन मुख्यतः वंशानुक्रमण (Heredity) के कारण है, जबकि मनुष्यों का सामाजिक जीवन संस्कृति (Culture) के कारण है।

---

1. Gillin & Gillin : Ibid. ; p. 35.
2. Kingsley Davis : Op. cit. ; p. 31

5. मनुष्यों के व्यवहार-प्रतिमानों को सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश में रहकर सीखा जाता है, जबकि पशुओं को व्यवहार-प्रतिमान जन्म से ही प्राप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव-समाज एवं पशु-समाज में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। समाजशास्त्र के एक विद्यार्थी होने के नाते यहाँ हमारा सम्बन्ध मानव-समाज तक ही सीमित है। पशु-समाजों के अध्ययन का कार्य दूसरे विज्ञानों के अन्तर्गत किया जाता है। अनेक विद्वान ऐसे भी हैं जिन्होंने मानव-समाज की उत्पत्ति का कारण पशु-समाजों से माना है। 'मनुष्य के पूर्वज बन्दर थे' आदि धारणा के विषय में तो आपने भी सुना होगा, परन्तु यहाँ हमारा कार्य केवल मानव-समाज के अध्ययन से है।

मनुष्य, समाज एवं संस्कृति :
(Man, Society and Culture)

मानव-समाज एवं पशु-समाज की अवधारणा के उपरान्त यह उपयुक्त है कि मनुष्य-समाज एवं संस्कृति पर थोड़ा प्रकाश डाला जाये। **किंग्सले डेविस** (Kingsley Davis) ने 'ह्यूमन सोसाइटी' (Human Society) नामक अपनी शास्त्रीय कृति में लिखा है :

"मानव-जाति सदा से अपने को अनुपम प्राणी समझती आ रही है। उसमें और शेष पशु-जाति के मध्य जो एक गहरी खाई है, उसके प्रति वह सदैव जागरूक रही है। ऐसी खाई किसी भी अन्य प्राणी के मध्य स्पष्ट नहीं होती। वह केवल अपने अनूठेपन के प्रति ही जागरूक नहीं है, बल्कि अपने स्वभाववश इस अनूठेपन की अभिव्यक्ति करने का भी प्रयत्न करती है। उसका कथन है कि मनुष्य के पास आत्मा (Soul) होती है, पशुओं के पास आत्मा नहीं होती, अथवा मनुष्य के पास एक विशिष्ट कोटि की बुद्धि होती है। वे यह भी कहते हैं कि मानव एक बोलने वाला प्राणी है, इसलिए सभ्य है।"[1]

किंग्सले डेविस अपने इसी अध्याय में आगे लिखते हैं कि "यदि कोई एक ही कारक मनुष्य के अनूठेपन की व्याख्या कर सकता है तो वह तत्त्व यह है कि मनुष्य, केवल मनुष्य में ही संस्कृति (Culture) पायी जाती है। इसी से अन्य विभिन्नतायें पैदा होती हैं। उदाहरणार्थ संस्कृति पर अधिकार के कारण उसकी बुद्धि का विकास हजार गुना हो जाता है। उसकी वाणी, यद्यपि यह भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, किन्तु उसकी संस्कृति का एक अंग मात्र है। संस्कृति उसके सामाजिक जीवन पर अंकुश रखती है। इसलिए संस्कृति मनुष्य का एक महत्त्वपूर्ण अधिकार है, जो सम्पूर्ण मानव-

---

1. Kingsley Davis : Human Society ; p. 1

जीवन पर छायी रहती है और उसके वास्तविक अनुपम गुणों का कारण है। संस्कृति मनुष्य के अस्तित्व के परिमाण में वृद्धि करती है और ऐसा मानव बनाती है जो इसके विना पशु मात्र होता।"[1]

लेकिन इस विश्लेषण का यह अर्थ नही लगाया जाना चाहिए कि **मनुष्य** और **संस्कृति** के मध्य **समाज** (Society) का अस्तित्व नगण्य है। वस्तुतः समाज ही वह कड़ी है जो मनुष्य और संस्कृति को जोड़ती है। **मनुष्य** (Man), **समाज** (Society) और **संस्कृति** (Culture) तीनों ही अन्योन्याश्रित हैं और एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व सम्भव ही नहीं है।

किम्वाल यंग (Kimball Young) ने **'ए हेण्डबुक ऑफ सोश्यल साइकॉलॉजि'** में लिखा है कि व्यक्तित्व का विकास सामाजिक-सांस्कृतिक घेरे में ही कार्य करता है, जो स्वयं व्यक्ति के जैविकीय आधार पर निर्भर है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यदि हम व्यक्तित्व को एक वृक्ष (Tree) मानलें, तब जीव-रचना को इस वृक्ष की जड़ें (Roots), समाज को तना (Stem) और संस्कृति को इसकी विभिन्न शाखायें (Branches) और सुन्दर फूल (Flowers) व पत्तियाँ कहा जा सकता है। व्यक्ति, समाज और संस्कृति का सम्वन्ध आदान-प्रदान का है, किसी एक को अलग करके हम दूसरे के महत्त्व को प्रमाणित नहीं कर सकते हैं।"[2]

किंग्सले डेविस आगे लिखते हैं कि "सांस्कृतिक अधिकार ने केवल मनुष्य को ही नहीं, वरन् उसके **समाज** को भी अनुपम रूप प्रदान किया है। **वनमानुष** (Anthropoid) समूह में जिससे मानव-समाज का विकास हुआ, कोई विलक्षणता नहीं है। वह सामान्य नर-वानर समाज का केवल एक भिन्न रूप है, जिसे अधिक स्थूल दृष्टिकोण से स्तनपायी समाज का एक भिन्न रूप कहा जा सकता है। इस आधारभूत प्रधान वर्ग-समाज को मानव-समाज में वदलने वाला जो एकमात्र तत्त्व है, वह मनुष्य की संस्कृति है। केवल इसी तत्त्व ने मानव-समाज को एक निश्चित एवं स्पष्ट भिन्नता प्रदान की है।"

"इस प्रकार मानव-समाज के अध्ययन के लिए हमें संस्कृति के अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है। हम समाज के किसी भी पहलू, उसके किसी भी भाग पर विचार करें, विचारों एवं व्यवहारों के सम्प्रेषण की सांस्कृतिक विधि सबसे महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए यदि हम 'परिवार' (Family) की समस्या पर विचार करें तो केवल जीवविज्ञानी व्याख्या जो सांस्कृतिक तत्त्व को अपनी व्याख्या में सम्मिलित न करे, व्यर्थ होगी। पारिवारिक प्रतिमान (Family Pattern) के नमूने

---

1. Kingsley Davis : Ibid. ; p. 1
2. Kimball Young : A Hand Book of Social Psychology ; p. 1

वास्तव में सांस्कृतिक प्रतिमान हैं। उनके स्थान-स्थान पर और समय-समय पर जो विभिन्नतायें दृष्टिगत होती रही हैं, उनके कारण ही सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे हैं।"

"डेविस के अनुसार "यह संस्कृति ही है जो विवाह और यौन सम्बन्धों में, वैधता और अवैधता में तथा अधिकार (Authority) और प्रभुत्व (Dominance) में आवश्यक भेद उत्पन्न करती है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि परिवार के सम्बन्ध में संस्कृति इतनी महत्त्वपूर्ण है तो आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक संगठनों के दृष्टिकोण से वह कितनी महत्त्वपूर्ण होगी।"

किंग्सले डेविस कहते हैं कि "मानव-समाज का विश्लेषण सांस्कृतिक स्तर पर होना आवश्यक है। आपके अनुसार अधिकांश मानव के विज्ञान जिन्हें मानवीय विज्ञान कहा जाता है, संस्कृति के विज्ञान हैं, जो उन असंख्य शाखाओं का वर्णन करने में लगे हैं और जिनमें हमारी सांस्कृतिक परम्परा विभक्त हो गयी है। सांस्कृतिक तत्त्व मानव-समाज के कण-कण में ऐसी सूक्ष्मता से व्याप्त हैं कि कोई भी व्यवहार संस्कृति के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर नहीं है।"

इस प्रकार संस्कृति के विश्लेषण में हमें व्यक्तित्व और समाज दोनों के विभिन्न पक्षों को देखना चाहिए। समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र (Social Anthropology) में अभी पिछले ही दशकों में जो अनुसन्धान-कार्य हुए हैं, उनमें इस बात पर बराबर जोर दिया गया है कि मनुष्य की सामाजिक क्रिया (Social Action) व्यक्तित्व, समाज और संस्कृति से उत्पन्न होती है।

टालकॉट पारसन्स (Talcott Parsons) ने तो सामाजिक क्रिया के सिद्धान्त में इन तीनों को एक सैद्धान्तिक सूत्र में रखा है। पारसन्स ने तीन प्रकार की व्यवस्थाओं का उल्लेख किया है—

1. व्यक्तित्व व्यवस्था (Personal System)
2. सामाजिक व्यवस्था (Social System) एवं
3. सांस्कृतिक व्यवस्था (Cultural System)

यहाँ हम इन्हें थोड़ा विस्तार से समझेंगे—

1. **व्यक्तित्व व्यवस्था** (Personal System)—पारसन्स के अनुसार व्यक्तित्व व्यवस्था का आशय लक्ष्य एवं पूर्त्ति से है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए प्रेरित होकर प्रयत्न करता है। आवश्यकताओं या लक्ष्य की प्राप्ति-हेतु यह अन्य कर्त्ताओं से सम्पर्क स्थापित करता है। वह व्यक्ति उनकी क्रियाओं से प्रभावित होता है और उन्हें प्रभावित करता भी है। इस प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्त्ति में समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था में क्रियात्मकता उत्पन्न होती है, अतः व्यक्तित्व और सामाजिक व्यवस्था में अपरिहार्य सम्बन्ध होता है।

2. **सामाजिक व्यवस्था** (Social System)—सामाजिक व्यवस्था व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति का एक संगठित साधन है, जैसे राज्य, परिवार, चर्च आदि। व्यक्ति का समाजीकरण भी सामाजिक व्यवस्था के द्वारा ही होता है। यही नहीं, यह सामाजिक व्यवस्था व्यक्ति पर नियन्त्रण भी रखती है। सामाजिक व्यवस्था व्यक्तियों के विघटनकारी व्यवहारों को रोकती है और उनके व्यवहारों में समानता स्थापित करती है।

यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि सामाजिक व्यवस्था का अर्थ व्यक्तियों के समूह में नहीं, वल्कि उनकी अन्तःक्रियाओं और उनके सामाजिक सम्वन्धों में पाया जाता है। सामान्यतः व्यक्तियों के अन्तःसम्वन्धों एवं संस्थाओं को सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत रखा जाता है।

3. **सांस्कृतिक व्यवस्था** (Cultural System)—पारसन्स के अनुसार सांस्कृतिक व्यवस्था में मूल्य, आदर्श, प्रतीक आदि सम्मिलित होते हैं जो व्यक्तियों के व्यवहार की दिशा निर्धारित करते हैं। इसी सांस्कृतिक व्यवस्था के तत्त्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य, समाज एवं संस्कृति का सम्वन्ध अत्यन्त गहन व अभिन्न है।

समाज का सामान्य अर्थ :

(General Meaning of Society)

'समाज' शब्द का अर्थ बड़ा विवादास्पद एवं उलझा हुआ है। दैनिक जीवन में हम समाज का प्रयोग व्यक्तियों के सामूहिक संगठन या समूह (group) के लिए करते हैं। उदाहरण के लिए जैसे आर्य-समाज, मुस्लिम-समाज, हिन्दु-समाज, हरिजन-सभाज आदि। ये समाज के सामान्य प्रयोग हैं जहाँ कुछ व्यक्तियों ने समाज का प्रयोग व्यक्तियों के समूहों के रूप में किया है तो कुछों ने संस्था के रूप में और कुछों ने समिति (Association) के रूप में। व्यक्तियों के प्रति भी सामान्य धारणा यह है कि जो मनुष्य समाज में मिलता-जुलता है तथा समाज की मान्यताओं, आकांक्षाओं एवं आदर्शों के अनुरूप आचरण करता है, वह **'सामाजिक व्यक्ति'** कहलाता है। इसके ठीक विपरीत जो व्यक्ति समाज में सद्व्यवहार एवं समाज-कल्याण-सम्वन्धी कार्य नहीं करता या समाज में मिलता-जुलता नहीं है, वह 'असामाजिक व्यक्ति' कहलाता है।

विभिन्न सामाजिक विज्ञान भी परिप्रेक्ष्य (Perspective) की विभिन्नता के कारण 'समाज' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में करते हैं। **राजनीति विज्ञान** 'समाज' को राज्य, सरकार, सत्ता, कानून इत्यादि के रूप में व्यक्तियों के समूह के रूप में परिभाषित करता है। **मानव-शास्त्र** समाज का अभिप्राय **आदिम समुदायों** (Primitive Communities) के रूप में लगाता है एवं **अर्थशास्त्र** आर्थिक क्रियाओं

में संलग्न व्यक्तियों के समूह को समाज मानता है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में 'समाज' शब्द का अभिप्राय अधिक विस्तृत एवं व्यापक है।

समाज का अर्थ एवं परिभाषायें :
(Meaning and Definition of Society)

समाजशास्त्रीय साहित्य में 'समाज' शब्द का प्रयोग दो भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है, एक तो संकुचित अर्थ में एवं दूसरे विस्तृत अर्थ में। यहाँ दोनों अर्थों की विवेचना की जा रही है :

समाज का संकुचित अर्थ में प्रयोग :
(Use of Society in Narrow Sense)

कुछ समाजशास्त्री ऐसे हैं जो समाज का प्रयोग संकुचित अर्थ में करते हैं। संकुचित अर्थ में समाज का आशय व्यक्तियों के एक समूह के सन्दर्भ में किया जाता है। इस प्रकार भारत, चीन, अमेरिका, ब्रिटेन, लंका आदि में रहने वाली जनसंख्या को उस देश का समाज कहा जा सकता है। ऐसे समाज निश्चित एवं मूर्त्त होते हैं जिनको सीमित सामाजिक सम्पर्क वाला समूह भी कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि संकुचित अर्थ में 'समाज' शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट व्यक्तियों के समूह के रूप में किया जाता है। यह ऐसा समाज होता है जिसका संगठन कतिपय विशेष उद्देश्यों व प्रयोजनों से किया जाता है।

समाज को संकुचित अर्थ में परिभाषित करने वालों में **मोरिस जिन्सबर्ग** (Morris Ginsberg), **मेंजर** (Manzar) एवं **फेयरचाइल्ड** (Fairchild) के नाम लिए जा सकते हैं।

मोरिस जिन्सबर्ग (Morris Ginsberg) ने समाज को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "एक समाज व्यक्तियों का वह समूह है जो किन्हीं सम्बन्धों या व्यवहार के तरीकों द्वारा संगठित है और जो उन्हें उन अन्यों से पृथक् करते हैं जो इन सम्बन्धों से नहीं बँधे हैं या जो उनसे भिन्न व्यवहार करते हैं।"[1]

मोरिस जिन्सबर्ग की उपर्युक्त परिभाषा से यह जाना जा सकता है कि विभिन्न समाजों को एक दूसरे से पृथक् करने का आधार उनके सामाजिक सम्बन्धों की भिन्नता ही है। समाज व्यक्तियों का एक समूह मात्र नहीं है, बल्कि उनके मध्य विद्यमान सामाजिक सम्बन्धों (Social Relationships) की एक व्यवस्था है। जिन्सबर्ग ने अपनी कृति 'सोश्योलॉजि' में सोसाइटी, कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन के नाम से लिखे दूसरे अध्याय में एक चार्ट प्रस्तुत किया है जिससे समाज की धारणा तथा संगठन को स्पष्ट किया जा सकता है :[2]

---

1. Morris Ginsberg : Ibid ; p. 40.
2. Morris Ginsberg : Ibid ; p. 43.

समाज
(Society)
|
सामाजिक व्यवहार की समग्रता तथा सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना
(The whole complex of Social Behaviour and the net-work of Social Relations)
|
अनेक समाज (लोगों के विशेष संग्रह)
Societies (Definite Collections of People)
|

- समूह (Groups)
  - प्रत्यक्ष सम्पर्कों पर आधारित (Based on Direct Contact)
    - विस्तृत सम्बन्ध वाले जैसे परिवार, पड़ौस, छोटे समुदाय
    - सीमित एवं अस्थाई सम्बन्धों वाले जैसे भीड़ (Crowds)
  - परोक्ष सम्पर्कों पर आधारित (Based on Indirect Contact)
    - विस्तृत सम्बन्धों वाले जैसे राष्ट्र, एवं राजनैतिक समुदाय
    - सीमित अथवा विशेष सम्बन्धों वाले जैसे समितियाँ, व्यापार संघ, बौद्धिक समाज आदि
- अर्द्ध-समूह (Quasi-Groups) (जैसे सामाजिक वर्ग अर्थात् ऐसे लोगों का 'सार्वजनिक संचय' जिनके स्वार्थ समान होते हैं, जैसे क्रीड़ा या समाज-सुधार-सम्बन्धी)

मेंजर (Manzar) ने समाज को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "एक समाज से हमारा आशय मनुष्यों के उस समूह से है जो किसी सामान्य कार्य में चेतन रूप से भाग लें।"[1]

एच० पी० फेयरचाइल्ड (H.P. Fairchild) ने 'डिक्शनरी ऑफ सोश्योलॉजि' में लिखा है कि "समाज मनुष्यों का एक समूह है जो अपने अनेक मुख्य हितों की पूर्त्ति के लिए, अनिवार्य रूप से स्वयं को बनाये रखने व स्वयं की निरन्तरता के लिए परस्पर सहयोग करते हैं।"[2]

---

1. H.C. Manzar : Practical Sociology and Social Problems ; p. 9.
2. H.P. Fairchild : Dictionary of Sociology ; p. 300.

इस प्रकार समाज की उपर्युक्त परिभाषायें संकुचित हैं, क्योंकि इनमें समाज का आशय 'एक-समाज' (A-Society) से है, जबकि विस्तृत अर्थ में समाज का आशय किसी विशिष्ट समाज से नहीं होता, बल्कि उसका आशय सामान्य समाज से होता है।

समाज का विस्तृत अर्थ में प्रयोग :

(Use of Society in Broad Sense)

अनेक ऐसे समाजशास्त्री भी हैं जिन्होंने समाज का प्रयोग विस्तृत एवं व्यापक संदर्भ में किया है। विस्तृत अर्थ में समाज का प्रयोग सामाजिक सम्बन्धों की कुल व्यवस्था के संदर्भ में किया जाता है। जब किसी निश्चित 'देश' और 'काल' में सीमित समाज का नाम न लेकर हम **'मानव-समाज'** या **'समाज'** शब्द का प्रयोग करते हैं, तो समाज से हमारा अभिप्राय उसके विस्तृत अर्थ से ही होता है।

मेकाइवर एवं पेज (Maciver & Page) ने **'सोसाइटी'** नामक अपनी कृति में समाज का प्रयोग अत्यन्त विस्तृत अर्थों में किया है। आपके अनुसार 'समाज रीतियों (Usages) तथा कार्य-प्रणालियों (Procedures) की, अधिकार (Authority) तथा पारस्परिक सहायता (Mutual Aid) की, अनेक समूहों (Many Groupings) तथा विभागों (Divisions) की, मानव-व्यवहार के नियन्त्रणों (Controls) तथा स्वतन्त्रताओं (Liberties) की एक व्यवस्था है। इस सतत परिवर्तनशील, जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है, और यह सदैव परिवर्तित होता रहता है।[1]

इस प्रकार मेकाइवर एवं पेज ने समाज की अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की है। आपके मत में समाज सामाजिक सम्बन्धों का ताना-बाना (जाल) (Network) है और यह परिवर्तित भी होता रहता है। साथ ही मेकाइवर एवं पेज उन आधारों (Bases) को भी समाज कहते हैं जिनके द्वारा व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्ध एक व्यवस्थित ढांचे का या संरचना (Structure) का निर्माण करते है।

टालकॉट पारसन्स (Talcott Parsons) ने भी समाज की विशद परिभाषा प्रस्तुत की है। आपके अनुसार "समाज को मानवीय सम्बन्धों, तात्त्विक या प्रतीकात्मक पूर्ण जटिलता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो जहाँ तक साधन-साध्य (Means-ends) के सम्बन्ध के द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न होते हैं चाहे वे यथार्थ हों अथवा प्रतीकात्मक (Smybolic)।"[2]

---

1. Maciver & Page : Society ; p. 5.
2. Talcott Parsons : Encyclopaedia of Social Sciences ; vol. XIV. p. 231.

पारसन्स की उपर्युक्त परिभाषा को निम्नलिखित विन्दुओं में रखकर समझा जा सकता है :

1. समाज मानवीय सम्बन्धों की एक जटिल व्यवस्था है।
2. समाज का निर्माण केवल उन्हीं मानवीय सम्बन्धों से होता है जो किसी क्रिया के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुए हों।
3. मनुष्यों के समस्त व्यवहार 'क्रिया' (Action) नहीं होते, अपितु वे ही व्यवहार क्रिया होते हैं, जो किसी साध्य की प्राप्ति के लिए एक साधन के रूप में किये गये हों।
4. सामाजिक क्रियायें चाहे वे यथार्थ हों या प्रतीकात्मक, सामाजिक सम्बन्धों को विकसित करती हैं जिसके परिणाम-स्वरूप समाज का निर्माण होता है।

चार्ल्स कूले (Charles Cooley) ने लिखा है कि "समाज स्वरूपों (Forms) एवं प्रक्रियाओं की एक जटिल व्यवस्था है, जिसमें से प्रत्येक जीवित है और एक दूसरे के प्रभाव के कारण आगे-बढ़ते रहते हैं एवं इसके पूर्ण अस्तित्व में इस प्रकार की एकता पायी जाती है कि जो कुछ एक भाग में होता है, वह शेष पर प्रभाव डालता है।"[1]

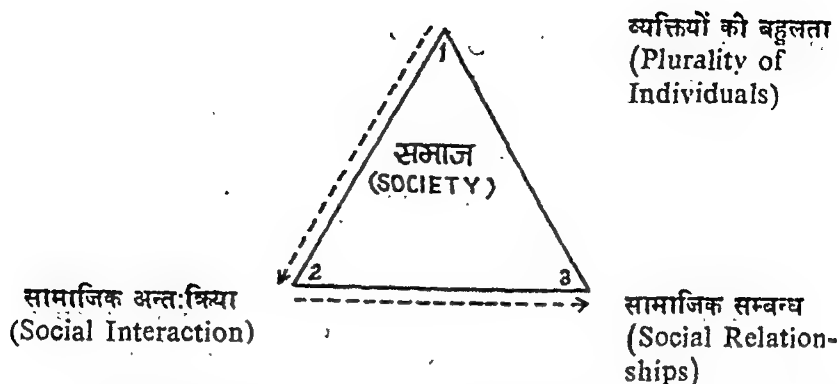
इ. बी. र्‍यूटर (E. B. Ruter) ने लिखा है कि "समाज एक अमूर्त (Abstract) शब्द है जो एक समूह के दो या दो से अधिक सदस्यों के बीच स्थित पारस्परिक सम्बन्धों की जटिलता का बोध कराता है।"[2]

एच० डब्ल्यु० ऑडम (H.W. Odom) ने समाज को परिभाषित करते हुए कहा है कि "व्यक्तियों के आपसी संसर्ग (Association) का ढाँचा और जो कुछ भी वे संस्कृति (Culture), प्रविधि (Technology) और सभ्यता के क्षेत्र में प्राप्त करते हैं, समाज कहलाता है।.........दूसरे दृष्टिकोण से समाज को मानवीय व्यवहार एवं उसी के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न सम्बन्धों की समस्याओं और व्यवस्थापन से चित्रित किया जा सकता है।"[3]

इस प्रकार विस्तृत अर्थ में समाज व्यक्तियों का एक ऐसा अमूर्त संगठित समूह है जो सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित है, जिसकी एक संरचना है और जो व्यक्तियों के व्यवहारों एवं स्वतन्त्रताओं पर नियन्त्रण रखता है। और भी सरल शब्दों में समाजशास्त्र में समाज शब्द के स्पष्टीकरण के लिए तीन आवश्यक तत्त्व हैं, जो अग्रलिखित हैं—

---

1. C.H. Cooley : The Social Process ; p. 28.
2. E.B. Rueter : Handbook of Sociology ; p. 157.
3. H.W. Odum : Understanding of Society ; p. 9.



व्यक्तियों की वहुलता से आशय एकाधिक व्यक्तियों से है। विना अन्त:क्रिया के भी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती एवं सामाजिक सम्बन्ध किसी भी समाज के प्राण हैं। अतः ये तीनों समाज के अंगभूत तत्त्व (Components) हैं। इनमें से एक के अभाव में भी समाज का सृजन नहीं हो सकता।

समाज के प्रमुख आधार : मैकाइवर एवं पेज के अनुसार :
(Main Bases of Society : According to Maciver & Page)

मैकाइवर एवं पेज ने 'समाज' की विवेचना के लिए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति तैयार की है। अपनी इस कृति का नाम भी मेकाइवर एवं पेज ने **'सोसाइटी'** (Society) ही रखा। ऊपर हमने मेकाइवर एवं पेज द्वारा प्रदत्त समाज की परिभाषा को प्रस्तुत किया है। उनकी इस परिभाषा में समाज के कुछ प्रमुख आधारों का उल्लेख किया गया है। यहाँ हम उन आधारों का पृथक् रूप से विश्लेषण कर रहे हैं ताकि समाज का अर्थ और अधिक स्पष्ट किया जा सके। पूर्वोक्त परिभाषा के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं :

1. **रीतियाँ** (Usages) : मेकाइवर एवं पेज के अनुसार प्रत्येक समाज कुछ रीतियों पर आधारित होता है। दूसरे शब्दों में रीतियाँ समाज-स्वीकृत व्यवहार-प्रतिमान हैं। उदाहरण के लिए प्रत्येक समाज में खान-पान, भाषा, वेश-भूषा, आचार-व्यवहार, धर्म-कर्म से सम्बन्धित कुछ रीतियाँ होती हैं। इन रीतियों का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों से होता है। अतः यह आवश्यक है कि समाज के सभी सदस्य इन रीतियों के अनुरूप आचरण करें। रीति-विरुद्ध आचरण करने वाला व्यक्ति कभी-कभी दण्ड का भागीदार वनता है।

2. **कार्य-प्रणालियाँ** (Procedures) : मेकाइवर एवं पेज के अनुसार कार्य-प्रणालियाँ वे नियम अथवा संस्थायें (Institutions) हैं जो प्रत्येक समाज में उद्देश्यों या साध्यों की पूर्ति के लिए अपनाये जाते हैं। इन्हीं कार्य-प्रणालियों के माध्यम से

समाज के सदस्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हैं। प्रत्येक समाज की अपनी कार्य-प्रणालियाँ स्वीकृत होती हैं।

3. अधिकार (Authority) : मेकाइवर एवं पेज़ के अनुसार ऐसा कोई भी समाज नहीं है जिसमें प्रमुत्व तथा अधीनता दोनों प्रकार के सामाजिक सम्बन्ध न पाये जाते हों। समाज के प्रत्येक संगठन में 'अधिकार' अवश्य पाया जाता है। एक परिवार में यह अधिकार कर्त्ता के पास होता है, तो संस्थाओं में यह किसी न किसी व्यक्ति के पास अवश्य रहता है। अधिकार की मुख्य भूमिका व्यवस्था को बनाये रखना है।

4. पारस्परिक सहयोग (Mutual Aid) : सामाजिक जीवन का एक आधारभूत लक्षण पारस्परिक सहायता या सहयोग है। समाज के सदस्यों में सामाजिक सम्बन्धों का आधार पारस्परिक सहयोग की प्रणाली है। पारस्परिक सहयोग ही वह तत्त्व है जिसके आधार पर व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हैं, और इसी से समाज की निरन्तरता बनी रहती है।

5. समूह एवं विभाग (Groupings and Divisions) : प्रत्येक समाज अनेक समूहों एवं उपसमूहों की एक संयुक्त व्यवस्था है, जैसे परिवार, जातियाँ, प्रजातियाँ, धर्म, समुदाय, वर्ग आदि। यह ध्यान रखना चाहिए कि ये समूह एवं विभाग आपस में एक-दूसरे से पारस्परिक रूप से सम्बन्धित होते हैं, जिससे कि समाज का कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है।

6. मानव-व्यवहार के नियन्त्रण (Controls of Human Behaviour) : समाज के सुचारु रूप से संचालन के लिए यह आवश्यक है कि मानव-व्यवहार पर नियन्त्रण रखा जाये। इसका कारण मनुष्य की प्रकृति है। मनुष्य की इच्छायें, नैतिक एवं सामाजिक आवश्यकतायें एवं अपेक्षायें अनन्त होती हैं, अतः उन्हें नियन्त्रित करने की एक स्वीकृत व्यवस्था का होना प्रत्येक समाज की अनिवार्य आवश्यकता है। इस हेतु प्रत्येक समाज में औपचारिक (Formal) एवं अनौपचारिक (Informal) सामाजिक नियन्त्रण के साधन होते हैं।

7. स्वतन्त्रतायें (Liberties) : वास्तव में किसी समाज के लिए नियन्त्रण एवं स्वीकृत रीतियाँ, कार्य-प्रणालियाँ एवं सहयोग ही आवश्यक नहीं हैं, बल्कि व्यक्तियों की स्वतन्त्रता भी परमावश्यक है, अन्यथा सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो सकती है। यहाँ स्वतन्त्रता का आशय स्वेच्छाचारिता से नहीं है। हेराल्ड लास्की (Harold Laski) ने लिखा है कि "स्वतन्त्रता का तात्पर्य उस वातावरण को बनाये रखने से है जिसमें मनुष्यों को अपने पूर्ण विकास के लिए अवसर प्राप्त होते हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि मैकाइवर एवं पेज ने समाज के लिए लगभग समस्त अनिवार्य आधारों का उल्लेख अपनी समाज की परिभाषा में किया है। अतः मैकाइवर एवं पेज की परिभाषा विस्तृत, व्यापक एव उपयुक्त है।

समाज की विशेषतायें :

(Characteristics of Society)

समाज की प्रकृति की स्पष्ट विवेचना के लिए यह आवश्यक है कि हम समाज की कुछ मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें। समाज की प्रमुख विशेपतायें निम्नलिखित हो सकती हैं :

1. **समाज अमूर्त है** (Society is Abstract) : समाज की सर्व-प्रमुख विशेपता उसकी अमूर्तता (Abstraction) है। समाज कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया जा सके। इसे न तो देखा जा सकता है, और न ही छुआ जा सकता है। अमूर्त सामाजिक सम्बन्धों से निर्मित समाज भी अमूर्त है। इ. बी. र्यूटर (E. B. Reuter) ने लिखा है कि "जिस प्रकार जीवन एक वस्तु नहीं, अपितु जीवित रहने की एक प्रक्रिया है, उसी प्रकार समाज भी एक वस्तु नहीं, अपितु सम्बन्ध स्थापित करने की एक प्रक्रिया है।"[1]

2. **पारस्परिक जागरूकता** (Mutual Awareness) : जागरूकता का आशय है किसी स्थिति के प्रति मानसिक चेतनता। समाज का अस्तित्व वहीं सम्भव है जहाँ सामाजिक प्राणी एक दूसरे के साथ इस प्रकार व्यवहार करते हों कि वे एक-दूसरे के व्यवहारों के प्रति जागरूक हों। पारस्परिक जागरूकता के अभाव में न तो सामाजिक सम्बन्ध बन सकते हैं और न ही समाज।

3. **समानता एवं विभिन्नता** (Likeness and Difference) : प्रत्येक समाज में समानता एवं विभिन्नता दोनों ही अनिवार्य रूप से पायी जाती हैं। तार्किक दृष्टि से समानता एवं विभिन्नता दोनों एक दूसरे की विरोधी प्रतीत होती हैं, परन्तु आन्तरिक रूप से दोनों स्थितियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं। **समानता** (Likeness) का आशय व्यक्तियों के उद्देश्यों, मनोवृतियों तथा विचारों में एकता का होना है। **मैकाइवर एवं पेज** लिखते हैं कि "समाज का अस्तित्व उन्हीं लोगों में होता है, जो एक दूसरे से शरीर या मस्तिष्क में किसी अंश के समान हैं और जो इसे जानने के लिए पर्याप्त निकट एवं बुद्धिमान हैं।"[2] **गिडिंग्स** (Giddings) के अनुसार "समाज का आधार सजातीयता की भावना है।"

विभिन्नताओं (Differences) का आशय लोगों में पायी जाने वाली विभिन्नताओं से है। **मैकाइवर एवं पेज** ने लिखा है कि "यदि लोग एक दूसरे के समान ही होते तो प्रायः चींटियों या मधुमक्खियों की भाँति ही उनके सामाजिक सम्बन्ध भी

---

1. E. B. Reuter : Op. cit. ; p. 19
2. Maciver & Page : Op. cit. ; p. 7

वहुत सीमित होते। उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान की क्रिया अथवा पारस्परिक सहयोग नहीं के वरावर होता।"[1]

इस प्रकार समाज समानता एवं विभिन्नता दोनों पर आधारित है।

4. **सहयोग एवं संघर्ष** (Co-operation and Conflict) : यद्यपि सहयोग एवं संघर्ष भी दोनों एक दूसरे के विपरीत सामाजिक प्रक्रियायें हैं, तथापि दोनों ही समाज की आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण विशेषतायें हैं। कोई भी समाज ऐसा नहीं है जो केवल सहयोग पर आधारित हो। **मैकाइवर एवं पेज** के अनुसार "जैसे भौतिक जगत् में आकर्षण एवं विकर्षण की शक्तियाँ हैं, जो किसी स्थान में पदार्थों की स्थिति को साथ-साथ संचालित व निर्धारित करती हैं, वैसे ही सामाजिक जगत् में सहयोग और संघर्ष का एक संयोग होता है, जो मनुष्यों में और समूहों के सम्वन्ध में प्रकट होता है।"[2] **चार्ल्स कूले** (C. H. Cooley) ने भी लिखा है कि "इस संयोग के वारे में जो जितना अधिक सोचता है, उसे उतना ही अधिक दिखायी देता है कि संघर्ष और सहयोग अलग करने योग्य वस्तुयें नहीं हैं, किन्तु एक ही प्रक्रिया की अवस्थायें हैं जिसमें दोनों के कुछ अंश सदैव ही सम्मिलित रहते हैं।"[3]

इस प्रकार समाज में सहयोग व संघर्ष दोनों पाये जाते हैं।

5. **अन्योन्याश्रितता** (Interdependence) : समाज में सदस्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति-हेतु एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं। वस्तुतः अन्योन्याश्रितता की आवश्यकता व्यक्ति को अपने जन्म के साथ ही हो जाती है और यह उसके सम्पूर्ण जीवन-पर्यन्त चलती है। व्यक्ति अपने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि कार्यों के लिए एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं।

6. **एक परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था** (Ever-changing Complex System) : समाज को सामान्यतः सामाजिक सम्वन्धों का एक जाल (Net-work) या ताना-वाना माना जाता है। सामाजिक सम्वन्ध अत्यन्त जटिल (Comptex) एवं परिवर्तनशील होते हैं। उदाहरण के लिए प्रारम्भिक समाजों एवं वर्तमान समाजों के अन्तर को देखा जा सकता है। यह अन्तर परिवर्तनों का परिणाम है।

7. **समाज केवल मनुष्यों में ही नहीं है।** (Society is not confined to Men only) : मैकाइवर एवं पेज की यह उक्ति वस्तुतः सत्य है कि जहाँ कहीं जीवन है, वहीं समाज है।"[4] इससे स्पष्ट होता है कि समाज केवल मनुष्यों तक ही सीमित

---

1. Maciver and Page : Ibid. ; p. 7
2. Maciver and Page : Ibid. ; p. 8
3. C. H. Cooley : Op. cit. ; p. 39
4. Maciver and Page : Op. cit. ; p. 6

नहीं है, अपितु बन्दरों, चींटियों, कीड़े-मकोड़ों, मधुमक्खियों आदि में भी समाज एवं सामाजिक संगठन देखा जा सकता है। समाजशास्त्र के विद्यार्थी होने के नाते यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल 'मानव-समाज' (Human Society) से ही है।

'समाज' तथा 'एक-समाज' :
(Society and A-Society)

सामान्यतः **'समाज'** (Society) व **'एक-समाज'** (A-Society) का प्रयोग समान अर्थों में ही किया जाता है, परन्तु समाजशास्त्रीय शब्दावली में इन दोनों अवधारणाओं का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया जाता है।

ऊपर हमने 'समाज' को संकुचित एवं विस्तृत अर्थों में परिभाषित किया है। संकुचित अर्थ में 'समाज' शब्द का प्रयोग किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों के समूह के सन्दर्भ में किया जाता है, जबकि विस्तृत अर्थ में 'समाज' का प्रयोग अमूर्त रूप में किया जाता है। विस्तृत अर्थ में 'समाज' व्यक्तियों के समूह का बोध नहीं कराता, अपितु विस्तृत अर्थ में 'समाज' को 'अमूर्त सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था' या 'सामाजिक सम्बन्धों के एक जाल' के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। संकुचित अर्थ में **'समाज'** से तात्पर्य **'एक-समाज'** (A-Society) से है, जबकि विस्तृत अर्थ में **'समाज'** से तात्पर्य किसी 'एक-समाज' या 'विशिष्ट समाज' (Specific Society) से न होकर 'सार्वभौमिक समाज' से है। **एच. सी. मैन्जर** (H. C. Manzar) ने लिखा है कि "एक-समाज' मनुष्यों का एक समूह समझा जा सकता है, जो कुछ सामान्य कार्यों में सचेत रूप से भाग लेते हों।"[1] **इ. बी. र्यूटर** (E. B. Reutter) लिखते हैं कि "समाज से सर्वथा भिन्न 'एक समाज' कोई भी ऐसा संगठन है, जिसके माध्यम से व्यक्ति अपना जीवन व्यतीत करते हैं।"[2] **मोरिस जिन्सबर्ग** (Morris Ginsberg) ने भी लिखा है कि "एक-समाज व्यक्तियों का वह समूह है जो किन्हीं सम्बन्धों या व्यवहार के तरीकों द्वारा संगठित है, और जो उन व्यक्तियों से भिन्न है जो उन सम्बन्धों से नहीं बँधे हैं या जो उनसे भिन्न व्यवहार करते हैं।"[3] **ए. डब्ल्यू. ग्रीन** (A.W. Green) ने 'सोश्योलॉजी' में लिखा है कि "एक-समाज बहुत बड़ा समूह है, जिसका कोई भी व्यक्ति सदस्य होता है। एक-समाज जनसंख्या (Population), संगठन (Organization), समय (Time), स्थान (Place) एवं अभिरुचि (Interest) से बनता है।"[4]

---

1. H. C. Manzar : Op. cit. ; p. 9
2. E. B. Reutter : Op. cit. ; p. 157
3. Morris Ginsberg : Op. cit. ; p. 40
4. A. W. Green : Sociology. p. 52

एक-समाज की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम एक-समाज की कुछ विशेषताओं को ज्ञात कर सकते हैं, जो निम्नलिखित हैं :

1. एक-समाज मूलत: व्यक्तियों का एक समूह होता है।

2. एक-समाज के सदस्य सामान्य कार्यों में चेतन रूप से भाग लेते हैं।

3. एक-समाज का निर्माण जनसंख्या, संगठन, समय, स्थान एवं अभिरुचि के आधार पर होता है। एवं

4. एक-समाज सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं अन्य आधारों पर दूसरे समाजों में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

उदाहरण के लिए **आर्य समाज, हरिजन समाज, ब्रह्म समाज, जैन समाज,** आदि 'एक-समाज' के उदाहरण हैं, जहाँ लोग व्यक्तियों के समूह के रूप में एक सामान्य जीवन-विधि एवं सामान्य क्रिया-कलापों में चेतन रूप से भाग लेते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि **'समाज'** व **'एक-समाज'** में पर्याप्त अन्तर है। इन दोनों में व्याप्त अन्तरों को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझा जा सकता है :

1. **एक-समाज** को व्यक्तियों के समूह (Group of Individuals) के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जबकि **'समाज'** को 'सामाजिक सम्बन्धों के एक जाल या ताने-बाने' (Net-work) के रूप में या 'सामाजिक सम्बन्धों की एक जटिल व्यवस्था' (A Complex System of Social Relationships) के रूप में परिभाषित किया जाता है।

2. **एक-समाज** एक मूर्त्त (Concrete) अवधारणा है जबकि **समाज** एक अमूर्त्त (Abstract) अवधारणा है, क्योंकि इसका निर्माण अमूर्त्त सामाजिक सम्बन्धों से होता है।

3. **एक-समाज** शब्द का प्रयोग संकुचित (Narrow) अर्थ में किया जाता है, जबकि **'समाज'** (Society) शब्द का प्रयोग विस्तृत (Broad) अर्थ में किया जाता है।

4. **एक-समाज** सम्पूर्ण समाज की एक इकाई (Unit) मात्र है, जबकि **समाज** के अन्तर्गत अनेक **'एक-समाज'** सम्मिलित होते हैं।

5. **एक-समाज** छोटे होने के कारण अत्यन्त सरल (Simple) होते हैं। जबकि **समाज** बड़े विशाल एवं व्यापक होने के कारण जटिल (Complex) होते हैं।

6. **एक-समाज** के सदस्य एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के अन्तर्गत जीवन-यापन करते हैं, जबकि **'समाज'** के लिए निश्चित भौगोलिक क्षेत्र का होना कोई आवश्यक शर्त नहीं है।

7. एक-समाज में व्यक्तियों के उत्तरदायित्व सीमित होते हैं, जवकि समाज के भीतर व्यक्तियों के उत्तरदायित्व असीमित होते हैं।

8. एक-समाज में लगभग सभी व्यक्तियों के व्यवहारों एवं मनोवृत्तियों में समानता पायी जाती है, जवकि समाज में व्यक्तियों के व्यवहारों एवं मनोवृत्तियों में भिन्नता होती है।

9. एक-समाज में व्यक्तियों की सामान्य जीवन-विधि (Common Way of Life) एक जैसी होती है, जवकि समाज में विभिन्न व्यक्ति विभिन्न जीवन-विधियाँ अपनाते हैं।

10. एक-समाज जनसंख्या, संगठन, समय, स्थान एवं अभिरुचि से वनता है, जवकि समाज, व्यक्तियों एवं सामाजिक सम्वन्धों से वनता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'समाज' एवं 'एक-समाज' की अवधारणाओं को समाजशास्त्रीय शब्दावली में अलग-अलग अर्थ प्रदान किया गया है।

समाजों का वर्गीकरण
(Classification of Societies)

समाजशास्त्र समाज के वारे में अध्ययन करता है, परन्तु यह अध्ययन तभी किया जा सकता है जवकि हम यह समझ लें कि वह समाज कैसा है? समाज के अनेक प्रकार होते हैं। अनेक समाजशास्त्रियों ने भी समाजों का वर्गीकरण (Classification) प्रस्तुत किया है। यहाँ हम कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों द्वारा प्रदत्त वर्गीकरण को प्रस्तुत करते हैं। हरवर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने अपनी पहली कृति 'द प्रिन्सिपल्स ऑफ सोश्योलॉजि' के प्रथम खण्ड (Volume) में समाजों के चार प्रकारों का उल्लेख किया है[1] जो निम्नलिखित हैं।

1. **सरल समाज** (Simple Society) : इसमें आदिम समुदायों (Primitive Communities) को रखा गया है। ये समाज अत्यन्त छोटे, सरल, धार्मिक व परम्परा पर विश्वास रखने वाले थे। श्रम-विभाजन एवं राजनैतिक संगठन यहाँ नहीं था।

2. **मिश्रित समाज** (Mixed Society) : यह सरल समाजों का ही एक प्रकार है, परन्तु उनसे थोड़ा विकसित है। सरल समाजों से थोड़ा वड़ा, कुछ क्षेत्रों में श्रम-विभाजन एवं वंशानुगत राजनैतिक संगठन वाला यह समाज भी धर्म एवं परम्परा पर अधिक आश्रित था।

1. Herbert Spencer : Principles of Sociology, Vol. I. Chapter. X.

3. **दोहरे मिश्रित समाज** (Double Mixed Society) : यह उपर्युक्त दोनों प्रकारों से थोड़ा विकसित समाज है। इसमें सामाजिक-आर्थिक आधारों पर श्रम-विभाजन एवं स्तरीकरण देखा जा सकता है। यहाँ राजनैतिक संगठन भी थोड़ा जटिल होता है।

4. **तिहरे मिश्रित समाज** (Triple Mixed Society) : यह 'सभ्य समाज' (Civilized Society) का प्रकार है। बड़े एवं विशाल आकार वाले, जटिल श्रम-विभाजन, सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न रूपों वाले इस प्रकार के समाजों में धर्म एवं परम्परा की अपेक्षा 'विज्ञान' का अधिक महत्त्व पाया जाता है। इनमें राजनैतिक संगठन भी अत्यन्त जटिल होता है।

फर्डिनेण्ड टॉनीज (Ferdinand Tonnis) एक प्रमुख जर्मन समाजशास्त्री हैं। टॉनीज ने 'समाज' के दो स्वरूपों का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित हैं :

1. **गेमाइनशाफ्ट** (Gemeinschaft) : इसकी विशेषता बताते हुए **पितृम् सोरोकिन** (Pitrim Sorokin) ने लिखा है कि 'गेमाइनशाफ्ट एक ऐसा समाज है, जिसको 'सावयवी इच्छा' (Organic Will) रखने वाले व्यक्तियों का एक संघ माना जा सकता है। इसमें सामुदायिक स्वार्थों का प्रमुत्व होता है तथा यहाँ विश्वास, धर्म, रूढ़ियाँ एवं प्रथाएँ व सामान्य तथा सामुदायिक सम्पत्ति होती हैं।"[1] इसे एक प्रकार से 'समुदाय' कहा जा सकता है।

2. **गेसालशाफ्ट** (Gessellschaft) : गेसालशाफ्ट में व्यक्तिगत इच्छा, सदस्यों का व्यक्तिगत महत्त्व, वैयक्तिक स्वार्थों का प्रभुत्व, जनमत, फैशन, धुन, ढंग, यन्त्रीकरण, अनुसन्धात्मक एकात्मता, वाणिज्य एवं विनिमय तथा निजी सम्पत्ति का प्रभुत्व होता है। इसे एक प्रकार से 'समाज' की विशेषताओं से युक्त समाज माना जा सकता है।

इमाइल दुर्खीम (Emile Durkheim) ने 'द रूल्स ऑफ सोश्योलोजीकल मेथड्स' के चार प्रकार के समाजों का उल्लेख किया है[2] जो निम्नलिखित हैं :

1. **सरल समाज** (Simple Society) : दुर्खीम के अनुसार ये अत्यन्त छोटे एवं सरल समाज होते हैं। यहाँ 'सहयोग' के आधार पर सदस्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तथा सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करते हैं। दुर्खीम के अनुसार 'झुण्ड' (Horde) एवं गोत्र (Clan) आदि सरल समाज के उदाहरण हैं।

---

1. **Pitrim Sorokin** : Contemporary Sociological Theories : p. 491
2. **Emile Durkheim** : The Rules of Sociological Method ; p. 66–68

2. **सरल बहुखण्डीय समाज** (Simple Poly–Segmental Society) : दुर्खीम के अनुसार ये वे समाज हैं जो अधिकांश मामलों में सरल समाजों के समान ही हैं, परन्तु ये आन्तरिक रूप से कुछ खण्डों (Divisions) में विभक्त होते हैं। दुर्खीम 'भ्रातृदल' (Phratry) को इसका उदाहरण कहते हैं। "भ्रातृदल (Phratry) कई गोत्रों का एक समूह होता है।"

मिश्रित बहुखण्डीय समाज (Mixed Poly-Segmental Society) : दुर्खीम के अनुसार आदिम जनजातीय समाजों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। अनेक भ्रातृदलों अर्थात् अनेक गोत्र-समूहों से मिलकर ये समाज बनते हैं। ये समाज भी अनेक खण्डों में विभाजित रहते हैं।

4. **दोहरे मिश्रित बहुखण्डीय समाज** (Double Mixed Poly-Segmental Society) : बड़े एवं विशाल जनजातीय समाजों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। मिश्रित बहुखण्डीय समाजों से मिलकर इस प्रकार के समाजों का निर्माण होता है।

हमें ध्यान रखना चाहिए कि दुर्खीम ने मुख्यतः जनजातियों के आधार पर उपर्युक्त वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने भी समाजों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। मार्क्स ने स्वयं लिखा है कि "व्यापक रूप से हम एशियाई, प्राचीन, सामन्तवादी तथा आधुनिक उत्पादन के तरीकों को समाज के आर्थिक निर्माण की प्रगति में कई अवस्थायें मान सकते हैं।"[1] एक अन्य स्थान पर मार्क्स ने आदिम, साम्यवादी, प्राचीन समाज, सामन्तवादी समाज एवं पूँजीवादी तथा समाजवादी समाजों का उल्लेख किया है। **टी. बी. बोटोमोर** (T. B. Bottomore) ने लिखा है कि 'यदि हम मार्क्स की इन दोनों योजनाओं को मिला दें तो हमें प्रमुखतः पांच प्रकार के समाज मिलते हैं[2] जो निम्नलिखित हैं :

1. **आदिम समाज** (Primitive Society) : यह आदिम साम्यवादी समाज था जिसमें उत्पादन के साधनों पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार न होकर पूरे समुदाय का सम्पूर्ण रूप से समान अधिकार होता था। उत्पादन की प्रणाली भी सरल एवं आदिम थी। पत्थरों के औजारों से संयुक्त श्रम के द्वारा उत्पादन किया जाता था तथा उसे आपस में बाँट लिया जाता था।

---

1. **Karl Marx** : Contributions to the Critique of Political Economy. Quoted by **T.B. Bottomore** ; Sociology(Hindi edition), p. 118
2. **T. B. Bottomore** : Ibid. ; p. 118

2. **एशियाई समाज** (Asian Society) : मार्क्स के अनुसार यह एक ऐसा समाज है जिसकी कृषि-प्रधान अर्थ-व्यवस्था उत्पादन की छोटी-छोटी इकाइयों पर आधारित होती है, साथ ही जिसमें केन्द्रीय राज्य एवं अधिकारी-तन्त्र हैं। मार्क्स 'भारत' को एशियाई समाज कहता है।

3. **प्राचीन समाज** (Ancient Society) : मार्क्स के अनुसार यह परम्पराओं पर आधारित समाज है। यहाँ पशु-पालन एवं कृषि कम विकसित औजारों से होती है। निजी सम्पत्ति के कारण सम्पत्ति का असमान वितरण पाया जाता है। अतः मार्क्स के अनुसार ऐसे समाजों में आर्थिक वर्ग (Economic Classes) पाये जाते हैं।

4. **सामन्तवादी समाज** (Fludalist Society) : मार्क्स के अनुसार यहाँ उत्पादन के साधनों पर सामन्तों एवं भू-स्वामियों का नियन्त्रण होता है तथा सामान्य किसानों के पास श्रम होता है। निजी सम्पत्ति की प्रचुरता के कारण यहाँ सम्पत्ति का असमान वितरण होता है। सामन्त कृषकों का शोषण करते हैं और कालान्तर में इन दोनों वर्गों में वर्ग-संघर्ष देखा जा सकता है।

5. **पूँजीवादी समाज** (Capitalistic Society) : यहाँ मशीनों, कल-कारखानों एवं उद्योग-धन्धों के कारण विशाल पैमाने पर उत्पादन किया जाता है। उत्पादन के साधनों पर पूँजीपतियों का अधिकार होता है, एवं सर्वहारा (Proletariate) के पास अपने श्रम के अतिरिक्त कुछ नहीं होता है। निजी सम्पत्ति की प्रचुरता के कारण पूँजीपति श्रमिकों (सर्वहारा) का शोशण करते हैं। यहाँ भी इन दोनों वर्गों में वर्ग-संघर्ष पाया जाता है।

इनके अतिरिक्त मार्क्स **'समाजवादी समाज'** (Socialistic Society) का भी उल्लेख करता है, जिसे वह **'वर्ग-विहीन समाज'** (Class-less Society) कहते हैं। ऐसे समाज शोषण-विहीन होगें, क्योंकि यहाँ निजी सम्पत्ति का अस्तित्व नहीं है। उत्पादन लाभ के लिए नहीं, बल्कि उपभोग के लिए किया जायेगा। परन्तु मार्क्स की यह कल्पनात्मक समाज है। अनेक विद्वानों ने मार्क्स के इस समाज की आलोचना की है।

सामाजिक संरचना
(Social Structure)

हमारा यह शरीर हाथों, पैरों, आँखों, कानों, नाक, मुँह आदि विभिन्न अंगों का एक ढेर मात्र नहीं है, बल्कि इन सबका एक व्यवस्थित रूप ही 'शरीर' कहलाता है। शरीर की इन समस्त संघटक इकाइयों (Constituent Units) को एक क्रम में

रखने के परिणाम-स्वरूप शरीर का जो रूप या स्वरूप प्रकट होता है, उसी को हम शरीर या **'सावयवी संरचना'** (Organic Structure) कहते हैं। साथ ही इस सत्य से भी हम सभी परिचित हैं कि इन समस्त अंगों (हाथों, पैरों, कानों, आंखों, नाक, मुँह आदि) का अपना-अपना एक निश्चित स्थान शरीर में है। शरीर में इनका न केवल एक निश्चित स्थान ही है, अपितु इनका एक निश्चित **प्रकार्य** (Function) भी है। इस प्रकार 'संरचना' को बनाने वाले विभिन्न अंगों में एक 'प्रकार्यात्मक सम्बन्ध' पाया जाता है अर्थात् एक अंग का प्रकार्य दूसरे अंग से पृथक् न होकर उससे सम्बन्धित होता है। इसी सम्बन्ध के कारण 'संरचना' का अस्तित्व सम्भव होता है। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि **संरचना** (Structure) **और प्रकार्य** (Function) को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। यही बात समाज पर भी लागू होती हैं। समाज की भी अपनी एक संरचना होती है जिसे **'सामाजिक संरचना'** कहा जाता है, और जिसका निर्माण अनेक सामाजिक इकाइयों द्वारा होता है। इनमें से प्रत्येक इकाई का कोई न कोई प्रकार्य (Function) अवश्य होता है, अतः इन्हीं प्रकार्यों के कारण सामाजिक संरचना का अस्तित्व सम्भव होता है। इस प्रकार 'संरचना' व 'प्रकार्य' का अध्ययन पृथक् रूप से नहीं किया जा सकता। सामाजिक संरचना के बिना प्रकार्य एवं प्रकार्य के बिना सामाजिक संरचना सम्भव नहीं है।

समाजशास्त्र एवं मानव-शास्त्र (Anthropology) में 'संरचना' शब्द का प्रयोग बहुलता से होता है। कुछ समाजशास्त्रियों का तो यह मत है कि समाजशास्त्र मानव-समाज के संरचनात्मक पक्षों का वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अनुशासन (Discipline) हैं।

इससे पूर्व कि हम **'सामाजिक संरचना'** एवं **'प्रकार्य'** की अवधारणाओं की विस्तृत विवेचना करें, यह समझ लेना अधिक उपयुक्त है कि संरचना (Structure) क्या है ?

संरचना क्या है ? :
(What is Structure)

'संरचना' (Structure) शब्द वर्तमान में अत्यधिक लोकप्रिय है। **ए. एल. क्रोबर** (A. L. Krober) ने संरचना की इसी लोकप्रियता के कारण लिखा था कि **'संरचना'** शब्द बड़े ही गूढ़ अर्थ वाला है, लेकिन लगभग एक दशक या इससे अधिक समय से यह शब्द एकाएक फैशन बन गया है और इसका प्रयोग शायद इसकी मधुर ध्वनि (स्ट्रक्चर की) के कारण बहुलता से होने लगा है। यह ठीक है कि किसी एक विशेष व्यक्तित्व को संरचना की दृष्टि से देखा जा सकता है, इसी तरह किसी एक शरीर-रचना को, सभी समाजों, संस्कृतियों, मशीनों को और कहना चाहिए

कि प्रत्येक वस्तु को भी संरचना के रूप में देखा जा सकता है। यदि इसी प्रकार संरचना का प्रयोग होता है तो इस अवधारणा को हम दुःखदायी किंकर्त्तव्यविमूढ़ की स्थिति में डाल देते हैं।"[1]

सामान्यतः **'संरचना'** (Structure) शब्द का अर्थ **'बनावट'** या **'ढाँचे'** से लिया जाता है। एक प्रकार से यह एक **'प्रतिमान'** (Pattern) होता है। जब किसी भवन को बनाया जाता है, तो उस भवन का ढाँचा या स्वरूप एक प्रकार की संरचना कही जाती है। यथार्थ में प्रत्येक भौतिक एवं अभौतिक वस्तु की कोई न कोई **'संरचना'** अवश्य होती है। इस प्रकार **'संरचना'** का सामान्य आशय उस वस्तु के **'बाहरी स्वरूप'** या **'बनावट'** से होता है।

16 वीं शताब्दी में जाकर इस अवधारणा का प्रयोग किसी एक सम्पूर्ण व्यवस्था के अगों के पारस्परिक सम्बन्धों के साथ किया गया। संरचना का यह प्रयोग शरीर-रचना विज्ञान में अधिक हुआ। इसके बाद राजनैतिक दार्शनिकों ने इसका प्रयोग किया। इन्होंने इसका प्रयोग जैविकीय रूप में किया।

समाजशास्त्र में **हरबर्ट स्पेन्सर** (Herbert Spencer) ने **1958** में **'संरचना'** के साथ **प्रकार्य**(Function) का प्रयोग किया। सम्भवतः **रेडक्लिफ ब्राउन** (Redcliffe Brown) प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने **1910 में इमाइल दुर्खीम** (Emile Durkheim) के समाजशास्त्र पर जो व्याख्यान दिये, उनका शीर्षक **'सोश्यल स्ट्रक्चर'** (Social Structure) रखा। इस पीढ़ी के लेखकों ने भी संरचना का प्रयोग जैविकीय (Biological) अर्थ में किया।

अमेरिका में ए० डब्ल्यू० स्माल (A.W. Small), **चार्ल्स कूले** (C. Cooley), **समनर** (Summner) आदि भी संरचना एवं प्रकार्य की अवधारणाओं से प्रभावित हुए। **जर्मन वॉन वीजे** (Von Wiese) एवं **इंग्लैंड में ब्राउन के अलावा मेलिनोवस्की** (Malinowski) ने भी अपने अध्ययनों में प्रकार्यवादी दृष्टिकोणों को स्वीकार किया। **इटली में परेटो** (Pareto) ने प्रकार्यात्मक उपागम को स्वीकार किया।

आधुनिक समाजशास्त्रियों में हम **सोरोकिन** (Sorokin), **बकले** (Buckley), **कोजर** (Cojer), **रोजनबर्ग** (Rosenberg), **लीच** (Leach), **स्ट्रास** (L. Strauss) **मर्टन** (Merton), **पारसन्स** (Parsons), **नडेल** (Nadel) आदि के नाम ले सकते हैं, जिन्होंने संरचना एवं प्रकार्य के अध्ययन को स्वीकार किया।

संरचना का एक दूसरा अर्थ मार्क्सवादी साहित्य में दिखायी देता है। **कार्ल मार्क्स** (Karl Marx) ने उत्पादन-सम्बन्धों का उल्लेख करते हुए कहा है कि इन उत्पादन-सम्बन्धों के परिणाम-स्वरूप आर्थिक संरचना बनती है जिसके ऊपर परा-संरचना (Super Structure) आश्रित रहती है। इस प्रकार मार्क्स ने संरचना का

---

1. A. L. Krober : Anthropology ; p. 32

आशय निश्चित रूप से 'बनावट' या 'निर्माण' से लिया है, न कि शरीर-रचना के सन्दर्भ में। लेकिन एक कठिनाई यह है कि मार्क्स ने अपनी कृतियों में और कभी-कभी एक ही पुस्तक में 'संरचना' का प्रयोग 'व्यवस्था' एवं 'संस्था' आदि अनेक अर्थों में किया है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि संरचना के दो प्रमुख प्रयोग हैं जो निम्नलिखित हैं।

1. संरचना को 'सावयव' (Organism) या शरीर-रचना की तरह समझा जाता है एवं इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है।
2. संरचना का एक और प्रयोग निर्माण या बनावट के अर्थ में किया जाता है।

संरचना के अवधारणात्मक स्पष्टीकरण के बाद अब हम 'सामाजिक संरचना' की अवधारणा को समझलें।

सामाजिक संरचना का अर्थ एवं परिभाषाएँ
(Meaning and Definitions of Social Structure)

सामाजिक संरचना (Social Structure) की अवधारणा का प्रयोग 'समाजशास्त्र' एवं 'मानवशास्त्र' दोनों में होता है। इन दोनों विज्ञानों में इसका अलग-अलग प्रयोग होता है। यहाँ हम आरम्भ से सामाजिक संरचना का जो अर्थ 'समाजशास्त्र' (Sociology) में लिया जाता है, उसका विवेचन करेंगे और इसके बाद कुछ मानवशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त परिभाषाओं की विवेचना करेंगे।

मोरिस जिन्सवर्ग (Morris Ginsberg) ने **'रिजन एण्ड अनरिजन इन सोसाइटी'** में सामाजिक संरचना को परिभाषित किया है। आपके अनुसार "सामाजिक संरचना का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् समूहों, समितियों तथा संस्थाओं के प्रकार एवं इन सबके संकुल (Complex) जिनसे कि समाज का निर्माण होता है, से सम्बन्धित है।....सामाजिक संरचना के एक सम्पूर्ण विवरण के अन्तर्गत तुलनात्मक संस्थाओं (Comparative Institutions) के सम्पूर्ण क्षेत्र के विश्लेषण का समावेश होगा।"[1]

एस. एफ नडेल (S. F. Nadel) ने **'थ्योरी ऑफ सोश्यल स्ट्रक्चर'** में लिखा है कि "सामाजिक संरचना अनेक अंगों की एक क्रमवद्धता को स्पष्ट करती है" .... यह (संरचना) तुलनात्मक रूप से यद्यपि स्थिर होती है, लेकिन इसका निर्माण करने वाले अंग स्वयं परिवर्तनशील (Changeable) होते हैं।"[2]

---

1. Morris Ginsberg : Reason and Unreason in Society, p. 1-8.
2. S. F. Nadel : Theory of Social Structure, p. 9.

लेकिन नडेल ने अपनी इसी कृति में एक अन्य स्थान पर लिखा है कि समाजशास्त्रीय कृतियों में सामाजिक संरचना की कोई भी निश्चित परिभाषा हमें देखने को नहीं मिलती है। इस वाक्यांश का प्रयोग **हरबर्ट स्पेन्सर एवं दुर्खीम** ने किया था और अब तो यह इतना अधिक सामान्य हो गया है कि इसका बहुल प्रयोग समाजशास्त्रीय पुस्तकों में होता है, फिर भी इसे निश्चित ढंग से परिभाषित करने के विषय में विभिन्न विद्वान अधिक सचेत प्रतीत नहीं होते हैं। विभिन्न समाजशास्त्रीय साहित्य में सामाजिक संरचना का प्रयोग विस्तृत अर्थ में तथा अस्पष्ट ढंग से किया जाता है। फलतः सामाजिक संरचना व्यवस्था (System), संगठन (Organization), संकुल (Complex), प्रतिमान (Pattern), प्रारूप (Type) यहाँ तक कि 'समग्र' रूप में समाज का पर्यायवाची (Synonym) हो गया है।[1]

कार्ल मैनहीम (Karl Mannheim) ने **'आइडियोलॉजी एण्ड यूटोपिया'** में इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि "सामाजिक संरचना अन्तःक्रियात्मक सामाजिक शक्तियों का एक जाल है, जिससे अवलोकन एवं चिन्तन की विभिन्न प्रणालियों का जन्म होता है।"[2]

यहाँ जाल (Web) को मैनहीम ने एक व्यवस्थित प्रतिमान (Pattern) के रूप में प्रयुक्त किया है। एक जाल के विभिन्न तारों के मध्य एक क्रमबद्धता होती है, इसी प्रकार सामाजिक संरचना भी एक क्रमबद्धता प्रदर्शित करती है। सामाजिक शक्तियों से मैनहीम का आशय सामाजिक नियन्त्रण के उन साधनों से है जो व्यक्ति व समूह के जीवन को स्थायित्व प्रदान करने में मदद देते हैं।

टालकट पारसन्स (Talcutt Parsons) ने भी सामाजिक संरचना को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'सामाजिक संरचना' परस्पर सम्बन्धित संस्थाओं, 'एजेन्सियों' और 'सामाजिक प्रतिमानों' (Social Patterns) तथा साथ ही समूह में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा ग्रहण किये जाने वाले पदों तथा कार्यों की क्रमबद्धता (Arrangement) है।[3]

इस प्रकार पारसन्स सामाजिक संरचना को एक क्रमबद्धता (Arrangement) के रूप में देखते हैं। **पारसन्स** ने सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयों (संस्थाओं, एजेन्सियों, प्रतिमानों) की क्रमबद्धता के रूप में सामाजिक संरचना को समझने का प्रयास किया है। ये इकाइयाँ आपस में मिलकर क्रमबद्ध रूप से सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं, एक-दूसरे से पृथक् रहकर नहीं।

---

1. S. F. Nadel : Ibid, p. 2.
2. Karl Mannheim : Ideology and Utopia, p. 15-46.
3. Talcutt Parsons : Essays in Sociological Theory, p. 89-103.

मेकाइवर एवं पेज (Maciver and Page) ने 'सोसाइटी' में लिखा है कि "समूह-निर्माण के विभिन्न तरीके संयुक्त रूप में सामाजिक संरचना के जटिल प्रतिमान का निर्माण करते हैं.......सामाजिक संरचना के विश्लेषण में सामाजिक प्राणियों की विविध प्रकार की मनोवृत्तियों तथा रुचियों के कार्य प्रकट होते हैं।"[1]

इस प्रकार मेकाइवर एवं पेज ने समूहों के बनने के विभिन्न तरीकों के संयुक्त रूप को ही 'सामाजिक संगठन' (Social Organization) कहा है। अतः इनके मत में सामाजिक संरचना एक अमूर्त (Abstract) अवधारणा है। **मेकाइवर एवं पेज** ने एक अन्य स्थान पर लिखा है कि "यदि हम एक हवाई जहाज से नीचे की ओर एक शहर या गाँव या सामाजिक निवास के अन्य क्षेत्र को देखें तो हम मकान, राजपथ, पुल तथा मानव-वृत्तियों के अन्य निदर्शनों को देख सकेंगे। यहाँ तक कि हम स्वयं मनुष्यों को भी देख सकते हैं, परन्तु हम न तो सामाचिक संरचना को देख सकते हैं और न ही मनुष्यों को देख सकते हैं। हम समाज को देख नहीं सकते, उसके वाह्य पक्षों (External Aspects) को भले ही देख लें।"[2]

मेरिन लेवी (Marin Lavy) का कहना है कि "सामाजिक संरचना का अर्थ क्रिया को देखने-योग्य एक समानता है" इस प्रकार लेवी के अर्थ में 'सामाजिक संरचना' एवं 'सामाजिक व्यवस्था' का भेद केवल व्यक्तियों की संख्या का है। सामाजिक व्यवस्था में एकाधिक व्यक्ति होते हैं, जबकि सामाजिक संरचना में व्यक्तियों का आशय संख्या से न होकर व्यवहार की आवृत्ति समागता एवं नियमितता से होता है।

एच० पी० फेयरचाइल्ड (H.P. Fairchild) ने 'डिक्शनॅरि ऑफ सोश्योलॉजि' में लिखा है कि 'सामाजिक संरचना किसी सामाजिक समूह के आन्तरिक संगठन के स्थापित प्रतिमान हैं। इनमें सम्बन्धों के सम्पूर्ण योग का स्वरूप निहित होता है जो समूह के संदस्यों के मध्य एक दूसरे के साथ और स्वयं समूह के साथ पाये जाते हैं।"[3]

इस प्रकार फेयरचाइल्ड के अनुसार संरचना का आशय किसी भी समय के आन्तरिक संगठन के स्थापित प्रतिमान से है। फेयरचाइल्ड ने यह बताया कि किसी भी समूह की सामाजिक संरचना में उस समूह के सदस्यों के परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं एवं इन्हीं सम्बन्धों के आधार पर सामाजिक संरचना का निर्माण होता है।

---

1. Maciver & Page : Society, ; p. 212.
2. Maciver & Page : Ibid, p. 136.
3. H. P. Fairchild : Dictionary of Sociology ; p. 293.

हैरी एम. जॉनसन (Harry M. Johnson) ने भी सामाजिक संरचना को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "किसी वस्तु की संरचना उसके अंगों (Parts) के अपेक्षाकृत स्थायी अन्तःसम्बन्धों से निर्मित होती है। स्वयं अंग शब्द से ही कुछ स्थायित्व के अंश का ज्ञापन होता है, चूँकि सामाजिक व्यवस्था लोगों के अन्तः-सम्बन्धित कृत्यों (Acts) से बनती है, इस कारण उसकी सरचना को इन क्रियाओं में पायी जाने वाली नियमितता (Regularity) या पुनरावृत्ति (Recurrence) की मात्रा में ढूँढा जाना चाहिये।"[1]

हैरी जॉनसन की इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि जॉनसन भी सामाजिक संरचना को अखण्ड नहीं मानते और यह स्वीकार करते हैं कि इसका निर्माण एकाधिक इकाइयों (Parts) के संयोग से होता है और इन इकाइयों में आपस में परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है तथा यह सम्बन्ध स्थायी भी होता है। इस प्रकार सामाजिक संरचना का निर्माण भी लोगों द्वारा परस्पर सम्बन्धित क्रियाओं या कृत्यों (Acts) द्वारा होता है। ये क्रियायें या कृत्य बार-बार दोहराये जाते हैं और इनमें एक नियम-बद्धता भी पायी जाती है।

कोजर एवं रोजनबर्ग (Coser and Rosenberg) ने लिखा है कि "संरचना का तात्पर्य सामाजिक इकाइयों के तुलनात्मक स्थिर एव प्रतिमानित सम्बन्धों से है।"[2]

इस प्रकार इन लेखकों के अनुसार भी यह स्वीकार किया गया है कि सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक इकाइयों की तुलनात्मक रूप से स्थिरता के आधार पर होता है।

मजूमदार एवं मदान (Majumdar and Madan) ने इसकी परिभाषा प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "पुनरावृत्तीय सामाजिक सम्बन्धों के तुलनात्मक स्थायी पक्षों से सामाजिक संरचना का निर्माण होता है।"[3]

इन उपर्युक्त समाजशास्त्रियों के अलावा कुछ मानवशास्त्रियों (Anthropologists) ने भी सामाजिक संरचना को परिभाषित किया है।

फोर्ट्स (Fortes) के अनुसार "व्यक्तियों के मध्य पाये जाने वाले पारस्परिक सम्बन्ध ही सामाजिक संरचना के अंग हैं। आपके अनुसार इस अवधारणा का प्रयोग विशेषकर नातेदारी (Kinship) राजनैतिक व कानूनी संस्थाओं के विश्लेषण में किया जाता है।

---

1. Harry M. Johnson : Sociology : A Systematic Introduction, p. 48.
2. Coser & Rosenberg : Sociological Theory.
3. Majumdar & Madan : An introduction to Social Anthropology, p. 32.

इग्गन (Eggan) का कहना है कि 'अन्तःवैयक्तिक सम्बन्ध' सामाजिक संरचना के अंग हैं। व्यक्तियों द्वारा अधिकृत पद-स्थितियों के रूप में ये सामाजिक संरचना को निर्मित करते हैं।"[1]

रेमण्ड फर्थ (Raymond Firth) ने सोश्यल चेन्ज इन टिकोपिया नामक ग्रन्थ में 'सामाजिक संरचना' का प्रयोग किया है। यहाँ आपने सामाजिक संरचना का प्रयोग उन बुनियादी सामाजिक सम्बन्धों के रूप में किया है जो समाज के मूल स्वरूप को बनाये रखते हैं तथा सामाजिक संगठन की सीमाओं को निर्धारित करते हैं।[2]

ई.ई. ईवान्स प्रिटचार्ड (E.E. Evans Pritchard) ने 1949 में प्रकाशित 'दि नुएर' (The Nuear) नामक एक ग्रन्थ में सामाजिक संरचना का प्रयोग समूहों के मध्य पाये जाने वाले सम्बन्धों के लिये किया है।[3]

डी० फोर्ड एवं ए० आर० रेडक्लिफ ब्राउन (A.R. Radcliffe Brown) के अनुसार सामाजिक संरचना के अंग (Components) या भाग मनुष्य ही हैं, और स्वयं संरचना संस्था द्वारा परिभाषित और नियमित सम्बन्धों में लगे हुए व्यक्तियों की एक क्रमबद्धता है।[4]

'रेडक्लिफ ब्राउन' का नाम सामाजिक मानव शास्त्रियों में महत्त्वपूर्ण है। ब्राउन ने सामाजिक संरचना की अवधारणाओं को प्रस्तुत करने में तीन उद्देश्यों का सहारा लिया है—

(1) इस बात की आवश्यकता है कि संस्कृति का अन्तर सामाजिक सम्बन्धों से किया जाये। सामाजिक सम्बन्धों और संस्कृति का यह अन्तर ही अमरीकी सांस्कृतिक मानव शास्त्र और ब्रिटिश सामाजिक तत्त्व शास्त्र का केन्द्रीय अन्तर है।

(2) सामाजिक तत्त्व शास्त्र में इस अवधारणा को बनाने का उद्देश्य सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु को, उनके पीछे काम करने वाले संरचनात्मक सिद्धान्तों से पृथक् करना है।

(3) सामाजिक तत्त्व शास्त्र में संरचना की अवधारणा को सामाजिक प्रकार्यों से पृथक् करने की प्रकृति है। सामाजिक संरचना सामाजिक

---

1. Eggan : Social Organization of the Western Pueblas, p. 5.
2. Raymond Firth : Social Change in Tikopia.
3. E. E. Evans Pirtchard : The Nuear, p. 262.
4. D. Forde & A. R. Redciffe : African System of Kinship & Marriage, p. 82.

सम्बन्धों के पीछे काम करने वाले स्वरूप या सिद्धान्त हैं और सामाजिक सम्बन्धों का परिणाम सामाजिक प्रकार्य हैं।

ब्राउन का कहना है कि संस्कृति के लक्षण और 'मापक को आधार मानकर सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं। उदाहरण के लिए हम अपने अतिथि का अभिवादन करते हैं, गले मिलते हैं और सब तरह से उसे आदर देते हैं। अभिवादन, गले मिलना, आदर देना आदि संस्कृति के मूल्य या मापक हैं। इनके माध्यम से हम अतिथि के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। ये मापक और मूल्य हमारे सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु हैं। इन सामाजिक सम्बन्धों के पीछे कुछ संरचनात्मक सिद्धान्त होते हैं, जैसे अतिथि अपना देवता है, अतः स्वागत करना अपना कर्त्तव्य है। सामाजिक सम्बन्धों के पीछे काम करने वाले ये सिद्धान्त सामाजिक संरचना को बनाते हैं। इस प्रकार ब्राउन के अनुसार हमारे सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु के पीछे जो स्वरूप या संरचनात्मक सिद्धान्त है, वही सामाजिक संरचना है।

रेड्क्लिफ ब्राउन सामाजिक संरचना की अवधारणा को प्रस्तुत करते हुए लिखता है कि सामाजिक संरचना की अवधारणा सामाजिक व्यवस्था के **प्रकार्यात्मक** (Non-Functional) पहलू को स्पष्ट करती है। इस प्रकार यदि सामाजिक संरचना को सामाजिक व्यवस्था से अलग करना पड़े तो ब्राउन के अनुसार सामाजिक व्यवस्था का अपरिवर्तनशील या जड़ स्वरूप ही सामाजिक संरचना है। ब्राउन ने संरचना की इस अवधारणा को मूलतः 1930 के बाद विकसित किया है। ऐतिहासिक रूप से यह मानना पड़ेगा कि ब्राउन का **संरचनावाद** (Structuralism) मेलीनोवस्की की संस्कृति की अव्यवस्थित अवधारणा के प्रतिक्रिया-स्वरूप था जिसमें मेलीनोवस्की ने 'संस्कृति' व 'समाज' में कोई अन्तर नहीं किया। ब्राउन के निर्देशन में **वार्नर** (Warner) के द्वारा लिखा गया एक मोनोग्राफ **'ए ब्लैक 'सिविलाइजेशन'** संरचनात्मक प्रणाली का एक अच्छा उदाहरण है।

सामाजिक संरचना की अवधारणा में **'मरडोक'** (Murdock) का नाम भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। मरडोक ने अपनी एक पुस्तक का शीर्षक भी **"सोश्यल स्ट्रक्चर"** रखा। उन्होंने विभिन्न जनजातियों का वर्गीकरण उनके गुणों को मुख्य अवयव मानकर किया है। गुणों को एकत्रित करने के पश्चात् वे उनके बीच सह-सम्बन्ध को स्थापित करते हैं। मरडोक और उनके अनुयायियों ने अपने विश्लेषण में सांस्कृतिक लक्षणों पर संरचनात्मक पक्ष की अपेक्षा अधिक जोर दिया है। स्वयं मरडोक के अनुसार "मानवशास्त्रियों को संरचना की अवधारणा को छोड़कर संस्कृति की समस्याओं का अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि सामाजिक संरचना की अवधारणा जड़ है, इसमें गतिशीलता नहीं है।

लेवी स्ट्राउस (Levy Strauss) ने सामाजिक संरचना को एक मॉडल(Model) के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार संरचनात्मक मॉडल वह है जो निम्नांकित चार आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है :

(1) संरचना एक व्यवस्था के लक्षणों को बताती है। इसमें कई लक्षण होते हैं और किसी भी एक लक्षण में परिवर्तन तब तक नहीं हो सकता जब तक कि वह अन्य लक्षणों को प्रभावित नहीं करे।

(2) किसी भी एक मॉडल में इस बात की सम्भावना होनी चाहिए कि वह समूह में होने वाले परिवर्तनों का समावेश कर सके।

(3) उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर मॉडल की यह क्षमता होनी चाहिए कि व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों की वह पूर्वकथनीयता (Foretelling) कर सके।

(4) सामाजिक संरचना का मॉडल ऐसा होना चाहिए कि वह समाज में देखे जाने वाले तथ्यों का एकदम ज्ञान दे सके।

इस भाँति 'लेवी स्ट्राउस' ने सामाजिक संरचना को एक मॉडल के रूप में लिया है। इस मॉडल को वे भाषा की संरचना पर लगाते हैं। अपने इस मॉडल के आधार पर स्ट्राउस ने आस्ट्रेलिया की जन-जातियों का अध्ययन भी प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार इन उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि सामाजिक संरचना की अवधारणा के बारे में विभिन्न लेखकों के विचारों में पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं में और भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। लेकिन फिर भी लगभग सभी विद्वान् 'सामाजिक संरचना' की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं से सहमत हैं, अतः सामाजिक संरचना में निम्नलिखित बिन्दुओं का होना आवश्यक है—

1. **सामाजिक संरचना** अनेक **अंगों** (Parts) या **इकाइयों** (Units) से मिलकर बनती है।

2. सामाजिक संरचना में ये अंग व इकाइयाँ पारस्परिक रूप से अन्तः-सम्बन्धित (Inter-related) होते हैं। इस प्रकार इन अंगों के पारस्परिक सम्बन्ध अथवा क्रमबद्धता (Arrangement) को ही सामाजिक संरचना कहा जाता है।

3. सामाजिक संरचना एक प्रकार से शरीर-रचना की तरह है और इसका प्रयोग भी इसी अर्थ में किया गया है।

4. सामाजिक संरचना का प्रयोग व्यापक अर्थ में **सामाजिक संगठन, सामाजिक व्यवस्था या सामाजिक स्वरूप** के अर्थ में हुआ है, तथा सामाजिक समूह, संस्थायें, समितियाँ आदि इसकी इकाइयाँ (Units) हैं।

सामाजिक संरचना की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Structure)

सामाजिक संरचना पर ऊपर हमने विभिन्न समाजशास्त्रियों एवं मानव-शास्त्रियों की परिभाषायें एवं उनके विचारों को प्रस्तुत किया है। यदि इन परिभाषाओं का सूक्ष्म अध्ययन किया जाये तो हम सामाजिक संरचना की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को प्राप्त कर सकते हैं जो निम्नलिखित हैं :

1. सामाजिक संरचना का सम्बन्ध समाज के बाह्य स्वरूप से होता है—सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न भागों एवं इकाइयों से होता है। ये इकाइयाँ या अंग जब एक अन्तःसम्बन्धित व्यवस्था के रूप में क्रमबद्ध रूप से संयुक्त हो जाते हैं तो एक ढाँचे या प्रतिमान का निर्माण होता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पत्थर सीमेण्ट, लोहा आदि के द्वारा एक 'भवन' का निर्माण होता है। भवन के बाह्य स्वरूप की भाँति ही सामाजिक संरचना समाज के बाह्य स्वरूप का बोध कराती है।

2. एकाधिक अंग या इकाइयाँ सामाजिक संरचना में होती हैं—सामाजिक संरचना स्वयं में अखण्ड न होकर अनेक अंगों या इकाइयों की एक व्यवस्था है। संरचना की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसका गठन केवल किसी एक अंग या इकाई के आधार पर नहीं हो सकता, बल्कि एकाधिक अंगों या इकाइयों के संयुक्तीकरण से ही संरचना का निर्माण सम्भव है। सामाजिक संरचना के अंग या इकाइयाँ विभिन्न सामाजिक समूह, संस्थायें व समितियाँ आदि हैं।

3. व्यवस्थित क्रम-विन्यास विभिन्न इकाइयों में होता है—वस्तुतः सामाजिक संरचना एक व्यवस्थित क्रमबद्धता है जो विभिन्न अंगों या इकाइयों के मध्य पायी जाती है, अर्थात् हमें ध्यान रखना चाहिये कि केवल अंगों या इकाइयों के संकलन मात्र से ही किसी सामाजिक संरचना का निर्माण नहीं होता, जब तक कि इसके सभी अंग सुव्यवस्थित रूप से क्रमबद्ध न हों। जिस प्रकार ईंटों, सीमेण्ट, लोहे, पत्थरों के ढेर से या संकलन मात्र से मकान नहीं बन सकता है, उसी प्रकार इकाइयों की क्रमबद्धता के अभाव में सामाजिक संरचना नहीं बन सकती।

4. सामाजिक संरचना का निर्माण प्रतिमानित अन्तःसम्बन्धों से होता है—प्रत्येक सामाजिक संरचना अंगों (Parts) या इकाइयों (Units) के प्रतिमानित अन्तःसम्बन्धों (Patterened Inter-relations) से ही निर्मित होती है। वास्तव में विभिन्न अंगों या इकाइयों का केवल व्यवस्थित रूप में क्रमबद्ध होना ही आवश्यक नहीं हैं, बल्कि उनमें 'अन्तःसम्बन्ध' का होना भी आवश्यक है। उदाहरण के लिए घड़ी (Watch) का निर्माण करने वाली सभी इकाइयों के परस्पर अन्तः-सम्बन्धित होने पर ही घड़ी की संरचना बनती है।

5. सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत स्थिर व स्थायी होती है—सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत एक स्थिर (Stable) एवं स्थायी (Permanent) अवधारणा है। **हैरी जॉनसन** ने बताया है कि सामजिक संरचना का निर्माण जिन समूहों और उपसमूहों से होता है, वे अपेक्षाकृत रूप से कहीं अधिक स्थायी होते हैं। समूह, समितियाँ, परिवार, श्रमिक संघ आदि सभी अपेक्षाकृत स्थायी समूह हैं। **नडेल** के अनुसार सामाजिक संरचना इस अर्थ में भी स्थिर व स्थायी है कि इसमें हम किसी वस्तु के सम्पूर्ण अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं जो कि सामान्यतः स्थिर व स्थायी होते हैं।

6. सामाजिक संरचना अमूर्त होती है—सामाजिक संरचना की एक और विशेषता उसकी अमूर्तता (Abstraction) है। **मेकाइवर एवं पेज** तथा **टालकट पारसन्स** दोनों ने ही सामाजिक संरचना की इस विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इनका मानना है कि सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाइयाँ या भाग संस्थायें, ऐजेन्सियाँ एवं सामाजिक प्रतिमान हैं जो कि सभी अमूर्त हैं। इन इकाइयों का भौतिक वस्तुओं की तरह कोई मूर्त स्वरूप या आकार नहीं है। **राइट** (Wright) का भी कहना है कि सार-रूप से सामाजिक संरचना का तात्पर्य 'दशा' अथवा स्थिति से है और इसलिए आवश्यक रूप से यह अमूर्त है।

7. सामाजिक संरचनाओं से उपसंरचना होती है—सामाजिक संरचना एक अखण्ड व्यवस्था नहीं है, बल्कि इसका निर्माण अनेक उपसंरचनाओं (Sub-Structures) से मिलकर होता है। सामाजिक संरचनाओं की उपसंरचनाओं में परिवार, जाति, वर्ग, शिक्षण-संस्था, धार्मिक संस्था, आर्थिक संस्था आदि मुख्य हैं, जिनकी स्वयं की एक संरचना होती है। इस प्रकार ये अनेक उप-संरचनायें मिलकर एक सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं।

8. सामाजिक संरचना स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित होती है—प्रत्येक समाज की अपनी सामाजिक संरचना होती है, जो उस समाज विशेष की स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित होती है। प्रत्येक समाज की अपनी भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक विशेषतायें होती हैं, इसीलिए एक समाज की सामाजिक संरचना दूसरे समाज की सामाजिक संरचना से भिन्न होती है। **रेडक्लिफ ब्राउन** ने लिखा है कि "सामाजिक संरचना की अवधारणा में स्थानीय विशेषताओं का महत्व-पूर्ण स्थान होता है।"

9. सामाजिक संरचना में विघटन की सम्भावना होती है—सामाजिक संरचना में अनेक बार विघटन के तत्त्व भी पाये जाते हैं। **रोबर्ट मर्टन** और **इमाइल दुर्खीम** ने **नियमहीनता या विसंगति** (Anomie) का उल्लेख किया है और यह बताया है कि अनेक बार सामाजिक संरचना स्वयं समाज में विसंगति पैदा करती है। इस प्रकार सामाजिक संरचना में विघटन के तत्त्वों की सम्भावना रहती है।

10. **सामाजिक संरचना में सामाजिक प्रक्रियाओं का महत्त्व होता है**—सामाजिक संरचना के निर्माण में सहयोगी एवं असहयोगी दोनों प्रकार की सामाजिक प्रक्रियाओं जैसे—सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, सात्मीकरण, प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष आदि की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण होती है। इन्हीं सामाजिक प्रक्रियाओं के कारण सामाजिक संरचना का स्वरूप निर्धारित होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न भागों, घटकों (Components), इकाइयों आदि की क्रमबद्धता एवं अन्तःसम्बन्ध से उपसंरचनाओं का निर्माण होता है और इन्हीं उपसंरचनाओं के अन्तःसम्बन्ध से सामाजिक संरचनायें निर्मित होती हैं। अपेक्षाकृत स्थिर व स्थायी संरचनायें अमूर्त (Abstract) होती हैं। सामाजिक प्रक्रियायें और स्थान विशेष की स्थानीय विशेषतायें इनका स्वरूप निर्धारित करती हैं।

सामाजिक प्रणालियों के संरचनात्मक एवं अर्द्ध-संरचनात्मक पक्ष
(Structural & Quasi-Structural Aspects of Social System)

हैरी एम० जॉनसन ने अपनी कृति **'सोश्योलॉजि-ए सिस्टेमेटिक इन्ट्रोडक्शन'** में सामाजिक प्रणालियों के संरचनात्मक एवं अर्द्ध-संरचनात्मक पक्षों का उल्लेख किया है।[1] जॉनसन के अनुसार सामाजिक प्रणाली की संरचना में निम्नलिखित चार तत्त्व होते हैं—

1. कई प्रकार के उप-समूह जो सम्बन्धित सामान्यकों द्वारा अन्तःसम्बन्धित होते हैं।
2. कई प्रकार की भूमिकायें, विशाल प्रणाली में और उसके उप-समूहों में प्रत्येक भूमिका-प्रणाली साम्बन्धिक सामान्यकों द्वारा अन्य प्रणालियों से सम्बन्धित होती है।
3. उप-समूहों और भूमिकाओं को शासित करने वाले नियामक सामान्यक।
4. सांस्कृतिक मूल्य।

जॉनसन के अनुसार इन तत्त्वों में से कोई भी किसी प्रकार का उप-समूह, कोई भूमिका, कोई सामाजिक सामान्यक या कोई मूल्य आंशिक संरचना कहा जा सकता है।

सामाजिक प्रणालियों के पाँच अन्य पक्ष 'सामाजिक संरचना' से इतने घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं कि जॉनसन इन्हें 'अर्द्ध-संरचनात्मक पक्ष' (Quasi-Structural Aspects) कहता है, जो निम्नलिखित हैं—

1. प्रत्येक भिन्न प्रकार के उप-समूहों की संख्या तथा किसी एक प्रकार के उप-समूहों की संख्या और उसी से बहुत कुछ मिलते-जुलते उपसमूहों की संख्या का अनुपात।

---

1. Harry M. Johnson : op. cit. (Hindi Ed.), p. 63-79.

2. प्रत्येक प्रकार के उप-समूहों में सदस्यों का वितरण।
3. उप-समूहों में और पूरी प्रणाली में विभिन्न भूमिकाधारियों की संख्या।
4. सुविधाओं का वितरण।
5. पारितोषिकों का वितरण।

इस प्रकार जॉनसन ने सामाजिक व्यवस्था के संरचनात्मक और अर्द्ध-संरचनात्मक पक्षों की सूची को मिलाकर एक संयुक्त सूची बनायी है, जो निम्नलिखित है—

1. सभी प्रकार के उप-समूहों की संख्या व उनके आकार।
2. उप-समूहों का परस्पर व्यापीकरण।
3. प्रत्येक प्रकार की भूमिका के धारण करने वालों की संख्या।
4. विभिन्न उप-समूहों, प्रत्येक प्रकार के उप-समूहों के विशिष्ट उप-समह और प्रत्येक प्रकार की भूमिका के विशिष्ट धारकों में सुविधाओं और पारितोषकों का वितरण।
5. नियामक सामान्यक (साम्बन्धिक सामान्यकों के नियामक पक्षों से भिन्न)।
6. सांस्कृतिक मूल्य।

सामाजिक संरचना के प्रमुख प्रारूप
(Major Types of Social Structure)

टालकट पारसन्स (Talcutt Parsons) ने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक **'दि सोश्यल सिस्टम'** में सामाजिक संरचना के चार प्रमुख प्रारूपों (Principal Types) का उल्लेख किया है।[1] ये चार प्रकार के प्रमुख प्रारूप निम्नलिखित हैं—

1. सार्वभौमिक-अर्जित प्रतिमान
(Universalistic-Achievement Pattern)
2. सार्वभौमिक-प्रदत्त प्रतिमान
(Universalistic-Ascription Pattern)
3. विशिष्ट-अर्जित प्रतिमान
(Particularistic-Achievement Pattern)
4. विशिष्ट-प्रदत्त प्रतिमान
(Particularistic-Ascription Pattern)

टालकट पारसन्स के द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त वर्गीकरण चार प्रकार के सामाजिक मूल्यों (Social Values) पर आधारित है—

---

1. **Talcott Parsons :** The Social System, p. 182-200.

1. सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य (Universalistic Social Value)
2. विशिष्ट सामाजिक मूल्य (Particularistic Value)
3. अर्जित सामाजिक मूल्य (Achieved Social Value)
4. प्रदत्त सामाजिक मूल्य (Ascribed Social Value)

पारसन्स का मानना है कि प्रथम प्रकार के सार्वभौमिक सामाजिक मूल्य वे होते हैं जो कि समस्त समाजों में व्यापक रूप से पाये जाते हैं और सभी व्यक्तियों पर लागू होते हैं। इसके विपरीत विशिष्ट सामाजिक मूल्य किन्हीं विशेष सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं। इसी प्रकार अर्जित सामाजिक मूल्य वे होते हैं, जिन्हें एक व्यक्ति अपने प्रयत्नों द्वारा प्राप्त प्रस्थितियों से अर्जित करता है, जबकि परम्परा द्वारा निर्धारित पदों से सम्बन्धित मूल्य प्रदत्त सामाजिक मूल्य कहे जाते हैं। इन्हीं चार सामाजिक मूल्यों के आधार पर टालकट पारसन्स ने सामाजिक संरचना के चार प्रारूपों या प्रतिमानों को समझाया है, जो निम्नलिखित हैं—

1. सार्वभौमिक-अर्जित प्रतिमान (Universalistic—Achievement Pattern)—पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना के इस प्रथम प्रतिमान में सार्वभौमिक एवं अर्जित दोनों प्रकार के सामाजिक मूल्यों का समावेश होता है। सार्वभौमिक मूल्यों से समाज में नातेदारी, समुदाय, प्रजाति अथवा वर्ग आदि के सम्बन्ध प्रभावित होते हैं। इन मूल्यों के कारण व्यक्ति को कुछ निश्चित पदों की प्राप्ति होती है, लेकिन इनसे समाज की गतिशीलता (Mobility) में कमी आती है एवं रूढ़िवादिता (Conservatism) में वृद्धि होती है। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के अर्जित सामाजिक मूल्यों को व्यक्ति अपने परिश्रम से प्राप्त करता है, अतः अर्जित मूल्य व्यक्तिगत एवं सामूहिक अर्जन को महत्त्व प्रदान करते हैं। इससे प्रथा और परम्परा का विशेष प्रभाव नहीं रहता। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था अर्जित मूल्यों का एक उदाहरण है जिसमें 'धन' के अर्जन एवं संचय को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता है।

इस प्रकार इन दोनों प्रकार के सामाजिक मूल्यों के संयोग से 'सार्वभौमिक-प्रदत्त प्रतिमान' का निर्माण होता है। पारसन्स के अनुसार 'औद्योगिक समाजों की संरचना' (Structure of Industrial Societies) इस प्रकार के प्रतिमानों का कारण है। इस प्रकार के समाजों की संरचना में वर्ग-व्यवस्था पायी जाती है एवं यह सार्वभौमिक मूल्यों पर आधारित है, साथ ही इसमें अर्जित मूल्यों का भी महत्त्व होता है।

2. सार्वभौमिक-प्रदत्त प्रतिमान (Universalistic-Ascription Pattern)—पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना के इस दूसरे प्रारूप में सार्वभौमिक मूल्य तो वे ही होते हैं, जिनका उल्लेख हमने प्रथम प्रारूप में किया है, लेकिन इनमें अर्जित मूल्यों का स्थान 'प्रदत्त मल्य' ले लेते हैं। इनमें अतीत तथा भविष्य से

सम्बन्धित दोनों प्रकार के आदर्श-प्रतिमान संयुक्त रूप से सम्मिलित रहते हैं। आदर्शों के चुनाव में रूढ़ियों और परम्पराओं को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता, फलस्वरूप व्यक्तियों के समक्ष आदर्शों की अधिकता रहती है। साथ ही परिस्थितियों के अनुसार इनमें परिवर्तन भी होता रहता है। पारसन्स ने इस प्रकार के प्रतिमान का उदाहरण 'आधुनिक वैज्ञानिक समाजों' का दिया है, जिनमें दोनों प्रकार के मूल्यों का समावेश है।

3. **विशिष्ट--अर्जित प्रतिमान** — (Particularistic–Achievement Pattern)—इस प्रकार के प्रतिमान में सार्वभौमिक मूल्यों की अपेक्षा विशिष्ट सामाजिक मूल्यों की प्रमुखता रहती है। पारसन्स कहते हैं कि ये सामाजिक मूल्य विशेष सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं। पारसन्स के अनुसार ये सामाजिक मूल्य पारलौकिक (Transcendental) भी हो सकते हैं। इसके साथ अर्जित मूल्यों का समावेश कर सामाजिक संरचना के इस प्रतिमान को प्रस्तुत किया गया है। **पारसन्स** के अनुसार प्राचीन भारतीय व चीनी सामाजिक संरचना को इस श्रेणी के प्रतिमान में रखा जा सकता है। **मैक्स वेबर** (Max Weber) ने कन्फ्यूशियन चीनी सामाजिक संरचना का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह भी इसी श्रेणी के अन्तर्गत आता है।

4. **विशिष्ट-प्रदत्त प्रतिमान** (Particularistic-Ascription Pattern)—पारसन्स के अनुसार सामाजिक संरचना का यह अन्तिम प्रारूप (Type) विशिष्ट एवं प्रदत्त सामाजिक मूल्यों के संयोग से बना है। इस प्रकार की सामाजिक संरचना में रक्त-सम्बन्ध और स्थानीय समुदायों पर आधारित समूह पाये जाते हैं। नैतिकता (Morality) का महत्त्व इस प्रकार की संरचना की एक विशेषता है। यहाँ विशिष्ट वैयक्तिक गुणों को विशेष महत्त्व दिया जाता है। **पारसन्स** के अनुसार स्पेन की सामाजिक संरचना इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना का अभिप्राय उस स्वरूप से है जो कि समाज के विभिन्न अंगों के संयुक्त होने के उपरान्त एक निश्चित क्रमबद्धता के रूप में विकसित होता है। समाज के विभिन्न अंगों की प्रकृति एक-दूसरे से भिन्न होती है, अतः प्रकृति के अनुसार ही सामाजिक संरचना के अनेक रूप होते हैं।

संरचना एवं प्रकार्य : अन्तःसम्बन्धित अवधारणायें :

(Structure and Function : Interrelated Concepts)

ऊपर हमने 'सामाजिक संरचना' की अवधारणा का विश्लेषण किया है। समाजशास्त्रीय साहित्य में 'प्रकार्य' (Function) की अवधारणा संरचनात्मक विश्लेषण के संदर्भ में ही समझी जाती है। फलस्वरूप ये दोनों अवधारणायें एक-दूसरे से इतनी जुड़ी हुई हैं कि इनमें से किसी एक अवधारणा का पृथक् अध्ययन करना

असम्भव हैं। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्रकार्य का संरचना के बिना कोई अस्तित्व नहीं हो सकता एवं संरचना प्रकार्य के अभाव में अर्थहीन है। इन दोनों अवधारणाओं के प्रयोग से ही समाजशास्त्रीय साहित्य में संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम या सिद्धान्त (Structural Functional Appoach or Theory) का विकास हुआ है।

सामाजिक संरचना की व्याख्या हम एतद्पूर्व स्पष्ट कर आये हैं। अतः यहाँ प्रकार्य (Function) की अवधारणा को समझाया जाता है।

प्रकार्य क्या है :
(What is Function)

समाजशास्त्रीय साहित्य में 'प्रकार्य' शब्द का प्रयोग हरबर्ट स्पेन्सर ने अपनी कृतियों में किया। विभिन्न विद्वानों ने 'प्रकार्य' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया है। रोबर्ट के. मर्टन (Robert K. Merton) ने 'प्रकार्य' के पाँच अर्थ होने का संकेत किया।[1]

1. उत्सव या सभा के सन्दर्भ में
2. व्यवसाय के समग्र रूप में
3. वोलचाल की भाषा एवं राजनीतिशास्त्र में
4. प्रकार्य का गणित में प्रयोग, एवं
5. प्राणिशास्त्रीय विज्ञानों में प्रकार्य का प्रयोग

समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र में 'प्रकार्य' शब्द का अन्तिम प्रयोग अर्थात् प्राणिशास्त्रीय प्रयोग किया जाता है। अनेक समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों ने 'प्रकार्य' को परिभाषित किया है।

रॉबर्ट के. मर्टन (Robert K. Merton) ने लिखा है कि "प्रकार्य वे अवलोकनीय परिणाम हैं जो किसी व्यवस्था में अनुकूलन अथवा समायोजन में सहायक होते हैं।"[2]

हैरी एम. जॉनसन (Harry N. Johnson) ने लिखा है कि "यदि कोई भी आंशिक संरचना—कोई उपसमूह, भूमिका, सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योगदान दे तो यह कहा जा सकता है कि वह प्रकार्यमय है।"[3]

---

1. Robert K. Merton : Social Theory and Social Structure p. 74-75
2. Robert K. Merton : Ibid; p. 105
3. Harry M. Johnson : Op. cit.; p. 63

इमाइल दुर्खीम (Emile Durkheim) ने लिखा है कि हम 'प्रकार्य' शब्द का प्रयोग उद्देश्य (End) या प्रयोजन (Purpose) के सन्दर्भ में पसन्द करते हैं।"[1]

रेडक्लिफ ब्राउन (Radcliffe Brown) ने लिखा है कि "यहाँ परिभाषा के रूप में 'प्रकार्य' वह योगदान है जो एक आंशिक क्रिया सम्पूर्ण क्रिया को बनाती है, जिसका यह एक अंश है।"[2]

क्लाइड क्लूकहान (Clyde Kluckhohn) ने लिखा है कि "संस्कृति का निश्चित भाग उसी हद तक प्रकार्यात्मक है जब तक कि यह प्रत्युतर के प्रकार को परिभाषित करता है जो समाज की दृष्टि से अनुकूलित है और व्यक्ति की दृष्टि से समायोजनपूर्ण।"[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकार्य संरचना का गतिशील पहलू होता है। सामाजिक संरचना में विभिन्न अंग, घटक या इकाइयाँ होती हैं, जिनके कार्य निर्धारित या निश्चित होते हैं। ये अंग जो कार्य करते हैं, वे ही प्रकार्य हैं। प्रकार्य की कुछ महत्वपूर्ण विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

1. प्रकार्य समाज की संरचना के गतिशील (Dynamic) पहलू है तथा संरचना से पृथक् न होकर उसका पोषण करते हैं।

2. प्रकार्य अवलोकनीय वस्तुनिष्ठ परिणाम होते हैं।

3. प्रकार्य किसी समाज के अनुकूलन एवं समायोजन में सहायक होते हैं।

4. प्रकार्य का निर्धारण सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्य करते हैं।

संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम या सिद्धान्त :
(Structural Functional Approach or Theory)

सामाजिक संरचना एवं 'प्रकार्य' की अवधारणाओं के स्पष्टीकरण के उपरान्त अब आपको समाजशास्त्र के एक अत्यन्त लोकप्रिय सिद्धान्त या उपागम की जानकारी दी जाती है, जिसको 'संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम' कहा जाता है और जिसमें सामाजिक संरचना एवं प्रकार्य दोनों ही अवधारणाओं का प्रयोग किया जाता है। संरचनात्मक प्रकार्यात्मक उपागम की मुख्यत: तीन विशेषतायें हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम यह बताता है कि किसी एक भाग में होने वाले परिवर्तनों का अन्य भागों पर प्रभाव पड़ता है।

---

1. **Emile Durkheim :** The Rules of Sociological Method; p. 95
2. **Radcliffe Brown :** Structure and Function in Primitive Society; p. 180
3. *Clyde Kluckhohn : Navaho witchcraft; Vol. 2, p. 470*

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम में यह समझने का प्रयास किया जाता है कि किसी संरचना (Structure) की विभिन्न इकाइयाँ (Units) किस प्रकार सम्बन्धित हैं एवं किस प्रकार वे एक ऐसी समन्वयकारी व्यवस्था का निर्माण करती हैं, जिससे समाज जटिल रूप से बना रहता है, एवं

3. इस उपागम के अन्तर्गत किसी भी प्रघटना के समाज पर होने वाले प्रभावों का विश्लेषण किया जाता है। यह प्रभाव संगठनात्मक (Integrative) एवं विघटनात्मक (Disintegrative) दोनों हो सकता है।[1]

इस संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपागम के अन्तर्गत हम वर्तमान (Present) का अध्ययन करते हैं, क्योंकि किसी भी प्रघटना के प्रभावों का आनुभाविक प्रमाण तभी सम्भव है, जबकि घटना या वस्तु विद्यमान हो। इस उपागम का अनेक समाजशास्त्रियों जैसे मर्टन, पारसन्स, डेविस आदि एवं अनेक मानवशास्त्रियों जैसे मैलिनोस्की, रेडक्लिफ ब्राउन आदि ने प्रयोग किया है। किंग्सले डेविस ने तो इस उपागम को ही 'समाजशास्त्रीय उपागम' (Sociological Approach) माना है।

संस्कृति
(Culture)

मनुष्य एवं अन्य जीवधारियों में क्या अन्तर है ? इस प्रश्न का उत्तर मूलतः यह कहकर दिया जाता है कि मनुष्य का समाज अन्य जीवधारियों के समाज से अपनी संस्कृति के कारण भिन्न है। मनुष्य इसलिए मनुष्य है, क्योंकि उसके पास 'संस्कृति' (Culture) है। किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) लिखते हैं कि "यदि कोई एक ही कारक मनुष्य के अनूठेपन की व्याख्या कर सकता है तो वह कारक यह है कि मनुष्य एवं केवल मनुष्य में ही संस्कृति पायी जाती है।"[2] हमारा जीवन, हमारा रहन-सहन, हमारा खान-पान, हमारी भाषा-वेशभूषा, हमारे विचार, आदर्श, परम्परायें, प्रथायें सब हमारी संस्कृति के ही फल हैं। जैसी संस्कृति होती है, वैसे ही हम होते हैं। इतना ही नहीं, रॉबर्ट बीयरस्टेड (Robert Bierstedt) ने तो यहाँ तक लिखा है कि "यह संस्कृति ही है जो एक व्यक्ति को अन्य समस्त व्यक्तियों से एक समूह को अन्य समस्त समूहों से एवं एक समाज को अन्य समाजों से पृथक् करती है।"[3] ऑडम (Odum) का यह कथन अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि

---

1. सिंघी एवं गोस्वामी : समाजशास्त्र विवेचन, पृष्ठ, 15
2. Kingsley Davis : Human Society; p. 1
3. Robert Bierstedt : The Social Order; p. 137

"संस्कृति समूह के व्यवहार हैं, और साथ ही व्यक्ति के व्यवहार भी। संस्कृति अतीत की वस्तु है, और वर्तमान की भी। यह व्यक्ति की वस्तु है, परन्तु इससे अधिक संस्थाओं की, जो समाज की पूरी संस्कृति को अवलोकित करती हैं।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-समाज की सबसे बडी विशेपता उसकी 'संस्कृति' है। संस्कृति ही एक ऐसा तत्त्व है जो उसे पशु-समाज से पृथक् करता है। अत्यन्त मेधावी मस्तिष्क, सीधे खड़े होने की क्षमता हाथों को स्वतन्त्रता-पूर्वक घुमा सकने की शक्ति, तीक्ष्ण एवं केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि आदि कुछ ऐसी शारीरिक एवं मानसिक विशेषतायें 'मनुष्य' के पास हैं, जो पशुओं एवं अन्य जीव-धारियों के पास नहीं हैं। अतः मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो इन शारीरिक एवं मानसिक विशेषताओं के कारण संस्कृति का निर्माण कर पाया। इसी कारण मनुष्य को संस्कृति का निर्माता कहा जाता है।

संस्कृति का अर्थ एवं परिभाषायें :
(Meaning and Definitions of Culture)

अर्वाचीन सामाजिक विचारों में संस्कृति की अवधारणा एक अत्यन्त प्रभाव-पूर्ण अवधारणा है। सांस्कृतिक मानव-वैज्ञानिक एवं समाजशास्त्री सामान्यतः इस बात से सहमत हैं कि 'मनुष्य संस्कृति को समाज के एक सदस्य के नाते अर्जित करता है। समाजशास्त्र में संस्कृति का प्रयोग उसी अर्थ में होता है जिसमें मानवशास्त्री (Anthropologists) इस शब्द का प्रयोग करते हैं।

यह माना जाता है कि 'संस्कृति' शब्द की व्युत्पत्ति 'संस्कृत' से हुई है। 'संस्कृति एवं संस्कृत' दोनों ही 'संस्कार' से बने हैं। संस्कार का अर्थ है कुछ 'कृत्यों (Rituals) की पूर्त्ति करना'। एक व्यक्ति अपने सामान्य जीवन में अनेक संस्कारों को सम्पन्न करता है। इस दृष्टिकोण से संस्कृति का आशय है विभिन्न संस्कारों के द्वारा सामूहिक जीवन के उद्देश्यों की पूर्त्ति। संस्कारों को सम्पन्न करने के उपरान्त ही एक मानव सामाजिक प्राणी बनता है।

'संस्कृति' का प्रयोग अनेक विद्वानों ने अनेक अर्थों में किया है। ए. एल. क्रोबर (A. L. Krober) एवं क्लुक्खौन (Kluckhohn) ने संस्कृति की परिभाषाओं का संकलन करके बताया कि इस शब्द की एक सौ आठ परिभाषाएँ हैं।[2]

दार्शनिकों एवं समाजशास्त्रियों ने जिनमें केसिरर, सोरोकिन व मेकाइवर के नाम मुख्य हैं, मानव की नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक उपलब्धियों के लिए

---

1. H. W. Odom : Understanding of Society; p. 121–122
2. A. L. Krober & Kluckhohn : Culture; A Critical Review of Concepts and Definitions; p. 13

संस्कृति शब्द का प्रयोग किया है। साहित्यकारों ने सामाजिक आकर्षण एवं बौद्धिक श्रेष्ठता को प्रकट करने के लिए संस्कृति शब्द का प्रयोग किया है। प्रसिद्ध आलोचक एवं कवि मैथ्यू आरनोल्ड जीवन के प्रकाश एवं कोमलता को संस्कृति कहते हैं। अनेक समाजवेत्ताओं ने 'बौद्धिक नेताओं' के लिए 'सांस्कृतिक अभिजात' (Cultural Elite) शब्द का प्रयोग किया है।

सामान्यत: संस्कृति का अर्थ आदतों, अभिवृत्तियों और मूल्यों के न्यूनाधिक संगठित और दृढ़ ताने-बाने से लगाया जाता है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित (Transmit) होते हैं। इस प्रकार संस्कृति में किसी समाज या समाज के किसी भाग के लोगों के पारस्परिक व्यवहार, उनके विश्वास और भौतिक वस्तुएँ आती हैं।

अनेक मानवशास्त्रियों (Anthropologists) एवं समाजशास्त्रियों (Sociologists) ने संस्कृति को परिभाषित किया है।

'राल्फ लिण्टन' (Ralph Linton) ने अपनी कृति 'द कल्चरल बेकग्राउण्ड ऑफ पर्सनेलिटि' में संस्कृति की बड़ी लोकप्रिय परिभाषा प्रस्तुत की है। आपके अनुसार "संस्कृति सीखे हुए व्यवहारों की एवं व्यवहार की वह व्यवस्था है जिसके निर्माण-कारी तत्त्व किसी विशिष्ट समाज के सदस्यों द्वारा संचारित (Transmit) या समग्रहीत (Shared) होते हैं।"[1]

राल्फ लिण्टन ने सीखे हुए व्यवहारों एवं व्यवहार परिणामों पर विशेष ध्यान दिया है। मनुष्य के कुछ व्यवहार प्राकृतिक होते हैं जैसे साँस लेना, पलक झपकना आदि। गीत गाना, पढ़ना, बात करना, कपड़े पहनना, बाल बनाना उसके सीखे हुए व्यवहार हैं। इसी प्रकार व्यवहार का परिणाम भौतिक या अभौतिक दोनों हो सकता है। अभौतिक वस्तुएँ (कला, विश्वास, ज्ञान, आदि) एवं भौतिक वस्तुएँ (टी. वी. कम्पयूटर, टेबल, पंखा, रेड़ियो आदि) दोनों ही संस्कृति के व्यवहार-परिणाम हैं। संचारित एवं समग्रहीत का आशय यहाँ यह है कि ये व्यवहार अन्य व्यक्तियों द्वारा भी ग्रहण किये जाते हैं और दूसरे व्यक्ति भी इन व्यवहारों में भाग लेते हैं।

संस्कृति की सबसे प्रसिद्ध परिभाषा जैसा कि 'हैरी जॉनसन' ने लिखा है, शायद 'टायलर' (Tylor) की है।[2]

'एडवर्ड टायलर' (E. B. Tylor) ने अपनी कृति 'प्रिमिटिव कल्चर' में संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है कि "संस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमें

---

1. Ralph Linton : The Cultural Background of Personality; p. 5.
2. Harry M. Johnson : Sociology; A Systematic Introduction. p. 103.

ज्ञान, विश्वास, कला, आचार (Morals), कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य क्षमताओं एवं आदतों का समावेश होता है, जिनको मनुष्य समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।"[1]

एडवर्ड टायलर की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट होता है कि आपने 'संस्कृति' एवं 'सभ्यता' (Civilization) को पर्यायवाची रूप में ग्रहण किया है। टायलर के अनुसार संस्कृति एक प्रकार से समाजिक विरासत (Social Heritage) है, समाज द्वारा मानव को दिया गया उपहार है जिसे मनुष्य जन्म लेने के बाद प्राप्त करता है। संस्कृति परमात्मा की देन नहीं है। इसे मनुष्य ने ही वनाया है और इसका मनुष्य ही संशोधन एवं संवर्द्धन करता है।

रूथ बेनडिक्ट (Ruth Bendict) ने **1934** में **'पेटर्नस ऑफ कल्चर'** (Patterns of Culture) के नाम से काफी लोकप्रिय पुस्तक लिखी। बेनडिक्ट ने अपनी इस कृति में संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "मनुष्य की भाँति संस्कृति भी अपने विचारों और कार्यों में एक प्रकार की व्यवस्था रखती है। प्रत्येक संस्कृति के भीतर कुछ विशिष्ट उद्देश्य रहते हैं, जो अन्य समाजों से भिन्न होते हैं। इन उद्देश्यों के वशीभूत हो प्रत्येक जाति अपने अनुभवों को क्रमशः संगठित करती है, और उन्हीं के अनुसार विजातीय व्यवहारों को व्यवस्था का रूप देती है।"[2]

राल्फ पिडिंगटन (Ralph Piddington) ने भी संस्कृति को परिभापित किया है। पिडिंगटन लिखते हैं कि "संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों और उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी प्राणिशास्त्रीय एवं सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।"[3]

संस्कृति के अध्ययन की परम्परा में हर्सकोविट्ज (Herskovits) का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। आपने अपनी कृति **'मेन एण्ड हिज वर्क्स'** (Man and his works) में लिखा है कि "संस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित भाग (Man Made Part of Environment) है।[4]

मैलिनोस्कि (Malinowski) एवं **रेडक्लिफ ब्राउन** (Redcliffe Brown) के नाम भी संस्कृति के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों मानवशास्त्रियों ने

---

1. **Edward B. Talor** : Primitive Cuture Vol. 5. p. 1.
2. **Ruth Bendict** : Patterns of Culture; p. 46.
3. **Ralph Piddington** : An Introduction to Social Anthropology; pp. 3-4.
4. **M. J. Herskovits** : Man and His Works; p. 17.

संस्कृति के प्रकार्यात्मक पक्ष (Functional Aspect) पर जोर दिया है। ये संस्कृति को मानवीय आवश्यकताओं की पूर्त्ति का साधन मानते हैं।

मेलिनोस्कि ने संस्कृति को मुख्यतया विचारों का एक समूह माना है। आपके अनुसार "संस्कृति प्राप्त आवश्यकताओं की एक व्यवस्था तथा उद्देश्यमूलक क्रियाओं की एक संगठित व्यवस्था है।"

हॉबेल (Hoebel) ने भी लिखा है कि "संस्कृति सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है, जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषता है और जो कि जीवशास्त्रीय विरासत (Biological Inheritance) का परिणाम नहीं है।"

उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृति एक प्रकार का सीखा हुआ व्यवहार (Learned Behaviour) है। सीखा हुआ व्यवहार होने के कारण ही यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित की जाती है।

इस प्रकार आपके अनुसार संस्कृति जीवन व्यतीत करने की एक सम्पूर्ण विधि है जो कि व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

डेविड बिडने (David Bidney) ने अपनी प्रसिद्ध कृति '**थ्योरेटीकल एन्थ्रोपोलॉजि** में संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है कि' "संस्कृति में समाज के भीतर व्यक्तियों के प्राप्त या बनाये गये व्यवहार और विचार और साथ में बौद्धिक कलात्मक और सामाजिक आदर्श और संस्थाएँ आते हैं जो कि समाज के सदस्य स्वीकार करते हैं, और जिनके अनुसार वे कार्य करने की चेष्टा करते हैं।"[1]

सस्कृति के अध्ययन की आधुनिक परम्परा में **ए. एल. क्रोबर** (A. L. Krober) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। क्रोवर की **1917** में प्रकाशित 'पराजैविक' (The Super Organic) अवधारणा बहुत प्रसिद्ध है। क्रोबर ने इस बात की आलोचना की कि मानव-व्यवहारों का विश्लेषण जैविकीय कारकों से करना अनुचित है। वे वस्तुतः **जीवोपयोगितावाद** (Biologism) के विरोधी थे। क्रोवर का कहना है 'पराजैविकता' वह है जो जीव या शरीर रचना का अतिक्रमण करती है और उससे आगे वढ़ जाती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्कृति की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत नहीं की जा सकती। '**संस्कृति**' शब्द इतना जटिल एवं व्यापक है कि उसे एक परिभाषा में प्रस्तुत करना आसान नहीं है। वस्तुतः एक समाज विशेष के सम्पूर्ण व्यवहार प्रतिमानों अथवा समग्र जीवन-विधि (Total way of Life) को ही संस्कृति के नाम से पुकारा जा सकता है। इस प्रकार संस्कृति के अन्तर्गत विचारों और व्यवहारों के सभी प्रकार आ जाते हैं जो अन्तःक्रियाओं के द्वारा व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं। अत्यन्त सरल शब्दों में

---

2. David Bidney : Theoretical Anthropology; 1983. p. 104.

"संस्कृति को सीखा हुआ व्यवहार' (Learned Behaviour) भी कहा जा सकता है।"

लिन्टन ने अपनी प्रसिद्ध कृति **'दि स्टेडी ऑफ मैन'** (The Study of Man) में लिखा है कि "यदि हम किसी संस्कृति के विभिन्न पहलुओं का उस संस्कृति के समूहों की आवश्यकताओं की दृष्टि से विश्लेषण करें तो संस्कृति के ये पक्ष या पहलू तीन विन्दुओं में प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो निम्मलिखित हैं—

1. **सांस्कृतिक सार्विक** (Cultural Universals)
2. **सांस्कृतिक विकल्प** (Cultural Alternatives) एवं
3. **सांस्कृतिक विशेषतायें** (Cultural Specialities)

सांस्कृतिक सार्विक संस्कृति के वे मापक हैं जो समाज के लिए अनिवार्य हैं, अर्थात् समाज के सदस्यों के लिए इनका पालन अनिवार्य है। जैसे समाज में निकट रक्त-सम्बन्धियों में विवाह-सम्बन्ध निषिद्ध (Taboo) है।

सांस्कृतिक विकल्प संस्कृति के वे मापक हैं जिनमें सदस्यों को कुछ विकल्प उपलब्ध होते हैं, जैसे पुरुष के वस्त्र सांस्कृतिक मापक हैं तो व्यक्तियों को यह सुविधा है कि वे पेन्ट-शर्ट पहनें या कुर्त्ता-पाजामा पहनें।

सांस्कृतिक विशेषतायें उन्हें कहा जाता हैं जो किसी वर्ग विशेष पर ही लागू होती हैं, जैसे जनेऊ धारण करना द्विज के लिए है, शूद्र के लिए नहीं। भारत में 'साड़ी' स्त्रियों की पोशाक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति की उपर्युक्त पारिभाषिक एवं अवधारणात्मक विवेचना के आधार पर संस्कृति के अर्थ को कुछ विन्दुओं में रखा जा सकता है—

1. संस्कृति एक मानव-निर्मित सीखा हुआ व्यवहार है।
2. संस्कृति अमूर्त (Abstract) होती है।
3. संस्कृत्ति की प्रकृति 'पराजैविक' है।
4. संस्कृति अलग-अलग तत्त्वों में बँटी होकर भी अपने आप में सम्पूर्ण है।
5. संस्कृति में सांस्कृतिक सार्विक, सांस्कृतिक विकल्प एवं सांस्कृतिक विशेषतायें होती हैं।

संस्कृति की विशेषतायें
(Characteristics of Culture)

संस्कृति की अवधारणात्मक विवेचना के बाद यह उचित होगा कि हम संस्कृति की कुछ विशेषताओं या लक्षणों का उल्लेख करें। इसे संस्कृति की प्रकृति (Nature) भी कहा जाता है। संस्कृति की निम्नलिखित विशेपतायें होती हैं—

1. संस्कृति मानव द्वारा निर्मित है (Culture is Man-Made)—संस्कृति की सर्वप्रथम विशेषता यह होती है कि यह मनुष्यों द्वारा निर्मित होती है। संस्कृति

केवल मनुष्य समाज में ही पायी जाती है। हम यह पहले ही स्पष्ट कर आये हैं कि मनुष्यों में कुछ ऐसी शारीरिक एवं मानसिक विशेषतायें (जैसे तीक्ष्ण व मेधावी मस्तिष्क, सीधे खड़े होने की क्षमता, हाथों को घुमा सकने की क्षमता, तीक्ष्ण व व सूक्ष्म अवलोकन की क्षमता आदि) होती हैं जिनके कारण मनुष्य संस्कृति को निर्मित एवं विकसित कर सका है। मनुष्य के साथ संस्कृति का सम्बन्ध दोहरा है, जहाँ एक ओर मनुष्य स्वयं संस्कृति का निर्माण करता है, वहाँ दूसरी ओर वह स्वयं संस्कृति की उपज भी है। संस्कृति के कारण ही वह मनुष्य है।

2. संस्कृति सीखा जाने वाला व्यवहार है (Culture is Learned Behaviour)—संस्कृति की परिभाषा ही यह है कि यह एक 'सीखा हुआ व्यवहार' (Learned Behaviour) है। जब मनुष्य संसार में आता है तो वह पशु मात्र होता है। समाज में आकर ही वह खान-पान, रहन-सहन, भाषा-वेशभूषा बोलचाल आदि के तरीके सीखता है और ये तरीके ही उसकी संस्कृति हैं।

इसे एक दूसरे ढंग से भी समझा जा सकता है। मनुष्य के व्यवहारों को दो भागों में बाँटा जा सकता है, **प्रथम, प्राकृतिक या स्वाभाविक व्यवहार,** एवं **द्वितीय सीखे हुए व्यवहार**। साँस लेना, पलक झपकना आदि प्राकृतिक व्यवहार हैं। खाना खाना, बात करना, आदि उसके सीखे हुए व्यवहार हैं। इस प्रकार ये समस्त सीखे हुए व्यवहार जिन्हें वह समाज के दूसरे सदस्यों से सीखता है, संस्कृति है। यदि व्यक्ति इन व्यवहारों को न सीखे तो वह पशु समान ही होगा।

3. संस्कृति संरचित होती है (Culture is Structured)—संस्कृति में हमें कई परतें मिलती हैं। इन तहों में सबसे छोटी परत संस्कृति **'तत्त्व'** (Trait) है। कई तत्त्व मिलकर एक **संकुल** (Complex) बनाते हैं और अगणित संकुलों से मिलकर एक **प्रतिमान** (Pattern) बनता है। संक्षेप में संस्कृति की यही संरचना है। इस प्रकार संस्कृति के विभिन्न अंग हैं, विभिन्न पहलू हैं और ये सब अपनी-अपनी स्थिति में शरीर के विभिन्न अंगों की तरह अपना प्रकार्य करते रहते हैं। संस्कृति की प्रकृति की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसके विभिन्न पहलू पृथक् होते हुए भी अपने प्रकार्यों को लेकर सम्बद्ध हैं और इसलिए संस्कृति की संरचना का प्रकार्यात्मक पक्ष भी है।

4. संस्कृति सदैव समूह द्वारा वहन की जाती है और समूह में ही व्यक्त होती है (Culture is always Carried and Made Manifest by Group)—कोई भी एक व्यक्ति समूह की सम्पूर्ण संस्कृति को नहीं बनाता और न ही वह समूह के सम्पूर्ण सांस्कृतिक लक्षणों को जानता है। समाज के सभी सदस्यों के सीखे हुए व्यवहारों के लक्षणों की एकीकृत व्यवस्था ही संस्कृति है। किसी भी संस्कृति को वहन करने और अभिव्यक्त करने का एकमात्र साधन समूह ही है। बिना समूह के

संस्कृति जीवित नहीं रह सकती और बिना संस्कृति के एक व्यक्ति समूह का सदस्य नहीं बन सकता। प्रत्येक स्थिति में संस्कृति का केन्द्र समूह है।

5. संस्कृति हस्तान्तरित होती है (Culture is Transmitted)—नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी के द्वारा संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करती है। इसी प्रकार एक समूह से दूसरे समूह को, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संस्कृति हस्तान्तरित की जाती है। इस प्रकार संस्कृति एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को काम करने, अनुभव करने और चिन्तन करने के ढंगों का विरासत के रूप में मिलने का नाम है। एक पीढ़ी अपने द्वारा अर्जित ज्ञान, तौर-तरीकों, परम्पराओं-प्रथाओं आदि को भाषा, लेखन व संकेतों के माध्यम से ही दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करती है। नयी पीढ़ी को अपने पूर्वजों से जो ज्ञान का भण्डार-प्राप्त होता है, उसमें वे स्वयं का अनुभव भी जोड़ते हैं और इस प्रकार मानव-ज्ञान एवं संस्कृति कोष समृद्ध होता जाता है।

6. संस्कृति गतिशील है (Culture is Dynamic)—कोई भी संस्कृति जड़ नहीं होती, बल्कि उसमें एक प्रकार की गतिशीलता होती है। गतिशीलता उसका एक अनिवार्य लक्षण है। ऊपर से यह लगता है कि संस्कृति के मापक-नियम, उपनियम बहुत संगठित हैं, लेकिन इन मापकों को लम्बी अवधि में देखा जाये तो लगेगा कि इनमें परिवर्तन आया है। भारत में गुप्तकाल के समय जो संस्कृति थी वह आज नहीं है। लोगों के खान-पान, रहन-सहन और व्यवहार-प्रतिमानों में बहुत अधिक अन्तर आ गया है। यही अन्तर संस्कृति की गत्यात्मकता या गतिशीलता कहलाता है।

7. प्रत्येक समूह एवं समाज की अपनी एक पृथक् संस्कृति होती है (Each Group and Society has its own Distinct Culture)—प्रत्येक समूह और समाज की भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ दूसरे समूह और समाज से भिन्न या पृथक् हो सकती हैं। संस्कृति की प्रकृति में गतिशीलता है और इसीलिए प्रत्येक समूह अपने पर्यावरण और इतिहास के सन्दर्भ में अपनी संस्कृति का विकास करता है। समूह की आवश्यकतायें पर्यावरण के अनुसार बदलती हैं और इसके परिणाम-स्वरूप संस्कृति का प्रकार भी बदलता है। लेकिन हमें ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक समूह अथवा समाज की विशिष्ट संस्कृति होने के बाद भी विभिन्न संस्कृतियों में कुछ 'सांस्कृतिक सार्विक' भी होते हैं। बील्स एवं हाइजर, मरडॉक आदि विद्वानों ने ऐसे सार्विकों की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। धर्म, परिवार, विवाह, नातेदारी आदि सभी समाजों में देखने को मिलते हैं चाहे इनके बाहरी आवरण में विभिन्नता पायी जाती हो।

8. संस्कृति मानवीय आवश्यकताओं की पूर्त्ति करती है (Culture Satisfies Human Needs)—संस्कृति की एक और विशेषता यह है कि यह मानवीय आवश्यकताओं की पूर्त्ति करती है। मनुष्यों की अनेक शारीरिक, मानसिक

एवं सामाजिक आवश्यकतायें होती हैं। मूलतः संस्कृति का निर्माण ही मनुष्यों ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया है। प्रकार्यवादी संस्कृति के प्रकार्यों (Functions) पर अधिक जोर देते हैं। रेडक्लिफ ब्राउन एवं मेलिनोस्कि जैसे प्रकार्यवादियों की मान्यता है कि संस्कृति का कोई भी तत्त्व बेकार नहीं होता, वरन् वह मनुष्य की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति अवश्य करता है। मेलिनोस्कि के अनुसार संस्कृति मनुष्य की सात मूलभूत शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताओं (शरीर पोषण, उत्पादन, आराम, सुरक्षा, गति वृद्धि एवं स्वास्थ्य) की पूर्ति करती है।

9. संस्कृति समूह के लिए आदर्श होती है (Culture is Ideal for Group)—समूह के सदस्य अपनी संस्कृति की उपज होते हैं। एक समूह के सदस्य अपनी संस्कृति को जन्म से ही सीखते हैं। ऐसी अवस्था में उनके सामाजिक व्यवहारों का आदर्श उनकी संस्कृति होती है। समूह के लोग अपनी संस्कृति को आदर्श मानते हैं। जब दो संस्कृतियों की तुलना की जाती है तो प्रत्येक व्यक्ति दूसरी संस्कृति की तुलना में अपनी संस्कृति को आदर्श बताने का प्रयास करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे अपनी संस्कृति में परिवर्तन नहीं लायेंगे। किसी भी संस्कृति में एक लम्बी अवधि में जाकर कुछ अनावश्यक तत्त्व विकसित हो जाते हैं। इन तत्वों को हटाने का प्रयास किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में संस्कृति आदर्श बनी रहती है।

10. संस्कृति पराजैविक एवं परावैयक्तिक होती है (Culture is Super Organic and Super Individual)– संस्कृति की इस विशेषता का उल्लेख क्रोबर (Krober) ने किया है। संस्कृति में अजैविक तत्त्व होते हैं जिनका अस्तित्व जैविक तत्त्वों से स्वतन्त्र होता है, इसलिए इसे **पराजैविक** (Super-Organic) कहते हैं। मनुष्य की वे समस्त कृतियाँ जो अजैविक हैं, पराजैविक कहलाती हैं। परावैयक्तिक (Super-Individual) का अर्थ है कि संस्कृति का निर्माण किसी व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं किया जाता, और वह संस्कृति के एक भाग का ही उपयोग कर पाता है सम्पूर्ण का नहीं।

11. संस्कृति मानवीय व्यक्तित्व के निर्माण में मौलिक है (Culture is Fundamental in forming Human Personality)—एक मनुष्य का पालन-पोषण किसी संस्कृति-पर्यावरण में ही होता है। जन्म के बाद बच्चा अपनी संस्कृति को सीखकर आत्मसात् करता है। एक संस्कृति में पले हुए व्यक्ति का 'व्यक्तित्व' (Personality) दूसरी संस्कृति में पले हुए व्यक्ति के व्यक्तित्व से भिन्न होता है। इसका मूल कारण यह है कि संस्कृति में प्रचलित खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, परम्परायें, प्रथायें, भाषा, वेशभूषा, धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान एवं व्यवहारों की छाप व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ती है। यही कारण है कि 'भारतीय' संस्कृति में

पले हुए व्यक्तियों का व्यक्तित्व अंग्रेजी या अमेरिकन संस्कृति में पले हुए व्यक्तियों के व्यक्तित्व से भिन्न होता है।

12. संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती है (Culture has Adaptability)—संस्कृति में समय, स्थान, समाज एवं परिस्थितियों के अनुरूप अपने-आपको ढालने की क्षमता होती है। व्यक्ति अपना अनुकूलन एवं व्यवस्थापन संस्कृति की सहायता से करता है। भोजन, वस्त्र, आवास आदि आवश्यकतायें संस्कृति के माध्यम से पूरी की जाती हैं। विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार संस्कृति अपने आपको बदलती रहती है। पहाड़ों, मैदानों, बर्फीले प्रदेशों में निवास करने वाले लोगों की संस्कृतियों में पर्याप्त अन्तर पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि संस्कृति अपने आपको भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप ही ढालती है। शीत प्रदेशों में रहने वाले लोगों के मकानों की बनावट एवं वस्त्रों की डिजाइन व बनावट उष्ण प्रदेशों में रहने वाले लोगों से भिन्न होती है। इस प्रकार संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती है।

13. संस्कृति का वैज्ञानिक विश्लेषण सम्भव है (Scientific Analysis is Possible of Culture)—संस्कृति का पालन समूह के लगभग समस्त सदस्यों द्वारा किया जाता है। प्रत्येक संस्कृति में इसी कारण नियमितता (Regularity) देखी जाती है। यह नियमितता ऊपरी और आंतरिक दोनों ही होती हैं। विभिन्न सांस्कृतिक प्रतिमानों की तह में ऐसे तत्त्व मिलेंगे जो संस्कृति की नियमितता को बनायें रखते हैं। मरडोक इसे संस्कृति का सामान्य हर कहते हैं (The Common Denominator of Culture)।[1] अपनी इसी नियमितता के कारण संस्कृति के प्रतिमान बन जाते हैं और तब इनका वैज्ञानिक विश्लेषण सम्भव हो जाता है।

संस्कृति की संरचना या निर्माण
(Structure or Construction of Culture)

संस्कृति की प्रकार्यात्मक अवधारणा बताती है कि संस्कृति के अनेक पक्ष, अंग और पहलू या परतें होते हुए भी यह अपने आप में सम्पूर्ण होती है। यह सम्पूर्णता ही संस्कृति की संरचना है।

यदि हम किसी संस्कृति की संरचना का विश्लेषण करें या यह जानने का प्रयास करें कि संस्कृति का निर्माण कैसे होता है तो हमें इसके अनेक अंग या परतें मिलेंगी। संस्कृति के इन विभिन्न अंगों के परस्पर निर्भर एवं सम्बन्वित होने से ही सम्पूर्ण संस्कृति में एक व्यवस्था एवं सन्तुलन दिखायी देता है। मानवशास्त्रियों ने संस्कृति के इन विभिन्न अंगों को चार बड़े भागों में बाँटा है :

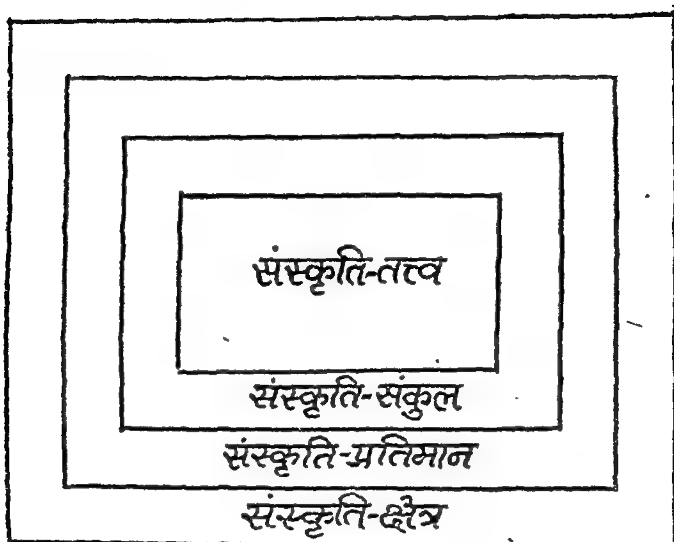
1. संस्कृति-तत्त्व या लक्षण (Culture Trait),
2. संस्कृति-संकुल (Culture Complex),

---

1. Murdock : Social Structure; p. 24

3. संस्कृति प्रतिमान (Culture Pattern) एवं
4. संस्कृति क्षेत्र (Culture Area)

इसे हम निम्नांकित चित्र द्वारा भी समझ सकते हैं :



यहाँ हम इनकी संक्षिप्त विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं :

1. **संस्कृति-तत्त्व या लक्षण** (Culture Trait)—संस्कृति-संरचना की वह छोटी से छोटी **'पहचानने-योग्य इकाई'** (Identifiabie Unit) **संस्कृति-तत्त्व या लक्षण** (Culture Trait) कहलाती है, जिसका और अधिक विभाजन नहीं किया जा सकता। हर्सकोविट्ज के अनुसार यह एक निर्दिष्ट संस्कृति में पहचानी जाने वाली सबसे छोटी इकाई है।[1] डॉ. **श्यामाचरण** दुबे के अनुसार "संस्कृति तत्त्वों को हम संस्कृति के गठन की सरलतम व्यावहारिक इकाइयाँ मान सकते हैं।"[2] **क्रोवर** इसे 'संस्कृति' का अल्पतम परिभाषित तत्त्व' कहते हैं।[3] **जेकब्स** एवं **स्टर्न** के मत में "संस्कृति तत्त्व संस्कृति की वे आविष्कृत तथा हस्तान्तरित इकाइयाँ हैं जिनको विवरण या सैद्धान्तिक अध्ययन के लिए विभिन्न भागों में विभाजित नहीं किया जा सकता।"[4]

1. Herskovitz : Cultural Anthropology, p. 170.
2. डॉ. एस. सी. दुबे : मानव तथा संस्कृति, पृष्ठ 218.
3. A. L. Krober : Anthropology, p. 201.
4. Jacobs & Stern : General Anthropology, p. 112.

इस प्रकार 'संस्कृति-तत्त्व' संस्कृति का वह सूक्ष्मतम भाग है जो पहचानने योग्य है और जिसे और अधिक विभाजित नहीं किया जा सकता। यदि उसे और अधिक विभाजित किया जाता है तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, जैसे रेडियो, टी. वी. चम्मच, चाकू, शब्द आदि। रेडियो को या पंखे को विभाजित करने पर उसका अस्तित्व अथवा पहचान समाप्त हो जाती है, अतः ये सांस्कृतिक तत्त्व हैं।

2. **संस्कृति-संकुल** (Culture Complex)—संस्कृति-संकुल संस्कृति तत्त्वों से मिलकर बना होता है। ई. ए. हाबैल ने लिखा है "संस्कृति संकुल परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित तत्त्वों का एक जाल है।"[1] डॉ. दुबे के अनुसार, "संस्कृति संकुल जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, समान तत्त्वों अथवा पूरक संस्कृति तत्त्वों से मिलकर बनते हैं।"[2] सदरलैण्ड एवं वुडवर्ड ने लिखा है कि "संस्कृति संकुल संस्कृति तत्त्वों का वह समग्र समूह है, जो कि इनके अर्थपूर्ण ढंग से परस्पर सम्बन्धित होने से बनता है।"[3] विवाह में होम एक संस्कृति संकुल है जो हवन-सामग्री, घी, पुरोहित, मन्त्रोच्चारण आदि संस्कृति लक्षणों से बना है। वाक्य एक संस्कृति संकुल है जो अनेक शब्दों (संस्कृति लक्षण) से मिलकर बना है।

3. **संस्कृति प्रतिमान** (Culture Pattern)—संस्कृति की संरचना में संस्कृति तत्त्वों एवं संस्कृति संकुल के प्रकार्यात्मक संयोग के परिणाम-स्वरूप संस्कृति प्रतिमान (Culture Pattern) बनता है। संस्कृति प्रतिमान की अवधारणा का विकास रूथ बेनडिक्ट ने किया था।[4] बेनडिक्ट ने जापान की सम्पूर्ण संस्कृति का विवेचन इसी प्रतिमान के सन्दर्भ में किया है। आपने प्यूबलो, डोवू एवं क्वाकिउटल नामक तीन संस्कृतियों का अध्ययन किया। हर्षकोविट्ज के अनुसार "संस्कृति प्रतिमान एक संस्कृति के तत्त्वों का वह डिजाइन है जो कि उस समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार-प्रतिमानों के माध्यम से व्यक्त होता हुआ, जीवन के इस तरीके को सम्बद्धता, निरन्तरता एवं विशिष्टता प्रदान करता है।"[5] आधुनिक औद्योगिक संसार की संस्कृति का संस्कृति प्रतिमान मशीन है।

4. **संस्कृति क्षेत्र** (Culture Area)—संस्कृति प्रतिमान सामान्यतया भू-भागों में पाये जाते हैं। एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में विशेष संस्कृति प्रतिमान होते हैं। एक जैसे संस्कृति प्रतिमानों के भौगोलिक क्षेत्रों को हम एक संस्कृति क्षेत्र

---

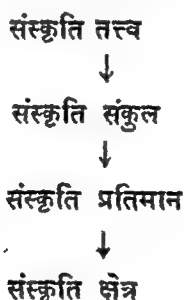
1. E. A. Hoebel : Op. cit., p. 437.
2. डॉ. एस. सी. दुबे : पूर्व उद्धृत, पृष्ठ 218.
3. Sutherland & Woodward : Introductory Sociology, p. 34.
4. Ruth Bendict : Patterns of Culture.
5. Herskovits : Op. cit., p. 202.

कहते हैं। संस्कृति क्षेत्र की अवधारणा का प्रयोग सबसे पहले विजलर (Wissler) ने किया था। विजलर ने लिखा है कि "संस्कृति-क्षेत्र वह भौगोलिक प्रदेश है जिसमें काफी संख्या में एक-सी संस्कृति वाली बहुत कुछ स्वतन्त्र जनजातियाँ निवास करती हैं।" हर्संकोविट्ज के अनुसार "वह क्षेत्र जिसमें समान संस्कृतियाँ पायी जाती हैं, एक संस्कृति-क्षेत्र कहलाता है।" ई. ए. हावेल के अनुसार "एक संस्कृति क्षेत्र वह भौगोलिक भू-भाग है जिसमें पायी जाने वाली संस्कृतियों में एक सीमा तक समानता होती है।" विजलर एवं क्रोबर ने अमेरिका के आदिवासी क्षेत्रों को पन्द्रह स्वतन्त्र संस्कृति-क्षेत्रों में विभाजित किया। हर्संकोविट्ज ने अफ्रीका को नौ संस्कृति क्षेत्रों में विभाजित किया।

इस प्रकार संस्कृति तत्त्व, संस्कृति संकुल, संस्कृति प्रतिमान और संस्कृति क्षेत्र से मिलकर संस्कृति की एक संरचना निर्मित होती है। इसे निम्नांकित चित्र द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है—

संस्कृति संरचना या निर्माण

(Structure or Construction of Culture)



संस्कृति संरचना के कुछ उदाहरण
(Some Examples of Culture Structure)

1. संस्कृति तत्त्व—चम्मच, कटोरी, गिलास, कपड़ा, बटन, ईंट, सीमेन्ट, लोहा आदि,

2. संस्कृति संकुल—भोजन, शर्ट, कमरा आदि,

3. संस्कृति प्रतिमान—भवन, ऑफिस, निवास आदि,

4. संस्कृति क्षेत्र—मेवाड़, व्रज, मारवाड़ आदि,

संस्कृति के प्रकार :
(Types of Culture)

संस्कृति की अवधारणा को अधिक विस्तार से समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम संस्कृति के प्रकारों की विवेचना करें।

विलियम आग्बर्न (William Agburn) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'सोश्यल चेञ्ज' में संस्कृति के दो प्रकारों का उल्लेख किया है, जो निम्नलिखित हैं—

1. भौतिक संस्कृति (Material Culture)
2. अभौतिक संस्कृति (Non-Material Culture)

संस्कृति के इन दोनों भागों का हम यहाँ विस्तार से वर्णन करेंगे—

1. भौतिक संस्कृति (Material Culture) :

वे सभी पदार्थ जो 'मूर्त' या 'दृश्यमान' होते हैं एवं जिनका एक भौतिक स्वरूप होता है, उन्हें हम भौतिक संस्कृति के अंग मान सकते हैं। पाषाण युग से ही मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए अनेक भौतिक वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ किया। औजारों, तीरों, लोहे के उपकरणों आदि का निर्माण उसकी अर्वाचीन भौतिक संस्कृति है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ शनैः-शनैः कलात्मकता एवं उपयोगिता में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई एवं अनेक भौतिक साधनों का प्रादुर्भाव हुआ। पेन, घड़ी, वस्त्र, मशीनें, रेडियो, टेलीफोन, दूरदर्शन, कम्प्यूटर, स्कूटर, कार आदि सब भौतिक संस्कृति के अंग हैं। इस प्रकार मनुष्य भौतिक संस्कृति का भण्डार शनैः-शनैः भरता रहा एवं आज उसकी भौतिक संस्कृति की निधि असीम है।

भौतिक संस्कृति की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमें सदैव ज्योमितीय दर (Geometerical Rate) से वृद्धि होती है, अर्थात् प्रत्येक आने वाले समय में भौतिक पदार्थों की संख्या पहले की अपेक्षा बहुत अधिक हो जाती है। आदिम समाजों की अपेक्षा आज के वैज्ञानिक समाजों में भौतिक वस्तुओं की संख्या इतनी अधिक है कि उन्हें गिना भी नहीं जा सकता। इसी प्रकार पुरानी पीढ़ी की अपेक्षा नयी पीढ़ी के पास भौतिक संस्कृति के अनेक नये साधन आ जाते हैं। एक शतक पूर्व की पीढ़ी के पास वी. सी. आर., रंगीन दूरदर्शन, कम्प्यूटर, केलक्यूलेटर जैसी भौतिक वस्तुयें नहीं थीं।

इसी प्रकार भौतिक संस्कृति में वैकल्पिकता का गुण भी पाया जाता है। भौतिक संस्कृति के अंगों की संख्या इतनी अधिक होती है कि व्यक्तियों को इनके विकल्प चुनने की सुविधा होती है।

भौतिक संस्कृति के अंगों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। विलियम आग्बर्न ने भौतिक संस्कृति के परिवर्तन के पक्ष पर अधिक बल दिया है। जैसे-जैसे व्यक्तियों की अभिरुचियों, योग्यता और परिस्थितियों में परिवर्तन होता जाता है, भौतिक संस्कृति के रूप में भी परिवर्तन देखने को मिलता है। यही कारण है कि परम्परागत समाजों में व्यक्तियों के विचार एवं विश्वास तो बहुत स्थिर रहते हैं, लेकिन इनकी संस्कृति का भौतिक पक्ष कभी स्थिर नहीं रहता। भौतिक संस्कृति का क्षेत्र यद्यपि

अत्यन्त व्यापक एवं विस्तृत है, लेकिन वह 'मूर्त' होने के कारण अधिक सरल होता है। भौतिक संस्कृति को दूसरे समूहों द्वारा सरलता से ग्रहण किया जा सकता है। उदाहरण के लिए ब्रिटिश लोगों के विचार एवं विश्वास हमारी संस्कृति से भिन्न हैं, लेकिन फिर भी हम उनकी मशीनों, उपकरणों अथवा औषधियों आदि का उपयोग करने के लिए शीघ्र तैयार हो जाते हैं। इस दृष्टिकोण से भौतिक संस्कृति के तत्त्वों के द्वारा अधिकांश संस्कृतियां एक दूसरे के समीप आने का प्रयत्न करती हैं।

संक्षेप में भौतिक संस्कृति की विशेषताओं को निम्नलिखित विन्दुओं में रखा जा सकता है—

1. भौतिक संस्कृति 'मूर्त' एवं 'दृश्यमान' होती है।
2. भौतिक संस्कृति संचयी (Cumulative) होती है।
3. भौतिक संस्कृति के अंगों की 'माप' सम्भव होती है।
4. भौतिक संस्कृति वैकल्पिक होती है।
5. भौतिक संस्कृति अत्यन्त सरल होती है।
6. भौतिक संस्कृति में परिवर्तन यथाशीघ्र होते है।
7. भौतिक संस्कृति के अंगों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर शीघ्र ग्रहण कर लिया जाता है।

2. अभौतिक संस्कृति :
(Non-Material Culture)

अनेक विद्वान केवल 'अभौतिक संस्कृति' को ही संस्कृति मानते हैं, परन्तु यथार्थ में यह उचित नहीं है। भौतिक संस्कृति भी संस्कृति का उतना ही महत्त्वपूर्ण भाग है जितना कि अभौतिक संस्कृति। समस्त भौतिक वस्तुयें स्वयं किसी काम की नहीं, यदि उनका उपयोग करने की दक्षता या कुशलता मनुष्य में न हो। यह शारीरिक एवं मानसिक कुशलता, उनकी उपयोगिता उनके सम्वन्ध का ज्ञान आदि भी संस्कृति के भाग हैं, क्योंकि इन्हें भी मनुष्य सीखता है। यह तब कुशलता एवं ज्ञान भी मनुष्य द्वारा निर्मित है।

इसमें सन्देह नहीं कि भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति का उपयोग सामान्यतया एक साथ होता है। 'कार' एवं 'कार चलाने की क्षमता' के मेल से ही कार चल सकती है। एक के विना दूसरे का उपयोग सम्भव नहीं है। परन्तु यह कहा जा सकता है कि अभौतिक संस्कृति भौतिक संस्कृति से पूर्व आती है। हथियार, मकान एवं कपड़े बनाना मनुष्य को पहले सीखना चाहिए, तभी वह उन वस्तुओं को बना सकता है।

सोरोकिन (Sorokin) इसे 'भावात्मक संस्कृति' कहते हैं। अभौतिक संस्कृति में उन समस्त सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों को सम्मिलित किया जाता है जिनका कोई स्थूल स्वरूप नहीं होता, अर्थात् जो अमूर्त होते हैं, अर्थात् वे तत्त्व जिनका

कोई आकार-प्रकार, माप-तौल आदि नहीं होती और जिन्हें न देखा जा सकता है, और जिनका न स्पर्श किया जा सकता। **रोबर्ट बियरस्टेड** ने अभौतिक संस्कृति में विचारों एवं सामाजिक मानदण्डों को सम्मिलित किया है। सामान्यतः अभौतिक संस्कृति में हम सामाजिक विरासत में प्राप्त विचारों, विश्वासों, मानदण्डों, व्यवहारों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, परम्पराओं, कानून,मनोवृत्तियों, मूल्यों, साहित्य, कला, भाषा, नैतिकता, जन-रीतियों आदि को रख सकते हैं।

इस प्रकार मानव-समाज को प्रभावित करने में अभौतिक संस्कृति अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावपूर्ण है। अभौतिक संस्कृति भौतिक संस्कृति की अपेक्षा कम परिवर्तनशील एवं अधिक स्थायी होती है। व्यक्ति यदि भौतिक संस्कृति से अनुकूलन न करे तो इससे उसके सामाजिक अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, लेकिन अपनी अभौतिक संस्कृति से अनुकूलन न करने पर व्यक्ति को कठोर सामाजिक तिरस्कार एवं निन्दा का सामना करना पड़ता है। यही कारण है कि अभौतिक संस्कृति की प्रकृति भौतिक संस्कृति की तुलना में स्थिर होती है।

अभौतिक संस्कृति की विशेषताओं को निम्नांकित विन्दुओं से रखा जा सकता है—

1. अभौतिक संस्कृति अमूर्त (Abstract) होती है।
2. अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन बहुत कम व धीमी गति से होते हैं।
3. अभौतिक संस्कृति अधिक जटिल (Complex) होती है।
4. अभौतिक संस्कृति के तत्त्वों को दूसरे स्थान पर उसी रूप में ग्रहण नहीं किया जाता, वरन् उनमें थोड़ा बहुत परिवर्तन आ जाता है।
5. अभौतिक संस्कृति का सम्बन्ध मानव के आध्यात्मिक एवं आन्तरिक जीवन से होता है।

भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अन्तर :
(Difference between Material and Non-Material Culture)

भौतिक एवं अभौतिक संस्कृतियों की उपर्युक्त व्याख्याओं के आधार पर संस्कृति के इन दोनों प्रकारों में अन्तर किया जा सकता है। इनमें पाये जाने वाले प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं—

1. **भौतिक संस्कृति मूर्त** (Concrete) एवं **दृश्यमान** होती है, अर्थात् इसमें मनुष्यों द्वारा निर्मित उन पदार्थों का समावेश होता है जो मूर्त एवं दृश्यमान होते हैं। **अभौतिक संस्कृति अमूर्त** (Abstract) होती है अर्थात् अभौतिक संस्कृति का निर्माण विचारों, विश्वासों आदर्शों व नियमों से होने के कारण इसका रूप अमूर्त होता है।

2. **भौतिक संस्कृति** के मूर्त होने से उसका सरलता से मापन किया जा सकता है, जबकि **अभौतिक संस्कृति** के अमूर्त होने से उसका मापन सम्भव नहीं होता है। विचारों, विश्वासों, मानदण्डों, परम्पराओं, मूल्यों आदि का कैसे मापन किया जा सकता है?

3. भौतिक संस्कृति इस अर्थ में सरल होती है कि उपयोगिता के आधार पर उसकी हानि व लाभ को समझा जा सकता है, जबकि अभौतिक संस्कृति की प्रकृति तुलनात्मक रूप से जटिल (Complex) होती है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति इस बात को प्रमाणित नहीं कर सकता कि उसके विचार, मूल्य, विश्वास आदि दूसरी संस्कृति के विचारों, मूल्यों, विश्वासों आदि से अच्छे या बुरे हैं।

4. भौतिक संस्कृति का सम्बन्ध मनुष्य के वाह्य जीवन (Outer Life) से है। यही कारण है कि भौतिक संसाधनों में वृद्धि होने से व्यक्तिवादिता, भौतिकवाद आदि को प्रोत्साहन मिलता है, जबकि अभौतिक संस्कृति का सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक जीवन (Inner Life) से है। अतः यह मानवीय गुणों, समाज के चरम लक्ष्यों और सामूहिकता को महत्त्व देती है।

5. भौतिक संस्कृति वैकल्पिक (Alternative) होती है। यह हमारी इच्छा और साधनों पर निर्भर है कि हम भौतिक संस्कृति के किन तत्त्वों को ग्रहण करें और किन्हें छोड़ दें। किसी भी विशिष्ट भौतिक तत्त्व को ग्रहण करने के लिए व्यक्तियों को वाध्य नहीं किया जाता, जबकि अभौतिक संस्कृति में सामान्यतः वाध्यता (Constraint) होती है। प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समाज के मूल्यों, प्रथाओं, परम्पराओं, विश्वासों आदि के अनुरूप ही आचरण करे।

6. भौतिक संस्कृति कभी भी विशुद्ध (Pure)नहीं होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक समूह अन्य समाजों के आविष्कारों और भौतिक पदार्थों से लाभ उठाने के लिए उन्हें ग्रहण कर लेता है, जबकि अभौतिक संस्कृति में मिश्रण की प्रक्रिया को सदैव रोकने का प्रयास किया जाता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक समूह अपने विचारों, विश्वासों व मूल्यों को श्रेष्ठ मानता है।

7. भौतिक संस्कृति की प्रकृति संचयी (Cumulative) होती है अर्थात् भौतिक साधनों में निरन्तर वृद्धि होने से इनकी संख्या में वहुत तीव्र गति से वृद्धि होती है, जबकि अभौतिक संस्कृति में भौतिक साधनों की भाँति न तो तीव्रता से वृद्धि होती है और न ही संचय होता है।

8. भौतिक संस्कृति परिवर्तनशील (Changeable) है। यही नहीं, इसमें परिवर्तन की गति भी काफी तीव्र होती है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के अनुसार नवीन वस्तुओं को वनाते रहते हैं और पुरानी वस्तुओं का त्याग करते रहते हैं, जबकि इसके विपरीत अभौतिक संस्कृति अपेक्षाकृत स्थायी होती है। व्यक्ति न केवल स्वयं ही इसमें किसी तरह का परिवर्तन करने से डरते हैं, वल्कि समाज के अन्य सदस्य भी उन्हें ऐसा नहीं करने देते। इसमें परिवर्तन वहुत धीमी गति से और वहुत लम्वे समय में होता है।

9. भौतिक संस्कृति शीघ्र ग्राह्य अर्थात् ग्रहण-योग्य होती है। जव दो भिन्न-भिन्न संस्कृतियों वाले समूह एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, तो वे एक-दूसरे की

भौतिक वस्तुएँ शीघ्र स्वीकार कर लेते हैं, जबकि **अभौतिक संस्कृति** इतनी शीघ्र ग्रहण नहीं की जाती। सामान्यतः दूसरों की प्रथाओं, परम्पराओं, विश्वासों व मूल्यों को स्वीकार नहीं किया जाता है।

स्पष्ट है कि भौतिक व अभौतिक संस्कृति के विभाजन से हमें यह सदैव याद रखना चाहिए कि यह विभाजन सुविधा के लिए है। **विलीयम ऑग्बर्न** ने लिखा है कि "जहाँ विश्लेषण के उद्देश्य से भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में भेद करना उचित है, वहीं इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि ये दोनों विस्तृत सांस्कृतिक इकाइयाँ, अर्थात् समस्याओं के परस्पर सम्बन्धित अंग हैं।"[1]

रोबर्ट बियरस्टेट ने भौतिक व अभौतिक संस्कृतियों के प्रमुख तत्वों को स्पष्ट किया है।[2] उन्हें हम निम्नलिखित चार्ट के द्वारा समझ सकते हैं—

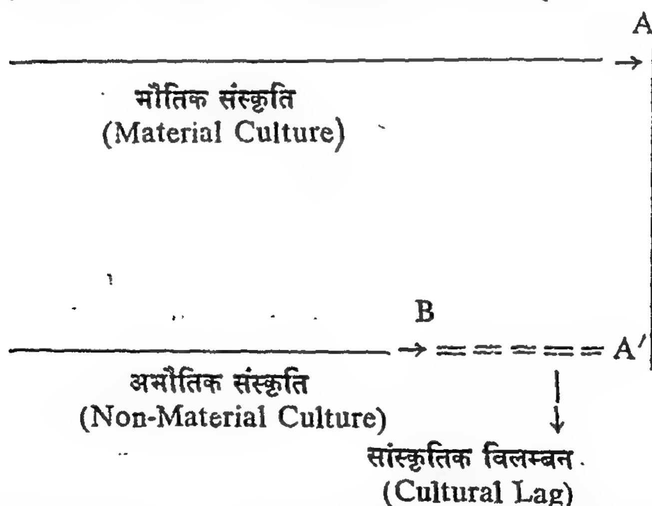
भौतिक संस्कृति (Material Culture)	अभौतिक संस्कृति (Non-Material Culture)
1. मशीनें (Machines)	1. कानून (Law)
2. उपकरण (Tools)	2. अधिनियम (Legislation)
3. वर्तन (Utensils)	3. नियम (Rules)
4. इमारतें (Buildings)	4. नियमन (Regulation)
5. सड़कें (Roads)	5. प्रथायें (Customs)
6. पुल (Bridges)	6. जनरीतियाँ (Folkways)
7. शिल्प-वस्तुयें (Artifacts)	7. लोकाचार (Mores)
8. कलात्मक वस्तुयें (Objects of art	8. निषेध (Taboos)
9. वस्त्र (Clothing)	9. फैशन (Fashion)
10. गाड़ियाँ (Vehicles)	10. संस्कार (Sanskar)
11. फर्नीचर (Furniture)	11. कर्मकाण्ड (Rituals)
12. खाद्य पदार्थ (Food Stuffs)	12. अनुष्ठान (Anusthan)
13. औषधियाँ (Medicines)	13. परिपाटी (Convention)
	14. सदाचार (Moral Ethics)

1. Ogburn & Nimkoff : A Handbook of Sociology ; p. 24
2. Robert Bierstedt : Op. cit. ; p. 162-170.

सांस्कृतिक विलम्वन का सिद्धान्त :
(Theory of Cultural Lag)

विलीयम ऑग्वर्न ने अपनी कृति 'सोश्यल चेञ्ज' में 'सांस्कृतिक विलम्वन' (Cultural Lag) के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। 'लेग' (Lag) का अर्थ है 'पिछड़ना' अर्थात् 'पीछे रह जाना'। दूसरे शब्दों में 'एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ आगे वढ़ने में विलम्वन या देर कर रही है।'

ऑग्वर्न का कहना है कि संस्कृति के दोनों भाग (भौतिक एवं अभौतिक) मानव-जीवन से घनिष्ट रूप से सम्वन्धित हैं। अत: एक भाग में होने वाले परिवर्तन का प्रभाव दूसरे भाग पर भी अवश्य पड़ता है। परिवर्तन एक प्राकृतिक नियम है, अत: भौतिक व अभौतिक संस्कृतियों में परिवर्तन अवश्य आता है। भौतिक संस्कृति शीघ्र एवं तीव्र गति से परिवर्तित होती है, जवकि अभौतिक संस्कृति उतनी शीघ्र एवं तीव्र गति से नहीं वदल पाती। फलस्वरूप भौतिक संस्कृति आगे वढ़ जाती है एवं अभौतिक संस्कृति पिछड़ जाती है। भौतिक संस्कृति से अभौतिक संस्कृति के इस प्रकार पिछड़ जाने को ही 'सांस्कृतिक विलम्वन' या 'सांस्कृतिक पिछड़' (Cultural Lag) कहा जाता है। इसे आप निम्नलिखित चित्र द्वारा भी समझ सकते हैं।



उपर्युक्त चित्र में 'A' वह स्थिति है जहाँ तक भौतिक संस्कृति विकसित रूप से विद्यमान है, जवकि अभौतिक संस्कृति अभी 'B' की स्थिति तक ही पहुँच पायी है। 'A' व 'B' के वीच का अन्तर ही सांस्कृतिक विलम्वना (B········A′) है। स्वयं ऑग्वर्न ने लिखा है कि "संस्कृति के उन दो सम्वन्धित भागों (भौतिक एवं अभौतिक) पर यह तनाव इसलिए पड़ता है कि वे असमान गति से परिवर्तित होते हैं। ऐसी अवस्था में हम उसे उस भाग की विलम्वना कहते हैं जो मन्द मति से परिवर्तित हो रहा है, क्योंकि एक दूसरे के पीछे रह जाता है।" स्वयं विलियम ऑग्वर्न ने उदाहरण

देते हुए लिखा है कि "एक शहर की जनसंख्या जितनी तेजी से बढ़ती या घटती है, उतनी शीघ्रता से वहाँ पुलिस की संख्या बढ़ायी या घटायी नहीं जाती है। इसका आशय यह हुआ कि जनसंख्या में जो परिवर्तन हुआ, वह पुलिस की संख्या में परिवर्तन से आगे निकल गया।

श्री ऑगबर्न ने आगे लिखा है कि चूँकि भौतिक तथा अभौतिक संस्कृतियाँ एक-दूसरे से अत्यधिक सम्बन्धित होती हैं, इस कारण एक के दूसरे से पिछड़ जाने पर सामाजिक जीवन में असन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसलिए उसे पुनः सन्तुलित अवस्था में लाने का प्रयास किया जाता है।

संस्कृति से सम्बन्धित कुछ अवधारणायें :
(Some Concepts Related With Culture)

यहाँ हम संस्कृति से मिलती-जुलती कुछ अवधारणाओं को प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनका प्रयोग सामान्यतः समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र में बहुलता से किया जाता है। वे कुछ अवधारणायें निम्नलिखित हैं—

1. **संस्कृति-ग्रहण (Enculturation) :** समाज में संस्कृति को जीवित रखने और स्वयं को बनाये रखने की प्रवृत्ति को 'संस्कृति-ग्रहण' की प्रक्रिया के द्वारा समझा जा सकता है। हर्षकोविट्ज (Herskovits) के शब्दों में "जब एक बढ़ता हुआ बच्चा अपनी ही सांस्कृतिक परम्पराओं का अनुपालन करना सीखता है तो इस प्रक्रिया को संस्कृति-ग्रहण कहा जाता है।"

2. **परसंस्कृतिकरण (Acculturation) :** परसंस्कृतिकरण वह सांस्कृतिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति या समूह दूसरे व्यक्ति या समूह की सांस्कृतिक विशेषताओं को सम्पर्क और अन्तःक्रियाओं द्वारा ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में "जब एक संस्कृति के प्रभाव से दूसरी संस्कृति की सम्पूर्ण जीवन-पद्धति परिवर्तन-प्रक्रिया के दौर में होती है, तब इस प्रक्रिया को 'परसंस्कृतिकरण' कहा जाता है।"

3. **अन्तर-संस्कृतिकरण (Trans-culturation) :** जब दो संस्कृतियों में परस्पर संस्कृति-तत्त्वों या लक्षणों एवं संस्कृति-संकुलों का विनिमय (Exchange) होता है तो उसे अन्तर-संस्कृतिकरण कहा जाता है। अन्तर-संस्कृतिकरण के लिए यह आवश्यक है कि दोनों संस्कृतियाँ एक दूसरे के तत्त्वों को कम या अधिक मात्रा में ग्रहण करें।

4. **संस्कृति-प्रसार (Culture-Diffusion) :** संस्कृति के लक्षणों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रसारित होना या विस्तृत होना संस्कृति-प्रसार कहलाता है। संस्कृति-प्रसार की प्रक्रिया लगभग समस्त समाजों में पायी जाती है। लेकिन इसमें महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रसार अलग-अलग संस्कृतियों में अलग-अलग स्वरूप लेता है।

5. संस्कृति सापेक्षवाद (Culture Relativism) : संस्कृति सापेक्षवाद वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार किसी भी संस्कृति को उसके अपने सन्दर्भ में ही समझा जाना चाहिए। एक संस्कृति के विश्लेषण में दूसरी संस्कृतियों के मापक नहीं लगाये जा सकते। प्रत्येक संस्कृति अपने स्वयं के सन्दर्भ में ही देखी जानी चाहिए।

संस्था
(Institution)

समाजशास्त्र की एक और महत्त्वपूर्ण अवधारणा 'संस्था' (Institution) है। मनुष्य प्रारम्भ से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए विचार-शक्ति से प्रयास करता रहा है। प्रत्येक मनुष्य की कुछ मौलिक आवश्यकतायें (Basic Needs) होती हैं—भूख, प्यास, सुरक्षा, काम-तुष्टि आदि। मानव-जीवन की निरन्तरता के लिए इन आवश्यकताओं की पूर्त्ति अनिवार्य है। प्रत्येक समूह एवं समाज इन मौलिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए कुछ तरीके, साधन, कार्य-प्रणालियाँ आदि बना लेता है एवं तत्पश्चात् इन आवश्यकताओं की पूर्त्ति-हेतु इन्हीं तरीकों को अपना लेता है। शनैः-शनैः कुछ व्यक्तियों के ये साधन, तरीके या कार्य-प्रणालियाँ अन्य व्यक्ति भी अपनाने लगते हैं एवं बाद में ये समाज के सदस्यों के लिए अनिवार्य से हो जाते हैं। समाज के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे इन्हीं साधनों, कार्य-प्रणालियों एवं तरीकों द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करेंगे। इस प्रकार इन साधनों, कार्य-प्रणालियों, नियमों, तरीकों आदि को ही 'संस्था' (Institution) कहा जाता है। इस प्रकार संस्थायें मानव-जीवन की वे प्रेरणाप्रद स्वचालित निर्देशिकायें हैं जो मानव के जीवन-क्रम का पग-पग पर निर्देशन करती हैं।

सामान्यतः 'संस्था' एवं 'समिति' (Association) का प्रयोग एक समान अर्थ में कर लिया जाता है, परन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से इनमें व्यापक अन्तर है। **समिति** का सम्बन्ध व्यक्तियों के एक औपचारिक संगठन से होता है, जबकि **संस्था** का सम्बन्ध व्यक्तियों के समूह से न होकर नियमों, पद्धतियों एवं कार्य-प्रणालियों की एक व्यवस्था से होता है। इसे एक उदाहरण से स्पष्टतः समझा जा सकता है।

एक परिवार (Family) को व्यक्तियों के एक समूह के रूप में एक **समिति** माना जा सकता है, लेकिन परिवार में रहने के तथा काम करने के कुछ निश्चित नियम एवं कार्य-प्रणालियाँ होती हैं, जैसे घरेलू परम्परायें, प्रथायें, उत्तराधिकार के नियम, विवाह-सम्बन्धी निषेध एवं विवाह के नियम व प्रक्रियायें आदि। ये सब नियम, रीतियाँ, घरेलू परम्परायें आदि संस्थायें कहलाती हैं।

संस्था का अर्थ एवं परिभाषायें :

(Meaning and Definitions of Institution)

समाजशास्त्र में संस्था का अर्थ इसके सामान्य अर्थ से भिन्न लगाया जाता है। 'संस्था' की अवधारणा का प्रथम समाजशास्त्रीय प्रयोग 'हरबर्ट स्पेन्सर' (Herbert Spencer) ने अपनी कृति 'फर्स्ट प्रिन्सीपल्स' (First Principles) में किया था। स्पेन्सर के अनुसार "संस्था वह अंग (Organ) है, जिसके माध्यम से समाज के कार्यों को क्रियान्वित किया जाता है।"

हरबर्ट स्पेन्सर के बाद "समनर' (Sumner) ने 'फोकवेज' (Folkways) नामक अपनी कृति में संस्था की व्यापक विवेचना की एवं इसके महत्त्व को स्पष्ट किया। समनर ने अपनी इसी कृति में संस्था को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "एक संस्था एक विचारधारा (विचार, मत, सिद्धान्त या हित) एवं एक संरचना (Structare) से मिलकर बनती है।"[1]

समनर का मानना है कि संस्थायें प्रारम्भ में जनरीतियाँ (Folkways) होती हैं जो बाद में प्रथायें (Customs) बन जाती हैं। प्रथाओं में जब कल्याण का तत्त्व जुड़ जाता है, तब ये रूढियाँ बन जाती हैं, फिर इन रूढ़ियों को नियमों व कृत्यों आदि के माध्यम से अधिक स्पष्ट कर दिया जाता है। इस प्रकार यह एक संरचना-सी बन जाती है जिसको हम संस्था के नाम से जानते हैं।[2]

गिलिन एवं गिलिन (Gillin & Gillin) ने "कल्चरल सोश्योलॉजि' में लिखा है कि "एक सामाजिक संस्था सांस्कृतिक प्रतिमानों (जिनमें क्रियायें, मनोवृतियाँ, और सांस्कृतिक उपकरण आदि आते हैं) का वह क्रियात्मक स्वरूप है, जिसमें कुछ दायित्व होते हैं तथा जिसका कार्य सामाजिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना है।"[3]

गिलिन एवं गिलिन की उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि—

1. सामाजिक संस्था सांस्कृतिक प्रतिमानों की एक क्रियात्मक व्यवस्था होती है।

2. संस्था का कार्य व्यक्तियों की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करना होता है।

3. संस्था तुलनात्मक रूप से अधिक स्थायी होती है।

---

1. W. G. Sumner : Folkways; p., 53.
2. W. G. Sumner : Ibid; p. 53.
3. Gillin & Gillin : Cultural Sociology; p. 315

मेकाइवर एवं पेज (Maciver & Page) ने 'सोसाइटी' में लिखा है कि "संस्थायें सामूहिक गतिविधि की विशेषता के रूप में कार्य-प्रणाली की दशाओं या स्थापित प्रतिमानों को कहा जाता है।"[1]

मेकाइवर एवं पेज ने अत्यन्त सरल ढंग से संस्था की व्याख्या करते हुए कहा है कि "यह व्यक्तियों का समूह मात्र न होकर समूह के द्वारा पहले से स्थापित प्रतिमानों या प्रणाली का एक स्वरूप है।" मेकाइवर एवं पेज ने लिखा है कि "मन्दिर, मस्जिद, चर्च, या राज्य आदि का मूर्त्त स्वरूप समिति है, जबकि इनमें से प्रत्येक से सम्बन्धित नियमों, विधि-विधानों एवं कार्य-प्रणालियों की व्यवस्था संस्था है।"[2]

ई. एस. बोगार्डस (E. S. Bogardus) ने 'सोश्योलॉजि' में लिखा है कि "एक सामाजिक संस्था समाज की वह संरचना है जिसको सुस्थापित कार्य-विधियों द्वारा व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए संगठित किया जाता है।"[3]

बोगार्डस ने संस्था की परिभाषा इसकी प्रकृति एवं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की है तथा वे इसे एक ऐसी सामाजिक संरचना मानते हैं जिसे व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए संगठित किया जाता है।

ई. ए. रॉस (E. A. Ross) ने 'प्रिन्सीपल्स ऑफ सोश्योलॉजि' में लिखा है कि "सामाजिक संस्थायें सामान्य इच्छा से स्थापित या स्वीकृत संगठित मानवीय सम्बन्धों के समूह हैं।"[4]

मोरिस जिन्सबर्ग (Morris Ginsberg) के अनुसार "ये (संस्थायें) व्यक्तियों या समूहों के मध्य सम्बन्धों को निर्देशित करने वाली मान्य तथा स्थापित कार्य-प्रणालियों के रूप में परिभाषित की जा सकती हैं।"[5]

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने **'ह्यूमन सोसाइटी'** में लिखा है कि "एक संस्था को किसी एक या अधिक प्रकार्यों के चारों ओर निर्मित अन्तःसम्बन्धित जनरीतियों, रूढियों और कानूनों के समुच्चय (Set) के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"[6]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि समाजशास्त्रीय शब्दावली में सामाजिक संस्था का अभिप्राय उन स्वीकृत एवं पूर्व-स्थापित नियमों, कार्य-

---

1. Maciver & Page : Society; p. 15
2. Maciver & Page : Ibid; p. 15
3. E. S. Bogardus : Sociology; p. 478
4. E. A. Ross : Principles of Sociology; p. 688
5. Morris Ginsberg : Sociology; p. 42
6. Kingsley Davis : Human Society; p. 71

प्रणालियों एवं व्यवहार की सामूहिक रीतियों से लगाया जाता है जो मनुष्यों की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होती हैं। संस्थायें मनुष्य के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए भी अनिवार्य हैं। जे. के. फेबिलमैन (J. K. Feiblemen) ने 'इन्सटीट्यूशन ऑफ सोसाइटी' में लिखा है कि "संस्थायें वे संरचनायें हैं जो इसलिए बनायी जाती हैं कि आवश्यकतायें स्वयं विनाशकारी न हो जायें, जैसा होना अवश्यम्भावी है, यदि उन्हें व्यक्तिगत वहशीपन पर छोड़ दिया जाये।" इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्थाओं का विशाल ढाँचा मानव-समुदाय के चारों ओर खड़ा होकर मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छाओं को सामाजिक दीवारों में जकड़ लेता है। चार्ल्स कूले (Charles Cooley) भी कहते हैं कि "किसी निरन्तर आवश्यकता या इच्छा की पूर्ति के लिए सामूहिक व्यवहारों का जटिल व्यवस्थित संगठन जब सामाजिक विरासत में स्थान पा जाता है, तब उस सामूहिक व्यवहारों के व्यवस्थित संगठन को हम संस्था कहते हैं।"

संस्था की विशेषतायें :
(Characteristics of Institution)

संस्था की उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर संस्था की कुछ विशेषताओं को ज्ञात किया जा सकता है। गिलिन एवं गिलिन ने संस्था की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए उसकी छः विशेषताओं का उल्लेख किया है[1] जो निम्नलिखित हैं–

1. सांस्कृतिक व्यवस्था की इकाई (Unit of the Cultural System)— गिलिन एवं गिलिन के अनुसार "संस्था सम्पूर्ण सांस्कृतिक व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण इकाई होती है। संस्कृति के निर्माण में अनेक विचारों, विश्वासों, लोकरीतियों, लोकाचारों, परम्पराओं तथा कार्य-विधियों का योगदान होता है। ये सभी संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ हैं। ये विभिन्न इकाइयाँ जब सुव्यवस्थित हो जाती हैं, तभी हम इन्हें संस्था कहते हैं। इस प्रकार संस्था को सांस्कृतिक व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण इकाई माना जाना चाहिए।

2. स्थायित्व (Permanence)–संस्था की दूसरी प्रमुख विशेषता इसका स्थायित्व है। वस्तुत: जब एक कार्यविधि लम्बे समय तक व्यक्तियों की आवश्यकताओं को पूरा करती रहती है तथा समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होती है, तभी उसे संस्था के रूप में स्वीकार किया जाता है। उदाहरण के लिए, हिन्दू-विवाह की कार्य-पद्धति को जब एक लम्बे समय तक समाज के लिए उपयोगी समझा जाता रहा, तभी इस विवाह-पद्धति को संस्था का रूप प्राप्त हो सका। इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि संस्थाओं में कभी भी परिवर्तन नहीं हो सकता, लेकिन साधारणतया यह परिवर्तन अन्य इकाइयों की तुलना में बहुत कम और सबसे बाद में होता है।

---

1. Gillin & Gillin : Op. cit.; p. 315

3. सुपरिभाषित उद्देश्य (Well-defined Objectives)—प्रत्येक संस्था का विकास किसी न किसी उद्देश्य को पूरा करने से सम्बन्धित होता है। ये उद्देश्य इतने स्पष्ट होते हैं कि सामान्यतया इन्हें लिखित रूप तक दे दिया जाता है। जब तक एक विशिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती, संस्था उसको प्राप्त करने का प्रयत्न करती रहती है और जब वह उद्देश्य प्राप्त हो जाता है तो वही संस्था किसी अन्य क्षेत्र में कार्य करना आरम्भ कर सकती है, लेकिन किसी भी स्थिति में संस्था के उद्देश्य का स्पष्ट होना अत्यधिक आवश्यक होता है।

4. सांस्कृतिक उपकरण (Cultural Equipments)—संस्था को एक निश्चित रूप देने तथा इसे एक प्रभावपूर्ण इकाई बनाने के लिए कुछ सांस्कृतिक उपकरणों का होना आवश्यक होता है। अतः सांस्कृतिक उपकरण भी संस्था की अनिवार्य विशेषता है। इन उपकरणों को सांस्कृतिक इसलिए कहा जाता है, क्योंकि एक संस्कृति में ये किसी संस्था के आवश्यक अंग होते हैं जबकि दूसरी संस्कृति में इनका कुछ भी अर्थ नहीं होता। उदाहरण के लिए हिन्दू-विवाह में मण्डप, वेदी, कलश व चावल आदि सांस्कृतिक उपकरण हैं जिनके बिना विवाह संस्था अपना कार्य नहीं कर सकती, जबकि किसी दूसरी संस्कृति में ये वस्तुएं जीवन की सामान्य वस्तुएं मात्र हो सकती हैं।

5. प्रतीक (Symbols)—संस्था की एक और अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता इसमें कुछ प्रतीकों का समावेश होना है। संस्था के कुछ प्रतीक भौतिक होते हैं और कुछ अभौतिक। उदाहरण के लिए, किसी बैंक की चैक बुक पर बना भवन का चित्र बैंक के अन्दर की सजावट व फर्नीचर की किस्म भौतिक प्रतीक हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि वह बैंक कितना सुव्यवस्थित है। इसके अतिरिक्त बैंक की सील पर अंकित ध्येय उसका अमूर्त्त प्रतीक है। इसी प्रकार किसी कॉलेज की मूर्त्त वस्तुएँ उसकी भौतिक प्रतीक हैं, और कॉलेज की सील पर अंकित लक्ष्य उस संस्था का अभौतिक प्रतीक होता है।

6. सुस्पष्ट परम्पराएं (Well-defined Traditions)—संस्थाओं में परम्पराओं का महत्त्व सबसे अधिक होता है। संस्थायों की कुछ परम्पराएँ लिखित होती हैं और कुछ अलिखित, लेकिन सामान्य रूप से ये दोनों प्रकार की परम्पराएँ सदस्यों के व्यवहारों का निर्धारण करने में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं। जो सदस्य इन परम्पराओं का पालन नहीं करते, उन्हें प्रायः सामाजिक रूप से दंडित भी किया जाता है। इसी से सदस्यों के व्यवहारों में एकरूपता रहती है और संस्था की नियन्त्रण-शक्ति स्थायी बनी रहती है।

गिलिन एवं गिलिन द्वारा प्रदत्त संस्था की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक सामाजिक संस्था अनेक प्रकार्यों (functions) के चारों ओर संगठित लोकाचारों, रूढ़ियों तथा कानूनों का परस्पर-सम्बन्धित (interwoven) एक समुच्चय है।

संस्था का उद्‌विकास
(Evolution of Institution)

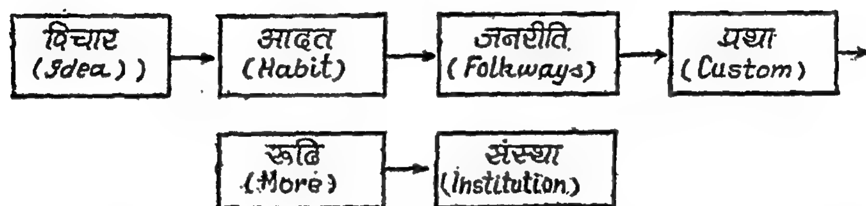
मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अरस्तु के इस कथन से हम लोग पूर्णतः परिचित हैं। ऐसा क्यों है ? हमने यह कभी नहीं सोचा है। यदि हम गहराई से वैज्ञानिकता की कसौटी पर इस कथन को कसकर देखें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्येक मनुष्य की कुछ न कुछ आवश्यकताएँ होती हैं। इन आवश्यकताओं में भूख, प्यास एवं काम-वासना आदि प्रमुख हैं। इस प्रकार संस्थाओं का विकास मनुष्य की मूलभूत (भूख, प्यास एवं काम-वासना सम्बन्धी) भौतिक आवश्यकताओं को पूरा करने के प्रयत्नों से प्रारम्भ होता है। इन मौलिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए मनुष्य कुछ साधन ढूँढ़ने की कल्पना अथवा विचार (Idea) अपने मन में लाता है। मनुष्य की यह प्रारम्भिक क्रिया है। जब इस प्रकार के विचारों के अनुरूप की गयी क्रियाओं से उसके मन को स्थायी संतोष मिलता है तो वह उन क्रियाओं को आदत (Habit) में परिणत कर लेता है। एक मनुष्य की इस आदत को अच्छा और समूह के लिए कल्याणकारी समझकर सम्पूर्ण समूह ऐसी क्रियाओं को अपना लेता है। इस समूह की आदत को समाजशास्त्रीय भाषा में जनरीति (Folkways) कहते हैं। जनरीतियाँ समूह की आदत के रूप में स्थायी रूप से कार्य करती हैं और इनके विपरीत कार्य करने वाले व्यक्ति को समूह कठोर दण्ड देने की व्यवस्था कर देता है। जब किसी जनरीति के पीछे समूह की स्वीकृति अथवा अभिमति बढ़ जाती है, तब ही समूह-विरोधी क्रियाओं के करने वाले को दण्ड दिया जाता है। जब इस प्रकार की स्थायी व्यवस्था का रूप निर्धारित हो जाता है तो प्रारम्भिक विचार प्रथा (Custom) के रूप में विकसित हो जाता है।

प्रथाएँ समाज की स्थायी व्यवस्था होती हैं। प्रथाओं का समाज द्वारा निरन्तर पालन होने से ये रूढ़ियों (Mores) के रूप में विकसित हो जाती हैं। रूढ़ियों से हमारा तात्पर्य समाज की स्थायी और अपरिवर्तनशील प्रथाओं से है। रूढ़ियाँ समाज की पूर्ण परिष्कृत और बिखरी हुई एक व्यवस्था है। इस प्रकार निरन्तर रूढ़ियाँ स्थायी रूप से समाज का संचालन करने लगती हैं तो इनका एक ढाँचा (Structure) बन जाता है। इन रूढ़ियों का ढांचा ही संस्था (Institution) कहलाता है।

इस प्रकार प्रथमतः मनुष्य के मस्तिष्क में आवश्यकताओं की संतुष्टि-हेतु एक काल्पनिक विचार पैदा होता है अर्थात् मन-पटल पर कल्पना का एक बिन्दु विचार के रूप में अंकित होता है। यदि इस विचार में संतोष प्रदान करने वाला तत्त्व अधिक होता है, तो यह विचार बार-बार उस व्यक्ति को वैसा ही विचार करने के लिए बाध्य करता है। इस प्रकार विचार का वह बिन्दु विचारधारा बन जाता है। उस विचारधारा के रूप में वह बहने लगता है। विचारों का यह प्रभाव व्यक्ति को उनके अनुरूप कार्य करने के लिए प्रेरणा देता है। यह प्रेरणा आदत में और

आदत जनरीति में परिणत हो जाती है। जनरीति को सामाजिक स्वीकृति के मिल जाने से प्रथा का रूप निर्मित हो जाता है। प्रथाएँ स्थायी होकर रूढ़ियाँ (Mores) बन जाती हैं। आज समाज में जितनी भी सामाजिक संस्थाएँ हैं, वे इन रूढ़ियों का ढाँचा ही तो हैं जिनका मनुष्य दास होकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है। इसे हम इस चित्र के द्वारा भी समझ सकते हैं—

संस्था का उद्‌विकास
(Evolution of Institution)



यह दार्शनिक पृष्ठभूमि मनोवैज्ञानिक धारणाओं पर अवलम्बित होकर संस्था की रचना करती है। संस्था इसी पृष्ठभूमि पर आधारित होकर समाज का निर्देशन करती है। संस्था के विकास-क्रम को हमने विचार से प्रारम्भ कर संस्था के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस क्रम में ऐसी अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक घटनाएँ एवं अवस्थाएँ आती हैं, जिनका विस्तृत विश्लेषण करना भी हमारे लिए इस संदर्भ में आवश्यक है। ये प्रमुख अवस्थाएँ तथा घटनाएँ निम्नलिखित हैं :

1. विचार (Idea)—विचार क्या है, इसका हमने अभी अभी उल्लेख किया है। विचार मनुष्य की मानसिक प्रतिक्रिया है। यह प्रतिक्रिया उसके मन और मस्तिष्क में तब उत्पन्न होती है जबकि वह अपने जीवन में क्षोभ और असंतोष अनुभव करता है। यह मानव-प्रकृति है कि वह ईश्वर-प्रदत्त मानसिक शक्ति का सदा कठिनाइयों में प्रयोग करने का यत्न करता रहता है अर्थात् विचार एक मानवीय शक्ति है जिसका प्रयोग वह आदिकाल से करता आ रहा है।

2. विचारधारा (Ideology)—विचारधारा अथवा विचार-प्रवाह क्या है ? विचारधारा विचारों का एक संयुक्त स्वरूप है। जब एकसा विचार मानव के मन-मस्तिष्क में बार-बार आने लगता है, अथवा एक से विचार की जब बार-बार मस्तिष्क में आवृत्ति होने लगती है तो वह विचारधारा अथवा विचार-प्रवाह बन जाता है। मस्तिष्क की ज्ञानेन्द्रियों में सर्व-प्रथम विचार का एक बिन्दु अंकित होता है। मन जब कुछ धीमा-धीमा संतोष अनुभव करने लगता है तो वह बार-बार उस मानसिक संतोष को प्राप्त करने के लिए बाध्य हो जाता है। इस प्रकार एक बिन्दु जब समान बिन्दुओं से जुड़ जाता है तो उन समस्त बिन्दुओं में एक प्रवाह दौड़ने लगता है। एक से विचारों के सम्मिलित बिन्दुओं को ही विचारधारा कहते हैं।

3. आदत (Habit)—मनोवैज्ञानिक भाषा में आदत मूल प्रवृत्तियों का एक समूह है। मूल प्रवृत्तियाँ मनुष्य की वे जन्मजात इच्छाएँ हैं, जिनको वह जन्म से साथ लेकर आता है। जब ये प्रवृत्तियाँ स्थायी रूप से मनुष्य के भावात्मक क्षेत्र को छोड़कर भौतिक शक्तियों में परिणत हो जाती हैं, तो वे आदत बन जाती हैं। यद्यपि प्रवृत्तियों और आदतों के बीच एक और अवस्था है, जिसे मनोवृत्ति कहते हैं। जब प्रवृत्ति सहज क्रिया के रूप में काम करने लग जाती है तो वह आदत कहलाती है। वैसे जब हम किसी क्रिया को बार-बार करते हैं तो इस पुनरावृत्ति के फलस्वरूप हम भविष्य में उस क्रिया को अचेतन अवस्था में भी कर लेते हैं इस प्रकार मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आदतें बना लेता है।

4. जनरीति (Folkways)—यह शब्द दो शब्दों का समूह है जो जन तथा रीति से मिलकर बना है। जन का अर्थ होता है जनसमूह अथवा व्यक्तियों का समूह। रीति से तात्पर्य जीवन-क्रम से है। जिस क्रम में जीवन चलता है, वह रीति कहलाती है। इस प्रकार जनरीति एक समूह विशेष का जीवन-क्रम होता है। एक समूह में जब एक सामान्य जीवन का ढंग पाया जाता है, तो उस समूह को हम **समुदाय** कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक समूह की एक जनरीति होती है। जनरीति संस्था की एक आवश्यक अवस्था है। यदि हम यह कहें कि संस्था का बीजारोपण जनरीतियों से होता है तो हमारे कथन में अतिशयोक्ति नहीं होगी।

5. प्रथा (Custom)—जिस प्रकार मनुष्य की क्रियाओं में बार-बार पुनरावृत्ति होने से आदत बन जाती है, उसी प्रकार समूह में एक क्रिया की बार-बार पुनरावृत्ति होने से जनरीति बन जाती है। जब जनरीति को सामाजिक अभिमति और सामाजिक कल्याण के तत्त्वों का सहयोग मिल जाता है तो वह **प्रथाएँ** कहलाती है। प्रथाएँ समाज की वह आदतें हैं जिनको करने के लिए समाज शक्ति का अनुभव करता है अर्थात् प्रथाएँ समाज की आज्ञाएँ हैं जिन्हें मानने के लिये प्रत्येक व्यक्ति बाध्य है। प्रथाएँ सामाजिक स्वीकृति-प्राप्त वे सामान्य धारणायें हैं जिनमें सामूहिक हित और समाज-कल्याण की भावना निहित होती है।

6. सामाजिक अभिमति (Social Sanction)—किसी भी विचार को जब तक सामाजिक स्वीकृति नहीं मिलती, तब तक वह संस्था के आसन पर सही अर्थों में नहीं बैठ सकता। जब कोई विचार समाज में स्थायी रूप से प्रभावशाली होकर कार्य करने लगता है तो इसका अर्थ यह होता है कि समाज ने उसे स्वीकार और अंगीकार कर लिया है। समाज अथवा समूह की आस्था किसी भी बात अथवा वस्तु में तभी होती है जबकि वह बात और वस्तु सामूहिक रूप से समाज-हितकारी हो। ऐसी अवस्था में ही जब किसी जनरीति को सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है तो वह प्रथा का रूप धारण कर लेती है। प्रथा ही आगे चलकर रूढ़ियों का ढाँचा बन जाती है। इसलिए सामाजिक स्वीकृति का तत्त्व समाज द्वारा एक अभिमति और शक्ति है। यह

शक्ति संस्था के निर्माण में अकथनीय योग प्रदान करती है। अतः सामाजिक हित में होने के कारण संस्थाओं को सामाजिक मान्यता मिलना स्वाभाविक है, अतएव सामाजिक मान्यता संस्था का आवश्यक तत्त्व है।

7. प्रतीक (Symbol)—प्रतीक भी संस्था का आवश्यक तत्त्व है। समाज के अनेक प्रतीक प्रतिमान के रूप में सामाजिक जीवन की विशिष्टता भी प्रकट करते हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक विशिष्टता प्रतीकों में ही परिलक्षित होती हैं। सामाजिक मान्यता मिलने पर ये जनरीतियाँ प्रतीकों में व्यक्त होती हैं। उदाहरण के लिए विवाह, यौन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए अपनायी गयी एक संस्था है। इसका आन्तरिक कारण और इसका उद्देश्य यौन आवश्यकता को सरल रूप से पूरी करना है। व्यवहृत होने पर जब यह विचार और रीति स्थायी हो गयी तो बरात, दूल्हा, दुल्हन, पूजा-पाठ, भोज, दहेज आदि जनरीतियों की व्यवस्था वन गयी और इस व्यवस्था को सामाजिक मान्यता मिल गयी। इस व्यवस्था में सिन्दूर लगाना, भाँवर या सप्तपदी, गले में माला डालना, अँगूठियों का आदान-प्रदान करना विवाह के प्रतीक वन गये। इन प्रतीकों का अपना विशिष्ट स्थान होता है और इन्हीं जनरीतिओं के कारण ही विवाह का भोज, मृत्यु के वाद के भोज से भिन्न समझा जाता है। इसलिए प्रतीकों का स्थान जनरीतियों के ढाँचे में प्रमुख है।

8. रूढ़ियाँ (Mores)—समाज के उस व्यवस्थित क्रम को रूढ़ियाँ कहते हैं जिस पर स्थायी रूप से समाज निर्भर रहता है अर्थात् जब प्रथाओं के पीछे सामाजिक दण्ड का तत्त्व जुड़ जाता है, तो प्रथाएँ दण्ड की शक्ति को लेकर स्थायी रूप में रूढ़ियाँ कहलाने लगती हैं। रूढ़ियाँ समाज की वे कठोर आज्ञाएँ हैं जिनको नहीं मानने पर व्यक्ति का कठोर से कठोर सामाजिक अहित किया जा सकता है।

इस प्रकार इन रूढ़ियों का एक स्थायी ढांचा वनकर समाज में प्रभावशाली नियन्त्रण और निर्देशन का जब कार्य करने लग जाता है तो रूढ़ियों का यह ढाँचा संस्था वन जाता है।

संस्थाओं का सामाजिक महत्त्व
(Social Importance of Institutions)

वास्तव में संस्थाओं के सामाजिक महत्त्व को जानने के लिए हमें उनके कार्यों की ओर मुड़ना होगा। किसी भी चीज का महत्त्व उसके कार्यों पर निर्भर करता है।

संस्थाओं के कार्य :
(Functions of Institutions)

सामान्यतः संस्थाओं के सामान्य कार्यों को निम्नलिखित विन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है।

(i) संस्थायें व्यक्तियों के लिए कार्यों को सरल बनाती हैं।
(Institutions simplify actions for the individual.)

(ii) संस्थायें सामाजिक नियन्त्रण के साधनों की भी व्यवस्था करती हैं।
(Institutions also provide means of social control.)

(iii) संस्थायें समाज में व्यक्तियों के लिए कार्यों व प्रस्थितियों को निर्धारित करती हैं।
(Institutions provide a role and status for individual.)

(iv) संस्थायें व्यक्तियों के व्यक्तित्व को एक निश्चित ढांचे में ढालने का कार्य करती हैं।
(Institutions function to mould the individual personality.)

(v) संस्थायें सम्पूर्ण समाज में सामञ्जस्य उत्पन्न करने के साधन हैं।
(Institutions function as harmonizing agencies in the total cultural configuration.)

(vi) संस्थायें संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाती हैं।
(Institutions transit the culture from one generation to another.)

(vii) संस्थायें व्यक्तियों की अनेक मौलिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करके उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा देती हैं।
(Institutions satisfy various basic needs of individuals and stimulate them to go ahead.)

संस्थाओं के इन कार्यों से ही समाज में इनका महत्त्व तब तक बना रहता है, जब तक कि संस्थायें अपने उद्देश्यों के अनुसार कार्य करके समाज में संगठन व साम्य की स्थिति बनाये रखती हैं। जैसे ही ये संस्थायें अपने उद्देश्य से भटकने लगती हैं, वैसे ही इनका सामाजिक महत्त्व भी कम हो जाता है।

संस्थाओं के प्रकार :
(Types of Institutions)

अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने ढंग से संस्थाओं का वर्गीकरण (Classification) किया है। समनर (Sumner) ने संस्थाओं को दो प्रकारों का बताया है। प्रथम प्रकार की संस्थाओं को वह परिवर्धमान संस्थाओं (Crescive Institutions) के नाम से पुकारता है। उदाहरण के लिए इसके अन्तर्गत विवाह संस्था, परिवार संस्था, सम्पत्ति (Property) संस्था व धर्म संस्थायें आदि आती हैं। ये संस्थायें बिना किसी चेतना के *(Unconsciously)* समाज में प्रचलित होती हैं,

अर्थात् इन संस्थाओं का निर्माण नहीं किया जाता। दूसरी प्रकार की संस्थाओं को समनर विधिकृत संस्थायें (Enacted Institutions) के नाम से पुकारता है। उदाहरण के लिए राजनैतिक संस्थायें, व्यापारिक संस्थायें, शैक्षणिक संस्थायें व मनोरंजनात्मक संस्थायें आदि हैं, जिनका कि निर्माण समाज में पूर्ण चेतना (Consciousness) के द्वारा विशेष उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये किया जाता है।

समनर आगे कहते हैं कि प्रथम प्रकार की सस्थायें बहुत प्रमुख होती हैं जो समाज में विद्यमान रहती हैं, जबकि दूसरे प्रकार की संस्थाओं का जन्म समाज में नये-नये आविष्कारों के द्वारा होता है।

कुछ समाजशास्त्री संस्थाओं का निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकरण करते हैं :

1. आधारभूत संस्थायें (Basic Institutions)

2. गौण संस्थायें (Subsidiary Institutions)

आधारभूत संस्थाओं से हमारा मतलब उन संस्थाओं से है जो समाज में, समाज के साम्य को बनाये रखने के लिए परमावश्यक हैं। उदाहरण के लिए हमारे समाज में परिवार, स्कूल, निजी सम्पत्ति व राज्य आदि संस्थाओं को आधारभूत या 'बेसिक संस्थाओं' के नाम से पुकारा जाता है, क्योंकि समाज में संगठन व साम्य की स्थिति में इन संस्थाओं का विशेष प्रमुख योग होता है।

दूसरी ओर, गौण संस्थायें वे होती हैं जिनका समाज में संगठन बनाने के लिए व साम्य की स्थिति को कायम रखने के लिए कोई विशेष योग नहीं होता। उदाहरण के लिए हमारे सामने जो मनोरंजनात्मक संस्थायें पायी जाती हैं, वे इसी संस्था के प्रकार में आती हैं। ये संस्थायें किसी भी समाज में वहाँ की संस्कृति के आधार पर प्रमुख या आधारभूत (Basic) व गौण (Subsidiary) बनती हैं। अतः जो संस्थायें एक समाज में प्रमुख या आधारभूत (Basic) हैं, वे ही संस्थायें दूसरे समाज में संस्कृति की भिन्नता के कारण गौण (Sudsibiary) हो सकती हैं। उदाहरण के लिए रोमन ऍम्पायर (Roman Empire) के समय 'सर्कस' (Circus) की संस्था को प्रमुख (Basic) समझा जाता था, जबकि भारत में इस संस्था को गौण (Subsidiary) समझा जाता है।

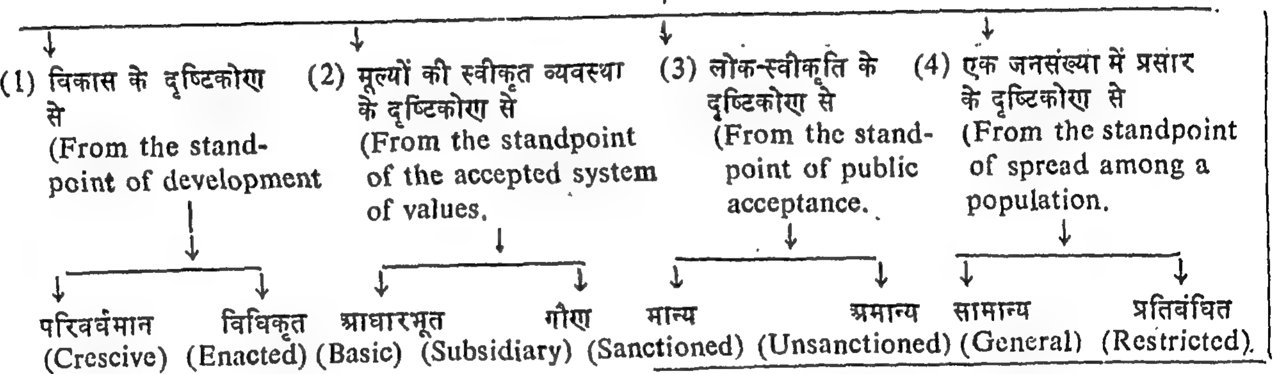
कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार संस्थाओं का निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है।

1. सामाजिक मान्यता पाने वाली संस्थायें (Socially sanctioned Institutions)

2. सामाजिक अमान्यता पाने वाली संस्थायें (Socially unsanctioned Insti tutions)

प्रथम प्रकार की संस्थाओं में वे सभी संस्थायें आती हैं जो कि सामाजिक नियमों के अनुसार समाज में कार्य करती हैं। इस प्रकार ये संस्थायें समाज में नियन्त्रण-शक्ति की द्योतक होती हैं। मानव-व्यवहार भी इन संस्थाओं के द्वारा पूर्ण निश्चित व नियन्त्रित होता है।

गिलिन एवं गिलिन ने 'कल्चरल सोश्योलॉजि' में संस्थाओं के प्रकारों का एक वर्गीकरण (Classification) प्रस्तुत किया है जो निम्नलिखित है—



दूसरी ओर समाज में कुछ ऐसी भी संस्थायें प्रचलित हो गयी हैं जो कि सामाजिक नियमों व प्रतिमानों के विरुद्ध कार्य करती हैं। वास्तव में ये संस्थायें संख्या में कम होने पर भी समाज में विघटन के तत्वों को जन्म देती हैं। उदाहरण के लिए व्यवसाय एक सामाजिक मान्यता-प्राप्त संस्था है और 'रैकिट' (Racket) एक असामाजिक संस्था है, जो कि सामाजिक नियमों के अनुसार कार्य नहीं करती।

सामान्यतया प्रत्येक समाज में अधिकतर प्रथम प्रकार की ही संस्थायें होती हैं, लेकिन आज के विशाल व वैज्ञानिक समाज में सामाजिक परिवर्तनों के कारण दूसरे प्रकार की संस्थायें भी मिल जाती हैं। 'रैकिट' जो कि आधुनिक हर बड़े नगरों में प्रचलित है, एक अनैतिक संस्था है।

गिलिन और गिलिन लिखते हैं कि हर समाज में कुछ संस्थायें ऐसी होती हैं जो कि सामान्य (General) होती हैं जिन पर राज्य का नियन्त्रण नहीं होता, इसके विपरीत कुछ संस्थायें राज्य द्वारा नियन्त्रित (Restricted) होती हैं।

कुछ लोगों ने संस्थाओं के निम्नलिखित दो और प्रकार प्रस्तुत किये हैं—

1. **क्रियात्मक संस्थायें** (Operative Institutions)
2. **नियमनात्मक संस्थायें** (Regulative Institutions)

प्रथम प्रकार की संस्थाओं को औद्योगीकरण के संगठन के लिए आवश्यक मानते हैं, और **द्वितीय** प्रकार की संस्थाओं को मानव-व्यवहारों व प्रथाओं आदि पर नियन्त्रण रखने के लिए अनिवार्य मानते हैं। कानूनी संस्थाओं को हम इनके अन्तर्गत रख सकते हैं।

संस्था और समिति :

(Institution and Association)

समाज के संस्थात्मक स्वरूप को हमने उपर्युक्त विचारों में विभिन्न रूप से देखने का प्रयत्न किया है। वास्तव में संस्था एक ऐसा सामाजिक जनरीतियों का संगठन है कि उसे सरलता से प्रभावित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार अन्य कई और भी संगठन हैं, जो संस्था के समान समाज में अपना स्थायी अस्तित्व बनाये हुए हैं। इसमें समिति प्रमुख है। संस्था के सर्वांगीण अध्ययन के लिए हमें संस्था और समिति का तुलनात्मक अध्ययन करना भी आवश्यक है। संस्था और समिति में हम निम्नलिखित समानतायें और असमानतायें देखते हैं :

1. **समानतायें** (Likeness)—समिति क्या है और समाज में इसका क्या स्वरूप है ? यह तो हम संक्षिप्त रूप से पीछे बता आये हैं, लेकिन संस्था से समिति का सम्बन्ध जानना हमारे लिए इस संदर्भ में भी आवश्यक है। सबसे प्रमुख समानता का सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है और इस दृष्टि से हम देखते हैं कि संस्था और समिति

दोनों ही व्यक्ति के द्वारा निर्मित होती हैं। इसलिए ये दोनों मनुष्य की कृति मानी हैं।

दूसरे, हम एक और समानता इन दोनों विचारों में यह देखते हैं कि इनके द्वारा समाज-हित का ध्यान विशेष रूप से रखा जाता है। सामाजिक हित की पूर्ति के लिए ही संस्था और समिति दोनों का जन्म हुआ है।

तीसरे, हम संस्था और समिति में उद्देश्यों की समानता पाते हैं। सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इनका अस्तित्व निरन्तर रहता है। व्यक्तिगत दृष्टि से दोनों विचार हानिप्रद हैं।

2. असमानतायें (Differences)—इन समानताओं के साथ-साथ हमें संस्था और समिति में असमानतायें भी देखने को मिलती हैं। इस दृष्टि से सर्वप्रथम हम यह देखते हैं कि संस्था सामाजिक नियमों का एक संग्रह है तो दूसरी ओर समिति एक मनुष्यों का संगठन है। संस्था अमूर्त रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से केवल भावात्मक और वैचारिक आधार पर समाज का नियन्त्रण करती है और समिति प्रत्यक्ष रूप से समाज-हित के कार्यों में संलग्न रहती है।

संस्था अधिकांशतः स्वतः उत्पन्न होती है। अपने आप मन में ऐसे विचार उत्पन्न होने लगते हैं कि प्राकृतिक रूप से उन विचारों की निरन्तरता और स्थायित्व विकसित होता जाता है। इसके ठीक विपरीत समिति मनुष्यों द्वारा बनायी और बिगाड़ी जाती है। संस्था स्थायी रूप से समाज का आलिंगन कर लेती है और समिति अस्थायी रूप से। समिति केवल स्वार्थों की पूर्ति के उपरान्त नष्ट हो जाती है।

वास्तव में यह विचारों की दुनिया कितनी अभूतपूर्व है। एक विचार ही किस प्रकार समाज का कल्याण और समाज का विनाश कर सकता है। इतना ही नहीं, सदा-सदा के लिए एक लघु-सा विचार समाज की एक महान् संस्था बनकर शताब्दियों पर्यन्त भी समाप्त नहीं होता है। संस्था इन विचारों का ही विशाल वृक्ष है। आधुनिक युग में यद्यपि व्यक्तिगत विचारधाराओं के कारण इनकी श्रेष्ठता का ह्रास होता जा रहा है और व्यक्ति अनेक संस्थाओं को तोड़कर व्यक्तिवादिता के विकास में अपने कदम आगे बढ़ा रहे हैं।

यद्यपि समिति और संस्था दोनों के ही समान उद्देश्य हैं—"मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना"। फिर भी इन दोनों में अन्तर बताते हुए प्रो. गिसबर्ट (Gisbert) लिखते हैं, "समितियाँ वे सामग्री हैं जिनसे सामाजिक जीवन बनता है, जब कि उनके अनुरूप संस्थायें वे गतिशील तत्त्व हैं जो उनको जीवन और गति देते हैं। समितियाँ वस्तुयें हैं, संस्थायें तरीके और व्यवहार हैं। हम समितियों में पैदा होते हैं और रहते हैं, परन्तु हम संस्थाओं के द्वारा चलते और काम करते हैं।"

इस प्रकार गिसबर्ट ने बहुत ही सुन्दर व स्पष्ट अन्तर संस्था और समिति में किया है। हम साधारणतया इन दोनों में निम्नलिखित अन्तर कर सकते हैं :

1. समिति का कोई निश्चित ढाँचा नहीं होता, परन्तु संस्था का एक निश्चित ढाँचा होता है। क्लब का कोई भी रूप हो सकता है, परन्तु प्रत्येक समाज में विवाह व परिवार का एक विशेष रूप होता है।
2. समिति की स्थापना किसी निश्चित उद्देश्य के लिए की जाती हैं। उद्देश्य की पूर्ति के बाद समिति समाप्त हो जाती है, परन्तु संस्थायें सदैव जीवित रहती हैं। उनका ढाँचा अपेक्षाकृत स्थिर (Parmanent) होता है।
3. जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है कि समिति के उद्देश्य निश्चित होते हैं जैसे नाइट क्लब का उद्देश्य मनोरंजन है। परन्तु संस्था प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करती है। उसके उद्देश्य निश्चित नहीं किये जाते। परिवार मनुष्य की अनेक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है, फिर भी उसके उद्देश्य निश्चित नहीं हैं।
4. समिति के नियम ऐच्छिक होते हैं, परन्तु संस्था के नियम ऐच्छिक नहीं होते।
5. समिति की सदस्यता छोड़ी जा सकती है। क्लब की सदस्यता से कभी भी लौटा जा सकता है, परन्तु संस्थाओं से इस प्रकार लौटा नहीं जा सकता। वे ऐच्छिक नहीं हैं।
6. समिति एक मूर्त्त समूह है, संस्था एक अमूर्त्त साधन है। मैकाइवर के अनुसार "समिति सामान्य हित या हितों की पूर्त्ति के लिए एक संगठित समूह है, परन्तु संस्था इन हितों की पूर्त्ति का साधन है।"
7. समिति आपसी सहयोग पर निर्भर है, जबकि संस्था मनुष्यों की क्रियाओं पर निर्भर है।
8. समिति के अपने विशेष व स्पष्ट नाम होते हैं, संस्थायें चिह्नों से पहिचानी जाती हैं।

मैकाइवर एवं पेज ने बताया कि प्रत्येक समिति का एक संस्थापक पक्ष होता है। इन समाजशास्त्रियों ने निम्नलिखित तालिका के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि समितियों के साथ उनसे सम्बन्धित संस्थायें भी होती हैं—

समिति (Association)	संस्थागत विशेषतायें (Characteristic Institutions)	विशेष हित (Special Interests)
परिवार	विवाह, घर, उत्तराधिकार	यौन सम्बन्ध, घर, वंशावली

महाविद्यालय	व्याख्यान, परीक्षा-प्रणाली, स्नातकत्व	शिक्षण, व्यावसायिक तैयारी
व्यापार	हिसाब-किताब प्रणाली, संस्थापन, अंश-पूंजी	लाभ
व्यापारिक संघ (मजदूर संघ)	सामूहिक सौदेबाजी, हड़ताल, धरना	नौकरी की सुरक्षा, मजदूरी-दरें, काम की दशायें
चर्च, (धार्मिक समिति)	सम्प्रदाय, धर्म, भ्रातृत्व, उपासना की विधियाँ	धार्मिक विकास
राजनीतिक दल	प्राथमिक इकाइयाँ, दल-यन्त्र, राजनीतिक मंच	कार्यालय, शक्ति, सरकारी नीति
राज्य	विधान, वैधानिक संहिता, सरकार के स्वरूप	सामाजिक व्यवस्था, सामान्य नियमन

समाजीकरण
(Socialization)

'समाजीकरण' (Socialization) की अवधारणा समाजशास्त्रीय शब्दावली की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी बनाया जाता है। मानव-शिशु जन्म के समय अस्थि-मांस का एक ढाँचा मात्र होता है तथा वह किसी भी मानव-समाज में भाग लेने योग्य नहीं होता है। जन्म के समय में मानव-शिशुओं एवं पशु-शिशुओं में अनेक समान वृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। पशुओं में जो मूल वृत्तियाँ एवं संवेग होते हैं, वे ही मनुष्यों में भी होते हैं। नवजात शिशु को अन्य वस्तुओं से स्वतन्त्र अपने शरीर के अस्तित्व का न तो आभास ही होता है और न ही वह किसी चीज के बारे में जानता है। हैरी जॉनसन (Harry Jahnson) लिखते हैं कि "सम्पत्ति के अधिकार का विचार, आक्रमणशील आवेग-संवेगों का नियमन और तर्कपूर्ण विचार नवजात शिशु के लिए उतने ही अजनबी हैं, जितने कि वे सूरजमुखी फूल के लिए।"[1]

1. Harry M. Johnson : Sociology ; A Systematic Introduction ; p. 110

किन्तु शनैः-शनैः मानव-शिशु मानव-समाज के पूर्ण सदस्य के रूप में विकसित होता रहता है। उसमें सामाजिक चेतना जाग्रत होने लगती है और वह समाज के नियमों, परम्पराओं, कार्य-प्रणालियों को समझना शुरू कर देता है। यह मानवोचित गुणों का विकास 'सीखने की प्रक्रिया' (Learning Process) का परिणाम है। यह सीखने की प्रक्रिया ही **समाजीकरण** है। इस प्रकार 'समाजीकरण' एक ऐसी प्रक्रिया है जो व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी के रूप में परिवर्तित करती है। इसी प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति समाज के मानदण्डों के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है।

समाजीकरण का अर्थ एवं परिभाषायें :

(Meaning and Definitions of Socialization)

'समाजीकरण' (Socialization) की अवधारणा का प्रथम प्रयोग अँग्रेजी भाषा में *1828* ई० के लगभग प्रारम्भ हुआ। शाब्दिक दृष्टि से इसका अर्थ **'नवजात शिशु को सामाजिक व्यक्ति बनाने की प्रक्रिया'** से है।[1] इसके दो पक्ष हैं—

1. **व्यावहारिक** (Applied)—**व्यावहारिक** दृष्टि से इसका अभिप्राय बच्चों के लालन-पालन की समस्या से है अर्थात् अपने बच्चों का पालन-पोषण इस प्रकार किया जाय कि वे अपने समाज के सक्षम सदस्य बन सकें।[2]

2. **सैद्धान्तिक** (Theoretical)—**सैद्धान्तिक** दृष्टि से हम इसमें यह समझने का प्रयास करते हैं कि किस तरह सामाजिक परिस्थितियों में व्यक्तियों की जैविक क्षमताओं, स्वत्व (Self), व्यक्तित्व एवं सामाजिक दृष्टि से अर्थपूर्ण व्यवहारों का विकास होता है।

अर्थशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत समाजीकरण का सूत्रपात 'मार्क्सवाद की व्याख्याओं' से हुआ है। यहाँ समाजीकरण का आशय सम्पत्ति पर समाज के अधिकार से लगाया जाता है। समाजशास्त्र में समाजीकरण का आशय इससे पृथक् है। इसमें सामाजिक मानदण्डों के सीखने की प्रक्रिया को समाजीकरण कहा जाता है।

किम्बाल यंग (Kimball Young) ने समाजीकरण को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है। आपने समाजीकरण के तीन भिन्न अर्थों को स्पष्ट किया है।[3]

1. समाज-सुधारक एवं उपदेशक के अर्थ में,
2. बच्चों को सामाजिक प्रशिक्षण देने के अर्थ में एवं

---

1. Kingsley Davis : Human Society ; p. 167.
2. Zigler & Child : Socialization ; Quoted from Lindzey Aronson (ed.) The Hand Book of Social Psychology ; p. 450.
3. Kimball Young : Personality and Problems of Adjustment ; p. 123.

3. समाजीकरण का समाजशास्त्र में प्रयोग ।

समाजशास्त्र में समाजीकरण का प्रयोग उन प्रक्रियाओं के लिए होता है जिनके द्वारा व्यक्ति को सामाजिक-सांस्कृतिक संसार से परिचित कराया जाता है। इस अर्थ में समाजीकरण वह विधि है जिसके द्वारा संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किया जाता है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने समूह एवं समाज के मूल्यों, जनरीतियों, लोकाचारों, आदर्शों एवं सामाजिक उद्देश्यों को सीखता है। समाजीकरण की विभिन्न परिभाषाओं से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी।[1]

इस प्रकार **किम्बाल यंग** (Kimball Young) के अनुसार, "समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रवेश करता है तथा समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है और जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्यों और मानकों (Standards) को स्वीकार करने की प्रेरणा मिलती है।"[2]

ए. डब्ल्यू. ग्रीन (A. W. Green) ने अपनी कृति 'सोश्योलॉजी' में समाजीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक सांस्कृतिक विशेषताओं, स्वत्व (Selfhood) और व्यक्तित्व को प्राप्त करता है।"[3] इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि समाजीकरण के द्वारा बालक संस्कृति की विशेषताओं को सीखता है, उनके अनुसार अपने आचरण को ढालता है और अपने व्यक्तित्व का विकास करता है।"

हैरी एम. जॉनसन के अनुसार, "समाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओं का निर्वहन करने के योग्य बनाती है।"[4] इस प्रकार जॉनसन समाजीकरण को सीखने की प्रक्रिया मानते हैं जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपनी भूमिकाओं को निभाना सीखता है।

गिलिन और गिलिन अपनी पुस्तक **'कल्चरल सोश्योलॉजी'** में लिखते हैं कि "समाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह में एक क्रियाशील सदस्य बनता है, समूह की कार्यविधियों से समन्वय स्थापित करता है, उसकी परम्पराओं का ध्यान रखता है और सामाजिक परिस्थितियों से

---

1. **Kimball Young** : Ibid. p. 123.
2. **Kimball Young** : A Hand Book of Social Psychology ; p. 89.
3. **A. W. Green** : Sociology ; p. 127.
4. **Harry M Johnson** : Sociology: A Systematic Introduction ; p. 110.

अनुकूलन करके अपने साथियों के प्रति सहन-शक्ति की भावना विकसित करता है।"[1]

स्टोवर्ट एवं ग्लिन (Stovert & Glynn) के अनुसार, 'समाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोग अपनी संस्कृति के विश्वासों, अभिवृत्तियों, मूल्यों और प्रथाओं को ग्रहण करते हैं।"[2]

स्टोवर्ट एवं ग्लिन ने आगे अपनी इसी कृति में समाजीकरण के तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित हैं—

1. **अन्त:क्रिया** (Interaction)
2. **भाषा** (Language) एवं
3. **भावात्मक स्वीकृति** (Emotional Acceptance)

1. **अन्त:क्रिया** (Interaction)— दूसरों के साथ अन्त:क्रिया करने के दौरान ही व्यक्ति सही व्यवहार करना सीखता है। वह अपने अधिकारों, कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का ज्ञान प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में वह समाज द्वारा स्वीकृत और अस्वीकृत व्यवहारों का ज्ञान प्राप्त करता है।

2. **भाषा** (Language)—भाषा सीखने की प्रक्रिया को आधार प्रदान करती है और सरल बना देती है। भाषा अवधारणाओं व विचारों के संचार का साधन है।

3. **भावात्मक स्वीकृति** (Emotional Acceptance)—मानव के सामान्य विकास के लिए स्नेह एवं भावात्मक लगाव होना आवश्यक है। इसके अभाव में समाजीकरण की प्रक्रिया मन्द हो जाती है। समाजीकरण के ये तीनों ही तत्त्व परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित एवं पूरक होते हैं।

टॉलकट पारसन्स (Talcott Parsons) समाजीकरण को मूल्यों का आत्मसात्करण कहते हैं। व्यक्ति समाजीकरण के द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखता ही नहीं, उनको हृदयंगम् भी करता है। इस तरह से मूल्य उसके मस्तिष्क व व्यक्तित्व की स्थायी निधि बन जाते हैं जिससे एक विशिष्ट प्रकार की सामाजिक स्थिति में वह सदा वैसा ही व्यवहार करता है।

उपर्युक्त पारिभाषिक विवेचना से यह स्पष्ट है कि समाजीकरण सामाजिक अन्त:क्रियाओं पर आधारित वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक व्यवहारों को स्वीकार करना और उनसे अनुकूलन करना सीखता है। इसके माध्यम से वह सामाजिक मानदण्डों को सीखकर एक जैविक प्राणी से सामाजिक प्राणी के रूप में

---

1. Gillin & Gillin : Cultural Sociology ; p. 643.
2. Stovert & Glynn : Introduction to Sociology ; p. 59.

परिवर्तित होता है। यहाँ सीखने से तात्पर्य केवल समाज के स्वीकृत मूल्यों, मानदण्डों एवं मान्यता-प्राप्त आचरणों को सीखने से ही है।

समाजीकरण की विशेषतायें
(Characteristics of Socialization)

उपर्युक्त पारिभाषिक एवं अवधारणात्मक विवेचना के वाद अब हम समाजीकरण की प्रमुख विशेषताओं को समझेंगे—

समाजीकरण की निम्नांकित प्रमुख विशेषतायें हैं—

1. **समाजीकरण एक आजीवन प्रक्रिया है** (Socialization is a Life-long Process)–समाजीकरण की प्रक्रिया शिशु के जन्म से लेकर मृत्यु तक चलने वाली एक प्रक्रिया है। बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक व्यक्ति अनेक प्रस्थितियाँ धारण करता है और उनके अनुसार अपनी भूमिकाओं का निर्वहन करना सीखता है। बचपन में वह पुत्र, भाई, मित्र आदि के रूप में अन्य लोगों से व्यवहार करना सीखता है। युवा होकर वह पति, पिता, व्यवसायी, किसी संगठन का पदाधिकारी एवं अन्य अनेक पदों को ग्रहण करता है। वृद्ध होने पर वह दादा, नाना, श्वसुर आदि पद धारण करता है और इन सभी पदों के अनुरूप भूमिकाओं का निर्वहन करना सीखता है। इस प्रकार व्यक्ति के सामने नयी-नयी परिस्थितियाँ एवं पद आते हैं और वह उनके अनुसार समाज द्वारा मान्य व्यवहारों को सीखता जाता है। इस प्रकार समाजीकरण की प्रक्रिया एक आजीवन चलने वाली है प्रक्रिया है।

2. **समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है** (Socialization is a Process of Learning)—समाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है, किन्तु सभी प्रकार की बातें सीखना समाजीकरण नहीं है, वरन् उन व्यवहारों को जो सामाजिक प्रतिमानों, मूल्यों एवं समाज द्वारा स्वीकृत हैं, सीखना ही समाजीकरण है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति चोरी करना, गाली देना व खून करना आदि सीखता है तो उसे हम समाजीकरण नहीं कहेंगे, क्योंकि ये क्रियायें न तो समाज द्वारा स्वीकृत हैं और न ही इन्हें सीखकर व्यक्ति समाज का क्रियाशील सदस्य बनता है।

3. **समाजीकरण समय व स्थान सापेक्ष है** (Socialization is Related to Time and Space)–समाजीकरण की प्रक्रिया समय व स्थान सापेक्ष है। समय-सापेक्ष का अर्थ है कि दो भिन्न-भिन्न समयों में समाजीकरण की अन्तर्वस्तु (Content) अलग-अलग हो सकती है। उदाहरण के लिए, प्राचीन भारत में स्त्रियों को पर्दा व घूँघट रखना सिखाया जाता था, एक व्यक्ति को अपनी जाति के खान-पान के नियम से परिचित कराया जाता था, किन्तु वर्तमान समय में ये व्यवहार अपेक्षित नहीं हैं। इसी प्रकार बड़ों का अभिवादन करने के लिए बच्चों को प्रणाम करना आदि सिखाया जाता था, किन्तु अब गुडमॉर्निंग, टॉटा, वॉय-वॉय, गुड नाइट आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

समाजीकरण स्थान-सापेक्ष भी है। इसका अर्थ यह है कि एक स्थान पर एक समाज में जो व्यवहार प्रशंसनीय माना जाता है, वही व्यवहार दूसरे समाज में निन्दनीय भी माना जा सकता है। **किंग्सले डेविस** कहते हैं कि अफ्रीका की मसाई जनजाति में एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए एक-दूसरे पर 'थूकना' सिखाया जाता है, किन्तु यह व्यवहार भारत में अनुचित एवं निन्दनीय माना जाता है।

4. **समाजीकरण समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बनने की प्रक्रिया है** (Socialization is a Process of becoming a Functioning Member of Society)—समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति सामाजिक कार्यों में भाग लेने-योग्य बनता है। इसी के द्वारा वह प्राणिशास्त्रीय प्राणी से सामाजिक प्राणी में बदल जाता है। किस पद पर रहकर किस परिस्थिति में कैसे व्यवहार करना चाहिए, यह सब सामाजिक सम्पर्क से ही सीखा जाता है। सामाजिक सम्पर्क से ही व्यक्ति लोगों की अपेक्षाओं के अनुरूप व्यवहार करता है। **हारालोम्बोस** कहते हैं कि "समाजीकरण के अभाव में कोई मनुष्य समाज का सामान्य सदस्य नहीं बन सकता।"

5. **समाजीकरण संस्कृति को आत्मसात् करने की एक प्रक्रिया है** (Socialization is a Process of Culture Assimilation)–इस प्रक्रिया के द्वारा एक व्यक्ति सांस्कृतिक मूल्यों, मानकों एवं समाज-स्वीकृत व्यवहारों को सीखता है तथा संस्कृति के भौतिक तथा अभौतिक तत्त्वों को आत्मसात् करता है। धीरे-धीरे यह संस्कृति व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग बन जाती है।

6. **समाजीकरण 'आत्म' का विकास करता है** (Socialization Develops the Self)—समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति के 'आत्म' का विकास होता है। व्यक्ति में अपने प्रति जागरूकता आती है और वह यह जानने लगता है कि दूसरे व्यक्ति उसके बारे में क्या सोचते हैं।

7. **समाजीकरण सांस्कृतिक संचरण में सहायक होता है** (Socialization is Helpful in Cultural Transmission)—समाजीकरण के द्वारा एक समूह अथवा समाज अपनी संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाता है अर्थात् नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से संस्कृति ग्रहण करती है। **किंग्सले डेविस** कहते हैं कि "संचारित करने की इस प्रक्रिया के बिना समाज अपनी निरन्तरता को न तो बनाये रख सकता है और न ही संस्कृति जीवित रह सकती है।"

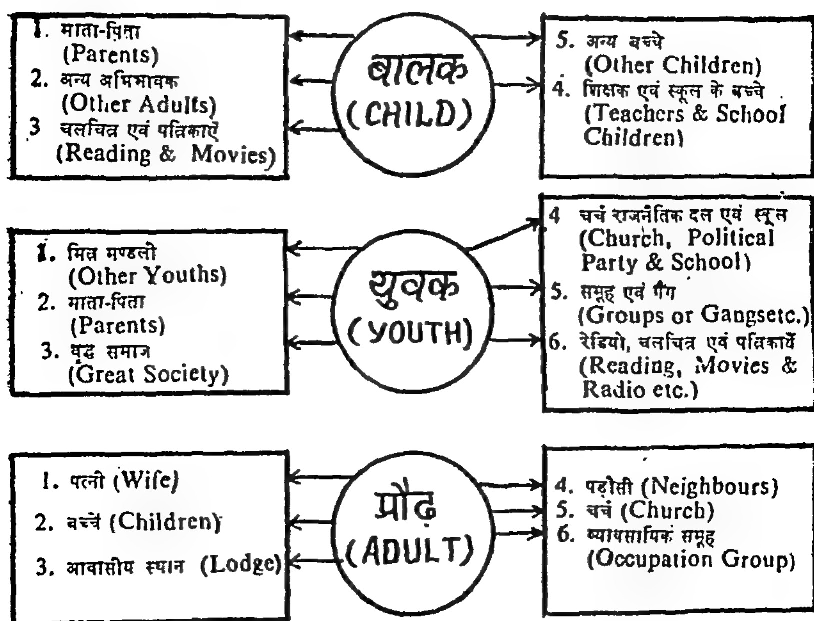
समाजीकरण की प्रक्रिया :
(Process of Socialization)

'समाजीकरण' का आशय व्यक्ति को 'सामाजिक' बनाने की प्रक्रिया से है, अतएव व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति की शैशवावस्था से प्रारम्भ होकर जीवन-पर्यन्त चलती है।

गिलिन एवं गिलिन (Gillin & Gillin) ने व्यक्ति के समाजीकरण की समस्त प्रक्रिया को तीन सोपानों ने व्यक्त किया है—[1]

1. वालक का समाजीकरण (Socialization of the Child)
2. युवक का समाजीकरण (Socialization of the Young)
3. प्रौढ़ का समाजीकरण (Socialization of Adult)

इसे निम्नलिखित चित्र द्वारा समझा जा सकता है—



हैरी. एम. जॉनसन ने मौखिकावस्था से लेकर किशोरावस्था तक समाजीकरण की प्रक्रिया के चार सोपानों का उल्लेख किया है [2] जो निम्नांकित हैं—

1. मौखिकावस्था—(The Oral Stage)
2. शैशवावस्था—(The Anal Stage)
3. गुप्तावस्था—(The Latency)
4. किशोरावस्था—(The Adolescence)

1. **मौखिकावस्था** (The Oral Stage)—मौखिकावस्था में वालक अन्य लोगों से मौखिक निर्भरता स्थापित करता है। जन्म के समय उसे विभिन्न दुःखमयी

1. Gillin & Gillin : Op. cit. ; p. 643-648
2. Harry M. Johnson : Op. cit. ; p. 122-132

परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। एक नये पर्यावरण में उसे अनुकूलन करना होता है। साँस लेना, पेट भरना, गर्मी और ठण्ड से बचना आदि उसकी कुछ नैसर्गिक आवश्यकताएँ होती हैं जिनके लिए वह रोता-चिल्लाता है। शनैः-शनैः उन संकेतों को देना सीखता है जिससे उसकी आवश्यकताएँ पूरी हों। समाजीकरण की इस प्रथम अवस्था में केवल माँ से ही वह अन्तःक्रिया करता है। वैसे परिवार के अन्य सदस्यों के लिए भी बालक एक 'सम्पदा' की भाँति होता है। अतः परिवार के सभी सदस्य इस स्तर पर बालक के साथ वही व्यवहार करते हैं जो व्यवहार उस परिस्थिति में उसके लिए एक माँ करेगी। फ्रायड ने इस स्तर को प्राथमिक परिचय का स्तर कहा है। इस स्तर पर ऐसा लगता है कि माता और बच्चे की भूमिकायें मिली हुई हैं। हैरी जॉनसन ने लिखा है कि "इस समय भूख पर कुछ नियन्त्रण होने लगता है और शिशु को माता के साथ शारीरिक सम्पर्क के 'उद्दीपन' भाव की धूमिल-सी अनुभूति होने लगती है।"

2. शैशवावस्था (The Anal Stage)–जॉनसन के अनुसार समाजीकरण की दूसरी अवस्था शैशवावस्था है। विभिन्न समाजों में इस स्तर का काल भिन्न-भिन्न है। वैसे सभी समाजों में यह स्तर एक वर्ष से पाँच वर्ष के बीच की अवधि का माना जाता है। इस स्तर पर बच्चे अपनी माँगों को करना प्रारम्भ करते हैं। अपनी सफाई करना, स्वयं 'शौच' करना आदि बच्चों को बताया जाता है। जॉनसन ने लिखा है कि "इस स्तर पर विशेष रूप से बालक से यह अपेक्षा की जाने लगती है कि वह अपने आपको थोड़ा बहुत स्वयं सम्भाले।" शैशवावस्था में विशेष ध्यान शौच-प्रशिक्षण पर दिया जाता है। इस सोपान में बालक दो भूमिकाओं को अपने लगाता है—स्वयं की और अपनी माँ की भूमिका, जिसे वह अपने से भिन्न करने लग जाता है। बालक की केवल देखभाल ही नहीं होती, उसे प्यार भी मिलता है और वह भी उत्तर में प्यार देता है। इसी स्तर पर बालक को सही और गलत के बीच भेद करना सिखाया जाता है। सही कार्यों के लिए एक ओर जहाँ उसे प्यार पुरस्कार मिलता हैं, वहीं पर गलत कार्यों के लिए उसे ताड़ना भी दी जाती है। बालक शैशवावस्था में परिवार के अन्य सदस्यों जैसे–पिता, भाई, बहिन आदि के साथ भी अन्तःक्रिया करता है और पारिवारिक व्यवहार-प्रतिमानों को अपनाता है। माँ की भूमिका इस स्तर पर भी बच्चे के समाजीकरण में महत्त्वपूर्ण होती है। जॉनसन ने लिखा है कि "माँ बालक के सन्दर्भ में साधक नेता है, क्योंकि अभी भी वह उसकी विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुख्य रूप से उत्तरदायी है। बालक का इस तस्र पर योगदान मुख्यतः भावात्मक होता है, क्योंकि कम आयु का होने के कारण वह दूसरों के किसी काम को सम्पन्न कराने में योगदान नहीं दे पाता।"[1]

---

1. Harry M. Johnson : Ibid. ; p. 122-132

3. **गुप्तावस्था** (The Oedipus Stage and Latency)–यह स्तर चार वर्ष से प्रारम्भ होकर युवा होने तक (बारह या तेरह वर्ष की आयु) तक रहता है। यह आयु स्थान के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती है। इस स्तर पर बालक पूरे परिवार का सदस्य हो जाता है। इस स्तर पर बालक से यह आशा की जाती है कि वह चारों भूमिकाओं, पति-पिता, पत्नी-माता, पुत्र-भाई और पुत्री-बहन, को सम्पादित करें। यदि लड़का है तो पति-पिता, पुत्र-भाई की भूमिका और यदि लड़की है तो पत्नी-माता तथा पुत्री-बहिन की भूमिका। बालक गुप्तावस्था में अपनी माँ से एक उद्दीपन लगाव रखता है। वह न केवल उससे प्रेम करता है, इस अर्थ में कि वह उसे प्रसन्न करना चाहता है और माँ के चले जाने पर वह वियोग भोगता है, लेकिन इस अर्थ में भी कि माँ के संसर्ग में आने से उसे दैहिक सुख मिलता है। बच्चे के लिए माँ के प्रति लगाव समाजीकरण के लिए महत्त्व का है, क्योंकि माँ बालक के उचित व्यवहार के लिए दैहिक सम्पर्क का पुरस्कार देती है।

गुप्तावस्था में ही बच्चों में 'तादात्म्य' की भावना विकसित होती है जिसके अन्तर्गत लड़का अपने पिता से **'ईर्ष्या'** और माँ से **'प्रेम'** तथा लड़की अपनी माँ से **'ईर्ष्या'** तथा पिता से **'प्रेम'** करती है। इसी चीज को **फ्रायड** ने **'ओडिपस कॉम्पलेक्स'** (मातृ मनोग्रन्थि) [**ओडिपस कॉम्पलेक्स** (Oedipus Complex) वह भावना है जिसे लड़का अपने पिता के प्रति रखता है तथा **'इलेक्ट्रा कॉम्पलेक्स'** (पितृ मनोग्रन्थि) (Electra Complex) वह भावना है जिसे लड़की अपने पिता के प्रति रखती है]–के द्वारा व्यक्त किया है। इस स्तर पर बच्चे के ऊपर दबाव भी डाले जाते हैं ताकि वह अपने लिंग-भेद (Sex) के आधार पर एक विशेष प्रकार का व्यवहार करे। लड़कों को उस व्यवहार के लिए पुरस्कृत किया जाता है जो लड़कों के लिए उचित है; इसी प्रकार लड़कियों को भी उनके उचित व्यवहार के लिए पुरस्कृत किया जाता है। बालक स्कूल जाता है और वहाँ अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए वह नयी माँगों के अनुसार उनकी पूर्ति का स्वयं प्रबन्ध करता है। उसे अपनी मित्र-मण्डली या क्रीड़ा-समूह (Peer-group) में एक नये ढंग से कार्य करना पड़ता है जहाँ माँ तथा परिवार के अन्य लोगों का निर्देश उसको नहीं मिल पाता। इस स्तर पर विपरीत लिंग में रुचि अप्रकट अथवा गुप्त होती है।

4. **किशोरावस्था** (Adolescence)—समाजीकरण की प्रक्रिया का अन्तिम स्तर जॉनसन के अनुसार किशोरावस्था को माना जाता है। यह स्तर यौवनारम्भ के समय ही प्रारम्भ होता है। इस स्तर पर बालक अथवा बालिका माता-पिता के नियन्त्रण से न्यूनाधिक अंशों में मुक्त होते हैं। उनकी यह आन्तरिक इच्छा होती है कि वे स्वतन्त्र रूप से व्यवहार करें और उन पर कोई प्रतिबन्ध न हो। माता-पिता इस स्तर पर भी पूर्ववत् नियन्त्रण बनाये रखना चाहते हैं। इस स्तर पर बालक-बालिकाओं में दो प्रकार की मनोदशा पायी जाती है :—

1. प्रतिबन्धों के प्रति धैर्यहीन होकर स्वतन्त्र व्यवहार करना,
2. अधिक अंशों की स्वतन्त्रता से भयभीत रहना।

इस अवस्था में किशोर से यह आशा की जाती है कि वह अपने बारे में स्वयं निर्णय ले, लेकिन साथ-साथ यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह निर्णय परम्परागत हो तथा सामाजिक व्यवहार-प्रतिमान से मेल खाता हो। किशोर को न केवल परिवार के सदस्यों के साथ अपितु पास-पड़ौस, विद्यालय तथा अन्य द्वैतीयक समूहों के सदस्यों से सामंजस्य स्थापित करना होता है। यह किशोरावस्था एक तनाव का काल होता है। पश्चिमी जगत् में तो इस स्तर पर एक किशोर आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होकर अपना अलग परिवार भी बसाता है। इस स्तर पर किशोर से यह पूरी आशा की जाती है कि वह अपने सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण के अनुरूप पूरी तरह से व्यवहार करे।

हैरी जॉनसन ने स्वयं लिखा है कि "समाजीकरण की प्रक्रिया निरन्तर चला करती है। वयस्कों का भी समाजीकरण होता है और मृत्यु के समय तक व्यक्ति का समाजीकरण होता रहता है।" वयस्कों का समाजीकरण निम्नलिखित कारणों से आसान होता है :

1. वयस्क साधारणतया उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने को प्रेरित होता हैं जिसके बारे में वह पहले से जानता है या जिसको वह स्वयं देख चुका है।
2. जिस नयी भूमिका को वह आत्मसात् करने की चेष्टा करना चाहता है, उसमें और उसके व्यक्तित्व में पहले से ही उपस्थित भूमिकाओं में काफी समानतायें होती हैं एवं उसके पूर्व-व्यवहारों में समानता पायी जाती है।
3. उसे भाषा का ज्ञान हो जाता है जिससे वह चीजों को जल्दी सीख जाता है एवं उन्हें ठीक से सम्प्रेषित (Communicate) कर सकता है।

लुण्डबर्ग (Lundberg) ने अपनी पुस्तक 'सोश्योलॉजि' (Sociology) में समाजीकरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "व्यक्ति का व्यवहार जब समाज के अनुरूप होता है तो उसे समाजीकरण के द्वारा व्यक्त किया जाता है। इसे हम अग्रलिखित चित्र से भी समझ सकते हैं—

व्यक्ति × समाज = व्यवहार
(Individual) × (Society) = (Behaviour()

व्यक्ति और समाज की अन्त:क्रिया के परिणामस्वरूप जो व्यवहार निर्मित होता है, उसे निम्नलिखित चार्ट में व्यक्त किया जाता है :

निर्माणक तत्त्व (Constituent Units)		परिणाम (Consequences)
व्यक्ति →	समाज →	व्यवहार (समाजीकरण)
1. व्यक्ति की सीखने की क्षमता→	समाज का आदर्श→	ज्ञान का सृजन,
2. व्यक्ति की संवेदनात्मक क्षमता→	सामाजिक अवसरों की प्राप्ति→	योग्यता का विकास तथा प्रदर्शन
3. व्यक्ति की प्रतीकात्मक क्षमता→	समाज की स्वीकृत व्यवस्था, पुरस्कार एवं दण्ड →	प्रेरणा

स्पष्ट है कि व्यक्ति जब समाज के अनुरूप व्यवहार प्रारम्भ कर देता है तो हम उसे उसके समाजीकरण से व्यक्त करते हैं। जैसा कि ऊपर के चार्ट से विदित है कि पहली अवस्था में व्यक्ति जब अपने सीखने की क्षमता को समाज के आदर्शों के अनुरूप मोड़ देता है तो ज्ञान का सृजन होता है। व्यक्ति जब अपनी संवेदनात्मक क्षमता के अनुरूप अवसर प्राप्त करता है तो वह अपनी योग्यता का प्रदर्शन करता है। व्यक्ति अपनी प्रतीकात्मक क्षमता के द्वारा स्वीकृत सामाजिक व्यवहारों को स्वयं करके दूसरों को प्रेरणा प्रदान करता है ताकि अन्य भी समाजोचित व्यवहार करें।

जॉनसन ने उपर्युक्त चार अवस्थाओं का ही उल्लेख किया है, किन्तु हम यहाँ तीन अन्य अवस्थाओं का भी उल्लेख कर रहे हैं :

1. युवावस्था (Youth Stage)
2. प्रौढ़ावस्था (Mature Stage)
3. वृद्धावस्था (Old Stage)

यहाँ हम इनका संक्षिप्त वर्णन करेंगे—

1. युवावस्था (Youth Stage)—समाजशास्त्रियों व मनोवैज्ञानिकों ने किशोरावस्था तक चार सोपानों का ही अधिक अध्ययन किया है, क्योंकि सामान्यतः यह सोचा जाता है कि इन अवस्थाओं के पार करने तक अधिकांश सामाजिक भूमिकाओं का प्रशिक्षण पूरा हो जाता है, व्यक्ति सामान्य मूल वृत्तियों का आत्मसात्करण कर लेता है और उसका एक बुनियादी व्यक्तित्व (Basic personality) विकसित हो जाता है, जिसमें आगे परिवर्तन की सम्भावनायें अति न्यून रह जाती हैं। यद्यपि बुनियादी व्यक्तित्व के कारण आगामी अवस्थाओं में समाजीकरण अति कठिन नहीं होता है, फिर भी कुछ परिवर्तन व सामंजस्य की क्रियायें जीवन-पर्यन्त चलती ही हैं। युवावस्था का प्रारम्भ उस समय माना जाता है जबकि व्यक्ति सैद्धान्तिक प्रशिक्षण के पश्चात् उत्तरदायित्वों के व्यावहारिक क्षेत्र में प्रवेश करता है।

2. प्रौढ़ अवस्था (Mature Stage)—युवा व वयस्क अवस्था में विशेष अन्तर नहीं किया जा सकता। वयस्क में परिपक्वता कुछ अधिक आ जाती है और उसके उत्तरदायित्व भी कुछ बढ़ने लगते हैं। जब व्यक्ति के बच्चे हो जाते हैं तो उसके मस्तिष्क में पितृत्व की भूमिका व उत्तरदायित्व उभरने लगते हैं। जब बच्चे बड़े हो जाते हैं तो उनकी शिक्षा, विवाह आदि का भार भी बढ़ने लगता है। तब उसके किशोर व युवावस्था के आदर्श कठिन यथार्थ के सामने टूटते नजर आते हैं, और उसकी भावुकता तथा जोश का स्थान तार्किक व्यवहार ले लेता है। ये परिवर्तन भी कष्टदायक हो सकते हैं।

3. वृद्धावस्था (Old Stage)—वृद्धावस्था को पूर्वावस्थाओं का विलोम या प्रतिवाद (Negation) माना जाता है। सामान्यतः यह सोचा जाता है कि परिपक्व और अनुभवी वृद्धों को पढ़ाया नहीं जा सकता। दूसरा विचार यह है कि इस अवस्था तक आते-आते व्यक्ति अपने मुख्य पारिवारिक उत्तरदायित्व पूरे कर लेता है और अब वह अपनी ओर देखना शुरू कर देता है। इसके सम्भवतः दो मुख्य कारण हैं: प्रथम, शारीरिक व द्वितीय, सामाजिक। शारीरिक दृष्टि से बुढ़ापे और शिशु अवस्था में एक प्रकार की सदृश्यता है। क्षीणकारी शारीरिक परिवर्तनों के कारण क्षमतायें और आकांक्षायें भी घट जाती हैं, तब व्यक्ति बाहर की अपेक्षा भीतर झांकने लग जाता है।

समाजीकरण के साधन या अभिकरण
(Agencies of Socialization)

समाजीकरण की प्रक्रिया को विभिन्न साधनों या अभिकरणों द्वारा कार्यान्वित किया जाता है। इन साधनों में से कुछ तो इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके अभाव में व्यक्ति का मानवोचित विकास सम्भव नहीं है। **किम्बाल यंग** ने लिखा है कि "समाज के अन्तर्गत समाजीकरण के विभिन्न साधनों में परिवार सबसे महत्त्वपूर्ण है। परिवार के अन्तर्गत माता-पिता ही साधारणतया सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होते हैं। समाजीकरण के अन्य साधनों में पड़ौस, सगे-सम्बन्धी प्राथमिक समूहों के सदस्य तथा बाद में द्वितीयक समूहों के सदस्य आते हैं।"[1]

समाजीकरण के साधनों अथवा **अभिकरणों** को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

1. **प्राथमिक साधन** (Primary Agencies)
2. **द्वितीयक साधन** (Secondary Agencies)

1. प्राथमिक साधन :
(Primary Agencies)

समाजीकरण के प्राथमिक साधनों में हम परिवार, मित्र-समूह, पड़ौस, नातेदारी-समूह, शैक्षणिक समूह आदि को सम्मिलित करते हैं। यहाँ हम इनका विस्तार से वर्णन करेंगे।

1. परिवार (Family)—समाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण है। ऐसे कुछ उदाहरण किग्सले डेविस एवं मेकाइवर व पेज ने दिये हैं कि जो बच्चे जन्म के समय ही अपने परिवार से अलग हो गये, उनमें मानवोचित विकास अथक प्रयत्न के बाद भी सम्भव नहीं हो सका। जन्म के बाद के

---

1. Kimball Young : op. cit, p. 89

प्रथम तीन वर्ष मानवोचित गुणों के विकास के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं और इस अवधि में बालक का सम्पर्क उसके परिवार के सदस्यों से ही होता है। जॉनसन ने अपनी कृति में लिखा है कि "परिवार विशेष रूप से इस प्रकार संगठित रहता है जिससे समाजीकरण सम्भव हो पाता है।"[1] समाजीकरण के प्रथम चरण की महत्ता को बतलाते हुए किम्बाल यंग ने लिखा है कि इस सम्बन्ध में साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि प्रारम्भिक समाजीकरण ही मौलिक एवं मूलभूत होता हैं, अपेक्षाकृत उन सभी चीजों के जो बाद में सीखी जाती हैं।[2]

संक्षेप में परिवार व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक विशेषताओं का उद्‌गम-स्रोत है।

2. मित्र-समूह (Peer Group)—समाजीकरण का दूसरा प्रमुख अभिकरण बालकों का मित्र-समूह या क्रीड़ा-समूह है। बच्चों का क्रीड़ा-समूह समान आयु का समूह होता है। बच्चों पर उनके साथ खेलने वाले बच्चों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। बच्चे का व्यवहार या आचरण क्रीड़ा-समूह के बच्चों के द्वारा ही प्रभावित होता है। यहाँ बच्चे को विभिन्न आदतों, अभिरुचियों और स्वभाव के अन्य बालकों के साथ अनुकूलन करना पड़ता है। क्रीड़ा-समूह में बच्चे को अपने व्यवहार की प्रत्यक्ष व स्पष्ट आलोचना सुनने को मिलती है। इसी से बच्चे में अपनी इच्छाओं को नियन्त्रित करने एवं उनका दमन करने की शक्ति विकसित होती है। खेल में विजय एवं पराजय में बच्चे में दो महत्त्वपूर्ण सामाजिक गुणों का विकास होता है—शासन करने अथवा नेतृत्व करने का गुण तथा कभी-कभी परिस्थिति के अनुसार अनुकूलन करने का गुण। इसी के द्वारा बालक में समाज में अनुकूलन करने की क्षमता विकसित होती है।

3. पड़ौस-समूह (Neighbour Group)—समाजीकरण का एक और महत्त्वपूर्ण अभिकरण 'पड़ौस-समूह' है। पड़ौसियों के सम्पर्क में आने के बाद बालक पड़ौसी बच्चों व पड़ौसी लोगों के व्यवहारों का अनुकरण करना सीखता है।

पड़ौस में बालकीय मनोरंजन, नाटक, संगीत आदि सांस्कृतिक कार्यक्रम भी होते हैं जो बालकों व संरक्षकों दोनों के लिए सुखद होते हैं। हमारे देश में होली, दीपावली, दशहरा आदि उत्सवों पर पड़ौसी बालक अति मनोरंजक व उत्साहवर्द्धक कार्यक्रम करते हैं जिससे उनकी सांस्कृतिक व सामाजिक प्रतिभा बढ़ती है। इस प्रकार बालकों की शारीरिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक विकास में पड़ौस एक लघु समुदाय की मूल्यवान् भूमिकायें निभाता है।

युवा, वयस्क एवं प्रौढ़ अवस्थाओं में व्यक्ति का औपचारिक शिक्षा और रोजगार में व्यस्त रहने के कारण पड़ौस से सम्बन्ध टूट जाता है, लेकिन वृद्धा-

---

1. Harry M. Johnson : op. cit., p. 89
2. Kimball Young : op. cit., p. 120

वस्था में जबकि व्यक्ति सक्रिय उत्तरदायित्वों से अवकाश ले लेता है, पड़ौस पुनः उसका कार्यस्थल बन जाता है और बाल्यावस्था के साथी फिर महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। वृद्ध अपना अधिकांश समय पड़ौसी मित्रों के साथ पूर्व-जीवन की चर्चा करने व खेलने में बिताता है।

4. **नातेदारी समूह** (Kinship Group)– बच्चों के सगे-सम्बन्धी जिस प्रकार के होंगे, उसका प्रभाव भी उनके समाजीकरण पर पड़ता है। विभिन्न उत्सवों, पर्वों तथा अन्य सामाजिक कृत्यों में बालक अपने रिश्तेदारों से मिलते हैं और विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। अधिकांश बच्चे उनके विचारों से प्रभावित होकर उसी प्रकार का व्यवहार करने लगते हैं जैसा कि उनके रिश्तेदार करते हैं। इस प्रकार समाजीकरण के लिए नातेदारी-समूह के महत्त्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

5. **शैक्षणिक संस्थायें** (Educational Institutions)—समाजीकरण में शिक्षण-संस्थायें मुख्यतः चार दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण हैं—(1) ये युवा संस्कृति (Youth Culture) और मित्र-मण्डलियों के निर्माण-स्थल हैं, (2) औपचारिक व्यवस्था-बोध के प्राथमिक स्रोत हैं, (3) परिवर्तित मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में ये जनसाधारण के ज्ञानवर्द्धन और (4) स्थिति-सुधार के एक मात्र मान्य एवं अपरिहार्य साधन हैं।

विद्यालय में बालक के मस्तिष्क पर उसके सहपाठियों एवं शिक्षकों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। विद्यालय वह स्थान होता है जहाँ बच्चे में नूतन विचार प्रस्फुटित होते हैं। यहाँ वह पुस्तकों एवं शिक्षकों से अनेक नवीन बातों की जानकारी प्राप्त करता है। यहाँ उसकी आदतों को परिपक्वता मिलना प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ वह भिन्न आयु एवं भिन्न लिंग (Sex) के व्यक्तियों के भी सम्पर्क में आता है। विद्यालय में ही बच्चे को अनुकूलनशीलता, आज्ञाकारिता, अनुशासन, सहकारिता एवं आत्म-निर्भरता का पाठ पढ़ाया जाता है, जो सामाजिक जीवन के मूलाधार होते हैं।

2. द्वितीयक साधन :
(Secondary Agencies)

व्यक्ति के समाजीकरण में द्वितीयक साधनों का भी प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है, वह इन द्वितीयक साधनों के सम्पर्क में अधिक आता जाता है और उसका जीवन इन्हीं साधनों द्वारा निर्देशित होने लगता है। इन द्वितीयक साधनों के अन्तर्गत जाति, वर्ग, राष्ट्रीयता, राष्ट्र, राजनीतिक दल, आर्थिक समूह, धार्मिक समूह, भाषा समूह तथा व्यावसायिक समूह आदि को सम्मिलित किया जाता है। इन सभी साधनों के प्रभावों के परिणाम-स्वरूप व्यक्ति नये-नये विचारों को अपनाता है जिसके कारण उसकी परम्परागत जीवन-प्रणाली में परिवर्तन आ जाता है।

कुछ प्रमुख द्वितीयक अभिकरण जो समाजीकरण के लिए आवश्यक माने जाते हैं, निम्नलिखित हैं—

1. आर्थिक समूह (Economic Groups)–आधुनिक समाजों में आर्थिक समूहों की महत्ता निरन्तर बढ़ रही है। व्यक्ति को आर्थिक जीवन में सफल बनने के लिए अनेक आर्थिक समूहों से अनुकूलन करना पड़ता है। कुछ समाजों में तो उच्च सामाजिक प्रस्थिति की प्राप्ति भी धन पर केन्द्रित होती है जिसके लिए व्यक्ति को प्रयास करना पड़ता हैं। व्यक्ति जिन औद्योगिक स्थानों में कार्य करता है, वहाँ कार्यरत लोगों से अनुकूलन व्यक्ति की सफलता के लिए आवश्यक होता है। आज उन समाजों में भी जिनको धर्म-प्रधान समाज की संज्ञा दी जाती रही है, लोगों का झुकाव भौतिक साधनों की प्राप्ति की ओर अधिक होता जा रहा है।

2. धार्मिक समूह (Religious Groups)—धार्मिक समूहों का व्यक्ति के जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिस समाज में जो धर्म प्रचलित है, उसकी जो आचार-संहिताएँ हैं, उनके आधार पर उस समाज की सामाजिक व्यवस्था निर्मित होती है। एक समाज समृद्ध है अथवा गरीब, यह भी उस समाज के धर्म के आचार पर निर्भर करता है। लोगों का झुकाव भौतिक व्यवहार की ओर अधिक होगा अथवा नैतिक, यह भी धर्म पर आश्रित होता है। भारतवर्ष की सामाजिक व्यवस्था पवित्रता तथा सदाचरण की अवधारणा पर आधारित रही है जो हिन्दू धर्म का मुख्य सार है। आज के युग में नैराश्य से मुक्ति पाने के लिए धार्मिक समूहों का योगदान आवश्यक माना जा रहा है।

3. सामाजिक समूह (Social Groups)—सामाजिक समूहों में हम प्रमुख रूप से जाति एवं वर्ग के समूहों को रख सकते हैं। प्रत्येक समाज में सामाजिक स्तर के प्रमुख आधार जाति और वर्ग की महत्ता होती है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह जरूरी होता है कि वह जाति अथवा वर्ग, जिसका कि वह सदस्य है, के अनुरूप व्यवहार करें। भारतवर्ष में जाति-पंचायतों के द्वारा जाति से बहिष्कृत करने की प्रथा रही है। यह दण्ड उन लोगों को दिया जाता था जो कोई बड़ा अपराध करते थे। ऐसा माना जाता था कि ऐसा करने से व्यक्ति का व्यक्तित्व, जिसका बहिष्कार किया गया है, कुण्ठित हो जायेगा। व्यक्ति जातिगत अथवा वर्गगत व्यवहारों को करके सामाजिक संगठन की सुदृढ़ता तथा उसकी निरन्तरता को बनाये रखता है। व्यक्ति को किस प्रकार का व्यवहार करना है, इसका निर्देश उसे अपनी जाति अथवा वर्ग से प्राप्त होता है। प्रजाति (Race) को भी सामाजिक समूह के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्रजातीय व्यवहारों की भी महत्ता रही है। ऐसे व्यक्ति जो जाति, वर्ग तथा प्रजाति आदि से अनुकूलन नहीं कर पाते, उन्हें जीवन में कठोर संघर्ष का सामना करना पड़ता है तथा जीवन में असफल रहना पड़ता है।

4. **सांस्कृतिक समूह** (Cultural Groups)—संस्कृति जीवन की पूर्णता है। भाषा, ज्ञान, विश्वास, साहित्य, कला, संगीत आदि सभी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। व्यक्ति की सम्पूर्ण गतिविधियाँ संस्कृति के अन्तर्गत आ जाती हैं। व्यक्ति के समाजीकरण अथवा व्यक्तित्व के निर्धारण में संस्कृति का योग महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सांस्कृतिक समूह व्यक्ति को संस्कृति के तत्त्वों का ज्ञान कराकर उसके समाजीकरण में योग देते हैं।

5. **राजनीतिक समूह** (Political Groups)–आज सभी समाजों में राजनीतिक समूहों का महत्त्व बढ़ रहा है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेना स्वाभाविक है। राजनीतिक दल सरकार के स्वरूप को तय करते हैं, सरकारी नीति सामाजिक व्यवस्था को संशोधित करती है। इन्हीं राजनीतिक समूहों के सम्पर्क के कारण व्यक्ति एक नागरिक के दायित्वों को जानकर उन्हें व्यावहारिक रूप देता है। व्यक्ति के अधिकार और दायित्व क्या हैं ? उसे क्या करना है और क्या नहीं करना है ? आदि प्रश्नों के उत्तर वह अपने राजनीतिक समूह से ग्रहण करता है। किसी समाज का राजनीतिक समूह ही उस समाज के भावी स्वरूप को तय करता है। राजनीतिक समूहों का अनुकरण एक सफल नागरिक की भूमिका निभाने के लिए आवश्यक होता है।

6. **मनोरंजनात्मक समूह** (Recreational Groups)—व्यक्ति अपने औद्योगिक तनाव तथा अवैयक्तिक सम्बन्धों की घुटन से बचने के लिए मनोरंजनात्मक समूह की ओर देखता है। नाटक, कीर्तन, भजन, नृत्य आदि के माध्यम से व्यक्ति उन व्यवहारों को भी अपनाता है जो उसे आदर्शात्मक लगते हैं। इन विभिन्न अभिकरणों के माध्यम से व्यक्ति के व्यवहारों को एक निश्चित सामाजिक मोड़ प्रदान होता है, ताकि वे पूरी तरह समाजीकृत हो सकें।

समाजीकरण के उपर्युक्त साधनों या अभिकरणों को निम्नांकित चित्र द्वारा भली भाँति समझा जाता है–

समाजीकरण के अभिकरण
(Agencies of Socialization)

प्राथमिक अभिकरण (Primary Agencies)	द्वितीयक अभिकरण (Secondary Agencies)
1. परिवार	1. आर्थिक समूह
2. मित्र या क्रीड़ा-समूह	2. धार्मिक समूह
3. पडौस	3. सामाजिक समूह
4. नातेदारी समूह	4. सांस्कृतिक समूह
5. शैक्षणिक संस्थायें	5. राजनीतिक समूह
	6. मनोरंजनात्मक समूह

समाजीकरण के सिद्धान्त :
(Theories of Socialization)

अनेक समाजशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों ने समाजीकरण के प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। ये सिद्धान्त व्यक्तियों में 'स्व' या 'आत्म' के विकास (Development of the Self) के आधार पर निरूपित किये गये हैं। 'स्व' (Self) का आशय व्यक्तियों के स्वयं के बारे में ज्ञान से लगाया जाता है, गर्व या घमण्ड से नहीं। प्रमुख रूप से समाजीकरण के निम्नलिखित चार सिद्धान्त अधिक महत्त्वपूर्ण हैं—

1 कूले का आत्म-दर्पण-सम्बन्धी सिद्धान्त।
(Cooley's Theory of Looking Glass Self);
2. मीड का आत्मवादी सिद्धान्त
(Mead's Theory of I & Me);
3. फ्रायड का श्रेष्ठ अहम् का सिद्धान्त
(Freud's Theory of Super Ego);
4. दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त
(Durkheim's Theory of Collective Representation);

अब हम इन सिद्धान्तों का अलग-अलग विवेचन करेंगे।

1. कूले का आत्म-दर्पण का सिद्धान्त
(Cooley's Theory of Looking Glass 'Self')

चार्ल्स कूले ने व्यक्ति तथा समाज को एक-दूसरे से अन्तःसम्बन्धित करते हुए मानव-व्यवहार का अध्ययन किया है। आपके विचार में ये दोनों अवधारणाएँ कोई पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं। इससे पूर्व कि 'आत्म' या 'स्व' (Self) को देखने के दर्पण सिद्धान्त की व्याख्या की जाय, यह आवश्यक है कि 'स्व' अथवा 'आत्म' (Self) को समझ लेना चाहिए। समाजीकरण के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कूले ने 'स्व' तथा 'व्यक्तित्व' इन दोनों तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण माना है। बालक में 'स्व' का विकास ही समाजीकरण की आधारशिला है। व्यक्ति और समाज अभिन्न हैं, अतएव व्यक्ति का स्वभाव काफी सीमा तक सामाजिक अनुबन्ध (Social Contract) तथा अनुभवों (Experiences) से संचालित होता है।

मनुष्य के व्यक्तित्व (Personality) में 'आत्म' का प्रमुख स्थान होता है। इसी के चारों ओर व्यक्तित्व के अन्य लक्षण केन्द्रित होते हैं। मनुष्य जब अपने 'स्व' या 'आत्म' के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेता है, तभी वह अपना सम्बन्ध अपने चारों ओर अथवा बाहरी दशाओं से स्थापित करता है। 'आत्म' का अर्थ 'मानव-प्रकृति' (Human Nature) से है। इसका विकास अन्य व्यक्तियों के साथ सम्पर्क से होता है।

व्यक्ति जब दूसरों के सामाजिक सम्पर्क में आता है, तभी वह दूसरों से अपने बारे में जानकारी प्राप्त करता है कि आखिर उसके बारे में अन्य लोगों के क्या विचार हैं ? जब तक दूसरों से सम्पर्क नहीं होता है, तब तक हमें 'स्वयं' की वास्तविकता का आभास नहीं होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति अपने बारे में समूह के अन्य लोगों से बुराई ही सुनता है तो उसके मन में हीनता या ग्लानि (Inferiority) उत्पन्न होती है, परन्तु यदि समूह के सदस्य किसी व्यक्ति के व्यवहार की प्रशंसा करते हैं तो वह अपने बारे में एक अच्छी धारणा या प्रवरता की भावना (Superiority) की स्थापना कर लेता है।

दूसरे शब्दों में, किसी के व्यवहार के विषय में दूसरे लोगों में जो विचार-धाराएँ अथवा धारणायें (Images) बनती हैं, वे ही उस व्यक्ति के 'आत्म' की निर्धारक (Determinants) होती हैं, ऐसी कूले की मान्यता है। इसी सन्दर्भ में आपने दूसरों के विचारों, मनोवृत्तियों तथा धारणाओं को ही व्यक्ति के उस दर्पण या आइने (Looking glass 'Self') का रूप प्रदान कर दिया है जिसमें वह अपनी वास्तविकता को जैसा कि उसे दूसरे लोग समझते हैं, एक परछाई या प्रतिबिम्ब के रूप में उसी प्रकार देखता है जैसा कि आइना या दर्पण अपने सामने रखकर हम उसमें अपनी छाया के रूप में अपनी मुखाकृति देखते हैं। यदि हमारे मुँह पर कोई दाग या निशान है या हमारे बाल बिखरे हैं तो उन्हें भी दर्पण प्रतिबिम्बित करता है। अपने लक्षणों या हाव-भावों को भी हम उस दर्पण में देख लेते हैं।

'आत्म' या 'स्व' भी इसी प्रकार का दर्पण है जिसमें अन्य लोगों की हमारे बारे में धारणाएँ परछाई के रूप में दिखायी पड़ने लगती हैं। हम इस आधार पर अपने बारे में अनुमान लगा पाते हैं। इसी के द्वारा अपनी कमियों को हम दूर करने का प्रयास करते हैं, आवश्यक सामाजिक गुणों को विकसित करते हैं तथा अपने चारों ओर पाये जाने वाले समूह या समाज से अनुकूलन (Adaptation) करते हैं और अपने को सामाजिक पर्यावरण के अनुरूप बनाने की कोशिश करते हैं।

'स्व' के मानसिक तत्व:
(Psychic Elements of Self)

बोगार्डस (Bogardus) ने बताया कि कूले के अनुसार इस 'स्वयं' को देखने के दर्पण में तीन स्पष्ट मानसिक तत्त्व पाये जाते हैं।

1. अपने बारे में दूसरे व्यक्तियों की धारणा
2. उस धारणा के आधार पर अपने बारे में मूल्यांकन की कल्पना एवं
3. अपने बारे में गौरव या ग्लानि की अनुभूति होना।

इनकी संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से प्रस्तुत की जाती है—

1. दूसरे व्यक्तियों की धारणा (Imagination of one's appearance to another person)—अन्य व्यक्तियों के साथ सम्पर्क में आने पर किसी भी

व्यक्ति को विभिन्न प्रकार के अनुभव होते हैं। इन्हीं पर वह अपने बारे में दूसरों की धारणा आधारित करके अपनी स्थिति का मूल्यांकन कर लेता है। दूसरों की बातचीत, हास्य-व्यंग्य, भाव-आकृतियाँ, सम्बोधन के ढंग, इत्यादि ही के दर्पण में व्यक्ति अपनी स्थिति को निर्धारित करता है।

2. **अपने विषय में मूल्यांकन** (Imagined estimation of that appearance by the other person)—दूसरों से अपने विषय में धारणाओं की जानकारी होने पर व्यक्ति उन धारणाओं के विभिन्न पक्षों के बारे में अन्य लोगों से पता लगाने का और अपने बारे में निर्णय करने का प्रयास करता है। इस प्रकार व्यक्ति अपने बारे में अन्य लोगों के द्वारा विकसित धारणाओं की पुष्टि (Confirmation) करता है।

3. **गौरव या ग्लानि की अनुभूति** (A sense of pride or chagrin felt by first person)—व्यक्ति जब निश्चित रूप से अन्य लोगों के द्वारा व्यक्त धारणाओं के आधार पर अपना मूल्यांकन कर लेता है, तभी उसे या तो श्रेष्ठता की अनुभूति होती है, अर्थात् उसे अपने विषय में अच्छा लगता है और वह प्रसन्न तथा गौरवान्वित अनुभव करता है या उसे हीनता की अनुभूति होती है अर्थात् वह अपने विषय में ग्लानि का अनुभव करता है।

इस प्रकार 'स्व' या 'आत्म' (Self) के अन्तर्गत ही व्यक्ति में सुख-दुःख, आशा-निराशा या प्रोत्साहित अथवा निरुत्साहित होने इत्यादि की मनोवृत्तियाँ पनपती हैं। कूले ने कहा है कि 'किसी वीर व्यक्ति की उपस्थिति में अपने को भयभीत, कमजोर या पलायनवादी अनुभव करके, अथवा किसी शिष्ट और सभ्य व्यक्ति की दृष्टि में अपने को जटिल अनाड़ी व असभ्य पाकर इत्यादि दशाओं में हम लज्जित होते हैं।[1]

अरनोल्ड रोज़ ने अपनी कृति 'सोश्योलॉजि' में एक उदाहरण दिया है। वे लिखते हैं कि "एक ऐसी लड़की हो सकती है जो स्वयं को काफी सुन्दर समझती है, नियमित रूप से सौन्दर्य-प्रसाधनों (Cosmetics) का प्रयोग करती है। बिना मेकअप के कभी बाहर नहीं निकलती तथा अपनी प्रशंसा का भी बढ़ा-बढ़ाकर बखान करती है एवं अपनी आलोचना पर ध्यान नहीं देती है। समूह के अन्य लोग उसे सुन्दर नहीं समझते। रोज़ का कहना है कि ऐसे लोग स्वयं को गलत दिशा में डालते हैं और सामाजिक व्यक्तित्व से दूर होते जाते हैं। अन्ततोगत्वा उन्हें समूह के साथ सामञ्जस्य करना ही पड़ता है।"

इस प्रकार यही कहा जा सकता है कि कूले का यह सिद्धान्त व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करने तथा उस पर समूह के अन्य सदस्यों के द्वारा बनायी

---

1. Charles Cooley : Social Organization, p. 152

गयी धारणाओं को लागू करने के माध्यम से उसकी व्यक्तिगत और सामूहिक क्रियाओं को एक दिशा प्रदान करता है और उसके 'आत्म' या 'स्व' की झाँकी में उसे अपने प्रति विकसित हुई धारणाओं का आभास कराता है।

2. मीड का आत्मवादी सिद्धान्त
(Mead's Theory of 'I' & 'Me')

'स्व' के विकास के विषय में मीड के विचार कूले के विचार से कुछ भिन्न हैं। मीड के अनुसार 'आत्म-चेतना' ही 'स्व' को प्राथमिक संरचना एव आधार प्रदान-करती है। आत्म-चेतना मुख्य रूप में चेतनात्मक है, न कि भावात्मक। दूसरे शब्दों में मीड के अनुसार आत्म-चेतना (Self-consciousness) 'स्व' की संरचना का आधार है, न कि स्वयं के विचार (Self Feeling)। 'स्व' की चेतना सामाजिक अन्तः-क्रियाओं से उत्पन्न होती है। स्वयं मानव-बुद्धि केवल सामाजिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न होती है। अतएव स्वयं के विकास में मानव-मस्तिष्क का होना आवश्यक है, न कि कूले द्वारा बताये गये भावात्मक 'स्व' के विचार का।

'स्व' की उत्पत्ति और विकास कैसे होता है? इस सम्बन्ध में मीड का यह मत है कि 'स्व' की उत्पत्ति के लिए भाषा आवश्यक है। 'स्व' बच्चे के जन्म के समय शरीर के अंग के रूप में नहीं रहता है। इसका उदय सामाजिक अनुभव और क्रिया की प्रक्रिया से होता है। मानव-संगठन की क्षमता ही 'स्व' को अन्य वस्तुओं से अलग करती है। यह स्वयं में एक वस्तु है। 'स्व' की चेतना स्वयं के प्रति जागरूक रहती है, इस अर्थ में कि यह दूसरों के अनुभवों और क्रियाओं के प्रति चेतन रहती है। व्यक्ति को जिस प्रकार से स्वत्व (Selfhood) प्राप्त होता है, वह है भाषा के प्रयोग के माध्यम से दूसरों की भूमिका अपनाना। व्यक्ति अपनी स्मृति के माध्यम से स्वयं को देख सकता है और उस 'स्व' के अनुसार क्रिया करता है, ठीक उसी प्रकार जैसा कि भाषा के माध्यम से वह दूसरों की क्रियाओं और वाणी को देखता और सुनता है और उन क्रियाओं के अर्थ और भाषा जो उसके पास है, के अनुसार कार्य करता है। 'स्व' का निर्धारण सामाजिक होता है, क्योंकि 'स्व' का विकास दूसरों की क्रियाओं और दूसरों के सम्बन्ध में स्वयं की क्रियाओं के बीच पूर्ण रूप से अन्तः-क्रिया से होता है।

इस प्रकार भाषा की सहायता बच्चे द्वारा अपनायी गयी दूसरों की भूमिका, नाटक और खेल के द्वारा भी ली जाती है। नाटक और खेल के माध्यम से बच्चा अपने स्व के प्रति चेतन हो जाता है। नाटक में बच्चा एक भूमिका के बाद दूसरी भूमिका अदा करता है। इस प्रकार वह दूसरे की भूमिका को अदा करता है। अपनी भूमिका को अच्छी तरह निभाने के लिए उसे अपने-आपको भी भूमिका का एक अंग बनाना पड़ता है। लेकिन खेल में वह दूसरों की भूमिका का निर्वाह करता है। यदि उसे खेल में अपनी भूमिका को ठीक ढंग से निभाना है तो उसे अपने साथ

के खिलाड़ियों के संकेतों को समझना पड़ता है। इस प्रकार वह भूमिका ग्रहण करने के विचार को *सामान्यीकृत* करता है जिसे मीड ने **सामान्यीकृत अन्य** (Gereralised Others) का विचार कहा है। सामान्यीकृत अन्य की भूमिका अपनाकर व्यक्ति समाजीकृत हो जाता है, इस अर्थ में कि वह दूसरे व्यक्तियों के द्वारा प्रयोग किये गये प्रतीकों, भाव-भंगिमाओं और भाषा को समझता है और उनके अनुसार अपने व्यवहार को निर्देशित करता है। यह समाजीकृत अन्य उस सामाजिक समूह अथवा सम्प्रदाय के समरूप होता है जिससे कि हम सम्बन्ध रखते हैं। वे प्रतिक्रियायें नहीं हैं, वल्कि एक सामान्यीकृत अन्य के प्रति प्रतिक्रियायें हैं। हम सब लोग प्रायः ऐसा सोचते हैं, "यदि मैं ऐसा करूँ तो लोग क्या सोचेंगे ?" इस वाक्य में प्रयुक्त 'लोग' शब्द किसी विशेष व्यक्ति या व्यक्तियों को इंगित नहीं करता है, वल्कि एक 'सामान्यीकृत व्यक्ति' या 'सामान्यीकृत अन्य' को इंगित करता है जो हमारे साथियों की संस्था के साथ समरूप है।

मीड ने स्व का स्पष्टीकरण करते हुए दो अन्य शब्दों 'मैं' (I) और 'मुझे' (Me) का प्रयोग किया है। 'मैं' (I) और मुझे (Me) में अन्तर करते हुए मीड ने यह बताया है कि 'मैं' (I) दूसरों के विचारों के समूह की प्रतिक्रिया है और 'मुझे' (Me) दूसरों के विचारों का संगठित समूह है जिसे व्यक्ति धारण करता है अर्थात् 'मुझे' सामान्यीकृत अन्य के रूप में समाज की उपज है। यह समाज के साथ सहयोग रखता है। दूसरे शब्दों में 'मुझे' (Me) वह स्व है जिसके विषय में व्यक्ति जानता है। उदाहरण के लिए यदि वह क्रिकेट (Cricket) खेलता है तो वह अन्य सभी खिलाड़ियों के विचारों को जानता है। उनके विचारों के अर्थ को समझकर वह यह जान जाता है कि उससे क्या अपेक्षित है और यह ज्ञान उसके स्व के 'मुझे' (Me) का भाग है। लेकिन जो कुछ उसके द्वारा अपेक्षित है, उसे जानकर वह प्रतिक्रिया करता है अर्थात् वह अपने कार्यों के द्वारा अपने स्व के 'मुझे' (Me) वाले भाग के अनुसार प्रतिक्रिया करता है। कार्यों के द्वारा प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाला स्व 'मैं' (I) कहलाता है।

इस प्रकार मीड के अनुसार पूर्ण रूप से विकसित 'स्व' अथवा जिसे हम समाजीकृत व्यक्ति कहते हैं, वास्तव में दो स्व का सम्मिलन है। एक व्यक्ति की जैविक प्रकृति पर आधारित होता है और दूसरा स्व दूसरों के विचारों से युक्त होता है जिसे अपनी भूमिका का एक भाग मानकर उसने अपना वना लिया है। कभी-कभी व्यक्ति के अपने ही स्व के आवेग (Impulse) और सामाजिक भूमिका, जिसे उसने स्वीकार कर लिया है, के वीच संघर्ष होता है। पूर्ण रूप से समाजीकृत व्यक्ति वह है जिसने अपने 'मैं' (I) और 'मुझे' (Me) को इस प्रकार स्वीकृत कर लिया है कि जिससे उसके आवेग पूर्णरूप से दूसरों के विचारों के साथ मेल खाने लगते हैं और स्व के अन्दर संघर्ष नहीं होता है और व्यक्ति एकवद्ध स्व होता है। दोनों स्व 'मैं'

और 'मुझे'—जैविक व्यक्ति के ऊपर उसके सामाजिक दबावों के प्रभावों के परिणाम हैं। संक्षेप में इसको हम निम्नांकित सूत्र के माध्यम से समझ सकते हैं—

मैं+मुझ=समाजीकरण
(I+Me=Socialization)

3. सिगमण्ड फ्रायड का श्रेष्ठ अहम् का सिद्धान्त
(Freud's Theory of Socialization)

प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता सिगमण्ड फ्रायड (Sigmund Freud) ने भी समाजीकरण की प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक आधार पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है।[1] यद्यपि समाजीकरण को हम जिस अर्थ में समझते हैं, उस अर्थ से फ्रायड के विचारों का कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि गिलिन व गिलिन के अनुसार उसकी व्याख्या में समाजीकरण का सिद्धान्त निहित है। अतएव यहाँ हम संक्षेप में इस सिद्धान्त का विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

फ्रायड ने मानवीय मस्तिष्क के तन्त्र को तीन भागों में विभाजित किया है—(i) 'इड' (Id); (ii) इगो (Ego); (iii) सुपर इगो (Super Ego)।

समाजीकरण के सिद्धान्त की पुष्टि के लिए फ्रायड ने मानव-मस्तिष्क के तन्त्र के इन तीन भागों की क्रियाओं के आधार पर मनुष्य के सभी सामान्य व असामान्य व्यवहारों की व्याख्या की है। फ्रायड का कहना है कि व्यक्ति का व्यवहार इन तीनों के प्रभाव से निश्चित होता है। व्यक्ति के मस्तिष्क में इन तीनों तंत्रों—इड (Id), इगो (Ego) तथा सुपर इगो (Super Ego) में संघर्ष चलता रहता है और इस संघर्ष में जो विजयी होता है, व्यक्ति उसी के अनुरूप कार्य करता है। यहाँ हम प्रत्येक तन्त्र का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे—

(i) इड (Id) मस्तिष्क तन्त्र का प्रथम भाग 'इड' है। इड (Id) व्यक्ति के मस्तिष्क का अचेतन भाग है। इसकी व्याख्या स्पष्ट रूप से वास्तविकता के सम्बन्ध में नहीं की जा सकती। व्यक्ति की सम्पूर्ण इच्छाओं की सृष्टि 'इड' के द्वारा ही होती है। 'इड' में सभी प्रकार की कामनाएँ, इच्छाएँ, भावनाएँ, उद्वेग, वासनाएँ व प्रवृत्तियाँ अन्तर्निविष्ट होती हैं। 'इड' की प्रकृति पशुवत् होती है। यह मूलतः सदैव व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों को संतुष्ट करने का प्रयास करता है। यह क्रिया के परिणाम को नहीं सोचता। यह पूर्णरूपेण 'सुख-सिद्धान्त' (Pleasure-principle) द्वारा निर्देशित रहता है। मूल प्रवृत्तियों की संतुष्टि के लिए 'इड' किसी प्रकार के नियम-उपनियमों को नहीं जानता। वह तो किसी भी स्थिति में

---

1. Sigmund Freud : New Introductory Lectures on Psycha-Analysis. W. W. Norton and Co., New York, 1933, ch. 3.

अपनी इन मूल प्रवृत्तियों की सन्तुष्टि चाहता है। 'इड' के पास कोई मूल्य नहीं होते, वह भला-बुरा नहीं जानता, वह नैतिक बन्धन में भी नहीं है। वह तो केवल जैविक शरीर-रचना की मूलभूत प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करना चाहता है। उदाहरण-स्वरूप, भूख, प्यास, यौन, भय आदि मूल प्रवृत्तियों को लिया जा सकता है। इनकी संतुष्टि के लिए 'इड' (Id) क्रमशः भोजन, जल, पुरुष या स्त्री और सुरक्षा चाहता है।

(ii) इगो (Ego)—मस्तिष्क तन्त्र का द्वितीय भाग 'इगो' (Ego) है। फ्रायड के अनुसार 'इगो' का वास्तविकता से गहरा सम्बन्ध रहता है। 'इगो' में स्व-चेतन बुद्धि (Self-conscious Intelligence) है। 'इगो' प्रत्येक कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व उसका परिणाम सोचता है। अतः इससे चेतनता की प्रावकल्पना होती है। वस्तुतः यह एक ऐसा तन्त्र है जो वाह्य जगत् और आभ्यान्तरिक जगत् दोनों पक्षों को अवलोकित करता है। इसका सम्बन्ध तर्क तथा वितर्क से होता है। 'इड' की इच्छाओं की सन्तुष्टि में 'इगो' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। 'इगो' प्रत्येक बात को औचित्य की तुला पर तोलता है और यदि उचित समझता है तो 'इड' को उसे करने की अनुमति प्रदान करता है। इस प्रकार इगो' का मानव के व्यवहारों पर नियन्त्रण करने में वहुत वड़ा हाथ रहता है। 'इगो' मन का मुख्य शासक है।

सिगमन्ड फ्रायड के अनुसार 'इड' और 'इगो' का सम्बन्ध घोड़े और सवार के सम्बन्ध की तरह है। 'इगो' रूपी सवार 'इड' रूपी घोड़े को मंजिल तक ले जाता है। यद्यपि 'इगो' का सम्बन्ध वाह्य जगत् से तो अवश्य होता है, तथापि नैतिकता अथवा धर्म या आदर्श से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह 'इड' द्वारा प्रेरित इच्छाओं को सफलता-पूर्वक पूर्ण करने का मार्ग वताता है। यह आदर्शों को नहीं जानता, फिर भी मनुष्य को किसी कार्य के होने वाले परिणामों के प्रति सचेत करता है। अन्य शब्दों में 'इगो' तर्क और सावधानी पर विशेष जोर देता है। इस तरह 'इगो' को एक ही साथ त्रितत्त्वों—'इड', वाह्य जगत् और सुपर इगो (Super Ego) जिसकी वात को उसे सदैव ध्यान में रखना पड़ता है—का समायोजन करना पड़ता है।

(iii) सुपर इगो (Super Ego)—फ्रायड के अनुसार मस्तिष्क का तीसरा भाग 'सुपर इगो' है। 'सुपर इगो' का सम्बन्ध समाज के मूल्यों, नैतिक आदर्शों तथा मान्यताओं से होता है। समाज में जो भी रीति-रिवाज, मूल्य, नैतिक आदर्श प्रचलित हैं, वे सभी 'सुपर इगो' हैं। अन्य शब्दों में 'सुपर इगो' संस्कृति एवं सामान्यकों के अनुरूप होता है। 'सुपर इगो' व्यक्ति के व्यवहार के लिए मानदण्ड स्थापित करता है। इस प्रकार 'सुपर इगो' व्यक्ति के समाजीकरण की प्रक्रिया में प्रमुख रूप से सहायक है।

वास्तव में दुर्खीम जिसको सामूहिक प्रतिनिधित्व कहता है, मीड जिसको 'मुझे' (Me) कहता है, 'फ्रायड' उसी को 'सुपर इगो' कहता है। फ्रायड का मत है कि जब 'इगो' के संकेतानुसार 'इड' 'सुपर इगो' की बात मान लेता है तो यह समाजीकरण है। इस तरह फ्रायड के अनुसार इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा ही व्यक्ति का समाजीकरण होता है।

एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि आप बिना पैसे दिये मिठाई खाना चाहते हैं, तो फ्रायड के अनुसार मिठाई खाने की इच्छा 'इड' द्वारा प्रेरित है। इगो यह बात 'सुपर इगो' के सामने रखता है एवं सुपर इगो इसका तार्किक विश्लेषण करता है और इस प्रकार मिठाई खाने के विषय में कुछ निष्कर्ष निकालता है। अधिकांश लोगों का सुपर इगो उन्हें समाज-विरोधी कार्य करने की अनुमति नहीं देता है।

वस्तुतः 'सुपर इगो' (Super Ego) का विकास बालक में प्रारम्भ से ही अपने माता-पिता के द्वारा होता है। इस तरह माता-पिता बालक के व्यवहारों का मानदण्ड (Standard) निश्चित करते हैं तथा उसे समूह की संस्कृति के अनुरूप कार्य एवं व्यवहार करने की सीख देते हैं। यही सीख अथवा शिक्षा सुपर इगो का निर्माण करती है।

4. दुर्खीम का सामूहिक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त (Durkheim's Theory of Collective Representation)

इमाइल दुर्खीम ने समाजीकरण-सम्बन्धी अपने विचार अपनी 'Sociology and Philosophy' में प्रकट किये हैं। दुर्खीम ने अपने समाजीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन 'व्यक्ति' व 'समाज' के मध्य सम्बन्धों के सन्दर्भ में किया है। दुर्खीम का दृष्टिकोण पूर्णतः सामाजिक है।

दुर्खीम ने समाजीकरण-सम्बन्धी अपने विचारों को **'सामूहिक प्रतिनिधित्व'** (Collective Representation) तथा **'सामूहिक चेतना'** (Collective Consciousness) के आधार पर प्रकट किया है। अतः इन दोनों अवधारणाओं को समझे बिना दुर्खीम के समाजीकरण के सिद्धान्त को नहीं समझा जा सकता।

दुर्खीम के अनुसार, प्रत्येक समाज में कुछ विचार, धारणाएँ एवं भावनाएँ ऐसी होते हैं जिन्हें समाज के सभी सदस्य स्वीकार करते हैं। क्योंकि ये सभी के द्वारा मान्य होती हैं, इसलिए ये सारे समूह का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रारम्भ में इनका सम्बन्ध व्यक्तिगत चेतना से होता है, किन्तु सभी लोगों की पारस्परिक अन्तःक्रियाओं के कारण सामूहिक चेतना का निर्माण होता है जो सामूहिक प्रतिनिधित्व को जन्म देती है। सामाजिक परम्पराएँ, धर्म, रीति-रिवाज, प्रथाएँ, मूल्य एवं आदर्श

सामूहिक प्रतिनिधित्व के उदाहरण हैं। इन सभी का पालन किसी व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं होता, वरन् समूह अथवा समाज के सभी अधिकांश लोगों द्वारा होता है। अतः समूह के सभी लोग इनका पालन करते हैं, मानते हैं एवं उनके अनुसार आचरण करते हैं। सामूहिक प्रतिनिधित्वों का पालन करना व्यक्ति अपना दायित्व समझते हैं, इनके पीछे नैतिकता का दवाव होता है, समाज इन्हें मानने को व्यक्तियों को वाध्य करता है। इनकी अवहेलना करने पर सामूहिक प्रतिक्रिया होती है, दण्ड की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार समाज के रीति-रिवाजों, कानूनों, संस्थाओं, धर्म एवं आदर्शों आदि को सामूहिक जीवन के द्योतक होने के कारण ही 'सामूहिक प्रतिनिधान' अथवा प्रतिनिधित्व (Collective Representation) कहते हैं।

व्यक्ति इन सामाजिक प्रतिनिधानों को सीखते हैं, आत्मसात् करते हैं और उनके अनुरूप आचरण करते हैं। इससे व्यक्तियों का समाजीकरण होता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति द्वारा सामाजिक प्रतिनिधानों का आत्मसात् करना ही समाजीकरण है। व्यक्ति ज्यों-ज्यों सामाजिक प्रतिनिधानों को आत्मसात् करता जाता है, त्यों-त्यों उसका समाजीकरण होता जाता है। सामूहिक विचारों एवं धारणाओं को व्यक्ति किस प्रकार मानता है और उनके अनुसार आचरण करता है,

एक उदाहरण द्वारा इसे अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। एक व्यक्ति जव भीड़ में होता है तो वह वैसा ही व्यवहार करने लगता है जैसा दूसरे व्यक्ति कर रहे होते हैं। यदि भीड़ तोड़-फोड़, हिंसा व अनैतिकता पर उद्यत है तो उसमें सम्मिलित व्यक्ति वैसा ही करने लगते हैं। भीड़ से व्यक्ति की व्यक्तिगत इच्छा दव जाती है और उस पर सामूहिक इच्छा हावी हो जाती है। यही स्थिति समाज में भी होती है। समाज की प्रथाएँ, रीति-रिवाज, आदर्श और मूल्य जो कि सामाजिक प्रतिनिधान हैं, व्यक्ति को पूरी तरह से प्रभावित करते हैं और उसे अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं का दमन करके भी उन्हें मानने को वाध्य करते हैं। उसके सामने कोई अन्य विकल्प नहीं होता। सामाजिक प्रतिनिधानों का दवाव उसमें सामाजिक गुणों का विकास करते हैं, उसे समाज के अनुरूप वनाकर उसका समाजीकरण करते हैं।

समाजीकरण से सम्वन्धित अवधारणायें

(Concepts Related to Socialization)

समाजीकरण से सम्वन्धित कुछ अन्य अवधारणायें भी हैं, इन अवधारणाओं को हम यहाँ स्पष्ट करेंगे—

1. नकारात्मक समाजीकरण (Negative Socialization)—समाजीकरण का तात्पर्य समाज-सम्मत व्यवहारों, सामाजिक मूल्यों, आदर्शों एवं प्रतिमानों को सीखने से है। किन्तु अनेक वार व्यक्ति समाज द्वारा अस्वीकृत व्यवहारों को भी सीखता है, उनको **नकारात्मक समाजीकरण** कहते हैं। उदाहरण के लिए जव एक

बच्चा चोरी करना, गाली देना, आज्ञा का उल्लंघन करना, कानून की अवहेलना करना सीखता है तो उसे समाज-विरोधी कहा जाता है। यही नकारात्मक समाजीकरण कहलाता है। नकारात्मक समाजीकरण समाज में अव्यवस्था, अपराध एवं विघटनकारी व्यवहारों को जन्म देता है।

2. **वि-समाजीकरण (De-Socialization)**—वि-समाजीकरण का तात्पर्य पहले से सीखे हुए व्यवहारों को भुला देना अर्थात् व्यक्ति का पहले जो समाजीकरण हुआ है, उसे समाप्त कर देना है। व्यक्ति को उसके द्वारा पहले किये हुए व्यवहारों को छोड़ने व भुलाने को कहा जाता है। वस्तुतः कुछ गलत व्यवहार व्यक्ति समाज में सीख जाता है और तब उसे उन्हें छोड़ देने को कहा जाता है। एक उदाहरण से इसे हम स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजीये एक व्यक्ति चोरी करने व अपराध करने में संलग्न हो जाता है या कक्षा से भागने की प्रवृत्ति सीख जाता है, तो उसको इन बुरी आदतों को छोड़ने को कहा जाता है। इनसे होने वाली हानियों से उसे परिचित कराया जाता है और जब व्यक्ति उन्हें छोड़ देता है तो इसे वि-समाजीकरण कहते हैं। अनेक बार पूर्व में सीखे हुए व्यवहार का प्रयोग एक लम्बे समय तक नहीं करने पर हम स्वतः ही उसे भूल जाते हैं, यह भी वि-समाजीकरण है। उदाहरण के लिए एक बच्चे ने बचपन में फ्रेंच भाषा सीखी, भाषा के प्रयोग के अभाव में युवा होने पर वह उसे भूल जाता है तो इसे हम वि-समाजीकरण कहेंगे। इस प्रकार वि-समाजीकरण जान-बूझकर चेतन रूप से व प्रयत्नपूर्वक भी किया जा सकता है तथा अनजाने व अचेतन रूप में भी।

3. **पुनःसमाजीकरण (Re-Socialization)**—पुनःसमाजीकरण का कार्य वि-समाजीकरण के बाद ही सम्भव है। किसी व्यक्ति द्वारा पहले सीखे गये व्यवहार को भुलाकर उसे नया व्यवहार सिखाना ही पुनःसमाजीकरण है। पुनःसमाजीकरण में पहले वाली जीवन-विधि के स्थान पर दूसरी जीवन-विधि अपनायी जाती है, जो कि पुरानी जीवन-विधि से भिन्न एवं विरोधी होती है। मत-आरोपण (Brain Washing), अपराधियों का पुनर्वास (Rehabilitation), पापी व्यक्ति द्वारा धार्मिक जीवन व्यतीत करने की ओर अग्रसर होना आदि इसके उदाहरण हैं। चर्च में पादरी या नन (Nun) का जीवन व्यतीत करने के लिए भी व्यक्ति को धार्मिक नियमों को सीखना होता है। कम्युनिस्ट चीन में मत-आरोपण द्वारा लोगों को साम्यवाद से परिचित कराया गया, यह भी पुनःसमाजीकरण ही है। जेल में अपराधी व्यक्ति को अपराधी प्रवृत्ति छोड़ने को कहा जाता है और अच्छी बातें सिखाकर उसका पुनःसमाजीकरण किया जाता है। ब्रूम तथा सेल्जनिक ने पुनः-समाजीकरण के लिए छः बातों को आवश्यक माना है—(1) व्यक्ति पर पूर्ण नियन्त्रण, (2) पुनःसमाजीकरण किये जाने वाले व्यक्ति द्वारा पुरानी प्रस्थिति का

त्याग करना, (3) उस व्यक्ति के पुराने 'स्व' को अनैतिक घोषित करना, (4) व्यक्ति द्वारा स्वयं की आलोचना, समीक्षा तथा गलतियों को स्वीकार कर पुनःसमाजीकरण में भाग लेना, (5) पुनःसमाजीकरण करने वाले व्यक्ति या संस्था को पुनःसमाजीकरण कराने वाले व्यक्ति को दण्ड देने, पृथक् रखने एवं प्यार करने आदि का पूरा अधिकार होना, (6) पुनःसमाजीकरण कराने वाले व्यक्ति के मित्र समूह (Peer Group) का उस पर दवाव एवं सहयोग प्राप्त होना।

4. **पूर्वाभासी समाजीकरण (Anticipatory Socialization)**—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है पूर्वाभासी समाजीकरण का आशय है 'पहले से अभ्यास करना'। भविष्य में जो स्थिति आने वाली है, उसके लिए पहले से अभ्यास या तैयारी करना या उन व्यवहारों को सीखना ही पूर्वाभासी-समाजीकरण है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति पति, पिता, अफसर आदि बनने से पूर्व ही उनसे सम्बन्धित व्यवहारों को सीखता है तो वह व्यक्ति पूर्वाभासी-समाजीकरण की स्थिति में है। पुजारी या पादरी बहुत पहले ही अपनी भूमिकाओं को सीख लेते हैं। मेडिकल कॉलेज का छात्र अपने छात्र जीवन में ही डॉक्टर की भूमिका को सीख लेता है। वह यह सीख लेता है कि रोगी उससे किस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा रखता है। इसके लिए वह चेतन प्रयास करता है और कभी-कभी इसके लिए वह संकेत भी ग्रहण करता है। पूर्वाभासी समाजीकरण व्यक्ति के कार्य-निष्पादन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

समाजीकरण का समाजशास्त्रीय महत्त्व
(Sociological Importance of Socialization)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि समाजीकरण ही व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाता है। समाजीकरण के द्वारा ही व्यक्ति सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में पदार्पण करता है तथा समाज के विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है। जन्म के समय शिशु मांस का एक पिंड-सा होता है जो केवल कुछ निश्चित जीव-वैज्ञानिक क्रियाएँ करना ही जानता है, जैसे सोना, दूध पीना, मल-मूत्र विसर्जन करना, रोना इत्यादि। समाजीकरण के परिणाम-स्वरूप ही वह अनेक बातें सीखना प्रारम्भ करता है जो उसके जीव-वैज्ञानिक तथ्यों एवं सामाजिक प्रभावों की अन्तःक्रिया के परिणाम होते हैं। अध्ययन की सुगमता-हेतु समाजीकरण की महत्ता को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :—

2. **व्यक्तित्व का विकास (Development of Personality)**—समाजीकरण का सर्वप्रथम महत्त्व यह है कि इस प्रक्रिया के द्वारा ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। लेपीयर तथा फ्रांसवर्थ (La-piere and Fransworth) के अनुसार, "व्यक्तित्व शब्द का वैज्ञानिक प्रयोग किसी व्यक्ति विशेष के साथ किसी समय विशेष में समाजीकरण के प्रतिफलन को दर्शाने के लिए किया जाता है। यह

उन सब गुणों की समग्रता है जिन्हें व्यक्ति ने समाजीकरण के द्वारा अर्जित किया है।[1]" व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक होता रहता है। मस्तिष्क की विशेषताएँ और सामाजिक व्यवहारों के प्रतिमान सामाजिक सम्पर्क के बिना विकसित नहीं हो सकते। वास्तव में मनुष्य को शरीर माता-पिता या वंशानुक्रमण द्वारा प्राप्त होता है और उसे सामाजिक सांस्कृतिक प्रतिमान समाजीकरण से प्राप्त होते हैं। समाजीकरण के महत्त्व की चर्चा करते हुए प्रो. डेविस का कहना है कि सामाजिक सम्पर्क के अभाव में व्यक्ति के व्यक्तित्व की उषा-किरणों का प्रस्फुटन नहीं हो सकता, वह सामाजिक प्राणी नहीं बन सकता। सामाजिक प्राणी के सभी गुण समाजीकरण द्वारा ही विकसित होते हैं। इस सन्दर्भ में प्रो. डेविस ने असमाजीकृत बालकों के दृष्टान्तों का उल्लेख किया है जिनको यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा :—

1. प्रो. डेविस ने सर्वप्रथम **अन्ना** (Anna) नामक एक अमरीकी अवैध सन्तान का उल्लेख किया है जिसको छः माह की अवस्था में ही एक अकेले कमरे में बन्द कर दिया गया था और पाँच वर्ष की अवस्था में सन् 1938 ई. में उसको बाहर निकाला गया। अपने बन्दी-जीवन में अन्ना को दूध के सिवा कुछ खाने को नहीं दिया गया, न साधारण शिक्षा ही दी गयी और न उसका दूसरे लोगों से सम्पर्क ही रहा। नितान्त एकान्तवास के इस चरम व क्रूर काण्ड ने वैज्ञानिकों के लिए एक और प्रयोगशाला का विषय तो प्रस्तुत कर दिया, परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि उस बच्ची में साधारण पाँच वर्षीय बच्चे के कोई भी लक्षण प्रकट नहीं हुए। जब अन्ना मिली, तब न तो वह चल सकती थी और न ही वह बोल ही सकती थी। वह अनभिज्ञ थी और लोगों के प्रति उदासीन थी। परन्तु बन्धन-मुक्ति के पश्चात् दी गयी शिक्षा के परिणाम-स्वरूप अपनी मृत्यु के पहले (जो सन् 1942 ई. में हुई) उसका अधिक शीघ्रता से मानवीकरण हो गया था। अन्ना के प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य में मानवीय प्रकृति तभी विकसित होती है जब वह सामाजिक मनुष्य होता है और जब अनेक मनुष्यों के साथ एक "सामान्य जीवन" में भागीदार होता है।[2]

2. प्रो. किंग्सले डेविस ने इस संदर्भ में द्वितीय दृष्टांत इसाबेल (Isabelle) नामक बालिका का दिया है जो अन्ना जैसी ही थी। इसे भी लगभग छः वर्ष तक

---

1. La-Piere and Fransworth : Social Psychology; p. 184.
2. For the case of Anna, see K. Davis : Extreme Isolation of a Child, American Journal of Sociology XLV. 1940, pp. 554–565, and "Final note on a case of extreme Isolation." Ibid. LII. 1947, pp. 432–437.

समाज से पृथक् रखा गया था। इसाबेल की माँ बहरी और गूँगी थी और ऐसा प्रतीत होता था कि माँ-बेटी दोनों ने ही अपना जीवन अँधेरे कमरे में व्यतीत किया था। यह बच्ची समाज के लोगों के सम्पर्क में नहीं आयी, और अपनी माँ से जो कुछ कहना होता, वह उसे शरीर के हाव-भाव द्वारा ही समझाती थी। उसके पैर भी अन्ना जैसे ही थे। उसका स्वभाव जंगली जानवर के समान क्रोधी हो गया था। वह सामाजिक व्यवहार से इतनी अनभिज्ञ थी कि कभी-कभी वह एक मासूम बच्ची जैसा व्यवहार करती थी।

प्रो. डेविस द्वारा प्रस्तुत किये गये इन दोनों दृष्टान्तों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समाजीकरण के बिना व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता।

मैकाइवर तथा पेज (Maciver & Page)—ने भी कुछ ऐसे ही दृष्टांत प्रस्तुत किये हैं जो समाजीकरण की महत्ता पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि व्यक्ति के न केवल शारीरिक विकास के लिए अपितु उसके मानसिक विकास के लिए भी समाजीकरण एक अनिवार्य आवश्यकता है।

2. 'स्व' का विकास (Development of 'Self')—समाजीकरण का द्वितीय महत्त्व 'स्व' के विकास से सम्बन्धित है। 'स्व' का विकास ही समाजीकरण का आधार है। जन्म के समय शिशु में कोई आत्म-चेतना नहीं होती है। आत्म-चेतना का विकास सामाजिक सम्पर्क पर आधारित है। एक दूसरे के सम्पर्क में आये बिना आत्म-चेतना का विकास सम्भव नहीं है। आत्म-चेतना जन-सम्पर्क के द्वारा ही विकसित होती है। इसलिए कूले ने 'सामाजिक आत्म-चेतना' की परिभाषा सम्प्रेषण पर आधारित की है।

3. अनुशासनिक प्रशिक्षण (Disciplinary Training)—अनुशासनिक प्रशिक्षण व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही प्राप्त करता है। अनुशासनिक प्रशिक्षण के अनुसार ही व्यक्ति सामाजिक सामान्यकों (Norms) एवं मूल्यों (Values) को ध्यान में रखते हुए व्यवहार करता हैं।

4. सामाजिक समायोजन का प्रशिक्षण (Training of Social Adjustment)—सूक्ष्म रूप से देखा जाये तो समाजीकरण की समस्त प्रक्रिया समायोजन की प्रक्रिया की कहानी है। वास्तव में समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में समायोजन करने का प्रशिक्षण प्राप्त करता है। व्यक्ति सामाजिक विधानों के साथ जितना अधिक समायोजन करता है, उसके व्यक्तित्व के विकास की उतनी ही अधिक मात्रा में होने की सम्भावना रहती है।

5. सामाजिक विकास (Social Development)—यद्यपि यह वक्तव्य कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' स्वयं-सिद्ध सत्य है, परन्तु मनुष्य एक सामाजिक

प्राणी कैसे बनता है? वह अपने जीवन-काल में विभिन्न मनुष्यों के साथ विभिन्न अवसरों पर जो व्यवहार करता है, वह क्यों करता है ? इसका उत्तर है व्यक्ति का सामाजिक निर्धारण या समाजीकरण की प्रक्रिया ।

6. सामाजिक नियन्त्रण ((Social Control)—मनुष्य की इच्छायें असीमित हैं। उन पर सामाजिक नियन्त्रण सदैव बना रहता है। किन्तु जब कभी भी समाज की नियन्त्रक शक्तियों में ह्रास होता है तो व्यक्ति की इच्छाएँ अदम्य रूप से बढ़ने लगती हैं और व्यक्ति उनकी पूर्ति-हेतु स्वच्छन्द व्यवहार करने लगता है। इन स्वच्छन्द आचरणों को नियन्त्रित करने के लिए तथा समाज को विचलनकारी व्यवहारों से बचाने के लिए व्यक्ति का समाजीकृत होना परमावश्यक है। समाजीकृत होने से ही व्यक्ति सामाजिक सामान्यकों एवं मूल्यों के अनुसार व्यवहार करने में समर्थ एवं सक्षम होता है।

7. आकांक्षाओं की पूर्त्ति (Fulfilment of Aspirations)—समाजीकरण की प्रक्रिया का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति में आकांक्षाओं के रूप का निर्धारण करके उनकी आदर्श-पूर्त्ति में सहायता प्रदान करना है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि समाजीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी बनता है; अर्थात् जिसके द्वारा व्यक्ति समाज के मानदण्डों एवं आदर्शों के अनुसार आचरण करना प्रारम्भ करता है। समाजीकरण के बिना व्यक्ति का सामाजिक विकास ही नहीं होता, वरन् उसका मानसिक व शारीरिक विकास भी नहीं होता है।

स्तरीकरण
(Stratification)

प्रत्येक समाज चाहे वह आदिम हो या सभ्य, अविकसित हो या विकासशील, ग्रामीण हो या नगरीय, वृहत् हो या लघु, वह वर्गहीन नहीं है। असमानता (Inequality) सभी समाजों एवं संस्कृतियों की विशेषता है, यद्यपि एक समूह से दूसरे समूह में, एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में असमानता के प्रकार एवं विस्तार में अन्तर पाया जाता है। संसार के प्रत्येक समाज एवं संस्कृति में अनेक भिन्नतायें पायी जाती हैं। यही नहीं, संसार में दो व्यक्ति भी एक समान नहीं होते हैं। रंग, लम्बाई, प्रजाति, आयु, लिंग आदि शारीरिक विशेषताओं के आधार पर भी उनमें असमानता देखी जा सकती है। ऐसी ही असमानता समूहों में भी देखी जा सकती है। अतः दो प्रकार के विभेदीकरण हमें दिखायी देते हैं—प्रथम 'व्यक्तिगत विभेदीकरण' एवं द्वितीय 'सामाजिक विभेदीकरण'। व्यक्तिगत विभेदीकरण में हम व्यक्तियों

की शारीरिक विशेषताओं के आधार पर अन्तर करते हैं, जबकि सामाजिक विभेदीकरण में हम कार्य, धर्म, संस्कृति, आर्थिक स्थिति राजनीतिक सत्ता एवं पद आदि के आधार पर अन्तर करते हैं।

नोर्थ (North) ने सामाजिक विभेदीकरण के चार आधार प्रस्तुत किये हैं जो निम्नलिखित हैं :

1. प्रकार्य (Function)
2. संस्कृति (Culture)
3. रुचि (Interest)
4. क्रम-विन्यास (Rank)

प्रकार्य (Function) के आधार पर हम यह अन्तर कर सकते हैं कि किसी विशिष्ट व्यवसाय के क्या कार्य हैं. जैसे डॉक्टर का कार्य, इन्जीनियर का कार्य प्रोफेसर का कार्य आदि। इन सभी व्यवसायियों के कार्यों में समूहगत विभिन्नताएँ हैं। समाज में अलग-अलग व्यवसाय-समूहों के अलग-अलग कार्य होते हैं। ऐसे सामाजिक विभेदीकरण का आधार प्रकार्य होता है।

सामाजिक विभेदीकरण का दूसरा आधार संस्कृति (Culture) माना गया है। भिन्न-भिन्न समाजों की भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए उत्तर भारत की संस्कृति दक्षिण भारत की संस्कृति से भिन्न है। यह भाषा, वेशभूषा, खानपान, कला, रीति-रिवाज इत्यादि की भिन्नता से स्पष्ट हो जाता है।

सामाजिक विभेदीकरण का तीसरा आधार 'रुचि' (Interest) है। रुचि के आधार पर विभिन्न समूहों का निर्माण होता है; उदाहरणार्थ, मिल के मजदूरों की रुचि अधिक वेतन प्राप्त करना हो सकती है, जबकि मिल-मालिकों की रुचि अधिक लाभ-प्राप्त करने की होती है। खेलने वाले विद्यार्थी पढ़ने वाले विद्यार्थियों से भिन्न रुचि रखते हैं।

सामाजिक विभेदीकरण का चौथा आधार 'क्रम-विन्यास' (Rank) है। इसके अन्तर्गत एक-सी प्रस्थिति के लोग समाज के एक स्तर (Stratum) के सदस्य होते हैं। समाज के विभिन्न स्तर प्रस्थितियों के भेद के आधार पर एक-दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार के विभेदीकरण में ऊँचे-नीचे अथवा बड़े-छोटे का बोध होता है जो कि उपर्युक्त तीनों सामाजिक विभेदीकरण के मापदण्डों में नहीं होता है। क्रम-विन्यास का आधार प्रस्थिति है जो कि सामाजिक मूल्यों पर निर्भर करती है। अत: यह विभेदीकरण जिसका आधार क्रम-विन्यास है, स्तरीकरण कहलाता है।

इस तथ्य को आगे चलकर वर्ग व जाति की विवेचना में विस्तार से समझाया जायेगा।[1]

सामाजिक विभेदीकरण में जब उच्चता एवं निम्नता के भाव जुड़ जाते हैं तो वह 'सामाजिक स्तरीकरण' (Social Stratification) बन जाता है। इस प्रकार वस्तुतः सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक विभेदीकरण की एक व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत सामाजिक पद-प्रस्थितियों का एक ऐसा सोपानात्मक क्रम होता है जिनमें कुछ व्यक्ति अथवा समूह समाज में एक दूसरे की तुलना में उच्च निम्न या समान माने जाते हैं। पी. ए. सोरोकिन (P. A Sorokin) लिखते हैं कि "वास्तविक समानता वाला श्रेणीहीन समाज एक कल्पना ही है और यह मानव-इतिहास में कभी नहीं देखा गया।[2]

सामाजिक स्तरीकरण का अध्ययन लगभग समस्त विषयों में किया जाता है। प्लेटो, अरस्तू, कौटिल्य आदि के विचारों में भी असमानता को देखा जा सकता है। 'मनु' तो भारतीय स्तरीकरण के प्रमुख स्वरूप के जन्मदाता ही कहे जा सकते हैं। मार्क्स, कॉम्ट, सेण्ट साइमन, स्पेन्सर आदि ने भी वर्ग-युक्त समाजों का उल्लेख किया है। बाद के समाजशास्त्रियों में दुर्खीम, वेबर, वार्ड, समनर, कूले आदि के नाम लिये जा सकते हैं। समाजशास्त्र में सामाजिक स्तरीकरण का प्रारम्भ कैसे हुआ, इसके सम्बन्ध में लुडविग गमप्लोविज और ओपन मेयर तथा अन्य समाजशास्त्रियों का मानना है कि इसका प्रारम्भ एक समूह द्वारा दूसरे समूह पर विजय प्राप्त करने की परम्परा से हुआ। विजयी समूह विजित समूह के ऊपर अधिकार कर उच्च बन जाता था, जबकि विजित समूह पराधीन अथवा निम्न हो जाता था। यद्यपि आधुनिक समाजशास्त्री इस विचार से पूर्णतया सहमत नहीं हैं, तथापि वे इतना तो अवश्य मानते हैं कि विजय-प्राप्ति की इच्छा ने वर्गों के निर्माण में काफी योग दिया। प्रसिद्ध समाजशास्त्री सिसिल नॉर्थ ने अपनी पुस्तक 'सोश्यल डिफरेन्शियेशन' (Social Differentiation) में एक समूह द्वारा दूसरे समूह पर विजय पाने की महत्त्वाकांक्षा का प्रतिपादन करते हुए यहाँ तक कहा है कि "जब तक मनुष्य शान्तिपूर्ण रूप से रहते रहे, उस समय तक समाज में किसी भी प्रकार की स्थायी व बड़ी वर्ग-व्यवस्था उत्पन्न नहीं हुई।"

पी. ए. सोरोकिन (P. A. Sorokin) के अनुसार "विजय अथवा संघर्ष को सामाजिक स्तरीकरण का मात्र सहायक कारक माना जा सकता है।" शान्तिपूर्ण व संघर्षपूर्ण सभी प्रकार के समाजों में स्तरीकरण व्याप्त है। सोरोकिन के अनुसार स्तरीकरण मनुष्यों और पर्यावरण में भिन्नताओं के कारण होता है।

---

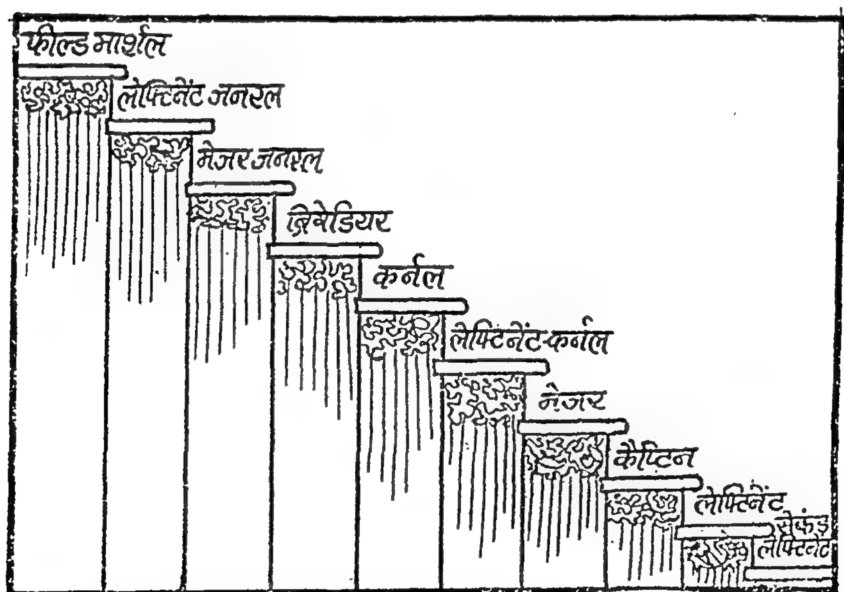
1. North : Quoted by Singhi & Goswami, Samaj Shastra Vivechan (Hindi); p. 145

इस प्रकार सभी समाज एक समान न होकर कई प्रकार की असमानताओं में विभाजित पाये जाते हैं। कुछ विशेषताओं जैसे लिंग और आयु पर आधारित समूह प्राकृतिक भिन्नताओं के कारण होते हैं, जबकि अन्य समूह समाज की कृत्रिम व्यवस्थाओं, जैसे व्यवसाय के कारण उत्पन्न होते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Stratification)

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक स्तरीकरण को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है। सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन की सुगमता-हेतु हम यहाँ कुछ परिभाषाओं के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण के अर्थ को समझ सकते हैं :

आगबर्न तथा निमकाफ ने अपनी पुस्तक 'ए हेण्ड बुक ऑफ सोशियोलॉजी' में लिखा है कि "सामाजिक स्तरीकरण वह नियमित असमानता है जिसमें व्यक्ति अपनी भूमिकाओं और क्रियाओं के अनुरूप ऊँचे और नीचे के क्रम में व्यवस्थित रहते हैं।"[1] उदाहरण के लिए भारतीय सेना की स्थल सेना में विभिन्न पद भूमिकाओं और क्रियाओं के अनुरूप ऊँचे से नीचे के क्रम में निम्नलिखित प्रकार से नियमित हैं—



प्रसिद्ध अमेरिकन समाजशास्त्री टालकट पारसन्स ने स्तरीकरण की परिभाषा लिखते हुए कहा है कि—"सामाजिक स्तरीकरण से अर्थ किसी सामाजिक व्यवस्था

1. Ogburn and Nimkoff : A Hand Book of Sociology; p. 157

में व्यक्तियों का ऊँचे और नीचे के क्रम में विन्यास का विभाजन है।"[1] पारसन्स ने स्तरीकरण के अन्तर्गत समाज-व्यवस्था में प्रस्थितियों के क्रम-विन्यास को महत्त्वपूर्ण माना है। व्यक्ति की प्रस्थिति-निर्धारण में पारसन्स ने छः कारकों—नातेदारी, समूह की सदस्यता, व्यक्तिगत गुण, अर्जित उपलब्धियों, द्रव्यजात सत्ता तथा शक्ति को प्रमुख माना है।

मेल्विन ट्यूमिन ने स्तरीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "आवश्यक रूप से स्तरीकरण से तात्पर्य किसी भी सामाजिक समूह या समाज में पदों के संस्तरण से है जो कि शक्ति, सम्पत्ति, सामाजिक मूल्यांकन एवं मानसिक संतुष्टि में असमान हैं।"[2] ट्यूमिन स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि शक्ति से तात्पर्य अन्य व्यक्तियों के विरोध के बावजूद भी जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त करना है। सम्पत्ति का अर्थ वस्तुओं एवं सेवाओं के अधिकार से है। सामाजिक मूल्यांकन समाज की इस मान्यता से सम्बन्धित है कि कौनसा पद अधिक प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय है। मानसिक संतुष्टि के अन्तर्गत हम उन सभी साधनों को सम्मिलित करते हैं जिनसे आनन्द एवं संतोष प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति की आय का साधन उसकी सम्पत्ति है। इस आय से वह इच्छित वस्तुओं और सेवाओं को उपलब्ध कर सकता है, अतः यह उसकी शक्ति है। इसी उपलब्धि के फलस्वरूप वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की तुलना में जो उससे कम आय अर्जित करते हैं, अधिक प्रतिष्ठा एवं मानसिक संतुष्टि प्राप्त कर सकता है।

सदरलैण्ड तथा वुडवर्ड (Sutherland and Woodword) के अनुसार, "स्तरीकरण सामान्यतः अन्तःक्रियाओं अथवा विभेदीकरण की एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा कुछ व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की तुलना में उच्च श्रेणी में गिने जाने लगते हैं।"[3]

हैरी एम० जॉनसन (Harry M. Johnson) के अनुसार, "स्तरीकरण संज्ञा का प्रयोग उस प्रक्रिया अथवा प्रस्थिति के लिए करेंगे जिसमें कि व्यक्तियों अथवा समूहों का स्तरीकरण विभेदीकृत ढंग से क्रमांकित होता है ताकि एक स्तरीकरण में प्रायः समान से क्रम (पद अथवा रेंक) के कई व्यक्ति अथवा समूह सम्मिलित हो जायें।"[4]

पी० गिसबर्ट (P. Gisbert) के शब्दों में, "सामाजिक स्तरीकरण उच्चता और अधीनता के सम्बन्धों से व्यक्तियों के एक दूसरे से संयुक्त समाज का स्थायी समूहों या श्रेणियों में विभाजन है।"[5]

---

1. Talcot Parsons : Essays in Sociological Theory p. 69
2. M. Tumin : Social stratification; p. 13
3. Sutherland & Woodword : Introductory Sociology; p. 153
4. Harry M. Johnson : Sociology; A Systematic Introduction; P. 469
5. P. Gisbert : Fundamentals of Sociology; p. 306

ए० डब्ल्यू० ग्रीन (A. W. Green) स्तरीकरण को परिभापित करते हुए लिखते हैं, "समाज हर समय व हर स्थान पर ऊँची व नीची प्रस्थितियों के आधार पर संगठित रहता है। इस प्रकार संस्तरण व्यक्तियों के एक दूसरे के सम्बन्ध में ऊँचे व नीचे स्थान को, जो प्रजाति, व्यवसाय, राजनीति व सामाजिक वर्ग के आधार पर होता है, बताता है।"[1]

बरट्रैन्ड रसैल (Bertrand Russel) लिखते हैं कि "सामाजिक स्तरण एक प्रकार से एक दिये गये समाज में व्यक्तियों का विभाजन है, जैसे कि उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग।"

कुछ समाजशास्त्रियों की मान्यता है कि सामाजिक स्तरीकरण एक प्रकार का विभेदीकरण है। मार्टिन न्यूमेयर ने सामाजिक विभेदीकरण को परिभापित करते हुए लिखा है कि 'सामाजिक विभेदीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्तियों और समूहों में प्राणिशास्त्रीय वंशानुक्रमण और शारीरिक लक्षणों, आयु, लिंग, प्रजाति, सपिंड या व्यक्तिगत, व्यवसायों में अन्तर, सामाजिक पद, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, व्यक्तित्व के अर्जित लक्षण एवं सामाजिक सम्बन्ध व समूह-संरचना में भेदों के कारण सामाजिक भिन्नतायें उत्पन्न होती हैं। सामाजिक भिन्नतायें विभेदीकरण की प्रक्रिया के चरण एवं उत्पत्ति दोनों ही हैं।" इस परिभापा से स्पष्ट है कि स्तरीकरण और सामाजिक विभेदीकरण दोनों ही समाज को समूहों में विभाजित करने की प्रक्रियाएँ हैं। इस विभाजन का आधार शारीरिक क्षमता, सम्पत्ति, लिंग, आयु इत्यादि कुछ भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी दोनों प्रक्रियाओं में काफी समानता है, किन्तु फिर भी दोनों प्रक्रियाओं को एक नहीं माना जाता है। सामाजिक विभेदीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत समाज की विभिन्न इकाइयों को प्राणीशास्त्रीय, सांस्कृतिक व सामाजिक आधारों पर विभक्त कर दिया जाता है, किन्तु इस विभक्तिकरण को किसी विशेप क्रम के आधार पर श्रेणी-बद्ध नहीं किया जाता अर्थात् इस विभाजन में स्तरों का अभाव होता है। इसके विपरीत सामाजिक स्तरीकरण में विभेद के अतिरिक्त स्तर की उच्चता तथा निम्नता को भी प्रमुखता प्रदान दी जाती है।

सामाजिक स्तरीकरण और विभेदीकरण में दूसरा प्रमुख अन्तर स्थिरता का भी है। सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि समाज की विभाजित इकाइयों में स्थिरता न हो, क्योंकि इस स्थिरता के आधार पर ऊँच-नीच की भावना को बनाये रखा जाता है जो कि सामाजिक स्तरीकरण का एक आवश्यक तत्त्व है। इसके विपरीत सामाजिक विभेदीकरण के लिए स्थिरता का होना आवश्यक नहीं है।

---

1. A. W. Green : Sociology; p. 42

उपर्युक्त विवेचन से यद्यपि सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है, किन्तु और भी अधिक रूप से समझने-हेतु इस प्रक्रिया की कुछ प्रमुख विशेषताओं का समझना आवश्यक है। मेल्विन ट्यूमिन (M. Tumin) ने अपनी पुस्तक 'सोश्यल स्ट्रेटीफिकेशन' में स्तरीकरण की निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है[1] :—

1. **सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति सामाजिक है**—यह सामाजिक प्रकृति किसी एक अर्थ में नहीं, अपितु अनेक अर्थों में होती है। स्तरीकरण किसी एक व्यक्ति तक सीमित नहीं है, अपितु यह प्रक्रिया सम्पूर्ण समाज के सन्दर्भ में होती है। सामाजिक स्तरीकरण इस अर्थ में भी सामाजिक है कि यह जैविक आधारों जैसे यौन आयु व रंगभेद पर आधारित नहीं होता, अपितु विभिन्न सामाजिक संस्थाओं में पदों व प्रस्थितियों के वितरण के तरीके से होता है।

2. **सामाजिक स्तरीकरण पुरातन है**—यह प्रक्रिया प्रत्येक काल मे विद्यमान रही है। यह बात अलग है कि इसके स्वरूप में अन्तर रहा है। प्रारम्भिक समाजों में यौनभेद, आयु, शारीरिक शक्ति तथा जन्म इत्यादि के आधार पर प्रस्थिति या अन्य शब्दों में 'प्रदत्त प्रस्थिति' प्रमुख रही, जबकि आधुनिक सभ्य समाज में 'अर्जित प्रस्थिति' अर्थात् योग्यता के आधार पर प्राप्त प्रस्थिति की प्रमुखता है।

3. **सामाजिक स्तरीकरण प्रत्येक समाज में रहा है**—मानव-समाज के इतिहास में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसमें स्तरीकरण की प्रक्रिया न रही हो। केवल स्तरीकरण के स्वरूप एवं आधारों की भिन्नतायें हमें दिखायी दे सकती हैं। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि प्रारम्भिक समाजों में यौन भेद, आयु व जन्म इत्यादि प्रमुख थे, जबकि आधुनिक औद्योगिक समाज में योग्यता की प्रधानता है।

4. **सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप में भिन्नताएँ होती हैं**—सभी समाजों में स्तरीकरण सामान्य नियमों पर आधारित नहीं होता, अपितु विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों के द्वारा इसके स्वरूप का निर्धारण होता है। उदाहरण के लिए भारत में स्तरीकरण जाति-व्यवस्था के रूप में जन्म पर आधारित रहा है, जबकि पश्चिमी देशों में यह वर्ग-व्यवस्था के रूप में अर्जित प्रस्थिति के आधार पर पाया जाता है। अनेक समाजों में यह प्रजाति-भेद के आधार पर भी विद्यमान है।

5. **सामाजिक स्तरीकरण के परिणाम होते हैं**—इसका मुख्य परिणाम सामाजिक असमानता है। यह असमानता प्रतिष्ठा, सम्पत्ति, प्रभाव, अधिकार एवं सामाजिक प्रस्थिति के संदर्भ में देखने को मिलती है।

---

1. M. Tumin : Social Stratification; p. 13-18

सामाजिक स्तरीकरण की कुछ प्रमुख सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करना भी यहाँ उपयुक्त होगा। स्तरीकरण की प्रमुख सामान्य विशेषतायें निम्न-लिखित हैं—

1. **समाज का विभिन्न स्तरों में विभाजन** (Division of Society in Different Strata)—सामाजिक स्तरीकरण की सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत समाज को विभिन्न स्तरों में विभाजित कर दिया जाता है। उदाहरणस्वरूप, भारतीय हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्तरीकरण की प्रणाली रही है। समाज को चार जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में विभक्त कर दिया गया था।

2. **उच्चता तथा निम्नता का क्रम-विन्यास** (Ranking of Superiority and Inferiority)—सामाजिक स्तरीकरण की दूसरी सामान्य विशेपता यह है कि इसके अन्तर्गत समाज को क्रमश: उच्च एवं निम्न सामाजिक इकाइयों में बाँट दिया जाता है। उदाहरणस्वरूप, भारतीय हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के जातीय स्तरीकरण में ब्राह्मण जाति की स्थिति शीर्पस्थ तथा शूद्रों की स्थिति निम्नस्थ रही है।

3. **परस्पर सम्बद्धता** (Linked with Each Other)—सामाजिक स्तरीकरण की तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेपता 'परस्पर सम्बन्धता' है। परस्पर सम्बद्धता के अन्तर्गत समाज के विभिन्न स्थायी समूह एवं श्रेणियाँ उच्चता तथा अधीनता के सम्बन्ध से परस्पर जुड़ी रहती हैं। उदाहरण के लिए हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के जातीय संस्तरण के अन्तर्गत सम्पूर्ण जातियाँ एक-दूसरे से परस्पर सम्बन्धित होती हैं।

4. **स्थायित्व** (Permanency)—सामाजिक स्तरीकरण की चौथी महत्त्व-पूर्ण विशेपता स्थायित्व है। इसके अन्तर्गत समाज का जो स्तरीकरण किया जाता है, वह स्थायी होता है। वास्तव में जब तक स्तरीकृत इकाइयों में स्थिरता नहीं होती, तब तक स्तरीकरण नहीं कहा जा सकता। उदाहरणस्वरूप, भारतीय हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में संस्तरण (Stratification) (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) स्थायी रहा है, क्योंकि आज तक यह संस्तरण हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

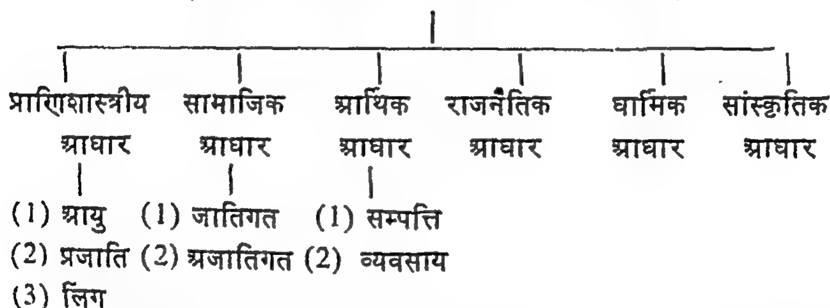
5. **सार्वभौमिकता** (Universality)—सामाजिक स्तरीकरण की अन्तिम विशेपता सार्वभौमिकता है। किसी न किसी रूप में विश्व के सभी समाजों में सामा-जिक स्तरीकरण पाया जाता है। आदिम जनजातीय समाजों में भी यह स्तरीकरण पाया जाता है। आधुनिक समाज में भी सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है। यहाँ तक कि वर्ग-विहीन समाज होने का दावा करने वाले साम्यवादी समाजों में भी सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया पायी जाती है, अतएव सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया सार्वभौमिक है।

सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधार
(Chief Bases of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण सार्वभौमिक रूप से जगत् के सभी समाजों में पाया जाता है, किन्तु इसके आधारों में भिन्नतायें दृष्टिगोचर होती हैं। स्तरीकरण के क्रम-विन्यास के विशिष्ट आधार अनेक हैं—लम्बाई, वजन, शारीरिक शक्ति, बुद्धि, आयु, लिंग, प्रजातीय आधार, सम्पत्ति, व्यवसाय, शारीरिक सौन्दर्य, साहस, लगन, सदाचारिता, धार्मिक एवं राजनीतिक आदि।

सामान्यतः किसी भी सामाजिक प्रणाली के सदस्यों द्वारा जाने या अनजाने में कई मानदण्डों को विभिन्न अंशों में तथा विभिन्न प्रकार के कार्य-सम्पादन की सापेक्षिक योग्यताओं के आधार पर स्तरीकृत कर दिया जाता हैं। इस प्रकार स्पष्ट हैं कि सामाजिक स्तरीकरण के अनेक आधारं हैं। समाजशास्त्रियों ने सामान्यतः सामाजिक स्तरीकरण के जिन प्रमुख आधारों का उल्लेख किया है, वे निम्नलिखित हैं :

सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधार
(Chief Bases of Social Stratification)



1. प्राणिशास्त्रीय आधार (Biological Basis)—स्तरीकरण प्राणिशास्त्रीय आधार पर भी किया जाता है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमुख शारीरिक विशेषताओं को सम्मिलित किया जा सकता है।

(A) आयु (Age)—प्राणिशास्त्रीय सामाजिक स्तरीकरण का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण आधार आयु है। प्रायः आयु व्यक्ति के मानसिक विकास का संकेतक हैं। आयु के साथ ही साथ सांसारिक अनुभव भी बढ़ता जाता है। अतः विश्व के सभी समाजों में आयु के आधार पर उच्च एवं निम्न स्तरों में स्तरीकरण स्थापित करने की प्रक्रिया परिलक्षित होती है। आयु के आधार पर स्तरीकरण के चार सामान्य स्तर हैं—शिशु, किशोर, युवा तथा प्रौढ़ या वृद्ध। किसी भी समाज में शिशु तथा प्रौढ़ या वृद्धजन की प्रस्थिति (Status) एक समान नहीं

होती है। उदाहरणस्वरूप, भारत में 21 वर्ष से अल्पायु का व्यक्ति मतदान नहीं कर सकता।

(B) प्रजाति (Race)—प्राणिशास्त्रीय सामाजिक स्तरीकरण का द्वितीय महत्त्वपूर्ण आधार प्रजाति (Race) है। एक प्रजाति ऐसे मनुष्यों का एक समूह है *जिसमें कुछ जन्मजात शारीरिक लक्षण सामान्य होते हैं।*[1] वे समाज जिनमें विभिन्न प्रजातियाँ मिलकर सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं, उन समाजों में प्रजातिवाद के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण किया जाता है। प्रजातिवाद में कतिपय प्रजातियाँ अपने को शेष प्रजातियों से श्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति रखती हैं। उदाहरणस्वरूप, गोरे (White) यूरोप निवासी काले व्यक्तियों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के 'नीग्रो' लोगों को जो कि काले होते हैं, वहाँ के सामाजिक स्तरीकरण में गोरे लोगों की अपेक्षा निम्नस्थ स्थान प्राप्त है।

(C) लिंग (Sex)—प्राणिशास्त्रीय सामाजिक स्तरीकरण का एक और महत्त्वपूर्ण आधार 'लिंग' है। सामाजिक स्तरीकरण का यह आधार सम्भवतः सबसे अधिक प्राचीन एवं सरल है। लिंग के आधार पर स्तरीकरण स्त्रियों एवं पुरुषों में किया जा सकता है। सभ्यता के प्रारम्भ से ही मानव-समाज में स्त्री-पुरुष की सामाजिक प्रस्थिति तथा भूमिका का निर्धारण लिंग-भेद के आधार पर किया जाता रहा है। कतिपय समाजों में स्त्रियों की प्रस्थिति पुरुषों की तुलना में उच्चतर मानी जाती है। उदाहरणस्वरूप, मातृसत्तात्मक समाजों में स्त्रियों की प्रस्थिति पुरुषों की अपेक्षा अधिक उच्चतर होती है। इसके प्रतिकूल कुछ समाजों में पुरुषों की प्रस्थिति स्त्रियों की तुलना में उच्चतर मानी जाती है। उदाहरणस्वरूप, पितृसत्तात्मक समाजों में पुरुषों की प्रस्थिति स्त्रियों की अपेक्षा उच्चतर होती है।

2. सामाजिक आधार (Social Bases)—मानव-समाजों में सामाजिक आधारों पर स्तरीकरण दो भिन्न दिशाओं में विकसित हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि दोनों एक-दूसरे में बहुधा समा गये हैं। इन दो प्रकार के स्तरीकरण के प्रमुख आधारों को क्रमशः जातिगत आधार तथा अजातिगत (सामाजिक) आधार कह सकते हैं।

(A) जातिगत आधार (Ethnic Basis)—सामाजिक स्तरीकरण का एक अन्य प्रमुख आधार जातिगत रहा है। जातिगत स्तरीकरण से दो विभिन्न जातिगत समाजों के विलय का बोध होता है। जब एक जातीय समूह दूसरे जातीय समूह अथवा समूहों पर न्यूनाधिक स्थायी रूप से प्रबल हो जाता है, तो जातीय स्तरीकरण बन जाता है। भारतीय हिन्दू जाति-व्यवस्था इसी प्रकार के स्तरीकरण

---

1. R. Firth : Human Types, p. 12

का उदाहरण है। हिन्दू समाज भारत की आदिकालीन जातियों तथा कालान्तर में वाहर से आकर वसने वाली विजेता आर्य जातियों के विलय से वना है। संसार के अन्यत्र कई भागों में भी इसी तरह के जातीय स्तरीकरण के उदाहरण मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक स्तरीकरण के पूर्व समाजों में जातीय स्तरीकरण ही प्रचलित था। हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था जातिगत स्तरीकरण का एक ज्वलन्त उदाहरण है। जातियों के माध्यम से भारत जैसे विशाल देश में अनेक प्रजातियों, भाषाओं, धर्मों तथा सामाजिक भेदों के लोगों का एक संगठित तथा स्थिर समाज लगभग 3000 वर्षों से चला आ रहा है। प्रारम्भ में यह व्यवस्था वर्ण-स्तरीकरण के सिद्धान्त पर वनी थी।

(B) अजातिगत आधार (Non-ethnic Basis)—सामाजिक स्तरीकरण का द्वितीय महत्त्वपूर्ण आधार अजातिगत (सामाजिक) है। इस आधार में एक समाज के अन्तर्गत पद-स्तरों की एक व्यवस्था उन्नत हो जाती है जिसके आधार पर समाज विभिन्न स्तरों में विभाजित हो जाता है। प्रसिद्ध इटालियन समाजशास्त्री विलफ्रेडो परेटो (Vilfredo Pareto) के अनुसार "प्रत्येक सामाजिक संरचना में किसी न किसी आधार पर ऊँच-नीच का एक संस्तरण अवश्य ही होता है।" सामान्यत: प्रत्येक समाज दो प्रमुख स्तरों—उच्च स्तर (Upper Strata) तथा निम्न स्तर (Lower Strata) में विभाजित किया जा सकता है। उच्च स्तर के लोगों के हाथों में शक्ति होती है। वे प्राय: समाज के शासक होते हैं। इस दृष्टिकोण से यह वर्ग प्रभावशाली होता है, क्योंकि इसके सदस्य अधिक चतुर, बुद्धिमान्, कुशल तथा समर्थ होते हैं। इन्हीं गुणों के वल पर वे सामाजिक संस्तरण में उच्च आसन पर प्रतिष्ठित होते हैं तथा समाज पर शासन करते हैं। परेटो ने इसी विशिष्ट वर्ग को अभिजात वर्ग (Elite) कहा है। वह वर्ग जिसके हाथों में समाज का शासन नहीं होता तथा सामाजिक संस्तरण में जिसकी निम्नस्थ प्रस्थिति होती है, उसे परेटो ने अ-अभिजात वर्ग (Non-elite) कहा है।

3. आर्थिक आधार (Economic Basis)—सामाजिक स्तरीकरण का तृतीय प्रमुख आधार आर्थिक आधार है—

(A) सम्पत्ति (Wealth)—आर्थिक आधार पर होने वाले स्तरीकरण के अन्तर्गत सम्पत्ति या धन को प्रमुख स्थान दिया जा सकता है। आधुनिक पूँजीवादी या औद्योगिक समाजों में धन का महत्त्व वहुत अधिक वढ़ गया है। कार्ल मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी समाज के सम्पूर्ण सदस्य दो वर्गों में विभक्त होते हैं। प्रथम वर्ग 'पूँजीपति वर्ग' है जो अल्प-संख्यक होता है तथा जिसका उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है। द्वितीय वर्ग अ-पूँजीपति या श्रमिक वर्ग है जो वहुसंख्यक होता है तथा जो पूँजीपति वर्ग द्वारा स्थापित उद्योगों में उत्पादन-कार्य में सक्रिय भाग लेता है और उसके वदले में पारिश्रमिक उपार्जन करके अपना तथा अपने परिवार के सदस्यों का

भरण-पोषण करता है। इस प्रकार औद्योगिक समाजों में समाज दो वर्गों—पूँजीपति वर्ग तथा अ-पूँजीपति या श्रमिक वर्ग में विभक्त हो जाता है। पूँजीवादी व औद्योगिक समाजों में आयु, लिंग आदि स्तरीकरण के आधारों से विशेष सम्बन्ध नहीं है। आर्थिक स्थिति की दृष्टि से समृद्धि या हीनता लोगों को उच्च वर्ग, मध्य वर्ग तथा निम्न वर्ग में विभाजित करती रहती है।

(B) **व्यवसाय (Occupation)**—सामाजिक स्तरीकरण के आर्थिक आधार का द्वितीय महत्त्वपूर्ण उप-आधार **व्यवसाय** होता है। सामाजिक स्तरीकरण का यह एक महत्त्वपूर्ण आधार है। वर्तमान औद्योगिक समाजों में जहाँ विभिन्न व्यवसायों की बहुलता होती है, वहाँ समाज सामान्यतः चार वर्गों—प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ वर्गों में विभक्त होता है। प्रथम तथा द्वितीय वर्ग में अधिकारी वर्ग तथा तृतीय वर्ग में आने वाले कर्मचारी अधिकारियों के नीचे तथा चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों के ऊपर होते हैं। चतुर्थ श्रेणी में आने वाले कर्मचारी मजदूर वर्ग के होते हैं।

4. **राजनीतिक आधार (Political Basis)**—सामाजिक स्तरीकरण को निर्धारित करने में **राजनीतिक आधार** चतुर्थ महत्त्वपूर्ण आधार है। राजनीतिक सत्ता के आधार पर स्तरीकरण प्रायः विश्व के सभी समाजों में दृष्टिगोचर होता है। राजनीतिक सत्ता के आधार पर समाज दो वर्गों—शासक तथा शासित में विभक्त होता है। जिस वर्ग के हाथों में शासन की बागडोर होती है, उसकी प्रस्थिति निश्चय ही उस वर्ग के सदस्यों से उच्चतर होती है जिनके हाथों में शासन की सत्ता नहीं होती है। इसी प्रकार वह राजनीतिक दल जिसके हाथों में शासन की सत्ता होती है, उसकी प्रस्थिति अन्य राजनीतिक दलों जिनके हाथों में शासन की सत्ता नहीं होती है, से उच्चतर होती है।

5. **धार्मिक आधार (Religious Basis)**—**धार्मिक आधार** सामाजिक स्तरीकरण का एक और महत्त्वपूर्ण आधार है। धार्मिक संगठनों (Congregations) के अन्तर्गत भी स्तरीकरण होता है। उदाहरणस्वरूप रोमन कैथोलिक चर्च एक विश्वव्यापी संस्तरण है जिसके शीर्ष पर पोप है। इसके फैले हुए कई कार्य विभिन्न शासनतन्त्रीय कार्यालयों और शाखाओं द्वारा सम्पन्न होते हैं और अन्य शासनतन्त्रों की भाँति यहाँ भी सभी पद नियुक्ति द्वारा भरे जाते हैं और एक व्यक्ति इस संस्तरण के भीतर जीवन-यापन कर सकता है।

सांस्कृतिक आधार (Cultural Basis)—सामाजिक स्तरीकरण का एक अन्य महत्त्वपूर्ण आधार **सांस्कृतिक आधार** है। सांस्कृतिक आधार जैसे, भाषा, बौद्धिक कुशलता, कलात्मक कुशलता आदि आधारों पर भी समाज का स्तरीकरण दृष्टिगोचर होता है। सभ्य समाजों में इस प्रकार का स्तरीकरण अधिक देखा जा सकता है।

स्तरीकरण के प्रकार्य या प्रकार्यात्मक आवश्यकता
(Functions or Functional Necessity of Stratification)

किंग्सले डेविस ने अपनी कृति 'ह्यूमन सोसाइटी' में इस बात की विस्तार से विवेचना की है कि स्तरीकरण की प्रकार्यात्मक आवश्यकता क्यों है ?

किंग्सले डेविस लिखते हैं कि मनुष्य सदैव उस समाज की कल्पना करता है, जिसमें श्रेणी-भेद न हो अथवा ऊँच नीच का स्तर न हो। परन्तु वास्तविकता के सामने यह कल्पना कभी साकार नहीं हो सकती। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों को अपने सामाजिक ढांचे की विभिन्न प्रस्थितियों के अनुसार बाँटता है तथा उनको अपनी विभिन्न प्रस्थितियों के अनुसार कार्य करने को प्रेरित करता है। इस प्रकार ऐसा करके वह दो कार्यों का निष्पादन करता है—(i) उचित व प्रतिभाशाली व्यक्तियों में कुछ विशेष पद प्राप्त करने की इच्छा को उत्पन्न करना; (ii) और जब वे इन पदों को प्राप्त कर लेते हैं तो उन पदों से सम्बन्धित कर्त्तव्यों को पालन करने की इच्छा को जन्म देना।

इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज तभी उचित रूप से क्रियारत रह सकता है जबकि उसके सदस्यों का स्तरीकरण उनकी योग्यता व गुणों के आधार पर हो। हर व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार समाज में ऊँची व नीची प्रस्थिति संभालें। वास्तव में हर समाज में भिन्न-भिन्न प्रतिभा वाले व्यक्ति होते हैं, इसीलिए किसी भी समाज के लिए यह सम्भव नहीं है कि उसके सभी सदस्यों का समान पद हो। कुछ ऐसे पद होते हैं जिनके लिए विशेष योग्यता व प्रशिक्षण (Talent & Training) की आवश्यकता होती है। इन पदों को योग्य व्यक्ति ही संभाल सकते हैं। इसीलिए समाज में स्तरण या स्तरीकरण आवश्यक होता है।

किंग्सले डेविस आगे कहते हैं कि "हर समाज को कुछ पुरस्कार (Reward) नियत करने चाहिए, जिससे कि उसके सदस्य पुरस्कार के लालचवश अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार कार्य करें।

प्रायः अब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि समाज के पास कौन-कौनसे पुरस्कार होने चाहिएँ जो व्यक्तियों को अपनी प्रस्थिति के अनुसार कार्य करने को प्रेरित करें ? किंग्सले डेविस इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं—"प्रथमतः समाज के पास ऐसी वस्तुएँ हैं जो भरण-पोषण (Sustenance) तथा आराम (Comforts) में सहायता देती हैं, जैसे आर्थिक प्रेरणाएँ (Economic incentives)। अतः अपने सदस्यों को पुरस्कार देने में इनका प्रयोग करना चाहिए। अगर लोग अपनी प्रस्थिति के अनुसार कार्य कर रहे हैं तो उन्हें तरक्की अथवा पदोन्नति (Promotion) दे देनी चाहिए, जिससे उनमें अपनी प्रस्थिति के अनुसार कार्य करने के लिए प्रलोभन (Inducement) बना रहेगा। दूसरे, समाज के पास ऐसी भी वस्तुएँ हैं जो उसके सदस्यों में आनन्द का संचार कर सकती हैं

जैसे 'कलात्मक प्रेरणाएँ' (Esthetic Incentives) तथा तीसरे, समाज के पास ऐसी भी वस्तुएँ हैं जो उसके सदस्यों के आत्म-सम्मान की वृद्धि में सहायक होती हैं, जैसे उपाधियाँ (Degrees) आदि। अतः समाज को 'सांकेतिक या प्रतीकात्मक प्रेरणाओं' (Symbolic Incentives) का भी प्रयोग अपने सदस्यों को पुरस्कार देने के लिए करना चाहिए।" वास्तव में सामाजिक व्यवस्था में तीनों प्रकार के पुरस्कार बड़े उपयोगी हैं। इनके द्वारा कोई भी समाज अपने सदस्यों से दी हुई प्रस्थिति के अनुसार कार्य करा सकता है।

किंग्सले डेविस समाज में स्तरण पर जोर देते हुए लिखते हैं—"सामाजिक असमानता अचेतन रूप से बनायी हुई एक विधि है जो इस बात को निश्चित करती है कि सबसे योग्य व्यक्ति ही महत्त्वपूर्ण पदों पर आरूढ़ हों। अतः प्रत्येक समाज के लिए चाहे जितना वह सरल अथवा जटिल (Simple or Complex) हो, यह अनिवार्य है कि वह प्रतिष्ठा व आदर के सम्बन्ध में व्यक्तियों में भेद करे।" अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हर समाज में व्यक्तियों की योग्यता के आधार पर उनके अधिकारों में भिन्नता हो, अर्थात् योग्य व्यक्तियों को अयोग्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक अधिकार हों व उनकी अधिक उच्च प्रस्थिति हो। तभी समाज में अधिकतम संगठन व साम्य की अवस्था रह सकती है।"

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि हर समाज में असमानता व्यक्तियों में एक ही स्तर पर हो, अर्थात् स्तरण एकसा हो। भिन्न-भिन्न समाजों में व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न प्रतिभा व योग्यता के कारण स्तरण भी भिन्न-भिन्न हो सकता है। परन्तु हर समाज के सुचारु रूप से प्रकार्य (Function) करने के लिए स्तरण आवश्यक है।

रोबर्ट के. मर्टन (Robert K. Merton) ने समाज में स्तरीकरण की आवश्यकता पर बल देते हुए बताया है कि बिना स्तरण के समाज में व्यवस्था नहीं रह सकती। समाज को विघटन की स्थिति से बचाने के लिए स्तरीकरण पर मर्टन (Merton) बल देता है। आगे वह कहते हैं कि जिस समाज में स्तरण नहीं होगा, वहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति समान उद्देश्य रखेगा और उन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए समान साधनों (Means) का प्रयोग करेगा, जिससे समाज में अशान्ति व अप्रतिमानता या प्रतिमान-विहीनता (Anomie) की अवस्था आ जावेगी। इसीलिए तो मर्टन (Merton) इस अप्रतिमानता की अवस्था को दूर करने के लिए समाज में स्तरण पर बहुत बल देता है। इस स्तरण के होने पर ही समाज में लोगों के भिन्न-भिन्न उद्देश्य होंगे और वे उन्हें पाने के लिए भिन्न-भिन्न साधनों का प्रयोग करेंगे। इसी से समाज में शान्ति की अवस्था बनी रहेगी। आगे मर्टन कहते हैं कि "स्तरण होने पर ही लोग अपनी भिन्न-भिन्न प्रस्थिति को पहचान सकेंगे और उसी के अनुसार शान्तिपूर्वक ढंग से समाज में कार्य कर सकेंगे। इस प्रकार समाज में साम्य बना रहेगा।"

आलोचना (Criticism)--आधुनिक समाजों में जो तरीका स्तरण का प्रचलित है, उसकी आलोचनायें भी समाजशास्त्रियों ने की हैं। भारतीय समाज में स्तरण जाति-व्यवस्था के आधार पर होता है, अर्थात् व्यक्ति गुण, योग्यता व प्रतिभा के कारण समाज में प्रस्थिति नहीं पाता, वरन् जन्म के आधार पर पाता है। किंग्सले डेविस ने इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि ऊँची जाति का व्यक्ति समाज में 'ऊँची प्रस्थिति' पाता है और नीची जाति का व्यक्ति 'नीची प्रस्थिति' पाता है। परन्तु यह कभी भी आवश्यक नहीं है कि ब्राह्मण का बेटा कार्यों से भी 'ब्राह्मण' हो और शूद्र का बेटा कार्यों से भी 'शूद्र' हो। इस प्रकार समाज के सुचारु रूप से प्रकार्य (Function) करने के लिए प्रस्थिति जन्म (जाति-व्यवस्था) के आधार पर नहीं होनी चाहिए, वरन् गुणों, योग्यता व प्रतिभा के आधार पर होनी चाहिए।

भारतीय समाज में ही नहीं, पाश्चात्य समाजों में भी प्रस्थिति सामाजिक वर्ग (Social Class) के आधार पर निर्धारित होती है। किंग्सले डेविस बताते हैं कि बच्चा जन्म से ही अपने माता-पिता की प्रस्थिति को पाता है। एक जटिल समाज (Complex society) में पिता की प्रस्थिति का प्रभाव बच्चे की युवावस्था तक तो कम से कम रहता है अर्थात् उसे भी वही आदर-सम्मान गुण व योग्यता के बिना मिलता है जो कि उसके पिता को प्राप्त है। दूसरी ओर एक साधारण समाज (Simple society) में माता-पिता की प्रस्थिति का प्रभाव बच्चे के जीवन-भर चलता है। यदि माता-पिता की प्रस्थिति साधारण समाज में सुदृढ़ है व उच्च है तो बच्चे को भी जीवन-भर यह प्रस्थिति समाज में मिल जाती है।

इस प्रकार जो स्तरण जाति-व्यवस्था व वर्ग-व्यवस्था के आधार पर होता है, वह समाज के संगठन में अहितकर है। स्तरण हर समाज के लिए आवश्यक है, परन्तु वह गुण, प्रतिभा, तथा ज्ञान के आधार पर होना चाहिए। व्यक्तियों को समाज में पद उनकी योग्यता के आधार पर मिलना चाहिए, तभी समाज सुचारु रूप से क्रियारत रह सकता है।

टालकट पारसन्स के अनुसार सभी सामाजिक व्यवस्थाओं (Social systems) में स्तरीकरण सामाजिक संरचना का एक सर्वमान्य पक्ष (Generalization aspect) है। सामाजिक स्तरीकरण के महत्त्व का निरूपण एवं एक सिद्धान्त के रूप में इसका विश्लेषण सामाजिक सीमाओं (Social Frame of Reference) के सन्दर्भ में किया जा सकता है जिसको सामाजिक क्रिया (Social Action) का विश्लेषण (Analysis) कहते हैं। समाज में इकाइयों (Entities) का प्रचलित मूल्यों एवं आदर्शों के आधार पर श्रेणी-विभाजन होता है। यही मूल्यात्मक अनुमापन इकाइयों को एक श्रेणीकृत स्तर एवं क्रम (Rank and order) प्रदान करता है। इस स्तरीकरण की क्रिया का आधार आयु, लिंग (Sex) एवं वैयक्तिक भिन्नताएँ (Individual differences) होते हैं। टालकट पारसन्स के अनुसार "अपने मूल्यात्मक पक्ष में स्तरण समाज-व्यवस्था में

प्रचलित सामान्य मूल्यों एवं माप के प्रतिमानों के आधार पर इकाइयों को श्रेणीकृत करना है।"[1] इकाइयों का श्रेणी-विभाजन अथवा स्तरण एक इकाई की दूसरी इकाई से तुलना (Comparison) करके किया जाता हैं।

यह तुलना दो रूपों में हो सकती है :

(1) श्रेणीकृत (Classificatory)।

(2) सम्बन्धों के आधार पर (Relational)।

(1) श्रेणीकृत विशेषतायें ही लिंग (Sex), आयु (Age) एवं इकाई के विशिष्ट गुणों के आधार पर हो सकती है।

(2) सम्बन्धों के आधार पर (Relational)—स्तरण में व्यक्तियों की तुलना नातेदारीय इकाई (Kinship Unit) के सदस्य के रूप में होती है।

टालकट पारसन्स के अनुसार स्तरण के तीन मूल आधार होते हैं।[2]

(i) गुण (Quality)।

(ii) निष्पादन (Performance)।

(iii) स्वामित्व (Possession)।

1. गुण (Quality)—गुण इकाई की वह विशेषता है जिसका मूल्यांकन वस्तु के सन्दर्भ में स्वतन्त्रतापूर्वक किया जा सकता है। उदाहरणार्थ जब हम यह कहते हैं कि उस व्यक्ति की बुद्धि (1. Q) 120 है तो हमारा आशय सामान्यतः उसकी कुशाग्र बुद्धि से होता है जो एक गुण (Quality) है। समाज-व्यवस्था में गुणात्मक पक्ष (Quality aspect) ही कर्त्ता (Actor) के पद (Status) को बताता है।[3] दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि समाज-व्यवस्था (Social System) में गुण (Quality) से आशय कर्त्ता के पद (Status) से होता है।

2. निष्पादन (Performance)—निष्पादन से आशय एक व्यक्ति की क्रियाओं से है जो विभिन्न प्रस्थितियों में वह करता है। जैसे यह कहना कि उस व्यक्ति ने 'ठीक जवाब दिया' अथवा 'उसने सुन्दर कार्य किया' तो हमारा आशय उस व्यक्ति की भूमिका के स्तर से होता है। इस प्रकार प्रस्थिति विशेष में निष्पादन व्यक्ति की भूमिका (Role) को सम्बोधित करता है।[4]

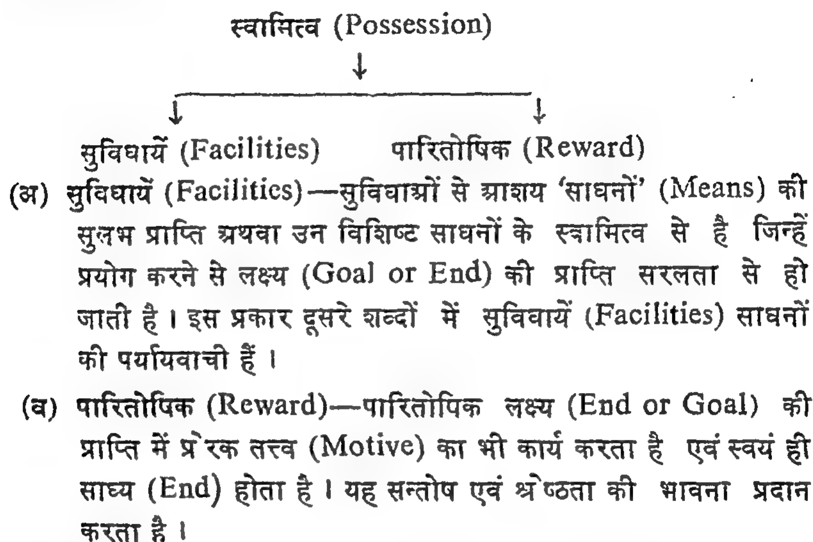
सभी भूमिकाओं (Roles) का आधार पद या प्रस्थिति (Status) होता है। दोनों एक दूसरे पर निर्भर होते हैं।

---

1. Talcott Parsons : Essays in Sociological Theory, page 388.
2. Talcott Parsons : Essays in Sociological Theory, page 389.
3. Talcott Parsons : Ibid. ; p. 393-394
4. Talcott Parsons : Ibid, ; p. 394

स्वामित्व (Possession)[1]—अधिकार या स्वामित्व वस्तु
ं' का परिचायक होता है। इस सम्बन्ध (Relation) का
किया जा सकता है।[2]

कट पारसन्स (Talcott Parsons) के अनुसार स्वामित्व (Possession)
स्वरूप होते हैं :



(अ) सुविधायें (Facilities)—सुविधाओं से आशय 'साधनों' (Means) की सुलभ प्राप्ति अथवा उन विशिष्ट साधनों के स्वामित्व से है जिन्हें प्रयोग करने से लक्ष्य (Goal or End) की प्राप्ति सरलता से हो जाती है। इस प्रकार दूसरे शब्दों में सुविधायें (Facilities) साधनों की पर्यायवाची हैं।

(ब) पारितोषिक (Reward)—पारितोषिक लक्ष्य (End or Goal) की प्राप्ति में प्रेरक तत्त्व (Motive) का भी कार्य करता है एवं स्वयं ही साध्य (End) होता है। यह सन्तोष एवं श्रेष्ठता की भावना प्रदान करता है।

पारितोषिक (Reward) भौतिक (Material) एवं प्रातीकिक या प्रतीकात्मक (Symbolic) दोनों ही प्रकार का हो सकता है। उदाहरण के लिए 'भारत रत्न', 'पद्म श्री' प्रातीकिक या प्रतीकात्मक पारितोषिक ही हैं।

4. स्तरीकरण (Stratification) के चतुर्थ आधार के रूप में शक्ति (Power) को लिया जा सकता है।

यथार्थ में शक्ति (Power) आदर्शात्मक (Ideal) न होकर स्तरण का वास्तविक आधार है।

शक्ति एवं प्रतिष्ठा (Power and Prestige) परस्पर एक दूसरे के पूरक एवं अन्तःसम्बन्धित होते हैं। जिस व्यक्ति में प्रतिष्ठा निहित है, उसमें शक्ति (Power) भी होती है। इस शक्ति एवं प्रतिष्ठा की व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता एवं योग्यता के अनुसार 'क्रिया' (Action) करता है।

'शक्ति' (Power) का मूलाधार अथवा निर्णायक योग्यता (Ability) तथा कृतित्व (Work) माना जाता है।

---

1. Talcott Parsons : Ibid. ; p. 389
2. Talcott Parsons : Ibid. ; p. 390

शक्ति (Power) राज्य द्वारा प्रदत्त भी हो सकती है तथा अर्जित (Acquired) भी।

समाज-व्यवस्था में 'शक्ति' (Power) के आधार पर ही व्यक्ति विशेष की प्रस्थिति (Status) तथा भूमिका (Role) का निर्धारण होता है। जैसे-जैसे व्यक्ति विशेष में निहित शक्ति (Power) के परिमाण में परिवर्तन होता है, उसी दिशा में तथा उसी अनुपात में व्यक्ति की प्रस्थिति तथा भूमिका भी बदल जाती है।

श्री टालकट पारसन्स सामाजिक स्तरण (Social Stratification) को समाज-व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष मानते हैं। सामाजिक स्तरण के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए टालकट पारसन्स ने लिखा है—"जहाँ भी समाज-व्यवस्था है, वहीं सामाजिक स्तरण भी पाया जाता है।

सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप एवं प्रकार
(Forms and Types of Social Stratification)

दुनिया के विस्तृत समाजों को यदि भूत और वर्तमान के दृष्टिकोण से देखें तो हमें स्पष्ट रूप से उनमें तीन प्रकार का सामाजिक स्तरण मिलेगा :

(1) **जाति-प्रथा** (Caste System)—जाति-प्रथा सामाजिक स्तरण का बहुत कठोर, दृढ़ (Rigid) स्वरूप है। इस प्रथा में सदस्यता, जैसाकि पहिले स्पष्ट किया जा चुका है, जन्म के आधार पर निर्धारित की जाती है। इस प्रकार मनुष्य की प्रस्थिति, पद आदि समाज में जन्म से ही निर्धारित हो जाते हैं। कभी-कभी जाति-प्रथा में भी विवाह व गोद (Marriage or adoption) के द्वारा प्रस्थिति अर्जित करली जाती है, परन्तु ऐसा बहुत ही कम होता है। इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए **जॉन० एफ० क्यूबर** (John F. Cuber) लिखते हैं कि जाति-प्रथा इसलिए तो व्यक्ति का स्तरण करने के लिए एक स्थायी आधार है।

जाति-व्यवस्था को बन्द **वर्ग-प्रणाली** (Close Class System) के नाम से भी पुकारते हैं अर्थात् एक वर्ग का व्यक्ति दूसरे वर्ग की प्रस्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। उसका व्यवसाय व पद आदि सब पूर्व-निश्चित होते हैं, अर्थात् वह उनको अपनी इच्छा व प्रयासों से अर्जित नहीं कर सकता। चमार का लड़का चमार व सुनार का लड़का सुनार का ही व्यवसाय करता है, ब्राह्मण का लड़का बिना प्रयास के ही अनेक अधिकार प्राप्त कर लेता है जिससे उसकी प्रस्थिति समाज में बढ़ जाती है, जबकि शूद्र का लड़का प्रयास करने पर भी ब्राह्मण के लड़के के बराबर अधिकार व प्रस्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज में स्तरण जाति-प्रथा के अनुसार व्यक्ति की योग्यता, उसके गुणों तथा शक्तियों आदि के द्वारा नहीं किया जाता, वरन् जन्म व वंश के आधार पर किया जाता है।

ए० डब्लू० ग्रीन (A. W. Green) इस सम्बन्ध में लिखते हैं "जाति सामाजिक दर्जों के स्तरण की एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें गतिशीलता, सामाजिक दर्जों

की सीढ़ी में ऊपर-नीचे जाना कम से कम विचार की दृष्टि से नहीं हो सकता। एक व्यक्ति की जन्म से प्राप्त प्रस्थिति उसकी आजीवन प्रस्थिति होती है। जन्म व्यक्ति के व्यवसाय, निवास-स्थान, जीवन-पद्धति, साथियों तथा उस समूह का निश्चय करता है जिसमें से उसे अपना जीवन-साथी चुनना है। जाति-व्यवस्था में सदैव यह विचार निहित होता है कि नीची जाति के लोगों के साथ शारीरिक अथवा अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध ऊँची जाति के व्यक्तियों को पतित करने वाला हो सकता है। जाति-प्रथा कानून द्वारा रचित और धर्म द्वारा स्वीकृत होती है।

कुछ समाजशास्त्रियों का विचार है कि आधुनिक पाश्चात्य समाजों में जाति-व्यवस्था के लक्षण नहीं पाये जाते हैं। परन्तु विभिन्न अध्ययनों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वहाँ पर भी स्तरण में जाति-प्रथा का योग होता है। क्यूबर ने इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि नीग्रो और गोरों में अन्तर्जातीय शादी करना 30 राज्यों में कानूनी तौर से निषिद्ध है, तथा अन्य अनेक राज्यों में सामाजिक प्रथाओं आदि के द्वारा निषिद्ध है। बहुत से कार्य कानूनी तौर से व प्रथाओं आदि के द्वारा नीग्रो जाति के लिए निषिद्ध हैं। इस प्रकार नीग्रो जाति की प्रस्थिति अमेरिकी समाज में गोरों की अपेक्षा बहुत नीची है।

(2) **मुक्त वर्ग-प्रणाली** (Open Class System)—हम मुक्त वर्ग-प्रणाली की बन्द वर्ग-प्रणाली से तुलना करके भेद करते हुए कह सकते हैं कि मुक्त वर्ग-प्रणाली में प्रस्थिति व्यक्तिगत क्षमता व योग्यता आदि के आधार पर निर्धारित होती है। व्यक्ति अपनी योग्यता में विकास के साथ-साथ अपनी प्रस्थिति व पद में भी उन्नति कर सकता है। इस प्रकार प्रस्थिति व पद बदलते रहते हैं। अमेरीका में अब्राहम लिंकन बहुत ही गरीब परिवार का व्यक्ति था, परन्तु अपनी योग्यता के कारण वह वहाँ का सोलहवाँ प्रेसीडेण्ट बना। इसी प्रकार रूस में स्टेलिन गरीब परिवार का व्यक्ति था, परन्तु अपनी योग्यता, निपुणता व प्रतिभा के कारण अनेक वर्षों तक रूस का भाग्य-विधाता बना रहा। मुक्त वर्ग-प्रणाली के अन्तर्गत स्तरण में व्यक्तियों की प्रस्थिति जन्म से ही निश्चित नहीं होती। यह आवश्यक नहीं है कि अमीर परिवार का व्यक्ति ही समाज में उच्च प्रस्थिति पायेगा, गरीब का नहीं। किंग्सले डेविस लिखते हैं कि यहाँ पर स्ट्रैटा (संस्तर) खुला रहता है अर्थात् कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता व गुणों के आधार पर उच्च प्रस्थिति प्राप्त कर सकता है।

स्तरण का यह स्वरूप पाश्चात्य समाजों में अधिकतर प्रचलित है। समाज में व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न प्रस्थितियाँ होती हैं जो कि उनकी योग्यता व गुणों के आधार पर होती हैं।

जॉन क्यूबर का कहना है कि आज किसी भी समाज में स्तरण न तो जाति-व्यवस्था के आधार पर है और न ही वर्ग-व्यवस्था के आधार पर, वरन् दोनों ही व्यवस्थाएँ हर समाज के स्तरण में देखने को मिलती हैं।

आगे क्यूवर कहते हैं समाज में परिवर्तन होते ही रहते हैं जो कि व्यक्ति की प्रस्थितियों को प्रभावित करते हैं। कभी समाज जाति-व्यवस्था के आधार पर चलता है तो कभी वर्ग-व्यवस्था के आधार पर, अर्थात् कभी समाज में स्तरण का जाति-व्यवस्था का रूप दिखाई देता है तो कभी वर्ग-व्यवस्था का। कभी-कभी क्रान्ति के कारण स्तरण का ही सारा स्वरूप थोड़े से समय में बदल जाता है। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन की तरह स्तरण में भी कभी-कभी धीरे-धीरे विकास या परिवर्तन होता है व कभी-कभी यकायक क्रान्ति के द्वारा तेजी से। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज में स्तरण वर्ग-व्यस्था व जाति-व्यवस्था दोनों के ही आधार पर पाया जाता है।

3 **राज्य-व्यवस्था** (Estate System)—स्तरण के इस स्वरूप के बारे में क्यूवर अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि "यह स्तरण की व्यवस्था जाति-प्रथा से कम कठोर (Rigid) है। यहाँ पर राज्य स्वयं व्यक्तियों की प्रस्थिति को निश्चित करता है व समाज में लोग उसी के अनुसार कार्य करते हैं। योरोप का सामन्तवादी समाज इस व्यवस्था का उदाहरण है, अर्थात् सामन्तवाद में स्तरण तीन स्तर पर था—सबसे पहले 'Noblemen', दूसरे स्तर पर 'Freemen' व तीसरे स्तर पर 'Serfs' थे। इन तीनों वर्गों के कार्य व अधिकार आदि कानून द्वारा पूर्व-निश्चित थे। हर वर्ग को अपनी-अपनी प्रस्थिति के अनुसार कार्य करना पड़ता था। हाँ, कभी कुछ निश्चित शर्तों के आधार पर दास लोग (Serfs) दूसरे वर्ग (Freemen) की प्रस्थिति पा सकते थे, परन्तु ऐसा वे लोग बहुतायत में कर नहीं सके।

सामाजिक स्तरीकरण के अपकार्य
(Dysfunctions of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण के अपकार्य सम्भवतः प्रकार्यों की तुलना में अधिक स्पष्ट हैं। वे मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं :

(1) **सामाजिक विषमता** (Social Inequality)—सामाजिक स्तरीकरण का सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण अपकार्य सामाजिक विषमता है। चूँकि सामाजिक संस्तरण में समाज कई स्तरों में या खण्डों-विखण्डों एवं उपखण्डों में विभक्त हो जाता है, अतः इसके सदस्यों में उच्चता एवं निम्नता की भावना व्याप्त हो जाती है। उदाहरण-स्वरूप भारतीय जाति-प्रथा में हिन्दू समाज को विभिन्न स्तरणों, खण्डों-विखण्डों एवं उपखंडों में विभाजित कर दिया गया है। इस संस्तरण में ब्राह्मणों की प्रस्थिति सबसे ऊपर है, इसके बाद क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्थान एक के बाद दूसरा उतरता गया है। अतः इनमें उच्चता और निम्नता की भावना विद्यमान होती है।

इसी प्रकार वर्ग-प्रणाली में भी उच्चता और निम्नता की भावना विद्यमान होती है, क्योंकि इसमें भी समाज कई वर्गों में विभक्त हो जाता है।

(2) श्रेष्ठ वर्ग के संचरण में अवरोध (Circulation of Elite Hampered)—सामाजिक स्तरीकरण का दूसरा महत्त्वपूर्ण अपकार्य श्रेष्ठ वर्ग के संचरण में अवरोध है। हैरी जॉनसन के अनुसार, "वर्ग-प्रस्थिति को वसीयत में लेने की प्रवृत्ति जो कि पिताओं के व्यवसायों तथा उनके पुत्रों के व्यवसायों के बीच सम्बन्धों पर किये गये प्रत्येक अध्ययन में प्रकट होती है, का यही अर्थ है कि कुछ अंशों तक श्रेष्ठ वर्ग के संचरण में अवरोध खड़े होते हैं, कुछ प्रतिभाओं की हानि होती है और कदाचित् कुछ सामाजिक पद कम कुशल व्यक्तियों द्वारा भरे जाते हैं। जाति की भाँति वर्ग-प्रणाली में श्रेष्ठ वर्ग के संचरण पर प्रतिबन्ध को एक सिद्धान्त का ही दर्जा दे दिया गया है।"

(3) वर्ग के प्रति पक्षपात की प्रवृत्ति (Attitude of Bias Towards Class)—सामाजिक स्तरीकरण का तीसरा महत्त्वपूर्ण अपकार्य यह है कि वर्ग विशेष के प्रति लोगों में पक्षपात की प्रवृत्ति पायी जाती है। इसका प्रधान कारण यह है कि लोगों में अपने वर्ग के प्रति अधिक अनुराग होता है, फलस्वरूप उनमें सामाजिक वर्ग-चेतना पायी जाती है। हैरी जॉनसन के अनुसार, "जिस किसी अंश तक सामाजिक वर्ग-चेतना पायी जाती है (संकीर्ण मार्क्सवादी अर्थ में ही हो, यह आवश्यक नहीं) वहाँ अनिवार्यतः वर्ग के प्रति पक्षपात की प्रवृत्ति चल पड़ती है।"

(4) निर्धन तथा निम्न वर्ग के लोगों का शोषण (Exploitation of the Poor and the People of Lower Strata)—सामाजिक स्तरीकरण का चौथा अपकार्य यह है कि इसके अन्तर्गत निर्धन तथा निम्न स्तर के लोगों का शोषण होने से असन्तोष फैलता है। इससे उन लोगों के अधिकार छिन जाते हैं और उनकी इच्छाओं का दमन कर दिया जाता है।

(5) झूठा अभिमान (False Pride)—सामाजिक स्तरीकरण का पाँचवा अपकार्य यह है कि इसमें ऊँचे संस्तरण के लोगों में झूठे सम्मान तथा अभिमान की भावना पैदा हो जाती है और इसमें परिश्रम का समान आदर नहीं किया जाता।

(6) वर्ग-संघर्ष (Class Conflict)—वर्ग-संघर्ष सामाजिक स्तरीकरण का एक और महत्त्वपूर्ण अपकार्य है। सामाजिक स्तरीकरण में समाज चूँकि कई स्तरों में विभाजित है, जिसमें एक स्तर के सदस्य दूसरे स्तरों के सदस्यों के प्रति श्रेष्ठता अथवा हीनता की भावना रखते हैं और उसे प्रदर्शित भी करते हैं, परिणामस्वरूप, उनमें आपस में संघर्ष होता है।

(7) अन्य अपकार्य (Other Dysfunctions)—हैरी जॉनसन के अनुसार सामाजिक वर्ग के अपकार्य हैं : "प्रतिभाशाली व्यक्तियों को कुछ शीर्ष पदों पर, जहाँ कि वे सामाजिक दृष्टि से अधिक उपयोगी होते, पहुँचने से रोकना, प्रतिभाशाली व्यक्ति जिन पदों पर हैं, वहाँ रोड़े अटकाना और प्रकार्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण

लोगों के सामाजिक पुरस्कारों को रोके रखना और अनावश्यक रूप से इन पुरस्कारों को उन व्यक्तियों तक सीमित रखना जिनका योगदान समाज के लिए कम महत्त्वपूर्ण है।"

उपर्युक्त अपकार्य कुछ अंशों तक तो सदैव ही पाये जाते हैं, पर ये कभी भी इतने बढ़े-चढ़े नहीं होते कि उन प्रकार्यों से आगे हो जायें जिनका हमने उल्लेख किया है, तथापि इन अपकार्यों का बहिष्कार करते हुए सामाजिक स्तरीकरण को अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास करना चाहिए।

सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त
(Theories of Social Stratification)

श्री टी० बी० बोटोमोर (T. B. Bottomore) ने लिखा है कि "सामाजिक स्तरीकरण को एक सामान्य सिद्धान्त बनाने में दो प्रमुख प्रयास हुए हैं—पहला **श्री कार्ल मार्क्स का और दूसरा प्रकार्यवादियों का।** श्री कार्ल मार्क्स के अतिरिक्त *सर्वश्री **मैक्स वेबर** (Max Weber) तथा **वार्नर** (Warner) **टालकट पारसन्स** ने भी* ऐतिहासिक स्तरीकरण (Historical Stratification) के सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है, जबकि **सर्वश्री पारसन्स** (Parsons) तथा **डेविस व मूर** (Davis & Moore) ने **प्रकार्यवादी सिद्धान्तों** को विकसित करने का प्रयास किया है। इनके सिद्धान्तों को हम संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं :

1. कार्ल मार्क्स का संघर्ष का सिद्धान्त
(Marxian Theory of Conflict)

किसी भी सामाजिक घटना का अध्ययन समाजशास्त्री भिन्न-भिन्न प्रतिरूपों के आधार पर करते हैं, किन्तु फिर भी दो प्रतिरूप सामञ्जस्य (Consensus) या संगठन (Integration) और अवपीड़न (Coercion) या संघर्ष (Conflict) प्रमुख माने गये हैं। इन दो विकल्पी प्रतिरूपों में से प्रथम प्रतिरूप समाज में सामञ्जस्य तथा संगठन को तथा दूसरा प्रतिरूप बल-प्रयोग एवं संघर्ष को प्रमुख मानता है। संगठन प्रतिरूप वचनबद्धता, सम्बन्धता, एकता, पारस्परिकता, सहयोग, सामञ्जस्य, स्थायित्व तथा निरन्तरता जैसी विशेषताओं पर, जबकि संघर्ष प्रतिरूप बल-प्रयोग, विभाजन, द्वेष, मतभेद, संघर्ष, विघटन तथा परिवर्तन इत्यादि विशेषताओं पर आधारित है। सामाजिक मानदण्ड एवं वैधता प्रथम प्रतिरूप के मुख्य आधार हैं और इसके विपरीत स्वार्थ एवं शक्ति दूसरे प्रतिरूप के प्रधान आधार हैं।

संघर्ष के सिद्धान्त के अनुसार समाज में निरन्तर संघर्ष एवं परिवर्तन अवश्यक है, न कि व्यवस्था एवं स्थायित्व। व्यक्तियों एवं समूहों में प्रकार्यात्मक मतभेद और रचनात्मक परिवर्तन सामाजिक प्रगति के लिए वांछित हैं। वास्तव में स्तरीकरण प्रत्येक समाज में दुर्लभ वस्तुओं को प्राप्त करने-हेतु होने वाले लगातार संघर्ष का परिणाम है।

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त को 'वर्ग' (Class) एवं 'वर्ग-संघर्ष' (Class Struggle) की अवधारणा के आधार पर स्पष्ट किया है। उनके अनुसार प्रत्येक काल में समाज दो वर्गों में विभक्त रहा है। एक तो वह वर्ग जिसका कि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है तथा दूसरा वह वर्ग जिसका कि उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व नहीं होता। मार्क्स के अनुसार इन वर्गों का निर्माण उस काल की **'उत्पादन की प्रणाली'** तथा इस प्रणाली के अनुरूप मनुष्यों के 'आर्थिक सम्बन्धों' के आधार पर होता है। समाज की इन उत्पादक शक्तियों के विकास एवं परिवर्तनों के अनुरूप मनुष्यों के उत्पादन या आर्थिक सम्बन्ध भी विकसित एवं परिवर्तित होते हैं। मार्क्स के अनुसार आज तक मानव-इतिहास में पाँच प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध हुए हैं। वे हैं प्राचीन सामुदायिक सम्बन्ध, दास, सामन्तशाही, पूँजीवादी और समाजवादी सम्बन्ध।

उत्पादन-प्रणाली के फलस्वरूप जो दो वर्ग बनते हैं, उनके कुछ निहित स्वार्थ होते हैं। जिस वर्ग के हाथ में उत्पादन के साधन होते हैं, वह शासक बनकर श्रमिक वर्ग का शोषण करता है। आय का असमान वितरण होने से विरोध उत्पन्न होने लगता है तथा शोषित वर्ग में असन्तोष की भावना उत्पन्न होती है। इस प्रकार वर्ग-विरोध वर्ग-संघर्ष का प्रथम स्तर है।

वर्ग-संघर्ष की अवस्था तभी उत्पन्न होती है जब कि शोषित वर्ग में वर्ग--चेतना उत्पन्न हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप वे अपनी आवश्यकताओं और अधिकारों के प्रति जागरूक हो जाते हैं। कार्ल मार्क्स ने अपनी पुस्तक **'पॉवरटि ऑफ फिलासॉफी'** तथा **'कैपिटल'** में उन सहायक परिस्थितियों का वर्णन किया है जिनके परिणामस्वरूप 'वर्ग-चेतना' सम्भव होती है। वे हैं उद्योगों का केन्द्रीयकरण, यातायात और संचार के साधनों का विकास, शोपक व शोषित वर्ग के बीच बढ़ती हुई आर्थिक व सामाजिक दूरी तथा असमानतायें जिनके परिणामस्वरूप श्रमिक-वर्ग की एकता में वृद्धि होती है।[1] इन कारणों के फलस्वरूप एक ओर शोषित वर्ग अपना संगठन बनाकर अपने में शक्ति केन्द्रित करता है तथा दूसरी ओर शोषक वर्ग धर्म, नैतिकता और राष्ट्रीयता के आवरण में यहाँ तक कि राज्य सत्ता के प्रयोग से शोषित वर्ग की शक्ति के दमन का प्रयत्न करता है, किन्तु क्रांति हो ही जाती है।

मार्क्स के विचार से वर्ग-संघर्ष मानव-समाज में अपरिहार्य है। इसलिए उन्होंने अपनी पुस्तक **'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो'** में लिखा है, "आज तक अस्तित्व में रहे समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है" अर्थात् प्रत्येक काल में सामाजिक वर्गों में निरन्तर संघर्ष रहा है। मानव-समाज के प्रारम्भिक काल में स्वामी और दास

---

1. T. B. Bottomore : Sociology ; p. 206

में, सामन्तशाही युग में सामन्त एवं भूमिहीन किसानों में संघर्ष हुआ और आधुनिक पूँजीवादी समाज में यह संघर्ष बुर्जुआ तथा सर्वहारा वर्गों के बीच जारी है। मार्क्स का कथन है कि जब तक वर्ग रहेंगे, तब तक संघर्ष रहेगा, अतः वर्गों की समाप्ति ही मानव-संघर्ष की समाप्ति है।

शुम्पीटर (Schumpeter) के मतानुसार श्री मार्क्स की प्राथमिक रुचि वर्गों के विकास में थी, पर **श्री बोटोमोर** के विचार से श्री मार्क्स सामाजिक व राजनैतिक परिवर्तन लाने में वर्गों की भूमिका में भी रुचि रखते थे। उनका कहना था कि पूँजीवाद के भीतर ही सर्वहारा वर्ग का निर्माण व विकास होता है। **श्री मार्क्स** पहले सर्वहारा वर्ग को 'स्वयं में एक वर्ग' मानते हैं—यह वर्ग ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिसका कि उत्पादन के साधनों पर कोई स्वामित्व नहीं है, जिनके पास एक मात्र 'पूँजी' उनका अपना श्रम है जिसे कि पूँजीपतियों को बेचकर वे अपना तथा अपने परिवार-जनों का पेट पालते हैं और जो कि आर्थिक शोषण का शिकार बने रहते हैं। फिर भी मार्क्स यह बताने का प्रयत्न करते हैं कि वह वर्ग किस प्रकार 'स्वयं के लिए एक वर्ग' बन जाता है अर्थात् इसके सदस्य किस प्रकार सामान्य हितों के प्रति जागरूक होकर एवं एक संगठित शक्ति के रूप में विकसित होकर पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के विरुद्ध उठ खड़े होते हैं और उसे जड़ से उखाड़ फैंककर एक वर्गहीन समाज की स्थापना करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

इस प्रकार, जैसा कि **टी० बी० बोटोमोर** (T. B. Bottomoro) ने लिखा है, "श्री मार्क्स के इस सिद्धान्त में सामाजिक वर्गों की परिभाषा उत्पादन के साधनों से उनके सम्बन्ध (स्वामित्व अथवा अस्वामित्व) के आधार पर की गयी है तथा यह इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक समाज में दो प्रधान विरोधी व संघर्षरत वर्ग होते हैं। यद्यपि श्री मार्क्स ने अपने अधिकांश वैज्ञानिक लेखों में सामाजिक स्तरीकरण का दो महान् वर्गों के सन्दर्भ में विश्लेषण किया है, किन्तु उनके पास तीन वर्गों की व्यवस्था का भी एक प्रतिरूप (Model) है जिनका कि उल्लेख 'केपिटल' के तृतीय खण्ड में किया गया है।" श्री मार्क्स ने तीन वर्गों की व्यवस्था के दो विभिन्न प्रतिरूपों का उल्लेख किया है—(1) उन्होंने आधुनिक समाज के तीन महान् वर्गों को क्रमशः पूँजीपति, भूमि के स्वामी (या जमींदार) या मजदूर (या श्रमिक) कहकर पुकारा है और साथ ही (2) श्री मार्क्स ने पूँजीपतियों, जो उत्पादन के साधनों के स्वामी हैं और मजदूरी पर काम करने वाले श्रमिकों को रोजगार देते हैं, मध्यम वर्ग (अथवा छोटे बुर्जुआ) जो उत्पादन के साधनों के स्वामी तो हैं, पर स्वयं अपनी श्रम-शक्ति का योगदान करते हैं, और मजदूरी कमाने वाले श्रमिकों में भेद किया है।[1] इसका अर्थ यह हुआ कि मार्क्स ने सामाजिक स्तरीकरण

---

1. T. B. Bottomore : Op. Cit. ; p. 212.

के तीन वर्गीय स्वरूप को भी प्रस्तुत किया है, वैसे उनके द्वारा प्रस्तुत सामाजिक स्तरीकरण का दो वर्गीय स्वरूप ही अधिक लोकप्रिय है।

टी० बी० बोटोमोर ने लिखा है कि ;श्री मार्क्स इस बात को भलीभाँति जानते थे कि सामाजिक विभेदीकरण से दो प्रधान वर्गों के अतिरिक्त विरोधी हितों वाले कई अन्य समूह उत्पन्न हो जाते हैं। फिर भी उन्होंने इस तथ्य को अधिक महत्त्व प्रदान नहीं किया। इसके तीन प्रमुख कारण बताये जा सकते हैं—

(1) आपने व्यक्ति और सम्पत्ति के सम्बन्ध को सामाजिक क्रिया का महत्त्वपूर्ण निर्णायक माना।

(2) आप दो विरोधी तत्त्वों के अन्तर्विरोधों के फलस्वरूप होने वाले विकास की एक दार्शनिक अवधारणा (जो श्री हीगल से ली गयी थी) से अनुचित रूप से प्रभावित थे, अथवा

(3) वर्गहीन समाज के आदर्श को स्वीकार करने के कारण विद्यमान वर्ग-व्यवस्था का उनका विश्लेषण विकृत हो गया।[1] **टी० बी० बोटोमोर** ने आगे लिखा है कि शायद इन सभी कारकों का प्रभाव रहा हो, किन्तु इनमें से प्रथम सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि सामाजिक और राजनैतिक संघर्षों का विश्लेषण करने में श्री मार्क्स के वर्ग के सिद्धान्त का बहुत व्याख्यात्मक मूल्य था और अब भी है।

समालोचना—श्री मैक्स वेबर ने मार्क्सवादी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए लिखा है कि "एक वर्ग स्वयं में एक समुदाय की रचना नहीं करता" (A class does not in itself constitute a Community), वरन् वास्तव में सामुदायिक क्रिया द्वारा वर्ग-स्थितियाँ (Class Situations) उत्पन्न होती हैं। जिस सीमा तक एक वर्ग वास्तव में समुदाय बन जाता है, उस पर सभी का प्रभाव पड़ता है जो उसके सदस्यों में एकता अथवा विभाजन उत्पन्न करते हैं। इस पर समग्र समाज का सामान्य प्रभाव और अन्य सामाजिक समूहों व वर्गों से उसके सम्बन्ध का भी प्रभाव पड़ता है। मार्क्स व मार्क्सवादियों ने इस सत्य को स्वीकार नहीं किया है और साथ ही "बहुत शीघ्रता से यह मान लिया है कि सामाजिक वर्गों और केवल सामाजिक वर्गों में वास्तविक समुदाय में परिवर्तित होने की क्षमता है।" टी० बी० बोटोमोर ने भी लिखा है कि "भारतीय जाति-व्यवस्था जैसे सामाजिक स्तरीकरण के विशिष्ट स्वरूपों पर जब इसे लागू किया जाता है तो इस सिद्धान्त में बहुत-सी कठिनाइयाँ दिखती हैं। बहुत से अन्य मामलों में इसकी व्याख्यात्मक शक्ति कम हो जाती है, क्योंकि यह सामाजिक वर्ग को राजनैतिक क्रिया का एक मात्र आधार मानने पर जिद्द करता है।"[2]

---

2. T. B. Bottomore : Op. Cit. ; p. 206.
2, T. B. Bottomore : Op. Cit. ; p. 206–207.

2. प्रकार्यवादी सिद्धान्त (Functional Theory) :

सामाजिक स्तरीकरण का यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि समाज में व्यवस्था एवं स्थायित्व आवश्यक है। प्रकार्यवादियों के अनुसार समाज एक सावयवी की तरह है जिसका अस्तित्व उसकी व्यवस्था में पाये जाने वाले सन्तुलन पर आधारित है। स्तरीकरण की प्रक्रिया यद्यपि सामाजिक असमानता को जन्म देती है, किन्तु यह असमानता समाज में सन्तुलन बनाये रखने में सहायक मानी जाती है। उसकी अनुपस्थिति व्यक्तियों और समूहों को समाज में दुर्लभ वस्तुओं को प्राप्त करने-हेतु संघर्ष की ओर ले जा सकती है और जो कि अन्ततः सामाजिक विघटन उत्पन्न करती है। यही कारण है कि प्रकार्यवादी सिद्धान्त को संतुलन (Equilibrium) का सिद्धान्त भी कहा जाता है।

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) तथा विलबर्ट ई. मूर (Wilbert E. Moore) ने इस प्रकार्यवादी सिद्धान्त में सामाजिक स्तरीकरण तथा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार समाज में कुछ प्रस्थितियाँ प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से दूसरी प्रस्थितियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं और उन प्रस्थितियों से सम्बन्धित प्रकार्यों को करने के लिए विशेष दक्षता की आवश्यकता होती है। समाज में कम संख्या में ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनमें ऐसे गुण पाये जाते हैं कि उन प्रस्थितियों में कार्य करने के अनुरूप उनको दक्ष बनाने का प्रशिक्षण दिया जा सके। प्रशिक्षण द्वारा आवश्यक दक्षता प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों को किसी न किसी प्रकार का त्याग करना आवश्यक होता है। योग्य व्यक्तियों को इस प्रकार का त्याग करने तथा उन्हें प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए उनकी प्रस्थितियों के साथ विभिन्न प्रकार के प्रलोभन एवं विशेष अधिकार जोड़ दिये जाते हैं। डेविस तथा मूर के अनुसार इन प्रलोभनों व अधिकारों को तीन मुख्य श्रेणियों में बाँटा जा सकता है—(अ) जीविका और आराम (ब) आमोद-प्रमोद (स) आत्म-सम्मान तथा अहम्-विस्तार। इस प्रकार के प्रलोभनों में जो भिन्नताएँ पायी जाती हैं, उनका प्रभाव विभिन्न प्रस्थितियों में अन्तर्निहित प्रतिष्ठा व सम्मान पर पड़ता है और उसी के अनुसार संस्थागत सामाजिक असमानताओं का अर्थात् सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण होता है।

डेविस तथा मूर के अनुसार यह उल्लेखनीय है कि जो प्रस्थितियाँ एक समाज के लिए महत्त्वपूर्ण होती हैं, यह आवश्यक नहीं है कि वे प्रस्थितियाँ दूसरे समाज के लिए भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण हों। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक समाज की आन्तरिक व बाह्य दशायें भिन्न-भिन्न होती हैं। डेविस तथा मूर ने कुछ ऐसी दशाओं का उल्लेख किया है जो कि प्रस्थिति को प्रभावित करती हैं :—

(1) आन्तरिक दशायें—(अ) विशेषीकरण की मात्रा (ब) प्रकार्यात्मक महत्त्व की प्रकृति (स) द्वेष उत्पन्न करने वाली विभिन्नताओं की मात्रा (द) समाज में स्तरीय संगठन की मात्रा एवं (य) अवसरों की मात्रा।

(2) वाह्य दशायें—(क) सांस्कृतिक विकास का स्तर (ख) दूसरे समाजों के सन्दर्भ में उस समाज की प्रस्थिति एवं (ग) समाज का आकार।

मेल्विन ट्यूमिन ने डेविस व मूर के सिद्धान्त का सार इस प्रकार प्रस्तुत किया है।[1]

(1) कोई भी समाज में कुछ पद अन्य पदों की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं तथा उन्हें निभाने के लिए विशेष कुशलता की आवश्यकता होती है।

(2) कोई भी समाज में केवल इने-गिने व्यक्तियों के पास प्रतिभा होती है जिन्हें इन पदों के निभाने-योग्य कुशलता-सम्वन्धी प्रशिक्षण दिया जा सकता है।

(3) प्रतिभा को कुशलता में बदलने के लिए प्रशिक्षण-अवधि की आवश्यकता है, जिसके अन्तर्गत प्रशिक्षणार्थियों को किसी न किसी प्रकार का त्याग करना पड़ता है।

(4) प्रतिभावान् व्यक्तियों को इस त्याग के फलस्वरूप प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए प्रेरित करने के लिए उनके भावी पदों के लिए प्रेरणा-मूल्य का होना आवश्यक है जो कि समाज के सीमित एवं अधिक वांछित पुरस्कारों को प्राथमिक रूप से एवं सुगमतापूर्वक पाने के प्रकार में होता है।

(5) ये सीमित एवं वांछित वस्तुएँ अधिकार एवं पुरस्कार के रूप में भी होती हैं अथवा उन चीजों में निहित होती हैं जो (अ) भौतिक सुख-सुविधायें वढ़ाती हैं, (व) प्रेरणा एवं लगन प्रदान करती हैं एवं (स) आत्म-सम्मान तथा अहं की पुष्टि करती हैं।

(6) समाज के इन मूलभूत पुरस्कारों के प्रति विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न पहुँच का सम्बन्ध विभिन्न स्तरों को विभिन्न मात्रा में प्रतिष्ठा व सम्मान-प्राप्ति की आवश्यकता से भी है। यह आधार एवं अधिकारों तथा पुरस्कारों के प्रति पहुँच में विभेदीकरण ही संस्थात्मक रूप से सामाजिक असमानता अर्थात् स्तरीकरण है।

(7) इसलिए विभिन्न स्तरों में सामाजिक असमानता जो कि सीमित एव वांछनीय वस्तुओं की मात्रा की प्राप्ति में उनके द्वारा प्राप्त सम्मान के रूप में है, किसी भी समाज के लिए निश्चित रूप से प्रकार्यात्मक एवं अनिवार्य है।

---

1. M. Tumin : Op. Cit. ; p. 18.

समालोचना (Criticism)

मैल्वन ट्यूमिन डेविस व मूर के सिद्धान्त के कड़े आलोचकों में से एक हैं। वे स्तरीकरण के *अपकार्यों (Dysfunctions)* की ओर इंगित करते हुए आठ प्रकार के अपकार्यों की चर्चा करते हैं जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

(1) सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्थाएँ किसी समाज में उपलब्ध प्रतिभा को सीमित रूप में पाने का कार्य करती हैं। यह उचित प्रेरणा की प्राप्ति में असमान पहुँच भर्ती के मार्ग तथा प्रशिक्षण के फलस्वरूप होता है।

(2) प्रतिभा-उपलब्धि की मात्रा को सीमित करके सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्थाएँ समाज के उत्पादन-स्रोतों के विकास की सम्भावना को सीमित करती हैं, कम से कम जो अवसर-प्राप्ति में अधिक समानता से सम्बन्धित हैं।

(3) सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्थाएँ अभिजात वर्ग को वह राजनैतिक सत्ता प्रदान करती हैं जो ऐसी विचारधारा की प्रभुता एवं प्रचलन के लिए आवश्यक है जो यथापूर्व स्थिति (Status quo) के विस्तार को विश्लेषणात्मक बनाती है तथा अपना संकुचित प्रभाव डालती है।

(4) सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्थाएँ सम्पूर्ण जनसंख्या के स्व-सुचित्रण (Favourable Self-Images) के समान वितरण का कार्य करती हैं जिससे उन्हीं लोगों की सृजनात्मक शक्तियों के विकास में बाधा पहुँचती है।

(5) सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्थाएँ समाज के विभिन्न भागों में संघर्ष, सन्देह एवं अविश्वास को प्रोत्साहन देने का कार्य करती हैं जिससे महत्त्वपूर्ण सदस्यता के विचार (The Sense of Significant Membership) के कारण व्याप्त सदस्यता की सामाजिक समन्वयता सीमित हो जाती है।

(6) महत्त्वपूर्ण सदस्यता के विचार के कारण सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्थाएँ महत्त्वपूर्ण सदस्यता के विचार का असमान वितरण का कार्य करती हैं।

(7) तद्स्वरूप सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्थाएँ किसी जनसंख्या की निष्ठाओं (Loyalties) के असमान वितरण का कार्य करती हैं।

(8) अन्त में, भाग लेने की प्रेरणा भी असमान रूप में पायी जाती है, क्योंकि महत्त्वपूर्ण सदस्यता के विचार उदासीनता को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार ट्यूमिन, डेविस व मूर द्वारा दिया हुआ प्रकार्यात्मक सार्वभौमिकता का नियम स्वीकार नहीं करते।

डेविस इन आलोचनाओं से असहमति प्रकट करते हुए कहते हैं कि ट्यूमिन की आलोचना मुख्य रूप से चार कठिनाइयों से ग्रस्त है। इनमें से दो पद्धतियों-सम्बन्धी (Methodological) सिद्धिकरण प्रमापन हैं तथा दो मौलिक पद्धतियाँ (Substantive) हैं :

(1) ट्यूमिन असमानता की विवेचना एवं न्यायोचितता में स्पष्ट नहीं हैं, क्योंकि वे संख्यात्मक असमानता को समझने में इतनी रुचि रखते नहीं दिखाते जितनी कि वे इससे छुटकारा पाने में दिखाते हैं।

(2) ट्यूमिन अमूर्त्त व सैद्धान्तिक तार्किकता तथा ठोस प्रयोगवादी सामान्यीकरणों में भी स्पष्ट भेद नहीं कर पाये हैं।

(3) ट्यूमिन ने डेविस व मूरे द्वारा दी गयी अन्य सैद्धातिक विवेचनाओं की भी अवहेलना की है।

(4) ट्यूमिन 'स्तरीकरण' शब्द का प्रयोग भी एक ही रूप में नहीं करते। स्तरीकृत तथा अस्तरीकृत प्रस्थितियों में भेद की भी उन्होंने अवहेलना की है। प्रकार्यवादी आयु-लिंग तथा नातेदारी सम्बन्धों को स्तरीकरण का आधार नहीं मानते। उनके लिए ये प्रस्थितियाँ अस्तरीकृत हैं और इसीलिए उनकी प्रकृति समाजशास्त्रीय नहीं है।

ट्यूमिन अपनी आलोचना के डेविस द्वारा दिये गये इन स्तरों से सन्तुष्ट नहीं हैं। डेविस कहते हैं कि एक सार्वभौमिक संस्थागत प्रतिमान आवश्यक रूप से सकारात्मक नहीं है। किसी संस्थात्मक प्रतिमान की सार्वभौमिकता उसकी अनिवार्यता की परीक्षा नहीं है। नातेदारी सम्बन्ध व उत्तराधिकार दो मूलभूत नियम हैं जो कि असमानताओं तथा उनके हस्तान्तरण का आधार हैं तथा यदि उन्हें सम्पत्ति तथा सदस्यता के हस्तान्तरण के अधिकार से वंचित कर दिया जावे तो क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। इस प्रकार ट्यूमिन कहते हैं इस सिद्धान्त ने कुछ स्वार्थों को लाभ पहुँचाया है तथा निरन्तरता को स्थिति को प्रोत्साहन दिया है। इस प्रकार ट्यूमिन के अनुसार इस प्रकार के सिद्धान्त में ऐतिहासिक प्रामाणिकता की कमी है। स्तरीकरण की आवश्यकता का प्रमाण देना बेकार है। व्यक्तियों को प्रदान किये हुए कार्यों व उनको निभाना ही कसौटी होना चाहिए न कि पद, जिनके साथ अधिक व कम सत्ता तथा प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है।

वाल्टर बकले (Walter Buckley) कहते हैं कि "डेविस विशेषीकृत भूमिकाओं, उदाहरण के लिए विभेदीकरण व स्तरीकरण में स्पष्ट नहीं हैं। सामाजिक स्तरीकरण असमान पुरस्कारों वाले समूहों की व्यवस्था है, जबकि विभेदीकरण एक प्रकार्यात्मक आवश्यकता है जो कि आवश्यक रूप से उससे सम्बन्धित असमानताओं को जन्म नहीं देती, डेविस जिसे स्तरीकरण सोचते हैं।"

डेनिस एच० रान्ग (Dennis H. Wrong) कहते हैं कि प्रकार्यात्मक सिद्धान्त बहुत सामान्य है। यह असमानता की मात्रा तथा ठोस समाजों में इस मात्रा के

निर्णायक तत्त्वों की व्याख्या नहीं करता। यह गतिशीलता एवं अवसरों की असमानता के नकारात्मक परिणामों की भी अवहेलना करता है।

रिचर्ड एल० सिम्पसन (Richard L. Simpson) ने डेविस पर चक्रीय तार्किकरण (Circular Reasoning) का आरोप लगाया है। उन्होंने पदों के मूल्यांकन की कठिनाइयों की अप्रकार्यात्मकता, असमानुपातिक पुरस्कारों तथा इस सिद्धान्त की कुछ पूर्व मान्यताओं की भी चर्चा की है। डेविस इन आलोचनाओं को अपनी मूल मान्यताओं के सन्दर्भ में अप्रासंगिक समझते हैं।

एम० जी० स्मिथ (M. G. Smith) के अनुसार यह कुछ आदिवासी समूहों में स्तरीकरण की व्याख्या है, क्योंकि उन समाजों में आयु-समूह व लिंग-सम्बन्धी भूमिकाएँ ऊँची व नीची प्रस्थितियों के आधार पर हैं। यह कारक, जैसे कि डेविस ने सुझाव दिया है, 'चुनाव की व्यवस्था' नहीं है, अपितु प्रदत्त तत्त्व है। इस प्रकार मानवशास्त्री के स्तरीकरण-सम्बन्धी विचार समाजशास्त्री से भिन्न हैं। डेविस इसे केवल अवधारणात्मक प्रश्न मानते हैं।

मैक्स वेबर का सिद्धान्त
(Max Weber's Theory)

श्री मैक्स वेबर (Max Weber) ने श्री कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त की कमियों को दूर करते हुए अपने सिद्धान्त को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। उनका सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि "सामाजिक स्तरीकरण समाज में पायी जाने वाली असमान शक्ति की एक संगठित अभिव्यक्ति है।" और भी स्पष्ट रूप में, "समाज में शक्ति का बँटवारा सभी सदस्यों में समान रूप में नहीं होता है, किसी को कम तो किसी को ज्यादा शक्ति (Power) प्राप्त होती है। समाज में समान शक्ति वाले व्यक्तियों के समूह को वर्ग कहते हैं। विभिन्न वर्गों में शक्ति का बँटवारा जिस समान रूप में पाया जाता है, उसी के अनुसार समाज में ऊँचे-नीच का संस्तरण हो जाता है। यही सामाजिक स्तरीकरण है।

मैक्स वेबर की सामाजिक संस्तरण की व्याख्या 'शक्ति' (Power) की अवधारणा से प्रारम्भ होती है अर्थात् सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण समाज में विभिन्न वर्गों में शक्ति के वितरण के अनुसार होता है। अधिक या कम शक्ति एक वर्ग को समाज-व्यवस्था में उच्च या निम्न प्रस्थिति प्रदान करती है और उसी के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप निर्धारित होता है। अतः 'शक्ति' की अवधारणा आधारभूत है।

'शक्ति' से श्री मैक्स वेबर का तात्पर्य "उस अवसर से है जिसको कि एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति किसी सामूहिक क्रिया में अपनी इच्छा की पूर्ति के लिए, उस क्रिया में भाग लेने वाले दूसरे व्यतियों द्वारा विरोध करने पर भी प्राप्त कर लेते हैं।" दूसरे शब्दों में, जिस व्यक्ति या व्यक्तियों के पास शक्ति है, वे अपने उद्देश्य

की पूर्ति या लक्ष्यों की प्राप्ति उस व्यक्ति या व्यक्तियों की तुलना में जिनके पास शक्ति नहीं है, अधिक सरलता से कर लेते हैं। परन्तु मैक्स वेबर के अनुसार आर्थिक आधारों पर प्राप्त शक्ति और साधारण शक्ति में अन्तर है। आर्थिक शक्ति न केवल आर्थिक क्षेत्र में ही हमें प्रतिष्ठित करती है, वरन् सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्रदान करती है। मनुष्य केवल इसलिए ही शक्ति प्राप्त करना नहीं चाहता है कि वह धनी बन जाय, वह शक्ति प्राप्त करना इसलिए भी चाहता है कि उससे उसका समाज में सम्मान होगा। परन्तु यह भी सच है कि केवल धन या शक्ति ही सदैव सामाजिक प्रतिष्ठा प्रदान नहीं कर पाते हैं। केवल धन के बल पर ही या शक्ति के आधार पर ही कोई व्यक्ति समाज में सम्मान नहीं पा सकता है। उसके लिए अन्य अनेक गुणों की आवश्यकता होती है, किन्तु सामाजिक प्रतिष्ठा राजनैतिक या आर्थिक शक्ति का आधार हो सकती है।

मैक्स वेबर के अनुसार सामाजिक प्रतिष्ठा, चाहे वह किसी कारण से क्यों न हो, सामाजिक व्यवस्था को निश्चित करने में महत्त्वपूर्ण है। स्वयं मैक्स वेबर के शब्दों में "जिस ढंग से सामाजिक प्रतिष्ठा किसी समुदाय के विशिष्ट समूहों में बँटी होती है, उसी के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण होता है।"

मैक्स वेबर का मानना है कि संस्थागत रूप से हम तीन प्रकार की शक्तियों में भेद कर सकते हैं, जो हैं : **आर्थिक, सामाजिक** तथा **राजनैतिक**। इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में शक्ति का स्वरूप **वर्ग (Class) प्रस्थिति (Status)** तथा **दल (Party)** के अनुसार बदलता रहता है और सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप को प्रभावित करता है। आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में सामाजिक स्तरीकरण को श्री वेबर ने इस प्रकार समझाया है—

(1) आर्थिक क्षेत्र में (In Economic Field)—आर्थिक क्षेत्र में सामाजिक स्तरीकरण **आर्थिक शक्ति के वितरण** के अनुसार होता है। समान आर्थिक हितों वाले तथा समान आर्थिक शक्ति वाले लोग एक वर्ग का निर्माण करते हैं अर्थात् समाज में जिस ढंग से भौतिक सम्पत्ति अर्थात् शक्ति या सुविधाओं का वितरण विभिन्न समूहों में हुआ है, उसी के अनुसार विभिन्न प्रस्थिति वाले वर्ग उस समाज में पनपते हैं और उसी के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण की रूपरेखा तैयार होती है। श्री वेबर ने लिखा है कि यह सच है कि आर्थिक आधार पर प्रत्येक समाज को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—एक तो वह वर्ग जो सम्पत्ति का अधिकारी है और दूसरा सम्पत्ति-विहीन सेवा-कार्य में लगा वर्ग। परन्तु इन मुख्य वर्गों का आगे और विभाजन (अ) सम्पत्ति के प्रकार और (ब) सेवाओं के प्रकार के आधार पर भी किया जा सकता है जैसे जमीन के मालिक जमींदार वर्ग, मिलों के मालिक मिल मालिक वर्ग, तथा शिक्षा-सम्बन्धी सेवा करने वाले शिक्षक वर्ग आदि। इस प्रकार श्री वेबर ने श्री मार्क्स के उस विचार को स्वीकार नहीं किया है कि समाज में केवल दो ही वर्ग

पाये जाते हैं। दो से अधिक वर्ग भी पाये जाते हैं, पर इन सभी वर्गों की प्रस्थिति समान नहीं होती है। उनमें ऊँच-नीच का एक संस्तरण देखने को मिलता है। इसी आधार पर आर्थिक क्षेत्र में सामाजिक स्तरीकरण होता है।

(2) **सामाजिक क्षेत्र में** (In Social Field)—सामाजिक क्षेत्र में मैक्स वेबर के अनुसार, स्तरीकरण का आधार, सामजिक प्रस्थिति है। जो व्यक्ति सामाजिक क्षेत्र में एक समान प्रतिष्ठा रखते हैं तथा जिनकी सामाजिक प्रस्थितियाँ एक समान हैं, वे एक ही प्रस्थिति-समूह (Status-group) के सदस्य कहलाते हैं। प्रत्येक प्रस्थिति-समूह को सामाजिक संरचना में कौनसा स्थान प्राप्त होगा, इसका निर्धारण वर्ग के द्वारा नहीं, अपितु समुदाय या समाज के द्वारा किया जाता है और उसी के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण भी निश्चित होता है अर्थात् विभिन्न प्रस्थिति-समूह समाज या समुदाय के निर्देशानुसार सामाजिक संरचना के अन्तर्गत ऊँच-नीच के एक संस्तरण में बँट जाते है।

(3) **राजनैतिक क्षेत्र में** (In Political Field)—राजनैतिक क्षेत्र में व्यक्ति की प्रस्थिति उसकी राजनैतिक शक्ति पर निर्भर करती है। यह शक्ति उस राजनैतिक दल (Political Party) से प्रभावित होती है जिसका कि वह सदस्य है। उदाहरणार्थ, यदि वह उस पार्टी का सदस्य है जिसके हाथों में शासन की बागडोर है, तो निश्चय ही उसकी शक्ति उस व्यक्ति से अधिक होगी जो कि ऐसी राजनैतिक पार्टी का सदस्य है जो कि शासन-सत्ता से विलग है। इस राननैतिक शक्ति के आधार पर राजनैतिक क्षेत्र में व्यक्ति या समूह की प्रस्थिति निर्धारित होती है और उस प्रस्थिति की उच्चता या निम्नता सामाजिक स्तरीकरण को निश्चित करती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में व्यक्ति अलग-अलग प्रकार की शक्ति का अधिकारी होता है। पर हर अवस्था में उस व्यक्ति में अपनी एक प्रकार की शक्ति में परिवर्तन करने की प्रवृत्ति पायी जाती है। जिनके पास धन-दौलत की शक्ति है, वे समाज में भी उच्च प्रस्थिति तथा राजनैतिक शक्ति दोनों ही प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। जो समाज में उच्च सामाजिक प्रस्थिति को प्राप्त हैं, वे राजनैतिक शक्ति को भी हथियाने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार जिसके पास राजनैतिक शक्ति है, वह सामाजिक प्रतिष्ठा व आर्थिक शक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करता है। सामाजिक स्तरीकरण इन सभी प्रयत्नों व उनके परिणामों की एक सन्तुलित व्यवस्था होती है।

टालकॉट पारसन्स का सिद्धान्त

(Theory of Talcott Parsons)

अमेरीकन समाजशास्त्री टालकॉट पारसन्स (Talcott Parsons) का मानना है कि सामाजिक स्तरीकरण का कुछ निश्चित प्रकार्यात्मक महत्त्व होता है जिसकी कि विवेचना केवल वैयक्तिक कर्त्ता (Individual Actor) के दृष्टिकोण से ही नहीं,

अपितु सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था के सन्दर्भ में भी की जा सकती है। साथ ही, सामाजिक स्तरीकरण मनमाने ढंग से नहीं किया जाता है, वल्कि उसके कुछ निश्चित आधार होते हैं। टालकॉट पारसन्स के अनुसार ये आधार तीन हैं—

(A) गुण (Qualities)—गुण व्यक्तियों को अपने-आप विना किसी प्रयास के ही समाज द्वारा प्रदत्त (Ascribed) किये जाते हैं, जैसे वंश-परम्परा। एक ब्राह्मण की प्रस्थिति जातीय संस्तरण में सर्वोच्च इस कारण है कि उसका जन्म ऐसे परिवार (ब्राह्मण परिवार) में हुआ है जिसे कि हिन्दू परम्परा के अनुसार उच्च माना जाता है।

(B) व्यवहार-कुशलता—व्यवहार-कुशलता को व्यक्ति अपने स्वयं के प्रयत्न, प्रशिक्षण व अनुभव के आधार पर अपने व्यक्तित्व के विकास लिए अर्जित (Achieve) करता है और जिसके आधार पर व्यक्ति की कियाओं का दूसरे की क्रियाओं के सन्दर्भ में सापेक्ष मूल्यांकन होता है एवं उसी के अनुसार उसकी सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारण होता है। उदाहरणार्थ, एक डॉक्टर की प्रस्थिति को प्राप्त करने के लिए एक व्यक्ति को काफी प्रयास से आवश्यक शिक्षा व अनुभव अर्जित करना होता है। व्यक्तियों के विभिन्न समूहों में व्यवहार-कुशलता पायी जाने वाली भिन्नताओं के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण होता है।

(C) सम्पत्ति (Possessions)—सम्पत्ति उन वस्तुओं को कहते हैं जो एक व्यक्ति के पास है और जिनको कि उसने अपने लिए प्राप्त किया है। यह सम्पत्ति केवल भौतिक वस्तुओं अर्थात् धन, भवन आदि की ही नहीं, अपितु कला-कौशल की भी हो सकती है। सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों व मान्यताओं के अनुसार इस सम्पत्ति की मात्रा व्यक्ति या समूह की प्रस्थिति को और इसलिए सामाजिक स्तरीकरण को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण होती है।

टालकॉट पारसन्स के अनुसार उपर्युक्त तीन आधारों को सामाजिक स्तरीकरण के निर्धारकों के रूप में किस ढंग से लागू किया जायेगा, यह निर्भर करता है उस समाज के मान्य उद्देश्यों, आदर्शों तथा मूल्यों पर। उदाहरणार्थ, धर्म पर आधारित समाजों में धर्म से सम्बन्धित व्यवहार-कुशलताओं का महत्त्व स्वभावतः ही अधिक होगा। इसी प्रकार उपर्युक्त तीनों आधारों का मूल्यांकन समाज के केन्द्रीय मूल्य-प्रतिमानों के अनुसार किया जाता है।

टालकॉट पारसन्स ने इन केन्द्रीय मूल्य-प्रतिमानों का एक सामान्य वर्गीकरण प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से चार श्रेणियों में किया है जो कि निम्नलिखित है—

(1) अनुकूलन (Adaptation)—अनुकूलन वह मूल्य-प्रतिमान है जिसकी कि आवश्यकता सामाजिक अनुकूलन के लिए होती है। समाज में वहुधा ऐसी अनेक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनके साथ अनुकूलन करना सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व को वनाये रखने के लिए जरूरी होता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो

यह स्पष्ट होगा कि सामाजिक स्तरीकरण का एक प्रकार्य इस अनुकूलन की प्रक्रिया से भी सम्बन्धित है।

(2) **लक्ष्य-प्राप्ति (Goal-achievement)**—लक्ष्य-प्राप्ति का मूल्य-प्रतिमान वैयक्तिक लक्ष्य-प्राप्ति की अपेक्षा सामूहिक या सामाजिक लक्ष्य-प्राप्ति पर अधिक बल देता है अर्थात् यह व्यक्तियों पर यह दबाव डालता है कि वे सामूहिक लक्ष्यों की अन्तिम रूप से प्राप्ति को अधिक महत्त्व प्रदान करें, न कि अपने स्वयं के लक्ष्यों की प्राप्ति को। सामाजिक स्तरीकरण को भी इसी ढंग से लागू किया जाता है कि सामूहिक लक्ष्यों की अधिकतम पूर्त्ति हो सके।

(3) **एकीकरण (Integration)**—एकीकरण का मूल्य-प्रतिमान समाज में एकता व संगठन को बनाये रखने की आवश्यकता पर बल देता है ताकि समाज की विभिन्न इकाइयाँ प्रत्येक स्तर पर एक-दूसरे से इस तरह सहयोगी सम्बन्ध बनाये रखें कि सामाजिक व्यवस्था में एकता व संगठन बना रहे। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि यह सोचना गलत होगा कि सामाजिक स्तरीकरण के अन्तर्गत विभिन्न स्तर या प्रस्थिति की इकाइयाँ ऊँच-नीच के आधार पर एक-दूसरे से पृथक् रहते हुए कार्य करती हैं। वास्तव में प्रस्थितियों में उच्चता-निम्नता अथवा उत्तम-अधम का अन्तर या भेद होते हुए भी विभिन्न स्तर के प्रस्थिति-समूह एक-दूसरे से प्रकार्यात्मक सम्बन्ध के आधार पर सम्बन्धित होते हैं। इस प्रकार्यात्मक सम्बन्ध के बिना समाज में न तो प्रकार्यात्मक एकता और न ही सरचनात्मक एकता व संगठन सम्भव है।

प्रतिमान-स्थिरता (Pattern Maintenance)—पारसन्स के अनुसार समाज-व्यवस्था के अस्तित्व व निरन्तरता के लिए भी अवश्यक है कि समाज के प्रमुख व महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रतिमानों की स्थिरता को बनाये रखने के लिए उचित मूल्य-प्रतिमान को लागू किया जाय। इसके लिए समाज अनेक उपायों को अपनाता है। सामाजिक स्तरीकरण उनमें से एक है जिसके द्वारा प्रस्थितियों तथा कार्यों का निश्चित विभाजन कर दिया जाता है, जिससे कि समाज की विभिन्न इकाइयों में अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा (Competition) न हो और महत्त्वपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक प्रतिमानों में स्थिरता बनी रहे।

उपर्युक्त चारों प्रकार के मूल्य-प्रतिमान सभी समाजों में देखने को मिलते हैं, क्योंकि इनके बिना समाज-व्यवस्था की स्थिरता व निरन्तरता सम्भव नहीं है। हाँ, यह हो सकता कि अलग-अलग समाजों में इनमें एक या दूसरे प्रतिमान को अधिक महत्त्व का माना जाय और उन्हें प्राथमिकता के एक क्रम में रखा जाय। यही बात सामाजिक प्रस्थितियों के बारे में भी लागू होती है। जैसे-जैसे समाजों का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे सामाजिक प्रस्थितियों में विभेद व जटिलता भी बढ़ते जाते हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिकन समाज में सामाजिक स्तरीकरण व विभेदीकरण का जो जटिल स्वरूप उभरकर आज सामने आया है, उस प्रकार के

स्वरूपों का दर्शन एक कम विकसित समाज में नहीं हो सकता। अतः श्री पारसन्स के अनुसार, यदि किसी समाज के उपर्युक्त चार आधारभूत मूल्य-प्रतिमानों के प्राथमिकता के क्रम को हम समझलें तो उस समाज के सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप तथा प्रकृति को तार्किक रूप में समझना एवं उसके बारे में भविष्यवाणी करना हमारे लिए सम्भव होगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ मार्क्सवादी सिद्धान्त ने केवल आर्थिक कारक को ही सामाजिक स्तरीकरण का आधार माना है, वहाँ प्रकार्यवादियों ने आर्थिक आधार के अतिरिक्त अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों को भी प्रस्तुत किया है, जो कि स्तरीकरण की व्यवस्था को निश्चित करते हैं। वे इस बात पर बल देते हैं कि सामाजिक-सांस्कृतिक आधार कहीं अधिक जटिल होते हैं और सामाजिक व्यवस्था के अस्तित्व व निरन्तरता के लिए उनका प्रकार्यात्मक महत्त्व आर्थिक कारकों से कदापि कम नहीं होता। वास्तव में सामाजिक स्तरीकरण के अन्तर्गत सामाजिक प्रस्थितियों के उच्चता-निम्नता के संस्तरण का निर्धारण समाज द्वारा महत्त्वपूर्ण माने गये प्रकार्यों के सन्दर्भ में होना है।

आलोचना (Criticism)

श्री टी. बी. बाटोमोर (Bottomore) ने लिखा है कि उपर्युक्त सिद्धान्त की कई निश्चित आलोचनायें की जा सकती हैं—

(1) यह सिद्धान्त यह मानता है कि स्तरीकरण सार्वभौमिक है, पर वास्तविक अध्ययनों से यह पता चलता है कि यह बात गलत है। प्रत्येक समाज में पदों की एक सुनिश्चित व्यवस्था होगी ही, ऐसी बात नहीं है। सरल समाजों में अनेक पद एक-दूसरे से घुले-मिले भी हो सकते हैं।

(2) इस सिद्धान्त की यह मान्यता भी गलत है कि सामाजिक स्तरीकरण के अन्तर्गत समाज इस बात की निश्चित व्यवस्था करता है कि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रस्थितियों पर सर्वाधिक योग्य व्यक्ति ही रहें। इसका कारण यह है कि प्रायः यह देखने को मिलता है कि समाज में प्रस्थितियों या पदों की पूर्ति सदैव ईमानदारी व सच्चाई से नहीं की जाती। आर्थिक तथा राजनैतिक सत्ता के लोलुप व्यक्ति इस सम्बन्ध में अपना प्रभाव अवश्य ही अनुचित ढंग से डालते हैं।

(3) यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त की धारणा व्यक्तियों के पदों के आधार पर की गयी है किन्तु यह सुस्पष्ट सामाजिक समूहों, जैसे प्रस्थिति-समूह, अभिजात वर्ग अन्य वर्ग की व्याख्या नहीं करता।

(4) यह सिद्धान्त सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न प्रकारों और एक प्रकार से दूसरे प्रकार में परिवर्तन की प्रक्रियाओं का भी विवरण प्रस्तुत नहीं करता, केवल उन्हें मानता ही है।

(5) स्तरीकरण की व्यवस्थाओं की स्थिरता और उनकी स्थापना में कार्य करने वाली शक्ति की भूमिका की यह पूर्णतया अवहेलना करता है और इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण और राजनैतिक संघर्ष के बीच के सम्बन्ध में यह कोई प्रकाश नहीं डालता।

प्रस्थिति एवं भूमिका
(Status and Role)

समाज एवं सामाजिक संरचना के अध्ययन में कुछ अवधारणाओं का पर्याप्त महत्त्व है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में भी प्रस्थिति एवं भूमिका की अवधारणायें काफी लोकप्रिय हैं। **राल्फ लिण्टन** (Ralph Linton) की कृति 'द स्टेडी ऑफ मेन' (The Study of Man) के प्रकाशन के बाद सामाजिक प्रस्थिति एवं 'सामाजिक भूमिका' की अवधारणायें सामाजिक संरचना के अध्ययन एवं निरूपण में महत्त्वपूर्ण मानी जाने लगीं।[1] **रॉबर्ट बियरस्टेड** (Robert Bierstede) ने तो यहाँ तक लिखा है कि "समाज प्रस्थितियों का जाल (Network) है।"[2]

वस्तुतः समाज में व्यक्ति जब भी एक दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करते हैं तो उनका सामाजिक व्यवहार या आचरण कुछ निश्चित नियामक सामाजिक मानकों या मानदण्डों (Regulative Social Noarms) के अनुसार निर्धारित होता है। यह एक सामाजिक अपेक्षा है। समाज में व्यक्ति विभिन्न व्यक्तियों के सम्पर्क में आते हैं, परन्तु उनमें से प्रत्येक व्यक्ति के साथ उनका व्यवहार समान या एक जैसा नहीं होता। एक उदाहरण से इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। एक व्यक्ति जिस प्रकार का व्यवहार अपने मित्र के साथ करता है, उसी प्रकार का व्यवहार वह अपने माता-पिता या अध्यापक के साथ नहीं करता अथवा एक व्यक्ति दफ्तर में जिस प्रकार अपने अधिकारियों से मिलता है, उस प्रकार वह घर के सदस्यों से नहीं मिलता। इस प्रकार सामाजिक अन्तःक्रिया एवं व्यवहार के प्रतिमान अलग-अलग व्यक्तियों के साथ अलग-अलग होते हैं और ये मानकों या मानदण्डों द्वारा निर्धारित होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज मूलतः प्रस्थितियों का एक जाल है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति की अनेक प्रस्थितियाँ होती हैं जो स्थिति (Situation) पर निर्भर करती हैं और साथ ही इन प्रस्थितियों से जुड़ी हुई भूमिका (Role) भी होती है। सभी व्यक्ति अपनी प्रस्थिति एवं भूमिका के प्रति सचेत रहते हैं। यह प्रस्थिति-भूमिका चेतना का ही परिणाम है कि एक रेस्टॉरेण्ट (Restaurant) या भोजनालय में नाश्ता या भोजन करने वाला एक व्यक्ति स्थान ग्रहण कर लेता है, उसके स्थान ग्रहण करते ही वहाँ पर उपस्थित वेटर या बावर्ची ग्राहक के मनोनुकूल सामग्री लाता है। वहाँ ग्राहक की प्रस्थिति उसे कुछ सेवायें प्राप्त करने के योग्य बनाती है। वह उसे इधर-उधर घूमने, पैसों को गिनने या खाना बनाने का अधिकार

1. Robert Merton : Theory of Social Structure. ; p. 398.
2. Robert Bierstedt : The Social Order. ; p. 211.

नहीं देते है। भोजन के बाद ग्राहक अन्य किसी की अपेक्षा केशियर को भुगतान करता है, जिसको कि अपनी प्रस्थिति के अनुसार भुगतान ग्रहण करने का अधिकार है। इस प्रकार रेस्टोरेण्ट में ग्राहक से लेकर वेटर, बवर्ची एवं केशीयर तक सभी अपनी-अपनी प्रस्थिति के अनुरूप कार्य करते हैं।

इसी प्रकार क्रिकेट के खेल में एक निश्चित प्रस्थिति के अनुसार पूरा खेल खेला जाता है। अम्पायर, विकेट-कीपर, बॉलर, वेट्समेन आदि सभी अपनी-अपनी प्रस्थिति के अनुसार कार्य करते हैं।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि एक व्यक्ति घर में **पति, पुत्र, पिता** हो सकता है, वही अपने कार्यक्षेत्र में एक **अधिकारी या मातहत** (Subordinate) हो सकता है, सामान खरीदते समय वह एक **ग्राहक** (Customer) हो सकता है। ये सब उसकी प्रस्थितियाँ हैं एवं इनके साथ लगी हुई अपेक्षायें या कार्य ही **भूमिका** कहलाती है।

प्रस्थिति एवं भूमिका की अवधारणाओं की विशद विवेचना के लिए यह उपयुक्त होगा कि हम इनका पारिभाषिक विश्लेषण प्रस्तुत करें।

प्रस्थिति का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Status)

संक्षेप में व्यक्ति की प्रस्थिति का अभिप्राय उस पद या स्थिति (Position) से है जो व्यक्ति अपने किसी प्राणिशास्त्रीय व्यक्तिगत गुण अथवा सामाजिक सांस्कृतिक नियम के आधार पर प्राप्त करता है। **राल्फ लिंटन** से पहले **अरस्तू** (Aristotle) ने **प्रस्थिति** शब्द का प्रयोग किया। अरस्तू की कृति **'पोलीटिक्स'** में प्रस्थिति, संघर्ष एवं भूमिका-संघर्ष जैसी अवधारणाओं का उल्लेख मिलता है।

समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवशास्त्रियों ने प्रस्थिति को विभिन्न रूपों में परिभाषित किया है।

राल्फ लिन्टन (Ralph Linton)—राल्फ लिण्टन पहला सामाजिक मानवशास्त्री था जिसने प्रस्थिति की विशद विवेचना प्रस्तुत की। राल्फ लिंटन ने लिखा है कि "किसी व्यवस्था विशेष में एक व्यक्ति को जो स्थान प्राप्त होता है, वहीं उस व्यवस्था के सन्दर्भ में उस व्यक्ति की प्रस्थिति होती है।....अपनी प्रस्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए व्यक्ति को जो कुछ करना पड़ता है, उसी को **भूमिका** अथवा कार्य कहते हैं।"[1]

रोबर्ट बीरस्टीड (Robert Biersted) के अनुसार, "प्रस्थिति समाज या किसी समूह में एक स्थिति मात्र है। हर समाज और हर समूह में ऐसी बहुत-सी प्रस्थितियाँ होती हैं और हर व्यक्ति ऐसी बहुत-सी प्रस्थितियों में रहता है—वास्तव में जितने

---

1. Ralph Linton : The Cultural Background of Personality, p. 264.

समूहों से उसका सम्बन्ध है, उतनी ही प्रस्थितियाँ उसके साथ हैं। समूह की किस्म के साथ उसकी प्रस्थिति बदल जायेगी, उदाहरण के लिए एक संगठित समूह में उसकी प्रस्थिति एक तरह की होगी और दूसरे में दूसरी तरह की।"[1]

इलिइट एवं मेरिल (Elliott & Merill) ने लिखा है कि "प्रस्थिति व्यक्ति की वह स्थिति (Position) है जिसे व्यक्ति किसी समूह में अपने लिंग, आयु, परिवार, वर्ग, व्यवसाय, विवाह अथवा प्रयत्नों आदि के कारण प्राप्त करता है। भूमिका वह कार्य है जिसे व्यक्ति प्रत्येक प्रस्थिति के फलस्वरूप निभाता है।"[2]

टालकॉट पारसन्स (Talcott Parsons) ने समाज-व्यवस्था की आधार-भूत इकाई क्रिया (Action) को माना है। उनके अनुसार व्यवहार की अग्रिम इकाई प्रस्थिति व भूमिका है। कर्त्ता प्रस्थिति व भूमिकाओं का एक सम्मिश्र (मिश्रित) पुञ्ज (Composite Bundle) है। संक्षेप में पारसन्स के अनुसार "प्रस्थिति उस पद का सूचक है, जो कि एक समूह अथवा समाज निर्मित करता है एवं भूमिका उस पद का निर्वाह करने वाले व्यक्ति को महत्त्व देती है।

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने 'ह्यूमन सोसाइटी' ने लिखा है कि "प्रस्थिति किसी भी सामान्य संस्थात्मक व्यवस्था में किसी पद की सूचक है, ऐसा पद जो समाज द्वारा स्वीकृत है और जिसका निर्माण स्वतः ही हुआ है तथा जो जनरीतियों एवं रूढ़ियों से सम्बद्ध है।"[3]

ऑग्बर्न एवं निमकाफ (Ogborn & Nimkoff) के अनुसार, "प्रस्थिति की सबसे सरल परिभाषा यह है कि यह समूह में व्यक्ति के पद का प्रतिनिधित्व करती है।"[4]

मेकाइवर एवं पेज (Maciver & Page) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'सोसाइटी' में लिखा है कि "प्रस्थिति वह सामाजिक पद है जो व्यक्तिगत गुणों तथा सामाजिक सेवाओं से पृथक् व्यक्ति के आदर, प्रतिष्ठा तथा प्रभाव की मात्रा का निर्धारण करती है।"[5]

जॉन लोवी (John Lovy) के अनुसार, "किसी सामाजिक संरचना में व्यक्ति अथवा समूह के संस्थागत पदों की सम्पूर्णता का नाम ही प्रस्थिति है।"[6]

---

1. Robert Bierstedt : Op. cit., p. 126.
2. Elliott & Merrill : Social Disorganisation., p. 9.
3. Kingsley Davis : Human Society., p. 88,
4. Ogburn & Nimcoff : A Handbook of Sociology., p. 298.
5. Maciver & Page : Society., p. 350
6, John Lovy : The Structure of Society., p. 160

किम्वाल यंग (Kimbal Young) ने प्रस्थिति की व्याख्या करते हुए कहा है कि "प्रत्येक समाज तथा समूह में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ कार्यों को सम्पन्न करना होता है जिनके साथ शक्ति तथा प्रतिस्ठा की कुछ मात्रा जुड़ी होती है। शक्ति तथा प्रतिष्ठा की जिस मात्रा का वह प्रयोग करता है, वही उसकी प्रस्थिति है।"[1]

लेपियर (Lapiere) के अनुसार, "सामाजिक प्रस्थिति सामान्यत: उस पद के रूप में समझी जाती है जो एक व्यक्ति समाज में प्राप्त किये होता है।"[2]

एच. एच. हायमेन (H. H. Hayman) ने प्रस्थिति को परिभाषित करते हुए कहा है, "प्रस्थिति एक व्यक्ति को स्थिति है जो अन्य व्यक्तियों से सम्बद्ध है।" प्रस्थिति शब्द को हायमेन ने कई रूपों में लिया है, जैसे बुद्धि (Intellect), एथेलेटिक्स (Athletics), संस्कृति (Culture) एवं समाज में स्थान (Social Standing) आदि। पद को इन्होंने सन्दर्भ समूह के आधार पर देखा है व इस तरह यह भी अर्जित पद की बात करते हैं।

लायड वार्नर (Laoyd Warner) ने भी प्रस्थिति से अर्जित पदों पर ही विशेष रूप से जोर दिया है, साथ ही विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार प्रस्थिति की अवधारणा को कुछ अन्य अवधारणाओं से जोड़ने का प्रयास किया है। इसमें हम देखते हैं कि **डब्ल्यू. टी. थामस** (W. T. Thomas) ने प्रस्थिति की अवधारणा को स्थितिजन्य अवधारणा (Situational Approach) के साथ सम्बन्वित किया है। **टालकॉट पारसन्स** (Tolcott Parsons) ने इसे क्रिया के सामान्य सिद्धान्त के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। **मैक्स वेबर** (Max Weber) ने इसे आदर्शात्मक स्वरूप (Ideal Type) के रूप में स्पष्ट किया है एवं इनका कहना है कि किसी व्यक्ति की स्थिति को वर्ग में न देखकर प्रस्थिति में देखना चाहिए, या ऐसा करना पड़ता है। प्रस्थिति की अवधारणा को इसी प्रकार और आगे बढ़ाते हुए हम देखते हैं कि **टी. एम. न्यूकोम्ब** (T. M. Newcomb) ने प्रस्थिति (Status) के स्थान पर स्थिति (Position) शब्द का प्रयोग किया है। साथ ही न्यूकोम्ब यह भी कहते हैं कि भूमिका स्थितियों (Positions) के साथ समायोजित होती है। **सी. के. एलेन** (C.K. Allen) ने प्रस्थिति के विषय में अपने विचारों को इस प्रकार स्पष्ट किया है "प्रस्थिति ऐसी स्थिति है जो विशेष वर्ग से सम्बद्ध लोगों का प्रतिनिधित्व करती है। इन्हें हम कानूनी क्षमता या अक्षमता या दोनों में देख सकते हैं।" **लिन्टन** एवं **पारसन्स** इत्यादि विद्वानों ने प्रस्थिति को सामाजिक सम्मान (Social Prestige) के साथ सम्बन्वित किया है। **लिन्टन** ने कहा है कि "एक प्रस्थिति को अनेक व्यक्ति

---

1. Kimbal Young : A Hand Book of Psychology., p. 88.
2. Opiere : A Theory of Social Control., p. 71.

ग्रहण कर सकते हैं।" बाद में इन्होंने कहा कि एक सामान्य प्रस्थिति होनी चाहिए जो कि विशिष्ट प्रस्थितियों का समग्र होता है।

उपर्युक्त पारिभाषिक विश्लेषण के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रस्थिति से हमारा तात्पर्य स्वत: प्राप्त एवं योग्यता द्वारा अर्जित,दोनों प्रकार की प्रस्थितियों से है, जिसे किसी विशेष व्यवस्था में कोई व्यक्ति निर्दिष्ट समय में प्राप्त करता है तथा जिसके साथ शक्ति या प्रतिष्ठा की कुछ मात्रा सम्बद्ध होती है। इस प्रकार एक समाज में एक व्यक्ति की अनेक **'प्रस्थितियाँ'** हो सकती हैं।

उदाहरण के लिए एक अध्यापक कॉलेज में है तो उसकी प्रस्थिति **'अध्यापक'** की है। जब वह अपने किसी **'मित्र'** से बात करता है तो उसकी प्रस्थिति **'मित्र'** की है। घर जाकर जब वह अपनी **'पत्नी'** से बात करता है तो उसकी प्रस्थिति **'पति'** की है, जब वह अपने बच्चों से बात करता है तो उसकी प्रस्थिति 'पिता' की होती है और जब वह स्वयं अपने **'पिता'** से बात करता है तो उसकी प्रस्थिति **'पुत्र'** की हो जाती है। इस प्रकार एक ही दिन में वह अध्यापक, मित्र, पति, पिता एवं पुत्र आदि सब है, लेकिन इससे भी उसकी सभी प्रस्थितियाँ नहीं मानी जा सकतीं। ये तो कुछ प्रस्थितियाँ हैं। यदि हम उसके जीवन में आने वाली समस्त प्रस्थितियों को गिनने का प्रयास करें तो शायद यह सम्भव भी नहीं होगा।

इसी प्रस्थिति के साथ **'भूमिका'** (Role) जुड़ी हुई होती है। यह सामाजिक मानकों के अनुकूल होती है। व्यक्ति की प्रस्थिति में अन्तर आ जाने से उसकी भूमिका में भी अन्तर आ जाता है। भूमिका की विस्तृत व्याख्या हम इस अध्याय के अन्त में करेंगे।

प्रस्थिति की अवधारणा को समझने के लिए यह आवश्यक है कि **किंग्सले डेविस** द्वारा प्रस्तुत कुछ अन्य शब्दों के अर्थ को भी जो कि इसके समान अर्थ वाले हैं, समझना जरूरी है,[1] वे हैं—

(1) **प्रस्थिति–पदानुषंग,** (Status and Office)

(2) **प्रतिष्ठा–सम्मान** (Prestige and Esteem)

(3) **हैसियत एवं स्तृत** (Station and Stratum)

ये शब्द प्रस्थिति के (Status) के समान रूप ही मालूम पड़ते हैं, पर इनका अर्थ 'प्रस्थिति' से पूर्णतया भिन्न है। इस प्रकार व्यक्ति के पद अथवा प्रस्थिति को स्पष्ट करने वाले विभिन्न शब्दों को समझ कर ही 'सामाजिक प्रस्थिति' के वास्तविक अर्थ को समझा जा सकता है।

(1) प्रस्थिति एवं पदानुषंग
(Status and Office)

कुछ ऐसे पद होते हैं जो जनरीतियों व रूढ़ियों द्वारा स्वीकृत होते हैं जब

---

1. Kingsley Davis : Human Society., p. 88-96

कि कुछ अन्य पद किसी विशिष्ट सीमित संस्था व संगठन में पाये जाते हैं। **जो पद जनरीतियों व रूढ़ियों द्वारा स्वीकृत हैं, उन्हें हम प्रस्थिति** (Status) **कहते हैं तथा जो पद किसी विशिष्ट सीमित संस्था व संगठन में पाये जाते हैं, उन्हें पदानुषंग** (Office) के नाम से जानते हैं। **डेविस** ने इन शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रस्थिति से तात्पर्य उस पद से है जो कि सामान्य संस्थात्मक व्यवस्था में समूचे समाज द्वारा स्वीकृत व मान्य है तथा जिसका जन्म स्वतः ही हुआ है, न कि जानबूझ कर बनाया गया है। इसके विपरीत **पदानुषंग का तात्पर्य** उस पद से है जो किसी **औपचारिक संगठन में जानबूझ कर बनाया** गया है तथा जो विशिष्ट और सीमित नियमों के द्वारा किसी सीमित समूह के लिए ही लागू होता है तथा जिस पद को सामान्यतः अर्जित करके पाया जाता है, न कि जन्म के द्वारा। पदानुषंग को समझने के लिए हम निम्न उदाहरण दे सकते हैं, जैसे किसी विशिष्ट कॉलेज के प्राचार्य तथा विश्वविद्यालय के किसी विशिष्ट विषय के विभाग-अध्यक्ष का होना। इन दोनों पदानुषंगों में हम पाते हैं कि ये किसी विशिष्ट समूह में किसी विशिष्ट पद की ओर संकेत करते हैं। इन पदों को प्राप्त करने के लिए एक विशिष्ट योग्यता का होना आवश्यक है। जैसे प्राध्यापक एक प्रस्थिति है, जब कि किसी विशिष्ट कॉलेज में प्राध्यापक होना पदानुषंग है। अतः हम देखते हैं कि **पदानुषंग एक विशिष्ट स्थान पर विशिष्ट पद का प्रतीक है** जबकि **'प्रस्थिति' समूचे सामाजिक ढांचे में एक सामान्य स्थिति है।** यह कहा जा सकता है कि कोई भी पदानुषंग व्यक्ति को क्या प्रस्थिति प्रदान करता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस पदानुषंग का क्या महत्त्व है और वह संगठन के लिए क्या कार्य करता है।

(2) प्रतिष्ठा एवं सम्मान
(Prestige and Esteem)

किंग्सले डेविस के अनुसार **प्रतिष्ठा** (Prestige) प्रत्येक व्यक्ति की प्रस्थिति का एक विशेष मूल्य (Value) होता है जिसे **प्रस्थिति की प्रतिष्ठा** (Prestige of Status) कहा जाता है। व्यक्ति की **प्रतिष्ठा** का निर्धारण उसकी उच्च अथवा निम्न प्रस्थिति के अनुसार होता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति यूनिवर्सिटी का लेक्चरर है और उसको इण्टरमिडिएट स्कूल का लेक्चरर समझ लिया जाये तो प्रस्थिति की धारणा के अनुसार ही उसकी प्रतिष्ठा भी आंक ली जाती है। लेकिन जैसे ही यह ज्ञात होता है कि वह किसी यूनिवर्सिटी (University) में प्रवक्ता है, वैसे ही उसकी प्रतिष्ठा भी उच्च हो जाती है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक प्रस्थिति की प्रतिष्ठा अलग-अलग होती है। समाज में व्यक्ति का आदर केवल अपनी प्रस्थिति से सम्बन्धित कर्त्तव्यों को पूरा करने से नहीं होता, बल्कि इस बात से होता है कि सामाजिक व्यवस्था में उसे कौनसी प्रस्थिति प्राप्त है। उदाहरण के लिए यदि कोई एक नौकर (गुलाम) है

और अपना कार्य कुशलतापूर्वक निभाता है तो हम उसकी सेवा की प्रशंसा तो करते हैं, पर साधारणतया उसे प्रतिष्ठा नहीं मिल पाती, क्योंकि उसकी प्रस्थिति को नीचा समझा जाता है।

एक सी प्रस्थिति अथवा पदानुपंग को एक समाज में समान प्रतिष्ठा (Prestige) दी जाती है। ऐसी दशा में समान प्रस्थिति वाले व्यक्तियों को मिलने वाली प्रतिष्ठा तो समान होती है, पर उनके सम्मान (Esteem) में अन्तर आ जाता है, क्योंकि सम्मान अपनी प्रस्थिति से सम्बन्धित उत्तरदायित्वों को उचित ढंग से ही पूरा करने पर प्राप्त होता है। इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत कार्य निभाने की क्षमता व विधि से है जो कि एक पद पर आसीन व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न हो सकती है। अतः यह सम्भव है कि किसी ऊँची प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर भी व्यक्ति को कम सम्मान प्राप्त होता हो और समाज में कम प्रतिष्ठा व पद वाले व्यक्ति को ज्यादा सम्मान मिले। सम्मान का सम्बन्ध किसी प्रतिष्ठा से जुड़े कार्य को उसके अनुरूप निभाने की क्षमता में निहित है। इसी आधार पर विश्वविद्यालय के सभी प्रवक्ताओं की प्रस्थिति और प्रतिष्ठा समान हो सकती है, लेकिन यदि एक प्राध्यापक दूसरे प्रध्यापक से अधिक अच्छा पढ़ाता है तो दूसरे की तुलना में उसे अधिक सम्मान मिलता है।

(3) हैसियत एवं स्तृत
(Station and Stratum)

किंग्सले डेविस का मानना है कि किसी भी व्यक्ति की सभी प्रस्थितियों को मिलाकर जो सामान्य प्रस्थिति आती है, उसे हम 'हैसियत' (Station) शब्द से सम्बोधित करते हैं। एक व्यक्ति की प्रस्थिति या पदानुपंग उसके उस पद के प्रतीक हैं जो कि किसी एक विशिष्ट सामाजिक संगठन के क्षेत्र में है, जबकि किसी व्यक्ति की 'हैसियत' विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त प्रस्थितियों एवं पदानुपंगों का योग है। जैसे—एक व्यक्ति एक प्रोफेसर है। उसके पास जमीन भी बहुत सारी है, उसका व्यापार भी चलता है तथा उसके पास मकान भी बहुत बड़ा है, साथ ही वह एक क्लब का मैनेजर भी है। हम उसकी एक-एक प्रस्थिति पर विचार करें तो किसी एक प्रस्थिति पर पहुँचना मुश्किल है, किन्तु इसका मिला-जुला योग उसकी हैसियत है।

किंग्सले डेविस के अनुसार जो एक ही हैसियत के सदस्य होते हैं, वे एक स्तृत (Stratum) का निर्माण करते हैं। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि विभिन्न प्रस्थितियों से जो एक हैसियत बनती है, उसके सभी लोग परस्पर समान होते हैं। प्रायः प्रत्येक समाज कुछ स्तृतों से विभाजित होता है। चूँकि प्रत्येक समाज में स्तरीकरण पाया जाता है, अतः प्रत्येक समाज में कुछ स्तर होते हैं। प्रत्येक स्तृत के लोगों में 'हम की भावना' होती है। एक स्तृत के लोगों के एक से स्वार्थ व एकसी समस्यायें होती हैं। वे एक दूसरे स्तृत के लोगों से एक सामान्य अन्तर रखते हैं जो कि उनके व्यवहारों में स्पष्ट देखा जा सकता है।

डेविस के द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त वर्गीकरण में अनेक कठिनाइयाँ हैं, विशेषतः डेविस ने प्रस्थिति, हैसियत व पदानुपंग में जो भेद किया है, वह स्पष्ट नहीं है।

प्रस्थिति के प्रकार
(Types of Status)

समाजशास्त्र में प्रस्थिति का आशय किसी भी पद को धारण करने से है, अतः यह अनेक प्रकार की हो सकती है। दूसरे शब्दों में प्रस्थिति का आशय व्यक्ति से अपेक्षित उन अधिकारों व उत्तरदायित्वों से है जो उसे समाज में एक स्थान प्रदान करते हैं। इस अर्थ में प्रस्थिति के दो प्रकार हो सकते हैं।

1. व्यक्तिगत
2. सामाजिक

व्यक्तिगत अर्थ में प्रस्थिति किसी एक कारक पर निर्भर है, जैसे पिता की प्रस्थिति का कारक 'पारिवारिक' है।

सामाजिक या समाजगत प्रस्थिति सम्पूर्ण व्यक्तिगत प्रस्थितियों से बनी प्रतिष्ठा पर निर्भर करती है। व्यक्ति का मकान, पद, आय, शिक्षा, चरित्र आदि सभी तत्वों से बनी प्रतिष्ठा समाजगत प्रस्थिति कहलायेगी। इसे ही डेविस हैसियत (स्टेशन) कहते हैं।[1]

सामान्यतः प्रस्थिति के दो ही प्रकारों का उल्लेख किया जा सकता है।[2]

1. विशिष्ट प्रस्थिति (Particularised Status) एवं
2. सामान्य प्रस्थिति (Generalised Status)

1. विशिष्ट प्रस्थिति (Particularised Status)

विशिष्ट प्रस्थिति के अन्तर्गत उन पदों को रखा जा सकता है जो किसी व्यक्ति द्वारा उसकी व्यक्तिगत अंतःक्रियाओं के क्षेत्र में होते हैं। उन्हें भी पुनः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(A) अनौपचारिक (Informal)
(B) औपचारिक (Formal)

(A) **अनौपचारिक प्रस्थिति** के अन्तर्गत उन पदों को लिया जा सकता है जो जनरीतियों व रूढ़ियों द्वारा वर्षों से चले आये हैं तथा उन्हीं के द्वारा इन प्रस्थितियों की भूमिकायें व अपेक्षायें निर्धारित होती हैं। पिता-पुत्र, पडौसी, मित्र आदि ऐसी ही प्रस्थितियाँ हैं। इन प्रस्थितियों में ऊँच-नीच का कोई स्तरण नहीं होता, अपितु सभी प्रस्थितियाँ समान होती हैं।

(B) **औपचारिक प्रस्थिति** को धारण करने वाला व्यक्ति वैधानिक नियमों (Legal rules) के द्वारा अपने पद को प्राप्त करता है। औपचारिक व वैधानिक

1-2. सिंघी एवं गोस्वामी : समाजशास्त्र विवेचन; पृष्ठ 61–62.

प्रस्थितियाँ किसी विशिष्ट औपचारिक संस्था में किसी विशिष्ट लिखित विधान द्वारा प्रदत्त पद की प्रतीक हैं। **डेविस** इसे **पदानुषंग** (Office) कहते हैं। उदाहरण के लिए प्रिन्सीपल, निदेशक, उपकुलपति, कुलसचिव आदि ऐसीं ही प्रस्थितियाँ हैं।

(2) सामान्य प्रस्थिति (Generalisld Status)

सामान्य प्रस्थिति का आशय किसी विशिष्ट प्रस्थिति से न होकर व्यक्ति की विभिन्न प्रस्थितियों के योग (Total) से वनी उसकी 'सकल प्रस्थिति' से है। डेविस इसको **स्टेशन** (Station) या हैसियत कहते हैं।

राल्फ लिंटन (Ralph Linton) ने **'द स्टेडी ऑफ मैन'** में दो प्रकार की प्रस्थितियों का उल्लेख किया है।[1] जो निम्नांकित हैं—

(1) प्रदत्त प्रस्थिति (Ascribed Status)
(2) अर्जित प्रस्थिति (Achieved Status)

(1) प्रदत्त प्रस्थिति
(Ascribed Status)

लिंटन के अनुसार प्रदत्त प्रस्थिति वह है जिसको प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता तथा वह व्यक्ति को जन्म के आधार पर प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, सामन्तवादी व्यवस्था में राजा की मृत्यु के वाद उसका लड़का ही राजा वन सकता था। अन्य किसी को राजा वनने का अधिकार प्राप्त नहीं था। राजा के पुत्र को राजा वनने के लिए किसी विशेष योग्यता को प्राप्त नहीं करना पड़ता था, वल्कि वह इसलिए राजा वन जाता था कि वह राजा का पुत्र है। व्यक्तित्व के उचित विकास के लिए भी यह आवश्यक है कि व्यक्ति को समाज द्वारा ऐसी प्रस्थिति प्रदान की जाय जिससे वह समाज से अधिकाधिक अनुकूलन कर सके। यही कारण है कि समाज वच्चे को उसके लिंग, आयु, सामाजिक सम्वन्धों तथा नातेदारी के आधार को ध्यान में रखते हुए स्वयं कुछ प्रस्थितियाँ प्रदान करता है। समाज द्वारा प्रदान की जाने वाली प्रस्थितियाँ परम्परागत नियमों के अनुसार निर्धारित होती हैं, लेकिन वाद में व्यक्तित्व का उचित विकास होने से इन्हें स्थायी रूप मिल जाता है। समाज द्वारा व्यक्ति को जन्म से प्राप्त होने वाली प्रस्थितियों के प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं—

(1) लिंग-भेद (Sex D;chotomy)
(2) आयु-भेद (Age Difference)
(3) नातेदारी (Kinship)
(4) अन्य सामाजिक आधार (Other Social Bases)

---

1. **Ralph Linton : Op. cit, ; p. 110.**

(1) लिंग-भेद (Sex Dichotomy)—बच्चे का लिंग स्थायी तथा पूर्णतया एक जैविक सत्य है जो जन्म के समय ही स्पष्ट होता है। संसार की सभी संस्कृतियों तथा समाजों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि स्त्रियों व पुरुषों की प्रस्थितियों तथा भूमिकाओं में महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है। प्राणिशास्त्रीय रूप से स्त्रियों को पुरुषों से निम्न समझा जाता है। कई संस्कृतियों में तो इसी आधार पर स्त्रियों को कमजोर, सहज विश्वासी, कोमल व भावुक समझा जाता है, जबकि पुरुषों को साहसी, वीर व तार्किक माना जाता है। इस आधार पर केवल यौन भेद के कारण ही पुरुषों को समाज द्वारा उच्च प्रस्थिति प्रदान की जाती है तथा स्त्रियों को पुरुषों से निम्न प्रस्थिति प्राप्त होती है। स्त्री की शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता का प्रमुख कारण उसके द्वारा बच्चों का पालन-पोषण करना समझा जाता है। इस आधार पर जबकि स्त्री को केवल घरेलू कार्य और प्राथमिक रूप से बच्चों की देखभाल का कार्य दिया जाता था, वहीं पुरुष को शिकार, युद्ध तथा पशुओं का पालन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य दिये जाते थे। इस प्रकार अनेक समाजों में यौन-भेद के आधार पर स्त्रियों तथा पुरुषों में 'श्रम-विभाजन' पाया जाता है।

ऐसा भी हो सकता है जब अपवाद-स्वरूप किसी समाज में स्त्री की प्रस्थिति पुरुष की प्रस्थिति से उच्च हो। जैसे नायर जाति में स्त्री की प्रस्थिति पुरुष की प्रस्थिति से उच्च है। 'अरोपेश' लोगों में यही स्थिति पायी जाती है। कुछ जन-जातियों में स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक मेहनत का कार्य करती हैं। अब हम कह सकते हैं कि चाहे किसी को कैसा भी कार्य दिया जाये, किन्तु उसका आधार लिंग-भेद ही होता है। वर्तमान समय में यौन भेद को अधिक महत्त्वपूर्ण न मानकर सभी स्त्री-पुरुष सभी क्षेत्रों में कार्य करते हैं। किंग्सले डेविस ने लिखा है कि "लेकिन यह अत्यधिक सन्देहजनक है कि यौन आधार पर प्रदत्त प्रस्थिति का भेद समाज से कभी पूर्णतया समाप्त हो सकेगा।"[1]

(2) आयु-भेद (Age Differences)—प्रस्थिति को प्रदान करने के विभिन्न आधारों में आयु का प्रमुख महत्त्व है। लिंग के विपरीत आयु एक परिवर्तनशील घटना है, इसलिए आयु-भेद के आधार पर व्यक्ति को निश्चित प्रस्थिति प्रदान नहीं की जा सकती। व्यक्तियों के बीच आयु के अनुसार पाये जाने वाले सम्बन्धों को दृष्टि में रखकर व्यक्ति को आयु के अनुसार प्रस्थिति प्रदान की जा सकती है, जैसे माता-पिता तथा बच्चे का सम्बन्ध, बड़े व छोटे का सम्बन्ध आदि। इन सभी सम्बन्धों में व्यक्ति अपनी आयु के अनुसार एक विशेष प्रस्थिति को प्राप्त करता है तथा उसी के अनुसार उससे विभिन्न कर्त्तव्यों की पूर्ति अथवा भूमिका की आशा की जा सकती है। 'जॉर्ज लुण्डबर्ग' ने कहा है कि आयु के मामले में प्रस्थिति का

1. Devis : Op. cit., p. 102.

निर्धारण जैविक कारणों की अपेक्षा सांस्कृतिक कारणों से अधिक होता है।[1] इसके लिए हम भारतीय संस्कृति का उदाहरण ले सकते हैं। हमारे परिवार पितृसत्तात्मक हैं अर्थात् बड़े भाई की प्रस्थिति छोटे भाई से ऊँची होती है। इसलिए चाहे छोटे भाई की पत्नी बड़े भाई की पत्नी की उम्र से बड़ी ही क्यों न हो, उसे बड़े भाई की पत्नी से निम्न प्रस्थिति प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि हमारी सांस्कृतिक व्यवस्था में स्त्रियों की प्रस्थिति का निर्धारण उसकी उम्र से नहीं, बल्कि उसके पति की उम्र से होता है। एक ही आयु की स्त्री व पुरुषों की प्रस्थितियों में भी महत्त्वपूर्ण अन्तर पाया जाता है। जिन समाजों में जीवन सरल व शांतिमय होता है, जीवन-यापन के साधन सरल हैं, वहाँ वृद्धावस्था को अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण माना जाता है। इसके विपरीत जिन स्थानों पर आजीविका प्राप्त करने के साधन बहुत कठिन होते हैं, वहाँ वृद्धावस्था में व्यक्ति को महत्त्वपूर्ण प्रस्थिति प्रदान नहीं की जाती है। एस्कीमो व्यक्ति तो वृद्ध व्यक्ति की हत्या करना अनैतिक नहीं मानते हैं। इस प्रकार व्यक्ति की आयु के अनुसार उसको प्राप्त होने वाली प्रस्थिति की प्रकृति में भी अन्तर आता जाता है।

(3) **नातेदारी (Kinship)**—**डेविस** के अनुसार लिंग तथा आयु के अतिरिक्त व्यक्ति को नातेदारी द्वारा भी समाज में कुछ विशेष प्रस्थितियाँ प्राप्त होती हैं। बहुत प्राचीन समय से ही एक व्यक्ति को समाज में वही प्रस्थिति प्रदान की जाती रही है जो प्रस्थिति उसके माता-पिता अथवा दूसरे सम्बन्धियों की रही हो। यदि माता-पिता उच्च प्रस्थिति के व्यक्ति हैं तो बच्चे को भी उच्च दृष्टि से देखा जाता है। यदि समाज में माता-पिता की प्रस्थिति निम्न है तो बच्चे को भी समाज में कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। इसका कारण यह है कि प्राणिशास्त्रीय रूप से बच्चे की विशेषताओं को माता-पिता की विशेषताओं के समान ही समझने का प्रयत्न कर लिया जाता है। परिवार एक सार्वभौमिक सामाजिक संस्था है। इसके अन्तर्गत बच्चा अपने माता-पिता से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित रहता है तथा माता-पिता द्वारा ही बच्चे का सामाजीकरण होता है। इन घनिष्ट सम्बन्धों के कारण ही प्रारम्भ से ही बच्चे में अपने माता-पिता के समान गुण पैदा हो जाते हैं।

परिवार सामाजिक ढाँचे की आधारशिला है। अतः परिवार के आधार पर ही प्रथम प्रस्थिति किसी बच्चे को प्राप्त होती है। बाद में वह अपनी योग्यता से चाहे अपनी प्रस्थिति भले ही उन्नत करले, लेकिन प्रारम्भ में समाज उसे एक निश्चित प्रस्थिति अवश्य प्रदान कर देता है। जाति की संस्था प्रदत्त प्रस्थिति का श्रेष्ठमत उदाहरण है, क्योंकि व्यक्ति अपनी योग्यता से कितना भी ज्ञान प्राप्त करके अर्जित प्रस्थिति प्राप्त करले, लेकिन जाति द्वारा प्रदत्त प्रस्थिति वह बदल नहीं सकता।

---

1. George Lundberg : Sociology., p. 249.

(4) अन्य सामाजिक आधार (Other Social Bases)—प्रस्थिति प्राप्त करने में लिंग, आयु तथा नातेदारी के अलावा कुछ अन्य आधार भी हैं जैसे—

(A) एक नीग्रो प्रजाति के बच्चे को अमरीकी और दूसरे गौरे समुदायों में जन्म से ही निम्न प्रस्थिति प्राप्त होती है यद्यपि इसका निर्धारण माता-पिता की प्रस्थिति के कारण ही होता है लेकिन वास्तव में यही स्थिति धीरे-धीरे उसकी मनोवृत्ति को भी प्रभावित करने लगती है और धीरे-धीरे यह उनके व्यक्तित्व का अंग बन जाती है।

(B) जन्म की वैधता और अवैधता भी प्रदत्त प्रस्थिति का आधार है। यदि किसी बच्चे का जन्म अवैध है तो दूसरे बच्चों की अपेक्षा उसको निम्न प्रस्थिति प्राप्त होती है और समाज में उसे सभी व्यक्ति अनैतिक दृष्टि से देखते हैं। कुछ समाजों में जुड़वाँ बच्चों को इसलिए भी निम्न समझा जाता है क्योंकि जुड़वाँ सन्तानों की उत्पत्ति के साथ तरह-तरह के अन्धविश्वास किंवदन्तियाँ जुड़ी रहती हैं।

(C) भारत में किसी जाति की सदस्यता प्रदत्त प्रस्थिति का प्रमुख आधार है। किसी व्यक्ति में चाहे कितनी ही योग्यता हो, लेकिन शूद्र जाति में जन्म लेने के कारण उसकी प्रस्थिति सदैव निम्न रहती है। दूसरी ओर कोई योग्यता न होने पर भी उच्च जातियों के बच्चों को जन्म से ही उच्च प्रस्थिति प्राप्त हो जाती है।

(D) गोद लिए बच्चों को रक्त की सन्तान की तुलना में माता-पिता की स्थिति से एकरूपता प्राप्त नहीं हो पाती। ऐसे बच्चे की भी जिसके माता-पिता विवाह-विच्छेद के द्वारा पृथक हो गये हैं, सामान्यतः साधारण बच्चों से उसकी प्रस्थिति भिन्न होती है।

इस प्रकार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अनेक आधारों पर कुछ विशेष प्रस्थितियाँ प्राप्त होती हैं जो बाद में उसकी अर्जित प्रस्थितियों की प्रकृति तक को प्रभावित करती है।

(2) अर्जित प्रस्थिति
(Achieved Status)

अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति की प्रस्थिति का वह भाग है जिसे वह अपने प्रयत्नों और योग्यता से समाज में प्राप्त करता है। प्रत्येक समाज में सभी सदस्यों को मिलने वाली सफलता अथवा असफलता समान नहीं होती। कुछ व्यक्तियों को समाज में कोई भी प्रदत्त प्रस्थिति न मिलने पर भी वे आश्चर्यजनक रूप से सफलता प्राप्त कर लेते हैं, जब कि कुछ व्यक्ति समाज द्वारा प्रदत्त प्रस्थितियों की प्रतिष्ठा को स्थायी बनाये रखने तक में असफल रह जाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति की योग्यता तथा प्रयत्नों पर भी उसकी प्रस्थिति निर्भर रहती है। प्रत्येक समाज में कुछ व्यक्ति

इतने उन्नतिशील, कार्यक्षमतावान् और महत्त्वाकांक्षी होते हैं कि समाज के द्वारा कोई भी सुविधाएँ न मिलने पर भी वे नेता आदि की जैसी महत्त्वपूर्ण प्रस्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्येक युग में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जो सामाजिक व्यवस्था को इस प्रकार से परिवर्तित करने की क्षमता रखते हैं जिसमें उन्हें भी एक उचित स्थान मिल सके। इतना अवश्य है कि प्रदत्त प्रस्थिति के अभाव में व्यक्ति को एक उच्च प्रस्थिति अर्जित करने के लिए उन व्यक्तियों से अधिक प्रयत्न करने पड़ते हैं जिन्हें समाज ने पहले से ही ऊँची प्रस्थिति दे रखी है।

अर्जित प्रस्थिति के आधार (Bascs of Achieved Status)—विशेषीकरण अथवा **श्रम-विभाजन** किसी विशेष योग्यता वाले व्यक्ति को अपनी योग्यता दिखाने का अवसर प्रदान करता है और इसकी सहायता से प्रायः व्यक्ति ऊँची प्रस्थितियों को प्राप्त कर लेता है। **उच्च जीवन-स्तर** अथवा नगरीय वातावरण जहाँ पग-पग पर व्यक्ति को तरह-तरह की प्रस्थितियों से अनुकूलन करने की समस्या उत्पन्न करता है, वहीं मनुष्य को समाजीकरण की शिक्षा भी प्रदान करता है। इसकी सहायता से व्यक्ति ऊँची, प्रस्थितियों को प्राप्त करने के योग्य हो जाता है। इसी प्रकार सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप समाज में नवीन प्रस्थितियों की आवश्यकता होती है, जिन्हें व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार प्राप्त करते हैं। व्यक्ति कितने भी योग्य क्यों न हों, लेकिन यदि समाज में नयी-नयी प्रस्थितियों की आवश्यकता ही अनुभव नहीं की जायेगी तो व्यक्ति उन्हें किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? वर्तमान युग में **सम्पत्ति का संचय** भी अर्जित प्रस्थिति का महत्त्वपूर्ण आधार है। आज सभी समाजों में सम्पत्ति के द्वारा व्यक्ति उच्च प्रस्थिति को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि यह व्यक्ति की योग्यता का एक स्पष्ट माप ही नहीं है, बल्कि इसके द्वारा वह उच्च प्रस्थितियों से सम्बन्धित सभी सुविधायें भी प्राप्त कर सकता है। यदि सम्पत्ति को वैध साधनों व सम्मानित ढंग से अर्जित किया गया हो तभी वह व्यक्ति को उच्च स्थिति दे सकती है। उच्च प्रस्थिति अर्जित करने के लिए व्यक्ति को सामाजिक रूप से उपयोगी कार्य करना भी आवश्यक होता है।

अर्जित प्रस्थितियों की प्रकृति इस प्रकार की होती है जिन्हें समाज किसी व्यक्ति को स्वयं नहीं दे सकता, बल्कि इन्हें केवल अर्जित ही किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कोई भी सामाजिक व्यवस्था अपने आप किसी व्यक्ति को महान् डॉक्टर, संगीतज्ञ, समाजशास्त्री या गणितशास्त्री आदि नहीं बना सकती। इन्हें तो व्यक्ति निरन्तर प्रयत्न अथवा व्यक्तिगत योग्यता व रुचि के द्वारा ही अर्जित कर सकता है। अर्जित प्रस्थिति कभी भी पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होती। इसे उसके सामाजिक मूल्यों और व्यवहार के नियमों को ध्यान में रखते हुए प्राप्त किया जाता है। जिन समाजों की **संस्कृति विचार-प्रधान है,** वहाँ व्यक्ति की अर्जित **प्रस्थिति का आधार उसका मौलिक चिन्तन है,** जबकि **भौतिकवादी संस्कृति** में इसका आधार

उसकी संचित सम्पत्ति है। इस प्रकार अर्जित प्रस्थिति की धारणा को विशेष सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है।

प्रदत्त व अर्जित प्रस्थितियों में सम्बन्ध
(Relationship Between Ascribed & Achieved Status)

प्रत्येक समाज तथा संस्कृति में प्रदत्त व अर्जित प्रस्थितियाँ अवश्य पाई जाती हैं। ये प्रस्थितियाँ परस्पर विरोधी प्रतीत होते हुए भी एक दूसरे की पूरक हैं। इसीलिए ये समाज के लिए आवश्यक भी है। प्रदत्त प्रस्थिति जीवक में पहला स्थान रखती हैं, क्योंकि उसकी सहायता से सांस्कृतिक विरासत ही स्थायी नहीं रखती परन्तु व्यक्ति को जीवन में विकास के उचित अवसर भी प्राप्त होते हैं। प्रदत्त परिस्थितियाँ उन उद्देश्यों को स्पष्ट करती हैं जिसके अनुसार व्यक्ति को सामाजिक प्रशिक्षण प्राप्त होना चाहिए। इसी धारणा के अनुसार एक व्यक्ति का लिंग, आयु, सम्बन्ध, श्रेणी, धर्म, समुदाय आदि देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा उसके व्यक्तित्व का कितना विकास होगा। प्रदत्त प्रस्थितियाँ व्यक्ति जो सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती हैं, जबकि अर्जित प्रस्थितियाँ प्रदान नहीं कर सकती। उदाहरण के लिए हम लड़के व लड़कियों के लिए अलग-अलग समाजीकरण की व्यवस्था करते हैं। कोई भी लड़की कितनी भी योग्य, इच्छुक व शक्तिशाली क्यों न हो, वह साधारणतः सैनिक नहीं बन सकती। प्रत्येक समाज में ऐसे नियम व सिद्धान्त अवश्य होते हैं जिनका कितनी भी महत्त्वकांक्षा के बाद भी उल्लंघन नहीं किया जा सकता। अतः हम कह सकते हैं कि कुछ अर्जित प्रस्थितियाँ भी प्रदत्त प्रस्थिति से जुड़ी रहती हैं व उन्हें प्रदत्त प्रस्थिति के प्रतिकूल जाकर प्राप्त नहीं किया जा सकता।

प्रदत्त प्रस्थितियों की तुलना में अर्जित प्रस्थितियाँ अधिक प्रकार्यात्मक हैं। प्रदत्त प्रस्थिति को प्राप्त करने वाला व्यक्ति आवश्यक नहीं कि सम्मान से कार्य करे, जबकि अर्जित प्रस्थिति को प्राप्त करने वाला व्यक्ति उसे प्राप्त करने में साधारणतः प्रयत्न करता है और उसे बनाये रखने में प्रयत्नशील रहता है। इस प्रस्थिति की भावना के कारण व्यक्ति अधिक से अधिक प्रयत्न करना सीखता है। अर्जित प्रस्थितियों में प्रतिस्पर्द्धा की भावना होती है, जिसमें अथक प्रयत्न द्वारा तथा कर्त्तव्यों की पूर्ति से ही सफलता प्राप्त होती है। इससे समाज में व्यवस्था बनी रहती है और व्यक्ति अपने कार्यों के प्रति सदैव जागरूक रहता है।

प्रदत्त प्रस्थिति द्वारा व्यक्ति का सामाजिक रूपरेखा का निर्माण होता है। प्रदत्त प्रस्थिति के लिए भी प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, प्राध्यापक पद पूर्णतः अर्जित है, किन्तु इसे हर व्यक्ति अपनी योग्यता से ही प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिए आवश्यक है कि उसकी आयु कम से कम 21 वर्ष हो, व्यक्ति सुनने व बोलने की क्षमता रखता हो आदि। जब तक ये प्रदत्त गुण उसमें नहीं होंगे, वह अध्यापक की प्रस्थिति को अर्जित नहीं कर पायेगा।

किंग्सले डेविस ने लिखा है कि "किसी प्रस्थिति को अर्जित करने में कुछ प्रथागत सीमाएँ होती हैं जिनका प्रभाव कानून से कम नहीं होता। उदाहरण के लिए संविधान के द्वारा स्वीकृति होने पर भी अमेरिका में कोई नीग्रो, कैथोलिक या यहूदी चाहे कितना भी योग्य क्यों न हो, यहाँ का राष्ट्रपति नहीं बन सकता। अतः कोई भी प्रस्थिति पूर्णतः प्रदत्त या पूर्णतः अर्जित नहीं हो सकती। यह हो सकता है कि इनमें एक मुख्य हो तथा दूसरी गौण।"[1]

सैद्धांतिक रूप से प्रदत्त एवं अर्जित पद एक दूसरे के विरोधी जान पड़ते हैं, परन्तु वास्तव में ये प्रकार्यात्मक रूप से एक हैं, या एक दूसरे के लिए पूरक हैं।

भूमिका (Role)

भूमिका को प्रस्थिति का प्रकार्यात्मक (Functional) पक्ष माना जाता है, अर्थात् भूमिका प्रस्थितिक सक्रिय भाग का व्यवहारात्मक पक्ष है।

किंग्सले डेविस के अनुसार, "भूमिका किसी भी व्यक्ति द्वारा अपने पद की आवश्यकताओं के अनुरूप सम्पन्न किया है।"[2] राल्फ लिंटन ने भूमिका को प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष कहा है।[3]

इस प्रकार जब कोई व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से सम्बन्धित अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को प्रयोगात्मक रूप प्रदान करता है, तो हम कहते हैं कि वह व्यक्ति अपनी भूमिका सम्पादित कर रहा है। 'भूमिका' की अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम मनोविज्ञान (Psychology) में हुआ। सर्वप्रथम 1920 में जी० एच० मीड (G. H. Mead) ने व अन्य समाजशास्त्रियों ने कहा जोकि शिकागो विश्वविद्यालय से सम्बद्ध थे, एवं जिन्होंने व्यावसायिक व अर्द्ध-व्यावसायिक क्षेत्रों पर बात की, भूमिका पर ध्यान केन्द्रित किया। 1930 एवं 1940 में बहुत से लेखकों ने अन्तःव्यक्तित्व व्यवहार का विश्लेषण किया एवं इस अवधारणा के उपयोग का मार्ग खोला। मैरिनो (Marino) ने रोल प्लेइंग (Role Playing) को मनोविश्लेषण एवं भूमिका-प्रशिक्षण के एक उपकरण के रूप में लिया। सरबिन (Sarbin) ने भूमिका सम्पादन को सम्मोहक व्यवहार के रूप में विश्लेषित किया है। न्यूकोम्ब (Newcomb) ने भूमिका को केन्द्रीय अवधारणा के रूप में मनोविज्ञान में प्रयोग किया है। वर्तमान में समाज

1. सिंघी एवं गोस्वामी : पूर्वोक्त; पृष्ठ 70.
2. Kingsley Davis : Op. Cit., p. 90
3. Ralph Linton : Op. Cit; p. 113-119.

वैज्ञानिक भूमिका का प्रयोग विस्तृत रूप में औद्योगिक एवं नौकरशाही के क्षेत्र में कर रहे हैं, जैसे परिवार, छोटा समूह, मनोवृत्ति-परिवर्तन एवं हाल ही में भूमिका का प्रयोग मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के विश्लेपण में किया जा रहा है जिसके द्वारा व्यक्तियों को प्रयोग के विषय की भूमिका प्रदान की जाती है।

समाजशास्त्रीय अर्थ में भूमिका प्रस्थिति का कार्य है अर्थात् यह किसी भी प्रस्थिति का व्यावहारात्मक पहलू है। भूमिका सामाजिक संरचना की एक अधारभूत इकाई है, जिसे व्यवस्थित रखे विना सामाजिक संरचना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मुख्यत: भूमिका के निर्माणक तत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. व्यक्तियों की आशाएँ (Expectations)
2. इन आशाओं के अनुरूप की जाने वाली वाह्य क्रियाएँ (Over Actions according to Expectations)

भूमिका का अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definition of Role)

भूमिका को अनेक विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है।

राल्फ लिन्टन (Ralph Linton) ने भूमिका को प्रस्थिति से सम्वद्ध करके समझाया है, और लिखा है कि कोई भी भूमिका प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है।"[1] लिन्टन इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए अन्यत्र लिखते हैं कि भूमिका के अन्तर्गत हम उन सभी अभिवृत्तियों (Attitudes), सामाजिक मूल्यों (Values) अन्य व्यवहारों (Behaviours) को भी सम्मिलित करते हैं जो विशेष प्रस्थिति से सम्वन्धित व्यक्ति या व्यक्तियों को समाज द्वारा प्रदान की जाती है।[2]

पार्क एवं वार्गिस (Park and Burgess) के अनुसार "भूमिका समाजीकरण की एक इकाई मानी जाती है।" अर्थात् इसके अनुसार भूमिका बच्चे के समाजीकरण में सहायता प्रदान करती है। सार्जेन्ट (Sargent) के शब्दों में, "किसी व्यक्ति की भूमिका सामाजिक व्यवहार का ही एक प्रतिमान अथवा प्ररूप है जिसे वह अपने समूह के सदस्यों की आशाओं या अपेक्षाओं के अनुसार विशेष परिस्थिति में ठीक समझता है।"[3]

हैरी जॉनसन ने भी भूमिका को परिभाषित किया है और कहा है कि "समूह का भूमिका-सम्वन्धी ढाँचा वही है जो उसका प्रस्थिति-सम्वन्धी ढाँचा है क्योंकि जो एक सदस्य के दृष्टिकोण से भूमिका है, वह दूसरे के दृष्टिकोण से प्रस्थिति है।"[4] जब कभी समाज के अधिकांश सदस्य प्रस्थितियों की अपेक्षाओं के

1-2. Linton : The Cultural Background of Personality, p. 77.
3. Sargent : Social Psychology at Crossroads, p. 225.
4. Harry Johnson : Sociology : A Systematic Introduction,

अनुसार भूमिका नहीं कर पाते तो सामाजिक असन्तुलन फैलने लगता है और सामाजिक व्यवस्था विघटित होने लगती है। प्रस्थिति और भूमिका का सन्तुलन सामाजिक व्यवस्था का आधार है। इस सम्वन्ध में हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भूमिका की धारणा एकपक्षीय नहीं है। भूमिका सदैव पारस्परिक (Reciprocal) होती है, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की तुलना में होती है और इस प्रकार परिस्थिति के अनुसार यह परिवर्तनशील होती है।

लिण्डजे (Lindzey) ने भूमिका को समझाते हुए लिखा है कि भूमिका किसी व्यक्ति द्वारा अन्तःक्रिया की परिस्थितियों में सीखी क्रियाओं अथवा कार्यों की एक प्रतिमानित क्रम है।"[1] इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भूमिका सदैव व्यक्ति की किसी एक प्रस्थिति के साथ उसकी संगठित क्रियाओं के चारों ओर केन्द्रित रहती है।

भूमिका की विशेषताएँ
(Characteristics of Role)

उपर्युक्त परिभाषिक विश्लेषण में हम भूमिका की कुछ सामान्य विशेषताओं को प्राप्त करते हैं, वे हैं—

(1) भूमिका का आशय उन विभिन्न व्यवहारों की सम्पूर्णता से है, जिन्हें एक विशेष प्रस्थिति पर होने के कारण व्यक्ति से पूरा की जाने की आशा की जाती है।

(2) भूमिका-प्रत्याशा का निर्धारण संस्कृति विशेष के नियमों द्वारा होता है अर्थात् भूमिका की स्वीकृति (Sanction) समाज द्वारा की जाती है।

(3) हम प्रत्येक व्यक्ति से एक विशेष भूमिका की आशा दो कारणों से करते हैं—प्रथम तो प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक मूल्यों के अनुकूल आचरण करे और दूसरे, समाज में व्यवस्था बनी रहे।

(4) प्रस्थिति की भाँति भूमिका भी 'प्रदत्त' और 'अर्जित' होती है। एक प्रस्थिति के सभी व्यक्तियों की प्रदत्त भूमिका तो समान होती है, लेकिन अर्जित भूमिका में अन्तर होना स्वभाविक है और इसी लिए हमें लोगों के व्यक्तित्व एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं।

(5) भूमिका समयानुकूल परिवर्तनशील है। समाज और संस्कृति के साथ व्यक्ति ज्यों-ज्यों अधिकाधिक अनुकूलन करता जाता है, उसकी भूमिका में परिपक्वता आती जाती है।

(6) प्रत्येक भूमिका व्यक्ति से एक विशेष प्रकार के व्यवहार की माँग करती है और इसलिए समाज में एक व्यक्ति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करता हुआ पाया जाता है।

---

1. Lindzey : Handbook of Social Psychology., p. 225.

(7) यद्यपि हम सामाजिक अपेक्षाओं के अनुरूप भूमिका अदा करने का प्रयत्न करते हैं, लेकिन व्यावहारिक रूप में सभी भूमिकाओं को समुचित रूप में निभाना कठिन है। अतः जिस भूमिका में हमारी अधिक रुचि होती है, उसका निर्वाह हम अधिक अच्छी तरह कर पाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति की भूमिका का उसकी रुचियों, मनोवृत्तियों और योग्यता से विशेष सम्बन्ध होता है।

(8) सभी भूमिकाएँ समाज प्रकृति की नहीं होती। कुछ 'प्रमुख भूमिकाएँ' (Key Roles) होती हैं, जिसमें अधिक दायित्व और श्रम निहित होता है तो कुछ सामान्य भूमिकाएँ (General Roles) होती हैं जिनका निर्वाह हम बड़ी सरलता से कर पाते हैं।

भूमिका के प्रकार
(Types of Role)

सामान्यतः भूमिका भी दो प्रकार की होती हैं—

1. प्रदत्त भूमिकायें (Ascribed Roles) एवं
2. अर्जित भूमिकायें (Achieved Roles)

प्रदत्त प्रस्थितियों से सम्बन्धित कार्यों को प्रदत्त भूमिकायें कहा जाता है जबकि अर्जित प्रस्थितियों से सम्बन्धित कार्यों को अर्जित भूमिकायें कहा जाता है।

भूमिका से सम्बन्धित अवधारणाएँ
(Some Related Concepts of Role)

(1) भूमिका प्रत्याशा (Role Expectation)

भूमिका-प्रत्याशा और कुछ नहीं समाज द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की प्रस्थिति के अनुकूल उसके अधिकार और कर्त्तव्यों का लेन-देन है। जैसे किसी परिवार में माता और पुत्र हैं तो उन दोनों के एक-दूसरे के प्रति अधिकार और कर्त्तव्यों का आदान-प्रदान है अर्थात् माता का कर्त्तव्य है कि वह अपने पुत्र की रक्षा करे, उधर पुत्र का यह अधिकार है कि वह अपनी माता से रक्षा करा सके। इस प्रकार माता व पुत्र की भूमिका-प्रत्याशाएँ निश्चित हो जाती हैं। इस प्रकार परिवार में माता और पुत्र को निश्चित प्रस्थितियाँ प्राप्त हैं, ठीक उसी प्रकार उन निश्चित प्रस्थितियों के अनुसार उनकी भूमिका-प्रत्याशाएँ भी निश्चित एवं प्रतिमानित हो जाती हैं।

भूमिका-प्रत्याशाओं को विद्वानों ने क्रिया एवं क्रिया करने वाले के गुण दोनों ही के रूप में स्वीकार किया है, जैसे—माता का कर्त्तव्य है कि वह पुत्र को दूध पिलाये। इस क्रिया में वह स्नेह, सौहार्द्र, वात्सल्य आदि गुण भी प्रकट कर सकती है।

(2) भूमिका संघर्ष (Role Conflict)

भूमिका-संघर्ष में दो समूह इस कारण एक-दूसरे से सम्बन्वित हो जाते हैं कि एक ही व्यक्ति एक समूह में जो भूमिका निर्वाह करता है, वह कुछ अंशों में दूसरे

समूह में जो उसकी भूमिका है, उससे मेल नहीं खाती। इसे हम एक उदाहरण द्वारा और भी अच्छी तरह समझ सकते हैं। कल्पना कीजिए कि आप एक परीक्षा के निरीक्षक का कार्य कर रहे हैं। लगभग आधा समय बीत जाने पर आप अपने एक साथी विद्यार्थी को खुल्लम-खुल्ला नकल करते हुए देख लेते हैं। विद्यार्थी अपने पहले से तैयार किये हुए नोट्स की नकल कर रहा है। इस काल्पनिक स्थिति में विशेषकर उस स्थिति में जबकि आपका साथी विद्यार्थी नकल कर रहा है, विद्यार्थी (निरीक्षक) एक भावी भूमिका-संघर्ष का सामना कर रहा है।

(3) भूमिका-सम्पादन (Role Enactment)

व्यक्ति जैसे-जैसे समाज में रहता है तथा अन्य व्यक्तियों से अन्तः क्रिया करता है, वैसे-वैसे ही उसे अपनी तथा अन्य व्यक्तियों की प्रस्थिति का उचित आभास हो जाता है। पुनः वह अपनी प्रस्थिति के पहचानने के साथ-साथ अपनी भूमिका-सम्पादन भी करता जाता है। उदाहरणार्थ एक फुटबाल का खिलाड़ी गोलकीपर की भूमिका सीखता है तो जब कभी वह किसी दूसरी टीम के विरुद्ध मैच खेलेगा तो वह अपनी भूमिका अपनी पूर्ण शक्ति एवं अनुभव के साथ सम्पादित करेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि भूमिका-सम्पादन में व्यक्ति अपनी योग्यता एवं प्रतिभा का अधिक से अधिक प्रदर्शन करेगा।

(4) भूमिका-प्रत्यक्षीकरण (Role-Preception)

प्रत्यक्षीकरण की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ हैं "प्रत्यक्षीकरण से तात्पर्य भौतिक व सामाजिक दोनों प्रकार की वस्तुओं का अनुभव करना तथा उसकी व्याख्या एवं प्रशंसा करना है।"[1] प्रत्यक्षीकरण की परिभाषा में अनुभूति एवं अर्थ दोनों हैं। लिण्डजे इसे परिभाषित करते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं। "भूमिका का प्रत्यक्षीकरण सामाजिक सन्दर्भ में किसी उत्तेजना के प्रति संगठित प्रत्युत्तर है।"[2]

इस प्रकार समाज में रहकर प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी भूमिका अदा करते रहते हैं। प्रायः समाज में रहते-रहते कुछ भूमिकाएँ तो इतनी पूर्वानुमानित हो जाती हैं कि उनके विषय में यह भूमिका-प्रत्याशा कर सकते हैं।

(5) भूमिका संकुल (Role-set)

भूमिका-संकुल को समझने से पहले हमें यह देखना होगा कि प्रत्येक व्यक्ति की समाज में दो प्रकार की प्रस्थितियाँ होती हैं—पहली वैषयिक स्थिति जो प्रदत्त भी हो सकती है और अर्जित भी। इसमें व्यक्ति स्वयं अपने बारे में सोचता है और दूसरी होती है, उद्देश्यात्मक प्रस्थिति, इसमें व्यक्ति के बारे में दूसरे व्यक्ति जो सोचते

1. Young : Hand-book of Social Psychology., p. 59.
2. Lindzey : Ibid , p. 229,

हैं, वह ही स्थिति आती है। वैवाहिक स्थिति में व्यक्ति जो विभिन्न भूमिकायें निभाता है, वही उसका स्थिति-संकुल होता है। जैसे एक व्यक्ति डॉक्टर है। हॉस्पिटल में उसकी भूमिका एक नर्स के साथ अलग होगी, एक डॉक्टर के साथ अलग होगी, मरीजों के साथ अलग होगी एवं हॉस्पिटल का जो प्रशासनिक ढाँचा है, उसके साथ उसकी भूमिका अलग होगी। इस प्रकार वह जो ये विभिन्न भूमिकायें अलग-अलग व्यक्तियों के साथ निभाता है, ये सब ही मिलकर उसके भूमिका-संकुल का निर्माण करते हैं।

भूमिका पुनर्वर्तन (Role Reinforcement)

भूमिका-विरोध से बिल्कुल विपरीत प्रस्थिति है 'भूमिका परिवर्तन' की। इस स्थिति में किसी एक समूह में व्यक्ति की जो भूमिका है, उससे उसे किसी दूसरे समूह में वह जो भूमिका करता है, बल या सहायता मिलती है। उदाहरणार्थ एक अध्यापक की स्कूल की भूमिका घर में उसकी पिता की भूमिका को बल प्रदान करती है, इस रूप में वह अपने बच्चों को उनके सामाजिक उत्तरदायित्वों का बोध कराये।

प्रस्थिति एवं भूमिका में सम्बन्ध
(Relation between Status and Role)

प्रस्थिति एवं भूमिका को अगर हम पृथक् रूप से देखने का प्रयास करेंगे तो हमारा यह प्रयास निष्फल होगा, क्योंकि ये अवधारणायें एक-दूसरे की पूरक हैं। जहाँ प्रस्थिति होगी, वहाँ भूमिका का होना आवश्यक है और भूमिका के बिना प्रस्थिति सम्भव नहीं है। **हैरी जॉनसन** ने इनके सम्बन्ध को समझाते हुए कहा है कि "सामाजिक पद के दो अंग हैं, एक दायित्वों से आवेष्ठित और दूसरा अधिकारों से आवेष्ठित। सामाजिक पद के इन दो अंगों को हम उसकी भूमिका और उसकी स्थिति कहेंगे। भूमिका कर्त्तव्यों का बोध करायेगी और प्रस्थिति अधिकारों का।" इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ये दोनों अवधारणायें एक-दूसरे के बिना अपूर्ण या अधूरी हैं। **हैरी जॉनसन** इनके सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "समूह का भूमिका-सम्बन्धी ढाँचा वही है जो उसका प्रस्थिति सम्बन्धी ढाँचा है, क्योंकि जो एक सदस्य के दृष्टिकोण से भूमिका है वह दूसरे के दृष्टिकोण से प्रस्थिति है।"

टालकट पारसन्स (Talcott Parsons) ने अपनी पुस्तक **'ए जनरल थ्योरी ऑफ एक्शन'** में प्रस्थिति एवं भूमिका के सम्बन्ध को दर्शाते हुए कहा है कि "व्यक्ति स्वयं सामाजिक व्यवस्था की एक इकाई है और इस अर्थ में वह प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं का एक मिश्रित बण्डल है।"

राल्फ लिण्टन (Linton) का कहना है कि प्रस्थिति और भूमिका कोई अलग चीज नहीं है अपितु "भूमिका प्रस्थिति का गत्यात्मक पहलू है।" इसका तात्पर्य यह

है कि जब प्रस्थिति में गति आती है तो वह व्यक्ति की भूमिका बन जाती है। प्रस्थिति एवं भूमिका के सम्बन्ध को जब हम और आगे लेकर चलते हैं तो इस विषय में हम कह सकते हैं कि भूमिका बीज के रूप में है और प्रस्थिति पौधे के रूप में। उदाहरण के लिए हमें यह देखना होगा कि बीज के पैकेट में से जैसे बीज लेंगे उसी प्रकार का हमारा पौधा तैयार होगा। इसी प्रकार जैसी भूमिका हम निभायेंगे, वैसा ही हमारी प्रस्थिति का विकास होगा। इस तरह इन विचारकों के मत में भूमिका प्रस्थिति का निर्धारण करती है और प्रस्थिति भूमिका का।

इस प्रकार भूमिकायें एवं प्रस्थिति परस्पर सम्बन्धित हैं, तथापि कभी-कभी एक के अभाव में दूसरे को प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि एक प्रिन्सीपल का अचानक देहान्त हो जाये तो उसकी अनुपस्थिति में वाइस प्रिन्सीपल उसकी प्रस्थिति का बाना ग्रहण कर लेता है और विधिवत् प्रक्रिया द्वारा नये प्रिन्सीपल के चयन तक वह प्रिन्सीपल बना रहता है। अतः कुछ समय के लिए वह भूमिका-विहीन प्रस्थिति में रहता है।

इसी प्रकार कई बार प्रस्थिति के अभाव में भी भूमिका का निष्पादन सम्भव हो जाता है, जैसे परिवार में किसी के बीमार पड़ने पर घर की महिलायें नर्स (Nurse) की भूमिका का निर्वाह करती हैं।

परन्तु यह विशेष दशाओं में ही सम्भव है अन्यथा सामान्यतः प्रस्थिति एवं भूमिका दोनों एक-दूसरे से अविभाज्य रूप से सम्बन्धित होती हैं।

प्रतिमान (मानदण्ड) एवं मूल्य
(Norms and Values)

समाजशास्त्रीय साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग सामाजिक प्रतिमानों एवं मूल्यों का है। सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता का एक बहुत बड़ा कारण सामाजिक सम्बन्धों का नियन्त्रण एवं संचालन हैं। सामाजिक सम्बन्धों को नियन्त्रित एवं संचालित करने का कार्य सामाजिक प्रतिमान एवं मूल्य करते हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि सामाजिक प्रतिमान व्यक्तियों के 'विपथगामी व्यवहार' (Deviant Behaviour) को नियन्त्रित करते हैं।

प्रतिदिन हम अनेक लोगों से मिलते हैं। हम उनसे अन्तःक्रिया करते हैं। इनमें से बहुत से हमारे परिचित होते हैं और बहुत से अपरिचित भी होते हैं। हमारी अन्तः-क्रिया के समस्त आयाम (Dimensions) उन्हीं सामाजिक मानदण्डों से निर्धारित होते हैं। हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन में अनेकानेक मानदण्ड या प्रतिमान हैं। खान-पान

के तरीके, विधि-विधान, भाषा-वेषभूषा के प्रतिमान अन्तःक्रियाओं के प्रतिमान आदि सभी प्रतिमान या मानदण्ड ही हैं। कुछ मानदण्ड संस्थात्मक स्वरूप (Institutional Form) ग्रहण कर लेते हैं जैसे विवाह, परिवार आदि। प्रतिमानों का महत्व इसी से आँका जा सकता है कि प्रतिमानों के अभाव में हम किसी सामाजिक व्यवस्था की कल्पना नहीं कर सकते। रोबर्ट बियरस्टेड ने लिखा है कि "बिना प्रतिमानों के सामाजिक जीवन असम्भव होगा और समाज में कोई व्यवस्था नहीं रह पायेगी।"[1] किंग्सले डेविस भी लिखते हैं कि "प्रतिमानों के अभाव में मानव-समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव को अपनी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए संस्कृति द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुसरण करना होता है। हम अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्त्ति हेतु संस्कृति द्वारा अनुमोदित जिन तरीकों को अपनाते हैं, वे ही मोटे अर्थ में सामाजिक मानदण्ड हैं। सामाजिक मानदण्ड समाज में विपथगामी व्यवहारों को नियन्त्रित करते हैं तथा सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने में सहायता पहुंचाते हैं। हम कह सकते हैं कि सामाजिक व्यवस्था दो भागों में विभाजित रहकर व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखती है। एक ओर समाज में यथार्थ व्यवस्था (Factual Order) विद्यमान है जो समाज को वास्तविक परिस्थितियों अर्थात् "क्या है" का बोध कराती है और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण आदर्शात्मक व्यवस्था (Normative Order) विद्यमान है जो यह बताती है कि किसी विशेष परिस्थिति में व्यक्ति को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए।[3]

सामाजिक प्रतिमान का अर्थ एवं परिभाषायें

(Meaning and Difinitions of Social Norms)

सामाजिक प्रतिमान समाज के वे नियम हैं जो सांस्कृतिक विशेषताओं, सामाजिक मूल्यों और समाज द्वारा स्वीकृत विधियों के अनुसार किसी विशेष परिस्थिति में व्यक्ति को एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने का निर्देश देते हैं। किंग्सले डेविस ने सामाजिक प्रतिमान की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "ये वे नियन्त्रक हैं जिनके माध्यम से मानव-समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों को इस प्रकार नियमित करता है कि वे अपनी जैविक इच्छाओं को दबाकर भी सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करते हुए विभिन्न क्रियायें करें।"[4] इससे स्पष्ट होता है कि सामाजिक प्रतिमान मानव-व्यवहारों पर नियन्त्रण रखने वाले ऐसे तरीके हैं जो हमें अपनी मूल प्रवृत्तियों पर अंकुश रखने और समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहारों को पूरा करने पर बल देते हैं।

---

1. Robert Bierstedt : The Social Order ; p. 140.
2. Kingsley Davis : Human Society; p. 52.
3. Kingsley Davis : Ibid ; p. 52.
4. Kingsley Davis : Ibid ; p. 52.

इस प्रकार सामाजिक प्रतिमानों का कार्य एक आदर्श चरित्र का निर्माण करना होता है। यही कारण है कि सामाजिक प्रतिमानों को बहुधा "सामाजिक आदर्श नियम" भी कह दिया जाता है।

रोबर्ट बीरस्टीड (Robert Bierstedt) ने सामाजिक प्रतिमानों को परिभाषित करते हुए लिखा है **"संक्षेप में सामाजिक प्रतिमान एक प्रमाणित कार्य-प्रणाली का रूप है, यह किसी कार्य को करने का एक ऐसा तरीका है जो हमारे समाज को स्वीकार होता है।"**[1] इस परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सामाजिक प्रतिमानों से विशेषकर दो तत्त्वों का समावेश होता है। **(1) कार्य करने का प्रमाणित ढंग (2) समाज की स्वीकृति।** अपनी परिभाषा के अन्तर्गत सामाजिक प्रतिमान की प्रकृति को और अधिक स्पष्ट करते हुए बीरस्टीड ने कहा है कि **"सामाजिक प्रतिमान एक प्रकार के आदर्श नियम हैं जो एक विशेष परिस्थिति में हमारे आचरण के रूप का निर्देशन करते हैं।** यह एक सामाजिक अपेक्षा (Social expectation) हैं जो हम से एक विशेष प्रकार का व्यवहार करने की आशा करती है, चाहे वास्तव में हम वैसा करें अथवा नहीं।"

जब तक सामाजिक मानदण्डों के अनुकूल व्यवहार होता है, तब तक तो समाज में व्यवस्था बनी रहती है, किन्तु जब सामाजिक मानदण्डों का उल्लंघन होने लगता है तो समाज में प्रतिमानहीनता (Anomic) की स्थिति आ जाती है जिससे समाज में विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

किम्बाल यंग (Kimball Young) ने लिखा है कि "सामाजिक प्रतिमान समूह की अपेक्षायें (Group expectations) हैं।[2] **ए. डब्ल्यू. ग्रीन** (A.W. Green) अपनी कृति 'सोश्योलॉजि' में लिखते हैं कि सामाजिक प्रतिमान अपेक्षित व्यवहारों से सम्बन्धित स्तरीय सामान्यीकरण के आधार पर विपदाओं में संकेत देते हैं।[3]

ग्रीन की उपर्युक्त परिभाषा का आशय यह है कि सामाजिक प्रतिमान व सामान्य स्तरीय नियम या व्यवहार होते हैं जिनके आधार पर समूह से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण स्थितियों में सदस्यों से विशेष प्रकार के व्यवहार करने की आशा रखी जाती है। जे० आर० लैण्डिस (J. R. Landis) ने सामाजिक प्रतिमान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "प्रतिमान एक विशिष्ट परिस्थिति से एक व्यक्ति द्वारा मान्य एवं अपेक्षित व्यवहार को प्रकट करते हैं।"[4] **एस० एफ० जे० वुड्स** (S. F. J.

---

1. Robert Bierstedt : *Op. cit; p. 176.*
2. Kimball Young : Systematic Sociology, Part I, p. 73.
3. A. W. Green : Sociology; p. 49.
4. J. R. Landis : Sociology; Concepts and Characteristies. p. 46.

Woods) ने इन्ट्रोडक्टरी सोश्योलॉजी में लिखा है कि सामाजिक प्रतिमान वे नियम हैं जो मानव व्यवहारों को नियन्त्रित करते हैं, व्यवस्था में सहयोग देते हैं तथा किसी विशेप स्थिति में व्यवहार की भविष्यवाणी करना सम्भव बनाते हैं।"[1] **बर्टन राईट** (Berton Wright) ने लिखा है कि "सामाजिक प्रतिमानों की एक सामान्य परिभाषा यह है कि वे व्यवहार के उचित तरीकों (विधियों) को बताते हैं।"[2] **शेरिफ एवं शेरिफ** (Sherif and Sherif) ने लिखा है कि "सामाजिक प्रतिमान एक सामाजिक वर्णन है। कुछ लोग सामाजिक प्रतिमान का आशय केवल 'अपेक्षित व्यवहार' से लगाते हैं, परन्तु मात्र अपेक्षित व्यवहार ही सामाजिक प्रतिमान नहीं हैं, वरन् सामाजिक प्रतिमानों से इसके साथ-साथ सहिष्णु व्यवहार (Tolerable Behaviour) भी बनता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम देखते हैं कि प्रत्येक समाज अपने सदस्यों से कुछ अपेक्षित व्यवहारों की आकांक्षा रखता है। ये ही अपेक्षित व्यवहार प्रतिमान या मानदण्ड कहे जाते हैं। खाने-पीने, उठने-बैठने, भाषा-वेषभूषा, नृत्य-संगीत, हंसने-रोने, लिखने-बोलने, स्वागत करने, विदा करने आदि सभी क्रियायें **सामाजिक प्रतिमानों के आधार पर सम्पन्न की जाती हैं**। एक उदाहरण से इसको स्पष्ट समझा जा सकता है। किसी भी खेल को लीजिए सभी खेलों के बहुत ही स्पष्ट नियम होते हैं। दर्शक खेल देखने के लिए एक निश्चित टिकट खरीदते हैं, वे एक विशिष्ट दरवाजे से प्रवेश करते हैं, एक निर्धारित स्थान पर बैठते हैं। भीड़ (Crowd) में बच्चों एवं महिलाओं को पहले जाने का अवसर दिया जाता है। खिलाड़ी निश्चित समय पर मैदान में प्रवेश करते हैं, अपने-अपने निर्धारित स्थान पर वे खेल खेलते हैं। अम्पायर या रेफ्री के आदेशों का अनुपालन किया जाता है। ये सब नियम हैं और ये ही सामाजिक प्रतिमान कहलाते हैं।

एक समाज के प्रतिमान दूसरे समाज के प्रतिमानों से भिन्न होते हैं। भोजन के एक छोटे से संस्कृति-तत्त्व के आधार पर इस भिन्नता को देखा जा सकता है। राजस्थान में भोजन की समाप्ति पर 'पापड़' परोसा जाता है, जबकि गुजरात में 'पापड़' प्रारम्भ में परोसा जाता है। हिन्दू समाज में स्त्रियों का 'काली साड़ी' का पहनना शोकसूचक माना जाता है, जबकि राजस्थान व गुजरात के भीलों में काली साड़ी का पहनना एक रिवाज है। हिन्दुओं के लिए गाय पूज्यनीया है, वह माँ के समान होती है, इसके विपरीत अंग्रेजों के लिये गाय का मांस बड़ा रुचिकर है। इस प्रकार समाज में संस्कृति एवं स्थान के अनुसार प्रतिमानों में विभिन्नतायें आ जाती हैं।

---

1. S. F. J. Woods : Introductory Sociology; p. 225.
2. Berton Wright & Others : Perspectices; An Introduction to

किन्तु ऐसा कोई भी समाज नहीं जो प्रतिमान-विहीन हो। इस प्रकार प्रतिमान सामाजिक जीवन की अनिवार्यता हैं तथा व्यवहारों को नियन्त्रित करने, सामाजिक सम्बन्धों को नियमित करने एवं समाज-व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करने में प्रतिमानों की बहुत बड़ी भूमिका होती है।

प्रतिमानों के तत्त्व एवं विशेषताएँ
(Elements and Characteristics of Norms)

सामाजिक प्रतिमानों के निम्नलिखित तत्त्व एवं विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(1) प्रतिमान प्रस्थिति एवं भूमिकाओं की व्यवस्था है (Norms are the System of Status and Roles)—हम देख चुके हैं कि समाज में व्यवस्था रखने और व्यक्ति का समाज के प्रति उचित व्यवहार रखने की दृष्टि से उसकी प्रस्थिति और कार्य निर्धारित कर दिये जाते हैं इसी व्यवस्था को सामाजिक प्रतिमान कहा जा सकता है। अतः सामाजिक प्रतिमान प्रस्थिति एवं कार्य अथवा भूमिका की व्यवस्था है। इस व्यवस्था से हम व्यक्ति से अपेक्षित व्यवहार की कामना करते हैं। यह व्यवस्था प्रत्येक समाज के लिये आवश्यक है।

(2) प्रतिमान व्यक्ति के व्यवहारों को नियमित करते हैं (Norms Regulate the Behaviour of an Individual)–प्रतिमानों की यह भी एक प्रमुख विशेषता है कि ये व्यक्ति के अवांछित व्यवहारों एवं क्रियाओं में नियमितता रखते हैं। व्यक्ति के व्यवहार उसके संवेगों से प्रभावित होते हैं। समाज-विरोधी संवेगों पर समुचित नियंत्रण रखने की व्यवस्था प्रतिमानों द्वारा ही होती है। वास्तव में प्रतिमान वह सामान्य एवं नियमित व्यवहार है, जिसके आधार पर समूह से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण स्थितियों में सदस्यों से विशेष प्रकार के व्यवहार करने की आशा की जाती है"[1]

(3) प्रतिमान क्या होना चाहिए का संकेत करते हैं (Norms point out What Ought to be) – प्रतिमानों की यह भी एक विशेषता होती है कि वे समाज का वास्तविक विश्वास 'क्या है' के आधार पर 'क्या होना चाहिये' का भी संकेत करते हैं। समान सामाजिक व्यवस्था को एक ढाँचे में बनाये रखने का प्रयत्न प्रतिमानों के माध्यम से ही होता है। ग्रीन का भी यही मत है कि सामाजिक सम्बन्धों का स्थायित्व दो बात पर निर्भर करता है। प्रथम वास्तविकता क्या है ? द्वितीय इस आधार पर कि क्या होना चाहिये यह कार्य प्रतिमानों द्वारा होता है। प्रतिमान समाज के वास्तविक ढांचे बनाये रखने के लिये रूढ़िवादी हैं, वे व्यक्ति को भावी व्यवहार का निर्देशन भी देते हैं।

(4) प्रतिमान बताते हैं कि क्या सही है और क्या गलत (Norms Indicate What is Wrong and What is Right)–मनुष्य संवेगों का पुतला है। साधारणतः

1. A. W. Green : Op. cit. ; p.52.

उसके व्यवहारों पर संवेगों का आधिपत्य रहता है । विशेष रूप से अविकसित संस्कृति वाले समाजों के व्यवहारों में संवेगात्मकता विशेष होती है । समाज के लिए व्यक्तियों के व्यवहारों में कौन सी संवेगात्मकता की आवश्यकता है, इसका निर्णय प्रतिमान करते हैं। प्रतिमान यह बताते हैं कि समाज के लिए सामन्य हितों को ध्यान में रखते हुए क्या सही और क्या गलत है । इस प्रकार प्रतिमान हमारे व्यवहारों को नियंत्रित करते हैं। इससे सम्बन्धों का सामंजस्य बना रहता है।

(5) **भारतीय समाज के प्रतिमान** (Norms of Indian Society)—प्रतिमानों की दृष्टि से भारतीय समाज विशिष्ट है। यह विभिन्न प्रतिमानों वाला समाज है। यहाँ प्रत्येक व्यक्ति के परिवार में, जाति में, पड़ौस में व अन्य समूहों में क्या व्यवहार रहेंगे, के निर्देशित प्रतिमान होते हैं। उदाहरण के लिए एक पति विवाह पतिव्रत धर्म, गृहस्थाश्रम के नियमों का पालन, आदि ऐसे अनेक प्रतिमान हैं जो व्यक्ति को पालन करने पड़ते हैं। इन्हीं प्रतिमानों के पालन करने पर समाज एक व्यक्ति को आवश्यक प्रस्थिति देता है और उसकी भूमिका अथवा कार्य निर्धारित करता है।

(6) **प्रतिमान पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते हैं** (Norms Continue Generation to Generation)—प्रतिमानों का यह भी एक आवश्यक तत्त्व एवं विशेषता है कि ये पीढ़ी-दर-पीढ़ी के समाजों तक अपना प्रभाव रखते हैं। ये प्रतिमान आगे चलकर प्रथाओं और रूढ़ियों में परिणत होकर निरन्तर रूप से सामाजिक विरासत के रूप में हस्तान्तरित होते रहते हैं। प्रत्येक समाज में व्याप्त अनेक विश्वास, लोकाचार, चलन, और फैशन आदि के रूप में विभिन्न प्रतिमान समाज का निर्देशन करते हैं । इनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी पीढ़ी से अपना लेता है और उसके अनुसार कार्य करने के उपरान्त आगे आने वाली पीढ़ी को उनको दे देता है।

(7) **प्रतिमान सामाजिक एकरूपता बनाये रखते हैं** (Norms Maintain Social Integration)—सामाजिक प्रतिमानों की यह भी विशेषता होती है कि वे सामाजिक एकरूपता बनाये रखने में बड़ा योग देते हैं। समाज के स्तर और मूल्य प्रतिमानों के विभिन्न अंग हैं, जो भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न होते हैं । इनके द्वारा सामाजिक विशिष्टता और एकरूपता रहती है। अतः सामाजिक एकरूपता बनाये रखने का कार्य भी प्रतिमानों की एक विशेषता है । इस सम्बन्ध में किंग्सले डेविस ने स्पष्ट लिखा है, "अगर समाज में कोई भी प्रतिमान का स्वरूप नहीं होगा तो कोई मानव-समाज नहीं होगा।"

सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण

यद्यपि सामाजिक मानदण्डों का सर्व-स्वीकृत वर्गीकरण उपलब्ध नहीं है, तथापि कुछ ऐसे प्रकार अवश्य हैं जो प्रायः प्रत्येक समाज में पाये जाते हैं। सामाजिक मानदण्डों के अनेक आधार हो सकते हैं। कुछ सामाजिक मानदण्ड सामान्य व्यवहार

के लिए निश्चित होते हैं, जबकि कुछ विशिष्ट अवसरों के लिए जैसे—धार्मिक त्यौहार, राष्ट्रीय त्यौहार के लिए निश्चित होते हैं। इसी प्रकार कुछ सामाजिक मानदण्ड सकारात्मक (Positive) होते हैं, जब कि कुछ निषेधात्मक (Negative)। उदाहरण के लिए दफ्तर में अधिकारी के आने पर कर्मचारियों को खड़े होना चाहिए यह एक सकारात्मक मानदण्ड है, जबकि भारतीय पत्नी द्वारा पति का नाम नहीं लिया जाना निषेधात्मक मानदण्ड है। मानवी क्रियायें इतनी बहुमुखी होती हैं कि सामाजिक मानदण्डों के अनेक छोटे-मोटे आधार वर्गीकरण के लिए प्रस्तुत किये जा सकते हैं। किन्तु समस्त सामाजिक मानदण्डों का वर्गीकरण करना कठिन होगा।

एक अन्य आधार प्रतिमानों के वर्गीकरण का औपचारिक एवं अनौपचारिक है। **औपचारिक प्रतिमान** (Formal Norms) वे होते हैं जो वैधानिक होते हैं, जैसे कानून (Law) आदि। **अनौपचारिक प्रतिमान** (Informal Norms) में उन प्रतिमानों को रखा जाता है जो वैधानिक नहीं होते, जैसे जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, प्रथायें आदि। **लैण्डिस** (Lendis) ने दो प्रतिमानों का उल्लेख किया है।"[1]

(1) **आदर्श सामाजिक प्रतिमान** (Ideal Social Norms)

(2) **सांख्यिकीय सामाजिक प्रतिमान** (Statistical Social Norms)

आदर्श सामाजिक प्रतिमान के अनुसार इसमें उन प्रतिमानों को रखा जाता है जो यह बताते हैं कि समाज में किस प्रकार का आचरण करना चाहिये, जैसे चोरी करना पाप है, 'सच बोलना चाहिए।' आदि;

सांख्यिकीय सामाजिक प्रतिमान का सम्बन्ध हमारे वास्तविक आचरण से होता है, अर्थात् हम अपने वास्तविक जीवन से कैसा आचरण करते हैं।

रॉबर्ट बियरस्टेड ने सामाजिक प्रतिमानों को तीन श्रेणियों में बाँटा है।[2]

(1) **जनरीतियाँ** (Folkways)

(2) **रूढ़ियाँ** (Mores)

(3) **कानून** (Law)

किंग्सले डेविस ने सामाजिक प्रतिमानों के वर्गीकरण में निम्नलिखित तत्त्वों को रखा है—

(1) जनरीतियाँ, (2) रूढ़ियाँ (3) कानून (4) संस्थायें (5) प्रथायें (6) नैतिकता (7) धर्म (8) परिपाटी (9) शिष्टाचार (10) फैशन एवं धुन।

इसे हम अगले पृष्ठ के चित्र द्वारा भली प्रकार से समझ सकते हैं—

जनरीतियाँ

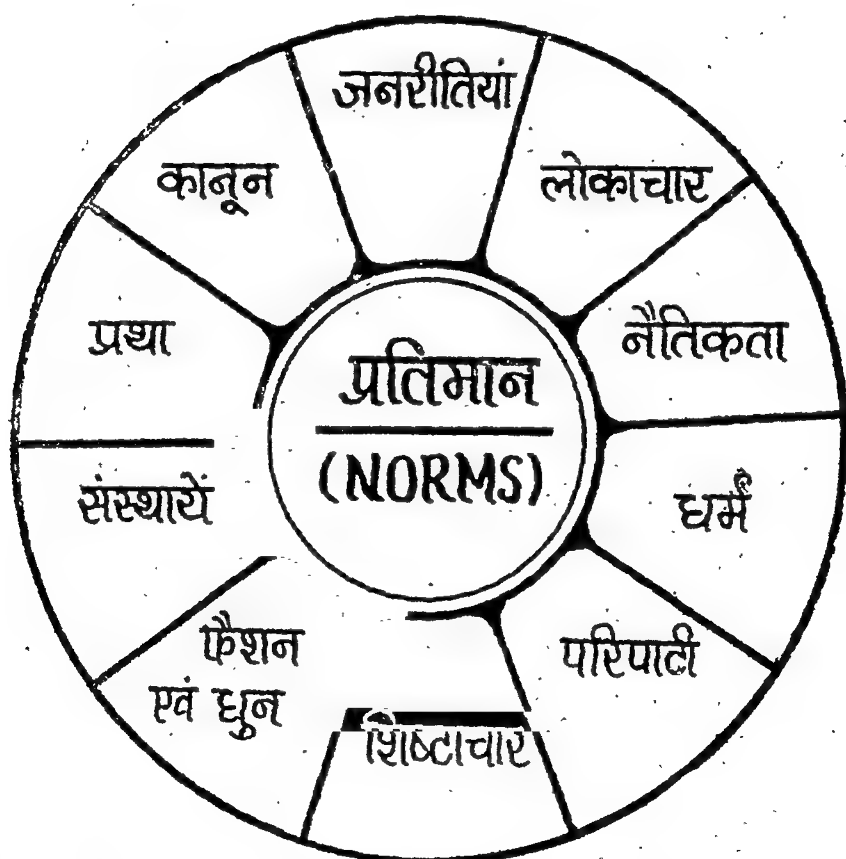
(Folkways)

यहाँ हम इनका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करेंगे—

---

1. J. R. Landis : Op. cit; p. 47-48.
2. Robert Bierstedt : Op. cit; p. 178.

जनरीतियाँ एक ऐसा सामाजिक प्रतिमान है जो मानव-व्यवहार को प्रभावित करने में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इनकी प्रकृति तुलनात्मक रूप से अधिक स्थायी तथा कर्त्तव्य की भावना से सम्बन्धित है। इनके द्वारा व्यक्तियों पर डालने वाला प्रभाव द्वैतीयक (Secondary) न होकर प्राथमिक होता है। कहा जा सकता है कि जनरीतियाँ प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य के व्यवहारों को प्रभावित करती हैं। जनरीतियाँ चूँकि उस समाज द्वारा बनायी जाती हैं जिसमें व्यक्ति रहता है, अतः उनके प्रति आदर की भावना होना स्वभाविक है, जनरीतियों की अवहेलना करने का अर्थ समाज



की अवहेलना करना है और कोई भी व्यक्ति समाज की अवहेलना करके समाज में नहीं रह सकता। प्रसिद्ध समाजशास्त्री समनर ने तो जनरीतियों को इतना अधिक महत्त्व दिया है कि वे अपनी पुस्तक 'फॉकवेज' (Folkways) में जनरीतियों को सामाजिक सम्बन्धों का आधार मानते हैं।

वस्तुतः समनर ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने 1904 में लिखी अपनी कृति में 'जनरीति' शब्द का प्रथम प्रयोग किया शाब्दिक दृष्टिकोण से जनरीति का आशय अंग्रेजी के (Folkways) से समझा जा सकता है—

Folk=जन या लोक

Ways=रीतियाँ

इस प्रकार इन्हें जनरीतियाँ या लोकरीतियाँ कहा जाता है। जनरीतियों को अनेक समाजशास्त्रियों ने परिभाषित किया है।

गिलिन और गिलिन (Gillin and Gillin) के अनुसार "जनरीतियाँ नित्य प्रति के जीवन में आचरण के वे प्रतिमान हैं जो एक समूह के सामान्यतः अज्ञात होते हुए भी बिना किसी पूर्व योजना या निश्चित विचारों के उत्पन्न होते हैं।"[1]

मैकाइवर (Maciver) एवं पेज (Page) का कहना है कि "जनरीतियाँ समाज में आचरण करने की स्वीकृति या मान्यता प्राप्त पद्धतियाँ हैं।"[2]

मैर्टिण्डेल वे मौनाचेसी (Martindale and Monachesi) के विचार भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार—जनरीतियाँ कार्य करने के वे अभ्यस्त तरीके हैं जो एक व्यक्ति द्वारा अन्य व्यक्तियों तथा अपनी स्थानीय विशेषताओं मे अभियोजना करने के फलस्वरूप निर्मित होते हैं।[3]

ए. डब्ल्यू. ग्रीन (A. W. Green) कहते हैं कि, "जनरीतियाँ कार्य करने की वे विधियाँ हैं जो एक समाज या समूह में समान रूप से पायी जाती हैं तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं।"[4]

मैरिल एवं एल्ड्रीज (Merrill & Eldredge) के शब्दों में "शाब्दिक अर्थ में जनरीतियाँ जनता की रीतियाँ हैं, अथवा सामाजिक आदतें हैं, जो समूह द्वारा अपेक्षित हैं तथा दैनिक जीवन में व्यवहार के फलस्वरूप विकसित हुई हैं।[5]

जनरीतियों की समाज में कोई भी निश्चित संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती, किन्तु इतना अवश्य है कि सभी समाजों में ये सार्वभौमिक रूप से पाई जाती हैं और कोई भी समाज इनके बिना व्यवस्थित नहीं रह सकता। प्रत्येक समाज में जनरीतियाँ कुछ सामाजिक मानदण्ड निर्धारित करती है जो कि समाज के सदस्यों के लिए व्यवहार-प्रतिमान निश्चित करते हैं। उदाहरण के लिए अभिवादन करना, सहायता करने वाले को "थेंक्स" देना, गलती को सुधारते हुए "सॉरी" शब्द का

1. Gillin & Gillin : Op. cit. ; p. 839.
2. Maciver & Page : Society ; p. 19
3. Martindale & Monachesi : Elements of Sociology. ; p. 120
4. A. W. Green : Op. cit. ; p. 75
5. Merrill and Eldredge : Culture and Society. ; p. 31

प्रयोग करना आदि । आधुनिक समाज के कुछ सर्वव्यापी मापदण्ड हैं । जनरीतियों का निर्माण समाज में व्यवहार-नियन्त्रण करने का अनौपचारिक साधन है, अर्थात् जनरीतियों का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती । वह तो समाज के उपहास का ही पात्र बनता है । उदाहरण के लिए एक छात्र प्रोफेसर को नमस्कार नहीं करता तो प्रोफेसर उसे कोर्ट के द्वारा दण्डित नहीं करा सकता । वह तो उस छात्र का केवल सामाजिक बहिष्कार ही कर सकता है ।

जनरीतियों का सामाजिक महत्त्व है, अतः ये ऐच्छिक होते हुए भी अनिवार्य ही हैं । कोई भी समाज इनके बिना व्यवस्थित नहीं रह सकता । जनरीतियाँ मानव-समाज के प्रत्येक व्यवहार को प्रभावित करती हैं तथा सामाजिक ढाँचे को स्थायित्व प्रदान करती हैं । इसी आधार पर समनर (Sumner) ने कहा है कि "जनरीतियाँ प्राकृतिक शक्तियों के समान होती हैं जिनको मनुष्य अचेतनावस्था में काम में लेते हैं । जनरीतियों की उत्पत्ति स्वतः होती है । किसी विशेष ढंग से बार-बार आचरण करने से जनरीति की उत्पत्ति स्वयं ही हो जाती है ।

कुछ जनरीतियाँ अधिक आवश्यक व महत्त्वपूर्ण होती हैं तथा कुछ कम आवश्यक व महत्त्वपूर्ण होती हैं, जैसे नमस्कार करना, जूते पहनना, पुस्तक को पैर लग जाने पर माथे के लगाना आदि आवश्यक व महत्त्वपूर्ण जनरीतियाँ हैं, क्योंकि इनके पालन में व्यक्तिगत रुचि तथा शिष्टता का भी प्रभाव पड़ता है, जबकि कुछ अन्य जनरीतियाँ जैसे सड़क के किनारे चलना, केले के छिलके सड़क पर न फेंकना आदि आवश्यक व महत्वपूर्ण है, क्योंकि इनका एक सामाजिक प्रतीकात्मक महत्त्व होता है ।

एक समाज में तो जनरीतियाँ आवश्यक व महत्त्वतूर्ण होती हैं वे ही कभी-कभी दूसरे समाजों में आवश्यक व महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जातीं । उदाहरण के लिए भारत में गुरुजनों के पैर छूना आवश्यक जनरीति है, जबकि यूरोपीय देशों में इसका कोई महत्त्व नहीं है, बल्कि इसको कभी-कभी वहाँ "पिछड़ापन" तक मान लिया जाता है । इसी प्रकार गाँव तथा नगर में भी जनरीति की स्वीकृति में अन्तर पाया जाता है । उदाहरण के लिए यदि गाँव में नगर का एक व्यक्ति सोने, खेलने और भोजन करने के समय अलग-अलग वस्त्र पहने तो गाँव के व्यक्ति उसकी आलोचना करते हैं जबकि नगर में ऐसा करना जनरीति होती है ।

विभिन्न समूहों की जनरीतियाँ एक दूसरे से भिन्न होने के कारण व्यक्ति अपने समूह में अपनी जनरीतियों के पालन के प्रति अधिक जागरूक रहता है, क्योंकि उस समूह के सभी सदस्य उससे ऐसा करने की आशा रखते हैं ।

जनरीतियों की प्रकृति स्थायी इसलिए भी होती है, क्योंकि ये सामान्यतः बिना किसी परिवर्तन के पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तानान्तरित होती रहती है । अनेक जनरीतियाँ तो बालक अनुकरण द्वारा ही सीख लेता है जैसे—दांये हाथ से खाना

आदि । जनरीतियाँ एक निश्चित प्रकार का व्यवहार-प्रतिमान सामने रखकर व्यक्ति की क्रियाओं को नियन्त्रित करती है ।

लोकाचार (रूढ़ियाँ)
(Mores)

रूढ़ियाँ जनरीतियों की भाँति ही अनौपचारिक सामाजिक मानदण्ड हैं अर्थात् रूढ़ियों के पीछे भी समाज की स्वीकृति होती है, न कि औपचारिक लिखित जनरीतियों से रूढ़ियों का निर्माण होता है । अंग्रेजी के 'More' शब्द की उत्पत्ति लैटीन भाषा के 'Mos' से मानी जाती है, जिसका आशय समूह के अपेक्षित व्यवहार से है ।

समाजशास्त्र में रूढ़ियाँ या लोकाचार (Mores) शब्द का प्रयोग भी सर्वप्रथम 'समनर' (Summner) ने ही किया ।

लोकाचार सामूहिक कल्याण के लिए आवश्यक माने जाते हैं और इसीलिए इनकी नियन्त्रण-शक्ति लोकरीतियों की अपेक्षा अधिक होती है । जब कोई जनरीति बहुत अधिक व्यवहार में आने पर समूह के लिए आवश्यक समझ ली जाती है, तब वह रूढ़ि का रूप ले लेती है ।

समनर (Summner) के अनुसार, जब जनरीतियों में जीवन को उचित रूप से व्यतीत करने का दर्शन और उनमें समूह के कल्याण की भावना जुड़ जाती है तब जनरीतियाँ ही रूढ़ियों का रूप ले लेती हैं ।[1]

ए. डब्ल्यू. ग्रीन (A. W. Green) ने रूढ़ियों को समझाते हुए उनके पालन न करने पर दण्ड दिये जाने की बात को महत्त्वपूर्ण माना है । ग्रीन के शब्दों में ही— "कार्य करने के वे सामान्य तरीके जो जनरीतियों की अपेक्षा अधिक निश्चित व उचित समझे जाते हैं तथा जिनका उल्लंघन करने पर गम्भीर व निर्धारित दण्ड दिया जाता है, रूढ़ियाँ कहलाती हैं ।"[2]

मेकाइवर एवं पेज (Maciver & Page) के अनुसार "जब जनरीतियाँ अपने साथ समूह के कल्याण की भावना एवं उचित-अनुचित का विचार जोड़ लेती है तो वे लोकाचार में परिणित हो जाती है ।"[3]

मैरिल एवं एल्ड्रिज (Merill & Eldridge) लिखता है कि "उचित रूप से रूढ़ियाँ या लोकाचार समूह की वे आकांक्षायें हैं जो समूह-कल्याण के लिए आवश्यक मानी जाती हैं ।"[4]

---

1. Summner : Folkways. ; p. 134.
2. A.W. Green : Op. Cit. ; p. 102.
3. Maciver & Page : Op. Cit. ; p. 20.
4. Merrill & Eldridge : Op. Cit. ; p. 34.

बोगार्डस (Bogardus) भी इसी मत के हैं।[1]

लोकाचार कुछ व्यवहारों के लिए व्यक्तियों को वाध्य करते हैं और कुछ व्यवहारों पर निषेध लगाते हैं। हमारे समाज में अपने ही वर्ग के अन्दर विवाह करना और अपने गोत्र के बाहर विवाह करना लोकाचार के उदाहरण हैं। लोकाचार वास्तव में समूह की विशेषताओं और एक समूह के सदस्यों के व्यवहारों की मर्यादाओं को अभिव्यक्त करते हैं। बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक विभिन्न लोकाचार प्रशंसा और आरोप के द्वारा व्यक्तियों को कुछ व्यवहार करने के लिए बाध्य करते हैं। जो व्यक्ति लोकाचारों का पालन करते हैं, उनकी समाज में प्रशंसा की जाती है और लोकाचारों की अवहेलना करने पर आरोप लगाकर उन्हें विभिन्न सामाजिक अधिकारों से वंचित रखा जाता है। लोकाचारों के पीछे यद्यपि कानून की सहमति नहीं होती है, फिर भी इनका प्रभाव कानून से अधिक होता है। कानून का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति केवल उन संस्थाओं से बचने की कोशिश करता है जो कानून की रक्षा करती हैं जैसे पुलिस, न्यायालय आदि। लेकिन लोकाचारों की अवहेलना करने वाला व्यक्ति समाज की दृष्टि से बच नहीं सकता, क्योंकि समाज का प्रत्येक व्यक्ति एक सतर्क सिपाही है जो रूढ़ियों की रक्षा करता है।

लोकाचारों में नैतिकता का पर्याप्त अंश होता है, इलिए इनका पालन धार्मिक कर्त्तव्य के रूप में भी होता है। गरीब आदमी की सहायता करना, अपंगों की रक्षा करना आदि कुछ ऐसे लोकाचार हैं जिनका पालन हम समाज के भय से नहीं करते हैं, वल्कि अपनी स्वयं की प्रेरणा से करते हैं। लोकाचारों के आविष्कारों के लिए बहुत बुद्धिमत्ता अथवा दूरदर्शिता की आवश्यकता नहीं होती। आरम्भ में संयोग से व्यक्ति किसी विशेष प्रकार का व्यवहार करता है, धीरे-धीरे वह व्यवहार उपयोगी मालूम होने लगता है। अन्त में जब बहुत से व्यक्ति वैसा ही व्यवहार करने लगते हैं और इन व्यवहारों को समूह के कल्याण के लिए आवश्यक समझा जाने लगता है तब यही व्यवहार लोकाचारों का रूप ले लेते हैं। **समनर ने लिखा है कि लोकाचार जीवन की समस्याओं के लिए प्रश्न न रखकर उत्तर प्रस्तुत करती है।** अर्थात् लोकाचार इतने बलशाली होते हैं कि वे किसी भी व्यवहार को उचित अथवा अनुचित घोषित कर सकते हैं। एक समूह अपने सदस्यों का दूसरे समूह के सदस्यों से विवाह करने पर रोक लगाता है जबकि कुछ समूहों में अपने समूह के बाहर विवाह करना ही एक महत्त्वपूर्ण लोकाचार है। किसी समूह में विधवा पुनर्विवाह न करना लोकाचार है जबकि दूसरे में स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। लोकाचारों में अधिकतर रूढ़िवादिता की प्रवृत्ति पाई जाती है। एक समूह के सदस्य अपने लोकाचारों को सबसे अधिक उचित मानते हैं। प्रत्येक समूह के सदस्य यह विश्वास करते हैं

---

1. Bogardus : Sociology. ; p. 39.

उनके लोकाचारों का निर्माण उनके समूह के महान् व्यक्तियों के अनुभवों द्वारा हुआ है। इसके साथ ही पितृ आत्माओं के भय उनके प्रति श्रद्धा के कारण भी वे लोकाचारों की अवहेलना करने का प्रयत्न नहीं करते।

इस प्रकार रूढ़िवादियों को बनाये रखने में सबसे अधिक लोकाचार योगदान देते हैं। समाज में रूढ़िवादी व्यवहारों में तब तक परिवर्तन नहीं किया जा सकता जब तक उस समाज के रूढ़िवादी लोकाचारों के विरुद्ध व्यक्तियों में चेतना उत्पन्न की जाय। अल्पकाल (Short Period) में लोकाचार बिल्कुल स्थिर मालूम देते हैं लेकिन दीर्घकाल में (अनेक शताब्दियाँ) इनके परिवर्तन को स्पष्ट देखा जा सकता है। हमारे समाज में बारहवीं शताब्दी से लगभग अठारहवीं शताब्दी तक हमारे लोकाचार स्त्रियों को पर्दे में रखने और उन्हें किसी प्रकार की भी बाहरी स्वतन्त्रता देने पर रोक लगाते रहे लेकिन वर्तमान लोकाचार स्त्रियों को सभी प्रकार की स्वतन्त्रता देने के पक्ष में हैं। आदिम समाजों में लोकाचारों का आधुनिक समाजों की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। वहाँ लोकाचार सामान्य व्यवहार के मापदण्ड निर्धारित करती हैं तथा सामाजिक एकता बनाये रखते हैं इसके विपरीत आधुनिक समाजों में व्यक्तिवाद के कारण इनकी अपेक्षा कानून अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

परम्परा
(Tradition)

अंग्रेजी भाषा के 'Tradition' शब्द की व्युत्पत्ति 'Tradera' शब्द से हुई है जिसका अर्थ है **'हस्तान्तरित करना'**।

सामान्य रूप से परम्परा का सम्बन्ध भी समाज के कुछ ऐसे तत्त्वों से है जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं। परम्परा के अन्तर्गत हम उन दार्शनिक विश्वासों तथा कलापूर्ण पद्धतियों को भी सम्मिलित कर लेते हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को निरन्तर हस्तान्तरित होती रहती हैं। एक समूह में कई पीढ़ियों से माता-पिता द्वारा छोटे बच्चों को कोई विशेष कहानी सुनाना परम्परा के अन्तर्गत आता है।

परम्परा शब्द का प्रयोग "सामाजिक विरासत" से सम्बन्वित है। इसी पर ड्रेवर (Drever) का कथन है कि "परम्परा कानून, प्रथा कहानी और पौराणिक कथाओं का संग्रह है जो मौखिक रूप से एक पीढ़ी द्वारा दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जाता है।" इस परिभाषा से स्पष्ट होता है परम्परा की प्रकृति मौखिक है।

गिन्सबर्ग (Ginsberg) ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है कि "परम्परा का अर्थ उन सम्पूर्ण विचारों, आदतों और प्रथाओं के योग से है जो एक समूह की विशेषता है तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है।"[1]

---

1. Morris Ginsberg : The Psychology of Society.; p. 104.

रॉस (Ross) ने कहा **परम्परागत का अर्थ है चिन्तन और विश्वास करने की विधि का हस्तान्तरण** ।[1] अर्थात् परम्परा एक भावात्मक विशेषता की ओर संकेत करती है। यदि हम कहें कि भारत में आध्यात्मवाद, गुरुजनों का सम्मान आदि या शान्ति के प्रति प्रेम ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं जो हजारों वर्षों से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मिलते हैं तो हम इसे लोकरीति न कहकर परम्परा कहेंगे।

परम्पराएँ सामाजिक संगठन, सामाजिक एकता, भावात्मक एकीकरण तथा सामूहिक लक्ष्यो की प्राप्ति से सबसे अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुई है। परम्पराओं में हजारों वर्षों के ज्ञान को स्थायी रूप देने की शक्ति होती है। यह शक्ति एक ओर समाज को अतीत का स्मरण कराके व्यक्तियों में भावात्मक एकता उत्पन्न करती है और दूसरी ओर संगठित रूप से लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायक होती है तथा यह दोनों ही परिस्थितियाँ सामाजिक संगठन के लिए अत्यधिक आवश्यक है। स्वस्थ परम्पराओं के अभाव में समाज को नये-नये परीक्षण करने होते हैं जिन शक्तियों और क्षमताओं से प्रगति के मार्ग पर काफी आगे बढ़ा जा सकता था, परम्पराओं के अभाव में वे शक्तियाँ और क्षमतायें परीक्षण में ही समाप्त हो जाती हैं। इसके विपरीत स्वस्थ परम्पराओं में एकरूपता रहती है और किसी भी कार्य को करते समय हम अतीत के आधार पर आश्वस्त रहते हैं। परिणामस्वरूप हमारी बहुत सी अतिरिक्त शक्ति समाज में संचित रहती है। जिसका किसी भी क्षेत्र में उपयोग किया जा सकता है।

परम्पराएँ आत्मविश्वास और दृढ़ता का परिचायक है। सुदृढ़ परम्पराओं के अभाव में हमारे सामने केवल दूसरों का अनुसरण करना ही एकमात्र मार्ग रह जाता है। प्रत्येक परिस्थिति में कठिनाइयों का अनुभव करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि समाज सुदृढ़ परम्पराओं से युक्त है तो यह स्वयं तो गौरवान्वित होता ही है साथ ही अन्य समाजों के लिए भी एक उदाहरण बन जाता है।

प्रथा, धर्म व आचार
(Customs, Religion and Moral)

प्रथा (Custom)—प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ प्रथायें पाई जाती हैं। ये प्रथायें उस समाज का मार्गदर्शन करती हैं। प्रथायें चूँकि समाज के स्वीकृत व्यवहार का स्थायी रूप है, अतः इनके अनुसार सदस्यों से विशिष्ट प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। विभिन्न प्रकार की संस्थाओं में भिन्न प्रथायें होती हैं जैसे परिवार की प्रथायें, विवाह की प्रथायें तथा त्यौहारों की प्रथायें। प्रथायें जनरीतियों व रूढ़ियों का वह स्वरूप है जिसे समाज व्यावहारिकता व अनुभव के आधार पर स्वीकार करता है। ये अक्सर पुरानी होती हैं अतः साधारणतया इनमें नए प्रकार के

---

1. E. A. Ross : Social Psychology. ; p. 168.

व्यवहार से विरोध पाया जाता है। प्रथाओं की यह विशेषता है कि यह पीढ़ी हस्तान्तरित होती हैं। इसलिए इन्हें हम अपनी सांस्कृतिक धरोहर मानते हैं। आवश्यक नहीं कि प्रथायें तर्क-संगत ही हों, वे तो केवल इसलिए मानी माती हैं क्योंकि ऐसा होता आया है।

धर्म (Religion)—धर्म का तात्पर्य ईश्वरीय शक्ति से सम्बन्धित उन समस्त नियमों से है जो पवित्रता के आधार पर ईश्वरीय इच्छाओं के अनुसार कार्य करने पर बल देते हैं। धार्मिक नियम अदृश्य शक्तियों को सन्तुष्ट करने और अमरत्व को प्राप्त करने से सम्बन्धित होते हैं। ये नियम विश्वास दिलाते हैं कि सभी शासकों और देवताओं के क्रोध से बचने के लिए धार्मिक नियमों का पालन करना एकमात्र उपाय है। "कर्म के सिद्धांत" द्वारा अच्छे और बुरे का ज्ञान कराना तथा जीवन की वास्तविकता को धर्म के माध्यम से स्पष्ट करना इसी संहिता का कार्य है। धार्मिक नियमों के द्वारा "स्वर्ग" व "नरक" की कल्पना से व्यक्तियों के व्यवहारों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। व्यक्ति चाहे धनी हो या निर्धन, क्रूर हो या दयालु "परलोक" की धारणा सभी को एक न एक दिन सही मार्ग की ओर ले जाती है। धर्म न तो तार्किक नियमों पर आधारित होता है और न ही इसके लिए प्रामाणिकता का प्रश्न उठता है। यदि व्यक्ति नैतिकता का पालन नहीं करता तो उसे अपराधी माना जाता है, जबकि धर्म का पालन न करने पर उसे पापी समझा जाता है।

डासन (Dawson)—ने धर्म के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "मानवता के सम्पूर्ण इतिहास में धार्मिक नियम सदैव एक महान् शक्ति का कार्य करते रहे हैं। मनुष्य के भाग्य का निर्माण करने, उसे परिवर्तित करने और व्यक्ति तथा समाज को घनिष्ट रूप से सम्बद्ध करने में धार्मिक नियम सदैव महत्त्वपूर्ण रहे हैं। धार्मिक नियमों का इतिहास उतना ही पुराना है जितनी कि मनुष्य की सामाजिक चेतना।" **फ्रायड** ने धर्म के प्रभाव को मनुष्य के अचेतन मस्तिष्क से सम्बन्धित किया है।

आचार
(Morals)

जिन नियमों की स्वीकृति ईश्वरीय सत्ता द्वारा न होकर, समाज द्वारा उचित व अनुचित की भावना के आधार पर होती है, उन नियमों के संग्रह को हम आचार (Moral) कहते हैं। डेविस का कथन है "आचार कर्त्तव्य की आन्तरिक भावना अर्थात् उचित व अनुचित पर बल देता है।" नैतिक नियमों में चरित्र-निर्माण की महत्ता पर जोर दिया गया है तथा उन्हें मानने वाले कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर व्यवहार करते हैं। नैतिकता केवल इसलिए नहीं मानी जाती कि पूर्वज भी ऐसा मानते आये हैं, बल्कि वह इसलिए मानी जाती है क्योंकि इसके पीछे न्याय, पवित्रता, औचित्य व दृढ़ता होती है। नैतिकता आत्म-चेतना से प्रेरित होती है। यह

संहिता तार्किक (Logical) होती है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति इतनी प्रामाणिकता को व्यवहार द्वारा देख सकता है। इसमें अन्धविश्वास का कोई स्थान नहीं है। आचार की प्रकृति सदैव स्थिर नहीं होती, बल्कि यह विभिन्न प्रकार के व्यवहारों का विकल्प मनुष्य के सामने रखती है। जैसे धर्म प्रत्येक स्थिति में सच बोलने पर जोर देता है, लेकिन आचार किसी ऐसी परिस्थिति में झूठ बोलने की अनुमति दे सकता है जिससे समाज को कोई हानि न हो, लेकिन ऐसा करने से एक निरपराध व्यक्ति किसी बड़ी विपत्ति से बच जाए। इस प्रकार आचार व्यावहारिक नियमों पर बल देता है।

परिपाटी एवं शिष्टाचार
(Convention and Etiquette)

परिपाटी (Convention)—किसी भी कार्य को करने का एक परम्परागत तरीका अथवा प्रकार है। यह व्यवहार एक ऐसा निश्चित स्वरूप है जिसका पालन किसी विशेष परिस्थिति में किया जाता है। उदाहरण के लिए भारत में सड़क के बाँयी ओर तथा ब्रिटेन में सड़क के दाँयी ओर चला जाता है, यह एक परिपाटी (Convention) है। इस सिद्धान्त के औचित्य पवित्रता आदि के बारे में नहीं सोचा जाता, बल्कि इसका पालन केवल इसलिए किया जाता है कि ऐसा पहले से होता आया है।

शिष्टाचार (Etiquette) का आशय किसी कार्य को करने के एक उचित ढंग से है। समाज में व्यवहार करने के या किसी कार्य को करने के अनेक तरीके हो सकते हैं, उनमें से हम एक श्रेष्ठ तरीका चुन लेते हैं। इस प्रकार व्यक्ति जिस श्रेष्ठ तरीके को चुनता है, वही शिष्टाचार कहा जाता है। इससे व्यक्ति के पास अनेक विकल्प होते हैं उन विकल्पों में से श्रेष्ठ विकल्प का चयन किया जाता है। उदाहरण के लिए हम किस प्रकार दूसरे व्यक्ति से मिलते हैं, अभिवादन किस प्रकार करते हैं, किस प्रकार खाना परोसते हैं आदि सभी शिष्टाचार को प्रकट करते हैं।

फैशन व धुन
(Fashion and Fad)

फैशन व धुन भी सामाजिक मानदण्डों के क्रम में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। "डेविस" के अनुसार—"फैशन तो फिर भी सामाजिक व्यवहार के मानदण्डों का स्वरूप है, लेकिन धुने भीड़-व्यवहार से अधिक कुछ भी नहीं।"

मानव-समाज की यह प्रकृति है कि वह परिवर्तन चाहता है। यद्यपि हम सामाजिक मान-दण्डों को मानते हैं, फिर भी उनमें परिवर्तन की इच्छा हमारे मन में कभी-कभी आ जाती है। अतः परम्परागत मानदण्डों के प्रति सम्मान तथा नवीनता की इच्छा का समान रूप फैशन व धुन के रूप में होता है। ऐसे मानदण्ड जो कम समय के लिए व्यवहार में आते हैं, उन्हें फैशन या धुन कहा जाता है। औद्योगीकरण के वर्तमान युग में जहाँ समाज की प्रत्येक विशेषता में तेजी से परिवर्तन हो रहा

है, फैशन तथा रुचि से सम्बन्वित नियम भी मानव-व्यवहारों को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

यद्यपि फैशन समाज में प्रत्येक समय बदलता रहता है, लेकिन इसके द्वारा पड़ने वाला प्रभाव कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। फैशन का तात्पर्य केवल वस्त्रों में होने वाले परिवर्तनों से ही नहीं है, वल्कि इससे अभिप्राय उन मान्य परिवर्तनों से है जो प्रथा के अन्तर्गत होते हैं, लेकिन मूलभूत अवस्था को कोई भी हानि नहीं पहुँचाते। विशेषकर जनमत, विश्वास, मनोरंजन, वस्त्र, शृंगार, साहित्य कला तथा संगीत आदि फैशन के प्रमुख विषय हैं। फैशन व्यक्ति को दो प्रमुख इच्छाओं के द्वारा प्रभावित करता है।

(1) फैशन व्यक्ति की समाज के अनुरूप वने रहने की इच्छा को पूर्ण करता है। किसी भी नवीन व्यवहार के आरम्भ होने पर सभी व्यक्ति उसी के अनुरूप व्यवहार करने का प्रयत्न करते हैं और कोई भी व्यक्ति उसके वाहर जाने का प्रयत्न इसलिए नहीं करता कि ऐसा करने पर समाज में उसको पिछड़ा हुआ माना जाता है और परिणामस्वरूप उसका उपहास होता है।

(3) फैशन की दूसरी उपयोगिता यह है कि यह मनुष्य की नवीनता की इच्छा-पूर्ति करता है। यदि व्यक्ति के जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो तव उसमें अकर्मण्यता, तनाव तथा निराशा उत्पन्न होना स्वभाविक-सा हो जायेगा। फैशन में परिवर्तन होते हैं, लेकिन ये मान्य प्रथाओं के अन्तर्गत ही होने चाहिये। जैसे जिस समाज में साड़ी पहनने की प्रथा हो, वहाँ किसी भी प्रकार की व तरह-तरह की साड़ियाँ पहनी जा सकती हैं। लेकिन जीन अथवा इसी प्रकार से दूसरे वस्त्रों का प्रयोग करना सामाजिक मूल्यों को ठेस पहुँचा सकता है। फैशन द्वारा व्यक्ति एक निश्चित क्षेत्र के अन्तर्गत ही रहकर समाज के अनुरूप कार्य करता है और इसी प्रकार व्यक्ति के व्यवहारों पर अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण लगता है।

धुन, मन की पसन्द अथवा प्रचलन का वह स्वरूप है जो कि प्रायः पोशाक, साज-सज्जा से सम्बन्वित होता हैं तथा जिसे कुछ समय के लिए लोग अतिशय उत्सव से अंगीकार कर लेते हैं। धुन को अभिजात वर्ग के सदस्य सस्ती मनोवृत्ति का द्योतक भी मानते हैं। धुन की लोकप्रियता सीमित समूह में एकदम फैलकर शीघ्र ही लुप्त हो जाती है। धुन में अनुकरणप्रियता तर्कहीनता का वाहुल्य होता है।

कानून
(Laws)

सामाजिक प्रतिमानों में कानूनों का महत्त्व दिन-प्रतिदिन वढ़ता जा रहा है। इसका एकमात्र कारण यह है कि आज के जटिल युग में केवल जनमत की औपचारिक शक्तियाँ तथा नैतिक दवाव ही व्यवस्था की स्थापना नहीं कर सकते, वल्कि

एक विशेष प्रकार के राजनैतिक संगठन को बनाये रखने के लिए राजकीय नियमों का स्पष्ट होना आवश्यक है। कानून की प्रकृति औपचारिक होती है। जब जिन प्रथाओं और रूढ़ियों को समाज के संचालन के लिए अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है और उन्हें समूचे समूह की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है, तब उन्हें लिखित रूप दे दिया जाता है और वे ही कानून का रूप ले लेते हैं। कानून उन नियमों का संग्रह है जिनकी घोषणा राज्य की ओर से लिखित रूप में होती है। इनका उल्लंघन करने पर राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता है।

कानून दो प्रकार का हो सकता है—

(1) प्रस्थागत कानून

(2) पारित कानून।

(1) प्रथागत कानून (Customary Law)—उन समाजों में पाये जाते हैं जहाँ राजनैतिक विशेषीकरण नहीं हुआ है तथा जहाँ न्याय का ढाँचा बहुत अधिक सरकारी नहीं होता, बल्कि व्यक्तियों के एक विशिष्ट समूहों को वे सभी अधिकार प्राप्त होते हैं जो कानून द्वारा न्यायाधीशों को प्राप्त होते हैं। डेविस ने अफ्रीका के "होटनटोट" का उदाहरण देते हुए बताया है कि इन लोगों में पुलिस या विधानसभा नहीं होती, फिर भी कानून का व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। 'होटनटोट' लोगों में एक बुजुर्ग लोगों की समिति होती है जो हत्या, व्यभिचार आदि के मामलों पर विचार करती है। ज्योंही कोई व्यक्ति अपराध करता है, उसे पकड़ लिया जाता है, एक गोले में समिति के सदस्य बैठ जाते हैं और बीच में अपराधी। फिर वाद-प्रतिवाद होता है तथा गवाहों को पेश किया जाता है। यदि व्यक्ति वास्तव में अपराधी पाया जाता है, जिसका निर्णय बहुमत से होता है, तो उसे सब लोग तब तक पीटते हैं जब तक कि उसकी मृत्यु न हो जाए। यद्यपि होटनटोट लोगों में कोई कानूनी समिति अथवा संविधान नहीं होता, फिर भी वहाँ का प्रत्येक व्यक्ति एक सिपाही के समान जागरूक रहता है।

इस प्रकार के कानून को प्रथागत कानून इसलिए कहते हैं क्योंकि "उसकी रक्षा के लिए कोई विधान सभा नहीं होती है, तथा सांस्कृतिक विरासत के विरुद्ध नए नियमों को लागू करने के लिए कोई विधान मण्डल नहीं होता" प्रथागत कानून जनरीतियों और पूर्ण विकसित कानून के बीच की अवस्था है। जब-जब मानव-समाज में कभी भी कोई कानून बना है तो उसका प्रारम्भिक रूप प्रथागत रहा है। आदिम समाज के लोग चूँकि शिक्षित नहीं होते, अतः वे अपने कानूनों को लिखित रूप देने में असमर्थ होते हैं। प्रथागत कानून विशेषीकृत व लिखित न होने पर भी आदिम समाजों में पारित या विधिकृत (Enacted) कानून से कम शक्तिशाली नहीं होते।

(2) पारित कानून या विधिकृत (Enacted Law)—जटिल समाजों के केवल जनमत, औपचारिक शक्ति तथा नैतिक चेतना ही व्यवस्था रखने के लिए पर्याप्त नहीं

होते हैं, वरन् किसी विशेप प्रकार के राजनैतिक संगठन की भी आवश्यकता होती है। आधुनिक समाजों में विशिष्ट नियमों की आवश्यकता इसलिए है क्योंकि वहाँ पर विभिन्न प्रकार के विपथगामी व्यवहार व्यापक रूप से पाये जाते हैं तथा उन्हें रोकने के लिए निश्चित व सुपरिभापित नियमों की आवश्यकता है। आदिम समाजों में कानून का प्रथागत रूप पाया है, जबकि आधुनिक समाजों में भाषा व लिपि के विकास के कारण उसका लिखित रूप है। ये लिखित कानून विधान परिपदों द्वारा बनाये जाते हैं और सरकारी अधिकारियों द्वारा लागू किये जाते हैं तथा न्यायालयों द्वारा उनकी रक्षा की जाती है। पारित कानून बहुत सोच-समझकर बनाया जाता है तथा उसे बनाते समय प्रत्येक सम्भावित कठिनाई का हल प्रस्तुत किया जाता है। कानून को परिभापित करते हुए मैकाईवर ने कहा है कि "कानून नियमों की व्यवस्था है जिन्हें राज्य के न्यायालयों द्वारा मान्यता प्राप्त होती है और किसी विशेष परिस्थिति के अनुसार ही इन्हें लागू किया जाता है।" रॉस ने कानून संहिता में दबाव और बाध्यता को इनकी प्रमुख विशेषतायें माना है।

कानून नयी परिस्थितियों के अनुसार अपने को अनुकूल बना लेते हैं। जितना गतिशील समाज होगा, उतने ही नये कानून बनते चले जायेंगे तथा वह समाज परम्परा से मुक्त होता चला जायेगा। भारत में औद्योगीकरण के साथ नये कानून बने। ये कानून नयी परिस्थितियों की माँग थे। अतः जनरीतियाँ व रूढ़ियाँ जो नयी प्ररिस्थितियों के अनुकूल नहीं थीं, प्रभावहीन हो गयीं तथा कानून का रूप प्राप्त करने में असमर्थ रहीं।

संस्थायें
(Institutions)

सामाजिक मानदण्डों के रूप में संस्था का सर्वाधिक महत्त्व है। जनरीतियाँ व रूढ़ियाँ जब समाज द्वारा व्यवहार में स्वीकृत होकर स्थयित्व प्राप्त करने लगती हैं, तब वे ही सस्था का रूप ले लेती हैं। इस प्रकार संस्थायें स्थायित्व, अनौपचारिकता तथा व्यवहार की एकरूपता से बनती हैं। सबसे अधिक चर्चित संस्थाओं में परिवार, सरकार, धर्म व्यापार व विवाह हैं। लुण्डबर्ग के अनुसार "सामाजिक संस्थायें समाज की मूलभूत आवश्यकताओं व कानून-कायदों को व्यवहार में लाने का साधन हैं, जैसे बच्चों का पालन-पोपण व उनका प्रशिक्षण, शत्रुओं व प्राकृतिक विपदाओं से रक्षा; भोजन-वस्त्र व आश्रम की व्यवस्था आदि। संस्थायें स्थायी आदतें, दृष्टिकोण व भौतिक तत्वों से बनती हैं।" संस्था का विस्तृत विवेचना पिछले 'संस्था' के अध्याय में की जा चुकी है। लुण्डबर्ग (Lundberg) ने संस्थाओं का चित्रण एक चार्ट द्वारा प्रस्तुत किया है[1] जो निम्नलिखित हैं—

1. George Lundberg : *Sociology.* ; p. *194.*

संस्था	प्रकार्य	प्रमुख भूमिकायें	भौतिक तत्व	प्रतीकात्मक तत्व
परिवार	बच्चों का पालन पोषण	पिता, माता, बच्चे	गृह-सज्जा	अँगूठी, विवाह, इच्छा
आर्थिक	भोजन, वस्त्र व आश्रय प्रदान करना	रोजगार देने वाला कर्मचारी, उपभोक्ता उत्पादक	कारखाना, कार्यालय, स्टोर	योग्यतानुसार पुरस्कार, परिचय चिह्न व्यापार चिह्न
राजनीतिक	कानून, नियमों एवं प्रतिमानों को लागू करना	शासन को मानने वाले	सार्वजनिक भवन, सार्वजनिक कार्य	झण्डा-संहिता विधान-पत्र
धार्मिक	सहकारिता भाव, श्रद्धा, आशा व दानशीलता का विकास	पादरी सदस्य	चर्च व मन्दिर	क्रीस, चर्च का शिलालेख, बाईबिल, धार्मिक ग्रन्थ

उपर्युक्त चार्ट में लुण्डबर्ग ने चार संस्थाओं के कार्य व उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों की चर्चा की है।

सामाजिक प्रतिमान तथा व्यक्ति
(Social Norms and Individuals)

सामाजिक सम्बन्ध व सामाजिक प्रतिमान घनिष्ट रूप से सम्बन्धित होते हैं। सामाजिक प्रतिमानों से पृथक् कर सामाजिक सम्बन्धों को समझना सम्भव नहीं है। डेविस का कथन है कि हम केवल कल्पना में ही एक ऐसे मानव-समाज की चर्चा कर सकते हैं जिसके अपने कोई प्रतिमान न हों। हॉब्स के शब्दों में ऐसा समाज एकांकी, मलिन, जंगली और क्षणिक बन जायेगा जहाँ प्रत्येक के विरुद्ध संघर्ष की स्थिति विद्यमान होगी। मानव केवल इसलिए एक सामाजिक प्राणी है कि वह अनेक प्रतिमानों को सीखता है और इन्हीं प्रतिमानों के द्वारा अपने व्यवहारों को सीखता है और इन्हीं प्रतिमानों के द्वारा अपने व्यवहारों को संचालित करता है। मानव-समाज में एक प्रतिमानात्मक व्यवस्था की विद्यमानता लाखों वर्षों से है तथा इसके अभाव में समाज व्यक्ति के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

सामाजिक प्रतिमानों का सर्वप्रमुख कार्य सामाजिक सीख की प्रक्रिया को सरल बनाना है। प्रतिमानों की अनुपस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक अधिकार को स्वयं ही प्राप्त करने का दावा कर सकता है जिसके फलस्वरूप सामाजिक संघर्षों में इतनी वृद्धि हो जायेगी कि व्यक्ति का अस्तित्व ही सुरक्षित नहीं रह जायेगा, प्रतिमान इस स्थिति से व्यक्ति की सुरक्षा करते हैं।

सामाजिक प्रतिमान निर्णय को सरल बनाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में अनेकानेक प्रकार की परिस्थितियों से घिरा रहता है तथा प्रत्येक परिस्थिति में उसे एक विशेष प्रकार का व्यवहार करना आवश्यक होता है। यदि प्रत्येक परिस्थिति में व्यक्ति को यह निर्णय स्वयं लेना पड़े कि उसे किस प्रकार व्यवहार करना है तो उसका जीवन "त्रुटि और सुधार" के प्रयोग में ही समाप्त हो जायेगा। यह स्थिति असहनीय तो होगी ही, साथ ही इससे एक विभ्रम भी उत्पन्न हो जायेगा। सामाजिक *प्रतिमान प्रत्येक परिस्थिति में व्यक्ति को यह बताते हैं कि उसे किस प्रकार का* व्यवहार करना है और किस प्रकार का कार्य करना है अथवा कार्य नहीं करना है।

सामाजिक प्रतिमान कभी भी बाहरी बन्धन के रूप में नहीं होते और इसलिए व्यक्ति में कभी यह भावना पैदा नहीं होती कि इन्हें स्वीकार किया जाये अथवा इनसे बचा जाये। यह आवश्यक नहीं कि व्यक्ति के जीवन में प्रतिमान ही सब कुछ हैं और उसके लिए प्रतिमानों का अक्षरशः पालन करना आवश्यक है। यदि व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानों के प्रति श्रद्धा रखे और उनको अपने व्यक्तित्व से जोड़ने का प्रयत्न करने लगे तो इसको भी समाज के लिए यथेष्ठ समझा जाता है। समाज की व्यक्ति से प्रमुखतः अपेक्षा यह होती है कि व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानों को आत्मसात् करने का प्रयत्न अवश्य करे।

प्रत्येक सामाजिक प्रतिमान सभी व्यक्तियों पर और सभी परिस्थितियों में समान रूप से लागू नहीं होता। इसका कारण यह है कि सामाजिक व्यवस्था में सभी व्यक्तियों की प्रस्थिति (Status), व्यवसाय और भूमिका एक-दूसरे से काफी भिन्न होती हैं।

हम यह कह सकते हैं कि प्रतिमानों का स्वभाव निरंकुश नहीं होता, बल्कि परिस्थितियों के अनुसार व्यक्ति इनमें संशोधन और परिवर्तन भी कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि सामाजिक जीवन को संचालित करने के लिए विविध प्रकार के सामाजिक मानदण्डों का होना नितान्त आवश्यक है। सामाजिक व्यवस्था, उसका स्थायित्व व उसकी निरन्तरता समाज के उन मानदण्डों के माध्यम से बनी रहती है जिनका व्यक्ति बाल्यकाल से ही समाजीकरण की प्रक्रिया से आत्मसात् कर लेता है। मानदण्डों का आधार कई पीढ़ियों का संचित अनुभव है। ये तर्क के आधार पर निर्मित होते हैं और साथ ही ये संस्कृति के अंग बन जाते हैं। इतना अवश्य है कि कोई व्यक्ति जितने अधिक सामाजिक प्रतिमानों का पालन करता है, समाज में उसको उतना ही व्यवहार-कुशल, सामाजिक और विचारशील समझा जाता है।

मानदण्डों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना प्राय: समाज में प्रयोग व आविष्कारों की प्रवृत्ति का अवरोधक भी होता है। जब सामाजिक परिवर्तन के अनुरूप सामाजिक मानदण्ड नहीं बदलते हैं तो एक मानदण्डात्मक विलम्बन (Normative Leg) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे प्रचलित मानदण्ड नवीन सामाजिक ढांचे में असंगत अनुभव होने लगते हैं।

मूल्य
(Values)

प्रत्येक समाज की व्यवस्था उसमें पाये जाने वाले प्रतिमानों पर आधारित होती है। इन प्रतिमानों का विकास एक क्रम एवं प्रणाली के अनुरूप होता है। प्राय: सामाजिक अन्त:क्रियाओं के दौरान समाज अथवा सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों के प्रति समूह के सदस्यों का एक विशेष दृष्टिकोण विकसित हो जाता है। यह दृष्टिकोण ही एक सामाजिक माप के रूप में यह निर्धारित करता है कि कोई सामाजिक व्यवहार या घटनायें समूह के लिए कितनी उचित अथवा अनुचित या कितनी सार्थक व महत्त्वपूर्ण अथवा निरर्थक व व्यर्थ है। प्रतिमानों के द्वारा समाज में कुछ 'प्रमाप' (Standard) स्थापित हो जाते हैं। इन्हीं प्रमापों के आधार पर हम सामाजिक घटनाओं को उपयोगी या अनुपयोगी या सही अथवा गलत बताते हैं।

दूसरे शब्दों में सामाजिक घटनाओं के विषय में सामाजिक अन्तःक्रियाओं के मध्य जो दृष्टिकोण विकसित होते हैं, उन्हें ही हम 'मूल्य' (Values) कहते हैं।

डॉ० राधाकमल मुकर्जी (Dr. Radha Kamal Mukerjee) ने मूल्यों की विशद् विवेचना की हैं। आपने मूल्य को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "मूल्य *समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त वे इच्छायें* (desires) *तथा लक्ष्य* (goals) *हैं जिनका* अन्तरीकरण (internalisation) सीखने *या* सामाजीकरण (socialisation) की प्रक्रिया के माध्यम से होता है, जो कि बाद में व्यक्तिनिष्ठ प्राथमिकतायें (subjective preferences), प्रमाप (standards) तथा आकांक्षायें (aspirations) बन जाती हैं।"[1]

दूसरे शब्दों में, 'मूल्य' एक प्रकार से उन सामाजिक प्रमापों, लक्ष्यों या आदर्शों को कहा जा सकता है जिनके द्वारा सामाजिक परिस्थितियों तथा विषयों का मूल्यांकन (valuation) किया जाता है।

उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि 'मूल्य' एक आन्तरिक अथवा अदृश्य गुण है। यह भीतरी रूप में, सीखने या समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही विकसित होता है। इस प्रकार मूल्यों का एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया के माध्यम से विकास होता है। यह कोई जैविक (biological) या वंशानुगत प्रक्रिया नहीं होती है। सामाजिक मूल्य किसी भी व्यक्ति को उसके समूह की संस्कृति के द्वारा सामाजिक धरोहर के रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरण के द्वारा प्राप्त होते हैं। ये मूल्य ही धीरे-धीरे समाज में व्यक्तिनिष्ठ अथवा प्रातीतिक प्राथमिकतायें तथा सामाजिक व्यवहार के प्रमाप बन जाया करते हैं व्यक्ति इन मूल्यों के अनुरूप बनने, अथवा *इन्हीं लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में अग्रसर एवं प्रयत्नशील* रहते हैं। इस प्रकार **डॉ० मुकर्जी** ने समाज और संस्कृति के सन्दर्भ में मूल्यों के विकास को स्पष्ट किया है।

हैरी एम० जॉनसन (Harry M. Johnson) ने मूल्यों को परिभाषित करते हुए *लिखा है कि "मूल्यों को एक धारणा या एक प्रमाप* (Standard) के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो कि सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और जिसके द्वारा वस्तुओं का एक साथ तुलना की जाती है और दोनों वे एक दूसरे के सन्दर्भ में स्वीकार या अस्वीकार की जाती है, जो वांछित या अवांछित, अच्छी *या बुरी, अधिक या कम मानी जाती है।"*[2]

एच० फीचर (H. Fichter) ने सोशियोलाजी में लिखा है कि "समाजशास्त्रीय दृष्टि से मूल्यों को उन कसौटियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है

---

1. **Radha Kamal Mukerjee : quoted by Bogardus, Development of Social Thought, P. 635.**
2. **Harry M. Johnson : Op. Cit. ; p. 49.**

जिनके द्वारा समूह या समाज व्यक्तियों, प्रतिमानों, उद्देश्यों और अन्य सामाजिक सांस्कृतिक वस्तुओं के महत्त्व का निर्णय करते हैं।"[1]

'मूल्यों' की विशेषतायें
(Characteristics of 'Values')

डॉ० मुकर्जी के द्वारा दी गयी 'मूल्यों' की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर, मूल्यों में पायी जाने वाली विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है :

1. सार्वभौमिकता (Universality)—मूल्यों की अवधारणा सार्वभौमिक इस अर्थ में मानी जा सकती है कि मूल्य समाज के सारे समूहों में, सभी स्थानों पर, सारे देशों, राष्ट्रों या समुदायों, इत्यादि के सदस्यों में पाये जाते हैं, अर्थात् ये किसी विशेष समाज तक ही सीमित न होकर सर्वव्यापक रूप में पाये जाते हैं। इन मूल्यों के द्वारा ही पारस्परिक सम्बन्धों तथा व्यवहारों को निर्धारित किया जाता है। इनको ध्यान में रखते हुए ही व्यक्ति अपने समूह या समाज में रहकर अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा आकाँक्षाओं को पूरा करता है। इन्हीं के अधीन व्यक्ति की क्रियायें निर्देशित होती हैं।

2. गतिशीलता (Dynamism)—सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ मूल्यों में भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य आते रहते हैं। एक बार विकसित हो जाने के उपरान्त मूल्य सदैव एक जैसे ही या स्थिर नहीं बने रहते हैं, ये भी विभिन्न परि-स्थितियों के साथ बदलते हैं। मनुष्य विचारशील प्राणी है, समयानुसार उसके सोच-विचार में परिवर्तन आता है और वह अधिक उपयोगी तरीकों को ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। उसके ये तरीके या व्यवहार वाह्य दशाओं तथा आन्तरिक व्यवस्था, दोनों के ही द्वारा बदलते हैं। जो मूल्य अब से पचास वर्ष पूर्व स्त्रियों को पर्दा बनाये रखने, उन्हें घर से बाहर न निकलने देने, उन्हें शिक्षित न होने देने या नौकरी न करने देने, कम आयु में विवाह कर देने इत्यादि के बारे में प्रचलित तथा जटिल थे, वे अब लगभग पूर्णतया बदल ही गये हैं।

3. प्रतीकात्मकता (Symbolism)—समाज में प्रचलित समस्त मूल्यों को किसी न किसी प्रतीक (Symbol) से सम्बन्धित किया जाता है तथा इसी के माध्यम से दर्शाया जाता है। ये मूल्य चाहे किसी भी क्षेत्र से क्यों न सम्बन्धित हों, चाहे वे धार्मिक हों, आर्थिक अथवा राजनीतिक हों, इनका कोई न कोई प्रतीक अवश्य होता है जिसके द्वारा इन्हें समझा जाता है। प्रतीक ही समाज के सदस्यों को मूल्यों का महत्व बताते हैं। इसी माध्यम से व्यक्तियों को समूह की स्थिरता या स्थायित्व, उसमें प्रचलित परिवर्तन की प्रवृत्तियों, इत्यादि की जानकारी प्राप्त होती है। उदाहरणार्थ,

---

1. H. Fitcher : Sociology; p. 293–294.

नवीनतम लोक सभा के चुनावों के लिए कांग्रेस (इ.) का प्रतीक तिरंगे झण्डे पर पूरे हाथ के पंजे का चिह्न एक प्रतीक ही है।

4. सांस्कृतिक स्थिरता (Cultural Stability)—मूल्य किसी समूह या समुदाय की संस्कृति की स्थिरता या उसमें आने वाले परिवर्तनों की प्रवृत्ति को भी बताते हैं। कोई समाज कितना पिछड़ा हुआ अथवा प्रगतिशील है, उसकी सभ्यता तथा संस्कृति में कितनी प्राचीनता तथा पुरानापन पाया जाता है अथवा उसमें नवीनता के कौन-कौन से लक्षण विकसित हो रहे हैं, इस दिशा में मूल्यों के ही द्वारा जानकारी प्राप्त हो सकती है। मूल्य ही किसी समूह की सांस्कृतिक विरासत के निर्माणकों की ओर संकेत करते हैं। प्राचीन मूल्य प्रायः इतने स्थिर और जटिल तथा रूढ़िवादी हो जाया करते हैं कि उनका विरोध करके नये मूल्यों को स्थापित कर पाना बड़ा संघर्षपूर्ण तथा दुःस्साहस का कार्य माना जाता है और इसके लिए मौजूदा समाज से जबर्दस्त टकराव का सामना करना पड़ता है।

मूल्यों की संरचना
(The Structure of Values)

जैसाकि उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट हो गया है, मूल्य वास्तव में किसी भी व्यक्ति अथवा समूह के व्यवहार को समझने और उसके प्रति एक दृष्टिकोण बनाने का तरीका है। इसी आधार पर हम समाज में पायी जाने वाली वस्तुओं, चाहे वे भौतिक हों अथवा अभौतिक, चाहे उसका विचारों से सम्बन्ध हो या व्यवहारों से, को मूल्यांकित करते हैं और उन्हें महत्त्व प्रदान करते हैं। किसी भी वस्तु को हम मान्यताओं के आधार पर ही अच्छा या बुरा कहते हैं, विचार तथा क्रियाएँ, व्यक्ति तथा समूह साधन, तथा साध्य; गुण तथा विशेषताएँ इत्यादि सभी को समाज के द्वारा मूल्यांकित किया जाता है।

मूल्यों का सम्बन्ध प्रमुख रूप से व्यक्तियों की भावनाओं तथा उद्वेगों (emotions) से होता है। हिन्दू विवाह के प्रति एक सामाजिक मूल्य यह है कि इसे एक पवित्र संस्कार तथा दैवीय संयोग माना जाता है। ईश्वरीय इच्छा पर जीवन-साथी का चयन निर्भर होता है तथा सम्बन्ध की पवित्रता के ही कारण इसे तोड़ना या विच्छेद करना न केवल पाप ही, बल्कि असामाजिक कृत्य भी समझा जाता है। अपनी ही जाति तथा उप-जाति के दायरे में विवाह करना (endogamy) हिन्दू समाज में एक महत्त्वपूर्ण मान्यता या मूल्य है। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति अन्तर्विवाह के नियन्त्रण को तोड़कर अन्तर्जातीय (inter-casto) विवाह या जातीय बहिर्विवाह (caste-exogamy) करना चाहता है तो उसे इस सामाजिक मूल्य का उल्लंघनकर्ता या विरोधी माना जाता है।

विधवा पुनर्विवाह निषेध एक सामाजिक मूल्य है तथा विधवा के द्वारा विवाह कर लिया जाना अच्छा नहीं समझा जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में संयुक्त-परिवार

व्यवस्था को बनाये रखना एक सामाजिक मूल्य है। इससे पृथक हो जाना या किसी सदस्य द्वारा संयुक्त परिवार से सम्बन्ध तोड़ देना सामाजिक मूल्य का उल्लंघन है। अपने धर्म का कट्टरता के साथ पालन करना सामाजिक मूल्य है तथा धर्म के विपरीत आचरण करना या धार्मिक व्यवहार में अनियमितता करना सामाजिक मूल्य तोड़ना है। अमरीकी समाज में मूल्य यौन व्यवहार की स्वतन्त्रता को काफी प्रोत्साहन देते हैं जबकि भारतीय संस्कृति में मूल्य यौन व्यवहार के प्रति अधिक कठोर नियन्त्रण लागू करते हैं। भारत में जब सती-प्रथा प्रचलित थी, किसी स्त्री के द्वारा अपने पति के शव के साथ ही आत्म-दाह कर लेना एक प्रचलित मूल्य था और इसे पवित्र भावना के साथ ग्रहण करने वाली स्त्री के सतीत्व को प्रशंसनीय समझा जाता था।

मूल्य किसी भी संस्कृति या समाज में अनेक प्रकार से विकसित हो सकते हैं तथा सामूहिक जीवन की विभिन्न क्रियाओं, विभिन्न पक्षों इत्यादि से सम्बन्धित हो सकते हैं। इन्हें किसी भी छोटे से छोटे समूह जैसे मित्र मण्डली, परिवार, क्रीड़ा-समूह, इत्यादि में भी पाया जा सकता है तथा ये बड़े या विशाल समूहों या संगठनों में भी पनप सकते हैं। प्राथमिक तथा द्वैतयिक दोनों ही प्रकार के समूहों का जहाँ एक ओर व्यक्ति के समाजीकरण में महत्त्व होता है, वहाँ दूसरी ओर सामाजिक मूल्यों के विकास में भी इनकी भूमिका को नहीं त्यागा जा सकता है। ये मूल्य मानव-जीवन के आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक तथा राजनीतिक इत्यादि लोकाचारों, प्रथाओं एवं परम्पराओं से सम्बन्धित होते हैं।

मूल्यों के प्रकार तथा श्रेणीयन
(Types and Gradation of Values)

डॉ० मुकर्जी ने मूल्यों को पाँच भागों में विभाजित किया है :

(1) **तात्कालिक मूल्य** (Immediate Values)—इन्हें समूह किन्हीं तात्कालिक विकसित हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए महत्त्वपूर्ण समझता है।

(2) **विशिष्ट मूल्य** (Specific Values)—इनको किसी विशेष उद्देश्यों की पूर्ति से सम्बन्धित किया जा सकता है।

(3) **सार्वभौमिक मूल्य** (Universal Values)—इनकी उत्पत्ति प्रायः कुछ ऐसे लक्ष्यों तथा आदर्शों के द्वारा होती है जिनका सार्वभौमिक महत्त्व होता है।

(4) **अन्तर्निहित मूल्य** (Intrinsic Values)—कुछ ऐसे मूल्य जिनका समाज तथा व्यक्ति के आन्तरिक जीवन से सम्बन्ध होता है समूह में स्वतः ही विकसित होते हैं।

(5) **आदर्शों के उपकरण** (Instrumental to Ideals)—ये मूल्य इसलिए पनपते हैं क्योंकि इनके द्वारा आदर्शों की प्राप्ति करना सुविधापूर्ण होता है।

मूल्यों के श्रेणीयन (gradation) के विषय में डॉ. मुकर्जी ने अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए सामाजिक एकीकरण (social integration) के लिए मूल रूप

से इन्हें चार श्रेणियों के अन्तर्गत रखने का प्रयास किया है। इन श्रेणियों की संक्षिप्त विवेचना निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है :

1. भीड़ में (In the crowd)—इसमें नैतिक भावनाओं को अमानवीय तरीके से अभिव्यक्त किया जाता है। प्रायः किसी गलत आचरण के सुधारने के लिए नैतिक शक्ति उमड़ सकती है। यदि किसी चोर को पकड़ लिया जाता है तो भीड़ के सभी लोग इसे समाज-विरोधी कार्य समझने के कारण ही चोर को बुरी तरह पीटने लग जाते हैं। इसके पीछे एक नैतिक मूल्य के द्वारा प्रेरणा विद्यमान होती है।

2. आर्थिक स्वार्थ समूह में (In the economic interest group)—ऐसे समूहों के सदस्यों में भी अपने कुछ आधारभूत मूल्य प्रकट हो सकते हैं। ये लोग अपने हितों को सुरक्षित बनाये रखने के लिए परस्पर सहयोग या सहकारिता को ग्रहण कर सकते हैं, तथा विभिन्न प्रकार के संगठनों की स्थापना, व्यापारिक रहस्यों (trade secrets) को गोपनीय रखना इत्यादि अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं।

3. समाज या समुदाय में (In 'society' or 'community')—इसके अन्तर्गत समानता (equity) तथा न्याय (justice) के मूल्यों की अभिव्यक्ति होती है। किसी भी समुदाय में उसके सदस्य प्रायः कुछ ऐसे मूल्यों को विकसित कर देते हैं जिनके द्वारा सामाजिक अथवा सामुदायिक जीवन में समानता तथा न्याय को प्रोत्साहित करने के लिए विभिन्न मूल्य पनपते हैं।

4. सामान्य जीवन में (In the Commonality)—सामान्यतः व्यक्तियों एवं समूहों के सामान्य जीवन के आदर्श भी मूल्यों के ही द्वारा प्रकट होते हैं। इस प्रकार के मूल्यों में स्वतः होने वाला प्रेम (Spontaneous Love), सामाजिक उत्तरदायित्व (Social Responsibility) एकात्मकता अथवा हितों की एकता (Solidarity) आदि प्रमुख हैं।

प्रतिमान एवं मूल्य
(Norms and Values)

प्रतिमान एवं मूल्य में अन्तर स्थापित करना सरल नहीं है, क्योंकि दोनों में ही पर्याप्त समानता देखी जा सकती है। सामाजिक मानदण्ड जैसा कि वुड्स (Woods) लिखते हैं, वे नियम प्रतिमान या मूल्य हैं जो मानवीय व्यवहारों को नियन्त्रित करते हैं, व्यवस्था में सहयोग देते हैं तथा किसी विशेष स्थिति में व्यवहार की भविष्यवाणी करना सम्भव बनाते हैं।"[1] इस प्रकार हमारे दैनिक जीवन के समस्त तरीके अथवा प्रकार चाहे वे खाने-पीने, रहने, बोलने, आने-जाने, मिलने-जुलने से सम्बन्धित हों या फैशन, धुन, परिपाटि, शिष्टाचार, धर्म, प्रथा, कानून से सम्बन्धित हों, प्रतिमान या मानदण्ड कहे जाते हैं। सामान्य तौर पर मूल्य का भी यही अर्थ लगाया जाता है।

---

1. S. F. Woods : Op. cit., p. 225.

परन्तु प्रतिमान एवं मूल्य में अन्तर किया जा सकता है वुड्स (Woods) के अनुसार "मूल्य दैनिक जीवन में व्यवहारों को नियन्त्रित करने के सामान्य सिद्धान्त हैं। मूल्य न केवल मानवीय व्यवहारों को दिशा प्रदान करते हैं, बल्कि वे स्वयं में आदर्श एवं उद्देश्य भी हैं। जहाँ मूल्य होते हैं, वहाँ न केवल यह देखा जाता है कि क्या चीज होनी चाहिये, बल्कि यह भी देखा जाता है कि वह सही है या गलत।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल्य व्यवहार का एक सामान्य तरीका है तथा यह एक ऐसा मापदण्ड है जो यह निर्धारित करता है कि कोई व्यवहार सही है या गलत, अच्छा है या बुरा आदि। उदाहरण के लिए **'सदा सच बोलना चाहिये', 'निर्धनों पर दया करनी चाहिए', 'स्त्री-पुरुष समान् हैं।'** आदि हमारे सामाजिक मूल्य हैं।

प्रतिमान एवं मूल्यों में एक और अन्तर इस आधार पर किया जा सकता है कि मूल्य जहाँ सामान्य (General) होते हैं, वहीं प्रतिमान विशिष्ट (Specific) होते हैं। किसी समाज में किसी मूल्य विशेष के पालन के लिए अनेक सामाजिक प्रतिमान हो सकते हैं। **मूल्य साध्य हैं, जबकि प्रतिमान साधन।** मूल्यों को प्राप्त करने के लिए ही सामाजिक प्रतिमान काम करते हैं।

उदाहरण के लिए "अपने से बड़ों का सम्मान करना" एक सामाजिक मूल्य है। इस मूल्य को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रतिमान हैं जैसे बड़ों से विवाद न करना, उन्हें पर्याप्त आदर देना, उन्हें नमस्कार करना, उनके आने पर खड़े हो जाना आदि। इस प्रकार सामाजिक मूल्यों की प्राप्ति में प्रतिमान सहायक होते हैं।

समूह
(Group)

मानव-समाज के संगठनात्मक स्वरूप की प्रथम सीढ़ी 'समूह' (group) है। समाजशास्त्रीय शब्दावली में समूह की अवधारणा इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण है कि समूह को समाजशास्त्र विषय की आधारशिला एवं केन्द्रीय अवधारणा के रूप में स्थापित किया जाता है। जॉन डन (John Done) ने लिखा है कि "कोई भी व्यक्ति द्वीप (Island) नहीं है।" इसका आशय यही है कि मानवीय जीवन बहुत अधिक सीमा तक सामूहिक जीवन है। अनेक मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि "समूह में

1. S. F. Woods : Ibid,. p. 205.

रहने की इच्छा व्यक्ति की एक मूल प्रवृत्ति ग्रिगेरिअस इन्सटिंक्ट (Gregarious Instinct) के कारण है।

इस प्रकार 'समूह' मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता है। समूह में रहकर ही मनुष्य अपनी जैविक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मनुष्य समूह की गतिविधियों पर ही निर्भर करता है। जन्म लेते ही हम अनिवार्यतः किसी न किसी परिवार के सदस्य हो जाते हैं। हमारा घर किसी निश्चित स्थान पर होता है, वह स्थान पड़ौस, मौहल्ला, नगर, राज्य व राष्ट्र आदि विभिन्न प्रकार के समूहों से सम्बन्धित होता है। समूह असंख्य होते हैं, और उनकी गणना करना सरल नहीं है।

समाजशास्त्र में समूह की अवधारणा का इतना अधिक महत्व है कि अनेक समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र को समूहों का ही अध्ययन माना है।" हैरी एम. जॉनसन (Harry M. Johnson) ने लिखा है कि 'समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का विज्ञान है।"[1]

बोगार्डस (Bogards) ने भी लिखा है कि समाजशास्त्र समूहों का अध्ययन है।

सामान्य भाषा में 'समूह' का आशय 'व्यक्तियों के एकीकरण से लगाया जाता है, परन्तु समाजशास्त्रीय साहित्य में मात्र व्यक्तियों के एकत्रीकरण को समूह नहीं कहा जाता। समाजशास्त्र में समूह ऐसे व्यक्तियों के एक संग्रह के रूप में जाना जाता है, जिनके मध्य किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य पाया जाता है। इसीलिए समाजशास्त्र में 'समूह' का आशय 'सामाजिक समूह' (Social Group) से लगाया जाता है। सामाजिक समूह की विस्तृत विवेचना के लिए यह अनिवार्य है कि हम इसके अर्थ एवं परिभाषाओं को समझने का प्रयास करें।

सामाजिक समूह का अर्थ एवं परिभाषायें
(Meaning and Definitions of Social Group)

सामाजिक समूह को परिभाषित करना सरल नहीं है। "समूह की परिभाषा के साथ, जैसा कि समाजशास्त्री होमन्स (Homens) के कथन से स्पष्ट होता है, बराबर ऐतिहासिक दुर्घटनायें होती रहीं।" होमन्स ने कहा है कि "समाजशास्त्रियों की पहली पीढ़ी जिसमें कॉम्ट व स्पेन्सर के नाम प्रमुख हैं, ने दुर्खीम, मैक्सवेबर आदि इसकी समाजशास्त्रियों की पीढ़ी से पारिभाषिक समझौता किया। यह ठीक है लेकिन कॉम्ट व स्पेन्सर समाजशास्त्र के आरम्भ के लेखक रहे, अतः उनका सैद्धान्तिक अभिमुखन (Theoritical Orientation) अपेक्षाकृत कम होना स्वाभाविक ही था।........................समाजशास्त्र के लेखकों की आधुनिक पीढ़ी, जिनका उल्लेख

---

1. Harry M. Johnson : Sociology ; A Systematic Introduction p. 3.

होमन्स ने इस क्रम में नहीं किया है, कालक्रम से लाभान्वित रही है। अतः **पारसन्स, मर्टन, लेवी और स्वयं होमन्स** समूह की अवधारणा या सम्बोध की विश्लेषणात्मक दृष्टि से देख सके हैं। चार्ल्स कूले, जोसफ गिटलर, किग्सले डेविस और मेकाइवर व पेज का योगदान भी समूह को समझने की दिशा में व्यवस्थित है, यद्यपि कहीं-कहीं ये अस्पष्ट भी है।"[1]

सामाजिक समूह की अवधारणा को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ समाजशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं को देखलें—

एम. पी. फेयरचाईल्ड ने डिक्शनरी ऑफ सोश्योलोजी' में लिखा है कि "दो अथवा अधिक लोगों, जिनके बीच में एक स्थापित मनोवैज्ञानिक अन्तः क्रिया का प्रतिमान हो; यह उसके सदस्यों द्वारा तथा प्रायः अन्यों के द्वारा भी उसके विशिष्ट सामूहिक व्यवहार के कारण एक स्वत्व के रूप में मान्य होता है।[2]

मैकाइवर और पेज (Maciver and Page) ने अपनी कृति **'सोसाइटी'** (Society) में समूह को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "समूह से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के किसी भी ऐसे संग्रह से है जो एक दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।"[3]

मेकाइवर एवं पेज की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्धों का आधार पारस्परिक जागरूकता और पारस्परिक सहयोग की भावना है। यह भावना व्यक्तियों में अलग-अलग होती है। यहीं कारण है कि कुछ व्यक्तियों से बनने वाले भिन्न समूहों की प्रकृति भी एक दूसरे से भिन्न होती है।

आगबर्न एवं निमकाफ (Ogburn and Nimkoff) ने बतलाया है, जब कभी दो से अधिक व्यक्ति एक साथ मिलते हैं और एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तो वे एक समूह का निर्माण करते हैं।[4]

आगबर्न एवं नीमकॉफ की इस परिभाषा में समूह-निर्माण के लिए व्यक्तियों के बीच सामाजिक सम्बन्धों को आवश्यक माना गया है। इस आधार पर तो दो अपरिचित व्यक्ति जब प्रथम बार एक दूसरे से मिलते हैं, एक दूसरे को कुछ प्रभावित करते हैं, एक दूसरे से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो समूह का निर्माण हो

---

1. **सिंघी एवं गोस्वामी** : समाजशास्त्रीय विवेचन : पृष्ठ 80-81.
2. **H. P. Fairchild (ed.)** ; Dictionary of Sociology; p. 133.
3. **Mac Iver & Page** : Society, p. 213.
4. W. F. Ogburn and M. F. Nimkoff; Hand Book of Sociology, p. 172.

जाता है। इस परिभाषा के अनुसार तो बस या रेल में एक साथ यात्रा करने वाले दो अपरिचित सहयात्री जो अन्तःक्रिया करते हैं, एक समूह का निर्माण करते हैं।

रोबीन विलियम्स (Robin Williams) ने समूह को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "एक सामाजिक समूह लोगों का समुच्चय है जो अन्तः सम्बन्धित भूमिका करते हुए तथा अन्तःक्रिया की एक इकाई के रूप में स्वयं तथा दूसरों के द्वारा मान्य होते हैं।"[1]

टी० बी० बोटोमोर के अनुसार सामाजिक समूह व्यक्तियों के उस संकलन को कहते हैं जिसमें (1) विभिन्न व्यक्तियों के बीच निश्चित सम्बन्ध होते हैं और (2) प्रत्येक व्यक्ति समूह और उसके प्रतीकों के प्रति सचेत होता है। दूसरे शब्दों में एक सामाजिक समूह का कम से कम प्रारम्भिक ढांचा और संगठन (नियमों व संस्कारों सहित) होता है और उसके सदस्यों की चेतना का एक मनोवैज्ञानिक आधार होता है। इस प्रकार एक परिवार, एक गाँव, एक राष्ट्र, एक मजदूर संगठन अथवा एक राजनैतिक दल एक सामाजिक समूह है।[2]

हेरी एम. जॉन्सन (Harry M. Johnson) ने समूह के उदाहरण के रूप में बैंक वायरिंग ग्रुप (Bank Wring Group) का उल्लेख किया है और बतलाया है कि हाथोर्न वर्क्स ऑफ दी वेस्टर्न इलेक्ट्रिक कम्पनी (Haurthorne Works of the Western Electric Company) के एक कमरे के समूह के चौदह सदस्य साथ-साथ काम करते थे। ये चौदह सदस्य कार्य की दृष्टि से तीन टीमों में बंटे हुए थे और इनमें दो पारस्परिक रूप से विरोधी गुट भी थे। अतः वे चौदह सदस्य एक समूह का निर्माण कैसे करते हैं। जॉनसन ने बतलाया है कि उन सभी सदस्यों को एक समूह से सम्बन्धित मानने का प्रमुख कारण यह है कि वे सभी कुछ नियमों या प्रतिमानों (Norms) को बनाये रखने में सहयोग कर रहे थे।[3]

जॉनसन ने एक अन्य स्थान पर कहा है कि "सभी समूहों में सम्बन्ध होते हैं, किन्तु सभी सम्बन्ध समूहों का निर्माण नहीं करते।" दो झगड़ने वाले व्यक्तियों में अन्तःक्रिया भी होती है, परन्तु वे समूह का निर्माण नहीं करते, क्योंकि उनमें न तो एक समूह के सदस्य होने की भावना है और न ही 'अहम् की भावना' (We feeling) होती है।"

---

1. Robin Williams : American Society ; A Sociological Interpretation ; p, 446.
2. T. B. Bottomore, 'Sociology', p. 92.
3. Harry M. Johnson, 'Sociology : a Systematic Introduction', pp. 6-7.

रॉबर्ट के. मर्टन (Robert K. Merton) ने 'सोशल थ्योरी एण्ड सोशल स्ट्रक्चर' में समूह की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "समूह की समाजशास्त्रीय अवधारणा मनुष्यों की एक संख्या का संकेत करती है, जो एक दूसरे से स्थापित प्रतिमानों के अनुसार अन्तःक्रिया करते हैं।"[1]

उपर्युक्त परिभाषा के विश्लेषण को तीन विन्दुओं में रखकर समझा जा सकता है।

(1) दो या दो से अधिक व्यक्तियों का होना। (मनुष्यों की संख्या)

(2) इनमें सामाजिक सम्बन्ध का पाया जाना। यह सम्बन्ध व्यक्तियों में बार-बार अन्तःक्रियाओं से ही बनता है। (अन्तःक्रिया की आकृति)

(3) व्यक्ति के किसी भी समूह का सदस्य माने जाने के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं अपने को किसी समूह विशेष का सदस्य समझे, उसके प्रति 'अहम' की भावना रखे। साथ ही यह भी आवश्यक है कि समूह के अन्य सदस्य तथा दूसरे समूह भी उसे उस समूह विशेष का सदस्य समझें।[2]

जोसेफ वी. गिटलर (Joseph V. Gitler) ने समूह के—**बाह्य** (Overt) तथा **आन्तरिक** (Covert) **पक्षों** की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है।[3] समूह के **बाह्य पक्ष** के अन्तर्गत अन्य लोग समूह के सदस्यों को एक दूसरे के साथ अन्तः-क्रिया करते हुए देखते हैं, अर्थात् वे समूह में अन्तःक्रियाओं को देख पाते हैं। **आन्तरिक पक्ष** का अर्थ समूहों के सदस्यों के भीतर जो कुछ है, जिसे बाहर नहीं देखा जा सकता, से है। इसका तात्पर्य यह है कि सदस्यों में समूह के प्रति कितना लगाव है, कितनी 'अहम' की भावना है। गिटलर ने समूह के निर्माण में इन दो पक्षों के अतिरिक्त समय व स्थान को भी महत्त्वपूर्ण माना है, क्योंकि अन्तःक्रिया के लिए किसी समय तथा स्थान का होना आवश्यक है।

गिलिन और गिलिन (Gillin & Gillin) ने **'कल्चरल सोशियोलोजी'** अन्तःक्रिया के माध्यम से समूह की अवधारणा को समझाने का प्रयत्न किया है। आपने बतलाया है कि अन्तःक्रिया के लिए सम्पर्क आवश्यक है और सम्पर्क के लिए दो बातों (1) **उत्तेजना** (Stimuli) (2) **अनुक्रिया** (Response) का होना अनिवार्य है। जब व्यक्ति को कोई उत्तेजना मिलती है तो वह अनुक्रिया करता है और तब सम्पर्क स्थापित होता है। इसी सम्पर्क से व्यक्ति के बीच अन्तःक्रिया होती है जिसके

---

1. R. K. Merton, Social Theory and Sociology Structure, pp. 285-86.
2. Ely Chinoy, Society, p. 82.
3. Joseph B. Gittler. Social Dynamics, p. 56.

आधार पर समूह का निर्माण होता है। इन विद्वानों ने बतलाया है कि समूह के सदस्यों में समूह के हितों के प्रति निष्ठा का पाया जाना भी आवश्यक है। समूह का सदस्य अन्य समूहों की अपेक्षा अपने समूह को श्रेष्ठ मानता है। यह भावना स्व-समूह केन्द्रीयता (Ethnocentrism) एक समूह के सदस्यों को एकता में बाँधे रखती है।[1]

एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्टतः समझा जा सकता है—यदि 'राम' 'श्याम' से लिखने के लिए कलम माँगना चाहता है तो उससे कहेगा कृपया आप अपना कलम मुझे लिखने को दीजिये। यह उत्तेजना (Stimuli) हुआ। श्याम कहता है 'ले लीजिये'। यह अनुक्रिया (Response) हुई।

इस प्रकार सामाजिक समूह के लिए अन्तःक्रिया एक आवश्यक तत्त्व है।

रोबर्ट बीयरस्टेड (Robert Bierstedt) ने किसी हित को समूह के निर्माण का आधार माना है। आपके अनुसार लोग समूहों का निर्माण करते हैं, क्योंकि वे कुछ कामों को करना चाहते हैं जिन्हें वे स्वयं नहीं कर सकते हैं। कोई भी अकेला व्यक्ति टेनिस नहीं खेल सकता, एक विश्वविद्यालय का प्रशासन नहीं चला सकता या एक विभाग के स्टोर का प्रबन्ध नहीं कर सकता। इन कार्यों को करने के लिए सहयोगी प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है। अतः समूह का निर्माण किसी भी उद्देश्य या हित को लेकर किया जा सकता है।[2]

स्पष्ट है कि जॉनसन के समान बीयरस्टेड भी सहयोगी प्रयत्न को समूह का आवश्यक तत्व मानते हैं। एडवर्ड सापीर ने बतलाया है कि समूह का निर्माण केवल इस तथ्य पर आधारित है कि कोई न कोई विशेष स्वार्थ उस समूह के सदस्यों को एक सूत्र में बाँधे रखता है।[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब दो या दो से अधिक व्यक्ति पारस्परिक रूप से एक दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा *किन्हीं सामान्य हितों के लिए एक दूसरे के साथ अर्थपूर्ण अन्तःक्रियाओं द्वारा सम्बन्ध* स्थापित करते हैं तो एक समूह का निर्माण होता है।

---

1. Gillin and Gillin, Cultural Sociology, p. 212.
2. Robert Bierstedt, The Social Order, p. 258.
3. Edward Sapir : 'Groups, in Encyclopaedia of Social Sciences Vol. 7, p. 179.

इसे हम इस चित्र द्वारा भी समझ सकते हैं :

दो या दो से अधिक व्यक्ति



अन्तःक्रिया



सम्बन्ध



समूह

सामाजिक समूहों की विशेषतायें (Characteristics of Group)—

समूह की पारिभाषिक व्याख्याओं से यह स्पष्ट होता है कि समूह की कोई सर्वमान्य परिभाषा देना एक कठिन कार्य है, क्योंकि सभी मानव-समूहों का संगठन और सम्बन्धों की प्रकृति एक दूसरे से भिन्न होती है। ऐसी स्थिति में कुछ सामान्य विशेषताओं के आधार पर ही समूह की धारणा को स्पष्ट किया जा सकता है।

1. समूह व्यक्तियों का संग्रह है (Group is a Collection of Individual)—

समूह का निर्माण परस्पर-सम्बन्धित व्यक्तियों के द्वारा होता है। इसमें व्यक्तियों का परस्पर शारीरिक रूप से निकट होना आवश्यक नहीं है, लेकिन व्यक्तियों में पारस्परिक आदान-प्रदान (Give and Take) की क्रियायें अवश्य ही होनी चाहिये।

2. समूह के पहचानने की योग्यता (Identiflability)—

प्रत्येक समूह दूसरे समूह से भिन्न होता है, जैसे एक परिवार एक क्लब से भिन्न होता है। इसी प्रकार वर्ग-जाति से भिन्न समूह है। इसी भिन्नता के कारण प्रत्येक समूह अलग से पहचाना जा सकता है।

3. समूह का एक सामाजिक ढाँचा (A Social Structure of the Group)—

जोसेफ फीचर इस तथ्य पर बल देते हैं कि अन्य संगठनों के समान समूह की भी एक निश्चित संरचना तथा ढाँचा होता है जिसमें सभी व्यक्तियों की स्थिति निर्धारित होती है। यद्यपि यह विभाजन स्पष्ट नहीं है, किन्तु फिर भी किसी न किसी रूप में सदस्यों के बीच स्तरीकरण (Stratification) की एक व्यवस्था अवश्य पाई जाती है।

4. समूह में कार्यात्मक विभाजन (Functional Division in Group)

एक समूह के सभी सदस्य यद्यपि एक दूसरे से पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा बंधे होते हैं तथापि सभी सदस्य एक ही कार्य नहीं करते, बल्कि पृथक्-पृथक् कार्यों के द्वारा समूह को संगठित बनाये रखते हैं। जैसे परिवार में पिता का कार्य माता के कार्य से अलग होता है।

5. समूह एक सत्ता है (Group is an Entity)

चूँकि समूह का सम्बन्ध सामूहिक व्यवहारों से होता है। अतः एक व्यक्ति समूह के अस्तित्व के सामने अपने अस्तित्व को गौण मानता है और सामूहिक शक्ति के प्रति निष्ठा रखता है। यह विशेषता समूह की शक्ति में वृद्धि करती है और समूह को स्थायित्व प्रदान करने में सहायक होती है।

6. समान हितों की भावना (Feeling of Common Interests)—

किसी समूह के सभी सदस्यों में कुछ सामान्य हितों से उत्पन्न एक प्रकार की 'अहम की भावना' (We-feeling) पायी जाती है। वास्तव में कोई व्यक्ति किसी समूह का सदस्य तभी बनता है, जब उनके हितों की पूर्ति उस समूह से हो सकती है।

7. एक विशेष समूह की सदस्यता ऐच्छिक है
(Membership of Particular Group is Voluntary)

एक व्यक्ति किस-किस समूह की सहायता ग्रहण करेगा, यह उसकी अभिरुचि और योग्यता पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति कितने समूहों की सदस्यता स्वीकार करेगा, इसकी भी कोई संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती।

8. समूह में आदर्श नियमों या प्रतिमानों की प्रधानता
(Social Norms in Group)

प्रत्येक समूह में कुछ नियम होते हैं जिसके सहारे वह अपने सदस्यों के व्यवहारों में एकरूपता लाने का प्रयत्न करता है, लेकिन ये नियम लिखित न होकर अधिकांशत: आदर्श-नियमों (Norms) के रूप में होते हैं। ये भिन्न-भिन्न समूहों में भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

सामाजिक समूहों की उपर्युक्त विशेषताओं के अलावा कुछ सामान्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

1. सामाजिक समूहों के सभी सदस्यों के मध्य कुछ निश्चित सम्बन्ध अवश्य होते हैं, लेकिन प्रत्येक सदस्य को एक दूसरे के बारे में व्यक्तिगत जानकारी होना आवश्यक नहीं है।

2. समूह में प्रत्येक सदस्य की एक निश्चित भूमिका होती है। भूमिका का निर्वाह व्यक्ति के लिए अनिवार्य है।

3. समूह में सदस्यों के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों का होना अनिवार्य है। ये चाहे औपचारिक हों या अनौपचारिक। इनकी प्रकृति का सदस्यों के व्यवहारों पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है।

4. प्रत्येक समूह के कुछ सामाजिक लक्ष्य होते हैं, समय-समय पर इनमें परिवर्तन भी होता रहता है।

5. ये सहमू अपेक्षाकृत स्थायी (Relative Permanency) होते हैं। स्थायित्व का अर्थ है कि समूह के अस्तित्व की अवधि को सरलतापूर्वक मापा जा सके। ये व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक दिनों तक चलते हैं।

समूह निर्धारण के आधार (Basis of Group Determination) :—

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समूह-निर्धारण के भिन्न-भिन्न आधार बतलाये हैं। इन्हीं आधारों पर समूह का वैज्ञानिक वर्गीकरण निर्भर करता है। **रॉबर्ट के. मर्टन** ने समूह के 26 लक्षणों का उल्लेख किया है जिनके आधार पर विभिन्न प्रकार के समह निर्मित होते हैं। आपने बतलाया है कि इन लक्षणों के आधार पर कुछ इस प्रकार के समूह बन जायेंगे जो अन्य प्रकार के समूहों की सीमाओं का स्पर्श करेंगे। आपके द्वारा बताये गये समूहों के विभिन्न लक्षण इस प्रकार हैं।

1. **समूह में सदस्यता की सामाजिक परिभाषाओं की स्पष्टता अथवा अस्पष्टता—मर्टन** के अनुसार कुछ समूह ऐसे होते हैं जिनको सुगमता से पहिचाना जा सकता है, क्योंकि उनके सदस्यों को लोग स्पष्टतः जानते हैं, जैसे परिवार, कॉलेज आदि। दूसरी ओर कुछ समूह ऐसे भी होते हैं जिनको सदस्यता की अस्पष्टता के कारण आसानी से नहीं पहचाना जा सकता। उदाहरण के रूप में, एक फैक्टरी में अनेक अनौपचारिक समूह बन जाते हैं जिनके सम्बन्ध में प्रयास करने पर ही जानकारी प्राप्त की जा सकती है। ऐसे समूह जिनकी निश्चिन सीमा, क्षेत्र तथा नाम होता है, सुगमता से पहिचाने जा सकते हैं।

2. **समूह में सदस्यों के भाग लेने की मात्रा**—इसका अर्थ यह है कि सदस्य एक समूह की गतिविधियों में किस मात्रा में भाग लेते हैं। ऐसे समूह भी पाये जाते हैं जिनमें व्यक्ति पूर्णता के साथ भाग लेता है तथा अपने आपको समूह के प्रति समर्पित मानता है। दूसरी ओर ऐसे समूह भी होते हैं जिनमें व्यक्ति आंशिक रूप से भाग लेता है जो उसके जीवन के एक पहलू विशेष से सम्बन्धित होते हैं। ऐसे समूह में व्यक्ति के जीवन का एक विशिष्ट भाग ही सम्मिलित होता है।

3. **समूह में सदस्यता की वास्तविक अवधि**—इसका अर्थ यह है कि सदस्य कितने समय तक समूह में सदस्य के रूप में बने रहते हैं। कुछ समूहों में सदस्यता की अवधि बहुत कम होती है, जबकि कुछ अन्य में अधिक।

4. **समूह में सदस्यता की अपेक्षिक अवधि**—कुछ समूह ऐसे होते हैं जो व्यक्ति से सीमित अवधि तक सदस्य बने रहने की आशा करते हैं, जैसे स्कूल, कॉलेज आदि। दूसरी ओर ऐसे समूह भी पाये जाते हैं जिनमें व्यक्ति से अधिक लम्बे समय तक सदस्य बने रहने की आशा की जाती है।

1. R. K. Merton, Op. Cit. pp. 310-324.

5. **समूह की वास्तविक अवधि**—कुछ समूह किसी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर बनते हैं और उसकी पूर्ति होने पर वे समाप्त भी हो जाते हैं। ऐसे समूह भी पाये जाते हैं जो सापेक्ष दृष्टि से अधिक स्थायित्व लिये होते हैं। समूह की यह अवधि समूह के अन्य लक्षणों को भी प्रभावित करती है।

6. **समूह की अपेक्षित अवधि**—इसके अन्तर्गत यह आता है कि एक समूह से समूह के रूप में कितने समय तक बने रहने की अपेक्षा की जाती है। कुछ समूहों से थोड़े समय तक और अन्य से अधिक समय तक बने रहने की अपेक्षा की जाती है। अवधि-सम्बन्धी इस अपेक्षा का प्रभाव समूह के प्रति सदस्यों की निष्ठा, समूह की आन्तरिक संरचना तथा उसकी शक्ति पर पड़ता है।

7. **समूह का आकार अथवा इसके निर्माणक भागों का आकार**—इसका आशय यह है कि एक समूह कितने सदस्यों से निर्मित है, उसमें विभिन्न प्रस्थितियों की संख्या कितनी है तथा समूह-सदस्यता प्राप्त करने के आधार क्या हैं।

8. **समूह का अथवा उसके निर्माणक भागों का सापेक्ष आकार**—इसका अर्थ यह है कि समान संख्यात्मक क्षेत्र में पाये जाने वाले अन्य समूहों की तुलना में एक समूह विशेष का आकार क्या है। अन्य समूहों की तुलना में वह समूह छोटा है अथवा बड़ा; वे समूह जिनका सापेक्ष आकार समान है, परन्तु वास्तविक आकार भिन्न-भिन्न हैं, अलग-अलग प्रकार से कार्य करेंगे।

9. **समूह की खुली बन्द अथवा प्रकृति**—इसका आशय समूह की सदस्यता प्राप्त करने के आधार से है। इसी आधार पर यह निर्भर करता है कि समूह सापेक्ष दृष्टि से खुला हुआ है अथवा बन्द। खुली प्रकृति के समूह में व्यक्ति सुगमता से सदस्यता प्राप्त कर सकता है, जबकि बन्द प्रकृति के समूह की सदस्यता प्राप्त करना कठिन होता है।

10. **सम्पूर्णता वास्तविक एवं सम्भावित सदस्यों का अनुपात**—सम्पूर्णता का आशय एक समूह के वास्तविक सदस्यों की तुलना में सम्भावित सदस्यों के अनुपात से है। एक समूह की समुदाय में क्या स्थिति होगी, उसे कितनी प्रतिष्ठा एवं शक्ति प्राप्त होगी—यह सब कुछ समूह के सम्पूर्णता रूपी इसी लक्षण पर निर्भर करता है। जिस समूह की सम्भावित सदस्य-संख्या जितनी अधिक होती है, उसकी सामाजिक स्थिति समुदाय में उतनी ही ऊँची होती है।

11. **सामाजिक विभेदीकरण की मात्रा**—इसके अन्तर्गत एक समूह के संगठन में पायी जाने वाली विभिन्न प्रस्थितियाँ तथा भूमिकायें आती हैं। इसका सम्बन्ध इनमें आपस में पायी जाने वाली भिन्नता से तथा सामाजिक स्तरीकरण में इनके स्थान से है। विभेदीकरण के बढ़ने के साथ-साथ एक समूह के आकार के विस्तृत होने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है।

12. **स्तरीकरण का स्वरूप एवं पराकाष्ठा**—समूह का यह लक्षण इस बात पर प्रकाश डालता है कि एक समाज में विभिन्न स्तरों की संख्या, प्रत्येक स्तर

का सापेक्ष आकार तथा विभिन्न स्तरों में पायी जाने वाली सामाजिक दूरी क्या और कितनी है।

13. **सामाजिक सम्बद्धता (एकता) का प्रकार एवं मात्रा**—समूह का यह लक्षण (एक समूह के सदस्य किस प्रकार से और किस मात्रा में एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, एकता के सूत्र में बँधे हुए हैं), एक समूह के सदस्यों के व्यवहार को, उनके भूमिका अदा करने के तरीकों को अनेक रूपों में प्रभावित करता है।

14. **समूह में विखण्डन (Fission) अथवा एकता की सम्भावना**—इस लक्षण के अनुसार कुछ समूह अनियोजित तरीके से अनेक उप-समूहों में विभाजित हो जाते हैं और ये उप-समूह स्वतन्त्र समूहों के रूप में विकसित हो जाते हैं। कुछ समूह ऐसे भी होते हैं जिनमें यह क्षमता पायी जाती है कि वे अपने में से उभरते हुए उप-समूहों को एकता के सूत्र में बाँध लेते हैं, अपने में पुनः मिला लेते हैं। राजनैतिक दल इस लक्षण को भलीभाँति व्यक्त करते हैं।

15. **समूह में सामाजिक अन्तःक्रिया की सीमा**—इसका आशय यह है कि एक समूह में विभिन्न परिस्थितियों वाले व्यक्तियों में सामाजिक अन्तःक्रिया की अपेक्षित और वास्तविक सीमा क्या है। समूह में सदस्य अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार अन्तःक्रिया करते हैं, अनौपचारिक व्यवहार करते हैं या उचित माध्यम से (Through Proper Channel) व्यवहार करते हैं।

16. **समूह में सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति**—यह लक्षण बतलाता है कि एक समूह के सदस्यों में सामाजिक सम्बन्धों में घनिष्टता पायी जाती है अथवा नहीं। इसी विशेषता के आधार पर टॉनीज ने समूहों को गैमिनशाफ्ट (Gemenschaft), तथा गेसलशाफ्ट (Gesellschaft) प्राथमिक एवं द्वितीयक, अन्तःसमूह के रूप में वर्गीकृत किया गया है। पारसन्स द्वारा बतलाये हुए, पाँच व्यवहार प्रतिमान (Pattern Variables) भी समूह के इसी लक्षण पर आधारित हैं।

17. **समूह के आदर्श-प्रतिमानों के अनुरूप व्यवहार करने की अपेक्षा की मात्रा**—कुछ समूह ऐसे होते हैं जिनमें व्यक्ति से समूह के आदर्श-प्रतिमानों के अनुरूप व्यवहार करने की पूर्णतः अपेक्षा की जाती है, जैसे नौकरशाही में। ऐसे समूह भी पाये जाते हैं, जैसे अन्तःसमूह जिनमें आदर्श- प्रतिमानों से कुछ हटकर अथवा कुछ भिन्न प्रकार का व्यवहार करने की भी व्यक्ति को छूट होती है।

18. **आदर्श-प्रतिमानों के अनुसार नियन्त्रणों की व्यवस्था**—इसके अनुसार समूह के सदस्यों के व्यवहारों को नियमित करने के लिए आदर्श-प्रतिमानों की व्यवस्था पायी जाती है। समूह में आदर्श-प्रतिमानों के माध्यम से सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित किया जाता है।

19. **समूह के भीतर देख सकने या अवलोकन कर सकने की मात्रा**—इसका आशय यह है कि समूह के आदर्श-प्रतिमान तथा विभिन्न परिस्थितियों में सदस्यों द्वारा

किये जाने वाले कार्य किस सीमा तक अवलोकन के लिए खुले हैं, उनको सुगमता से देखा जा सकता है अथवा नहीं। इस लक्षण के आधार पर समूह-संरचना तथा व्यवहार के विश्लेषण में पर्याप्त सहायता मिलती है।

20. **समूह का पारिस्थितिक ढाँचा (Ecological Structure)**—इसके अन्तर्गत यह आता है कि एक समूह के सदस्य भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे के पास हैं अथवा दूर हैं। यह लक्षण सामाजिक सम्बन्धों के निर्माण, सामाजिक नियन्त्रण के प्रकारों तथा समूह में सदस्यों के भाग लेने की मात्रा को काफी प्रभावित करता है।

21. **समूह की आत्म-निर्भरता अथवा दूसरों पर निर्भरता**—यह लक्षण बतलाता है कि कोई समूह अपने प्रकार्यों को पूर्ण करने तथा विभिन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से आत्म-निर्भर है अथवा उसे समाज के अन्य समूहों और संस्थाओं पर निर्भर रहना पड़ता है। ग्रामीण समाज-शास्त्रियों के द्वारा किये गये अध्ययनों से ज्ञात होता है कि विभिन्न समूहों को अपने लक्ष्यों की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न मात्रा में अन्य समूहों पर निर्भर रहना पड़ता है।

22. **समूह की स्थिरता की मात्रा**— समूह का यह लक्षण इस बात पर प्रकाश डालता है कि उसमें बाहरी विरोधों के उपरान्त भी अपनी स्थिरता तथा अपने ढाँचे को बनाये रखने की कितनी क्षमता है, वह समूह किस प्रकार व्यवस्थित क्रम से परिवर्तित होता है।

23. **समूह के संरचनात्मक सन्दर्भ की स्थिरता की मात्रा**—इसका आशय यह है कि एक विशिष्ट समूह का सामाजिक पर्यावरण इस समूह की प्रकृति को बनाये रखने में कहाँ तक सक्षम है। एक स्थायी सामाजिक पर्यावरण उसमें पाये जाने वाले विभिन्न समूहों की स्थिरता के लिए उत्तरदायी होता है।

24. **समूह और संरचनात्मक सन्दर्भ की स्थिरता को बनाये रखने के प्रकार**—सीमेल ने बतलाया है कि समूह और उनके संरचनात्मक सन्दर्भ उन प्रक्रियाओं की दृष्टि से भिन्न-भिन्न होते हैं जिनके माध्यम से वे अपनी स्थिरता को बनाये रखते हैं। वे या तो विरोधों से निपटने के लिए दृढ़ हो जाते हैं या लचीले। कुछ समूह कष्ट अथवा दबाव के उपरान्त भी अपनी संरचना एवं प्रकार्यों को बनाये रखते हैं, जबकि कुछ अन्य समूह अपने प्रकार्यों को तो बनाये रखते हैं, परन्तु संरचना की दृष्टि से परिवर्तित हो जाते हैं।

25. **समूहों की सापेक्ष सामाजिक स्थिति या महत्त्व**—यह लक्षण बताता है कि एक समूह की अन्य समूहों की तुलना में कैसी स्थिति है। वह समूह प्रतिष्ठा की दृष्टि से ऊँचा माना जाता है अथवा नीचा।

26. **समूहों की सापेक्ष शक्ति**—इसका आशय यह है कि विभिन्न समूहों में अपने सामूहिक निर्णयों को अपने सदस्यों एवं सामाजिक पर्यावरण पर लागू करने

की भिन्न-भिन्न क्षमता पायी जाती है। एक समूह की सापेक्ष शक्ति उसमें पाये जाने वाले अन्य लक्षणों पर निर्भर करती है। इस प्रकार मर्टन ने समूह निर्माण के 26 आधार बताये हैं। यहाँ हमें इस बात को ध्यान में रखना है कि एक समूह में साधारणतः कई लक्षण एक साथ पाये जाते हैं। समूह के इन लक्षणों के आधार पर समूहों को कई वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है जिनमें से प्रत्येक की अपनी विशिष्ट उपयोगिता है।

समूहों का वर्गीकरण (Classification of Groups)

समाज में पाये जाने वाले अगणित समूहों को वर्गीकृत करना एक कठिन कार्य है। फिर भी समाजशास्त्रियों ने विभिन्न आधारों पर बने मानव-समूहों का वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। वर्गीकरण के आधार के रूप में सदस्यों की संख्या, स्थायित्व, हम की भावना, आकांक्षा, प्रकार्य तथा सामाजिक सम्बन्धों की गहनता को विशेष महत्व दिया गया है।

1. **सदस्यों की संख्या के आधार पर**—सदस्यों की संख्या के आधार पर समूह लघु भी हो सकते हैं तथा विशाल भी। एक समूह में सामाजिक सम्बन्ध (प्राथमिक या द्वैतियक) किस प्रकार के होंगे—यह सदस्यों की संख्या पर निर्भर करता है। जॉनसन, जार्ज सिमेल तथा होमन्स ने छोटें समूहों को समाज के आधार के रूप में महत्वपूर्ण माना है। छोटे समूहों के माध्यम से ही समाज में व्यक्तियों के सम्बन्ध में विश्वसनीय जानकारी मिलती है। होमन्स (Homens) ने स्वयं पांच छोटे समूहों का अध्ययन किया। आपने बतलाया है कि मनुष्य की समाज में ऐतिहासिक निरन्तरता केवल छोटे समूहों के रूप में ही है। व्यापार, गिल्ड्स धर्म, वर्ग, राष्ट्र, साम्राज्य, संस्कृतियाँ, सभ्यतायें सभी विघटित की गयीं, तोड़ी गई, उन्हें नष्ट किया गया लेकिन प्रत्येक सामाजिक विघटन के मध्य भी छोटे समूह अपने अस्तित्व को बनाये रख सके। हम किसी भी ऐसे समाज को नहीं जानते जिसमें ये नहीं पाये जाते हों। छोटे समूह विध्वंसकारी शक्तियों के बावजूद भी अपने को जीवित रख सकें। यह सत्य इतना महत्वपूर्ण है कि हमें यह कहने को प्रेरित करता है कि छोटा समूह मौलिक सामाजिक इकाई है।[1] छोटे समूहों की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए होमन्स ने बताया है कि इनके सदस्यों में सक्रियता दिखलाई पड़ती है, इनमें अन्तः-क्रिया का प्रतिमान सुदृढ़ता लिये होता है। इस तरह के समूह भावना-प्रधान होते हैं तथा इनके सदस्य सामाजिक आदर्श प्रतिमानों के कारण एकता के सूत्र में बँधे रहते हैं।

सदस्यों की संख्या के आधार पर मैकाइवर तथा पेज (MacIver & Page) ने राष्ट्र एवं प्रान्त जैसे विशाल समूहों का उल्लेख किया है। इन विद्वानों ने समान

---

1. George C. Homans, The Human Group, p. xii.

हितों के आधार पर बड़े समूहों के अस्तित्व को स्वीकार किया है। मेकाइवर एवं पेज ने समूहों के वर्गीकरण को निम्नांकित तालिका में प्रस्तुत किया है :

मैकाइवर और पेज द्वारा समूहों का वर्गीकरण

समूह	प्रमुख आधार	उदाहरण
1	2	3
(1) **क्षेत्रीय समूह :** (Territorial unities)	(अ) सम्पूर्ण हितों से सम्बन्धित क्षेत्र (ब) एक ही क्षेत्र में व्यवसाय	समुदाय, वन्यजाति, राष्ट्र, नगर, गाँव, पड़ौस आदि ।
(2) **हितों के प्रति चेतन समूह जिनका निश्चित संगठन नहीं होता ।** (Interest conscious unities without definite organization)	(अ) समूह के सदस्यों की समान मनोवृत्ति (ब) अनिश्चित सामाजिक संगठन (स) पद, प्रतिष्ठा और अवसरों में अन्तर	सामाजिक वर्ग, जाति, प्रतिस्पर्द्धी वर्ग, प्रजातीय समूह, शरणार्थी समूह, राष्ट्रीय समूह आदि । भीड़—समान और असमान हितों की ।
(3) **हितों के प्रति चेतन समूह जिनका निश्चित संगठन होता है ।** (Interest conscious unities with definite organization)	(अ) हितों का सीमित क्षेत्र (ब) निश्चित सामाजिक संगठन	प्राथमिक समूह—परिवार, पड़ौस, खेल के साथी, क्लब आदि । महा-समितियाँ—राज्य, चर्च, आर्थिक संघ तथा श्रमिक संघ आदि ।

2. **स्थायित्व के आधार पर**—समूह को स्थायी एवं अस्थायी आधारों पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है । कुछ समूह सार्वभौमिक प्रकृति के होते हैं, जैसे परिवार, नातेदारी समूह तथा शिक्षण संस्था आदि जिनकी आवश्यकता हर समय बनी रहती है । ये समूह स्थिर समूहों की श्रेणी में आते हैं । दूसरी ओर कुछ अस्थिर समूह भी पाये जाते हैं जैसे भीड़ (crowd) एवं श्रोता समूह जो बहुत थोड़े समय के लिए समूह के रूप में बने रहते हैं । कुछ समूह किसी विशिष्ट उद्देश्य को लेकर बनाये जाते हैं और उद्देश्य की पूर्त्ति होते ही वे स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं ।

बोटोमोर (Bottomore) ने स्थिर और अस्थिर समूहों के बीच समूह के एक विशेष प्रकार—अर्द्ध समूह (Quasi Groups) का उल्लेख किया है ।

बोटोमोर के अनुसार अर्द्ध-समूह व्यक्तियों का ऐसा योग है, जिसमें संरचना अथवा संगठन का अभाव होता है और जिसके सदस्य-समूह के अस्तित्व के प्रति अनभिज्ञ अथवा कम जागरूक हो सकते हैं। सामाजिक वर्ग, प्रस्थिति-समूहों, आयु और लिंग समूह अर्द्ध-समूहों के उदाहरण हैं।[1] ये अर्द्ध-समूह कभी भी संगठित सामाजिक समूहों में परिवर्तित हो सकते हैं। उदाहरण के रूप में कोई सामाजिक वर्ग कभी भी किसी राजनैतिक दल के रूप में संगठित हो सकता है।

(3) हम की भावना के आधार पर—समूहों का वर्गीकरण समनर (Summner) द्वारा प्रस्तुत किया गया है। आपने इस आधार पर दो प्रकार के समूह बताये हैं—

(1) अन्तः समूह (In-Group)

(2) बाह्य-समूह (Out Group)।

अन्तः समूह को 'हम समूह' और बाह्य-समूह को 'वे समूह' के नाम से जाना जाता है। एक अन्तः समूह के सदस्यों में आपस में हम की भावना पायी जाती है। इसी हम की भावना के कारण अन्तःसमूह के सदस्यों में एकता दिखाई पड़ती है। एक अन्तःसमूह के सदस्य अपने समूह को सर्वश्रेष्ठ तथा अन्य समूह को हीन मानते हैं। एक अन्तःसमूह के सदस्य व्यवहार के सामान्य नियमों का पालन करते हैं और इन्हीं नियमों के द्वारा भी एक दूसरे से बंधे रहते हैं। जब हम बाह्य समूह पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि इस समूह में भी वे सभी विशेषता पायी जाती हैं जो एक अन्तःसमूह में होती है। अन्तःसमूह और बाह्य-समूह एक दूसरे से विपरीत विशेषताओं वाले समूह नहीं होकर केवल "हम" और "वे" की भावना पर आधारित होते हैं। दोनों समूहों का सापेक्ष दृष्टि से महत्त्व पाया जाता है। स्वयं का राष्ट्र हमारे लिये अन्तःसमूह और अन्य राष्ट्र बाह्य-समूह है। परन्तु जो राष्ट्र हमारे लिए बाह्य समूह है, वही अपने सदस्यों के लिए अन्तः समूह है।

समनर के वर्गीकरण को निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्टतः रूप में समझा जा सकता है।

---

1. T. B. Bottomore, Sociology, p. 92,

समनर द्वारा समूहों का वर्गीकरण समूह

समूह	विशेषताएँ	उदाहरण
(I) अन्तः समूह (In Groups)	1. 'हम की भावना' की अभिव्यक्ति 2. समूह कल्याण के सामने व्यक्तिगत हितों की शिथिलता 3. तुलनात्मक रूप से छोटा आकार 4. सामान्य हित 5. समूह के प्रति पक्षपातपूर्ण भावना	गाँव, जाति धार्मिक, सम्प्रदाय आदि
(II) वाह्य-समूह (Out Groups)	1. विरोधपूर्ण भावनाएँ 2. सन्देह घृणा और भेद-भाव 3. तुलनात्मक रूप से वड़ा आकार 4. हितों में संघर्ष 5. सामाजिक दूरी की अभिव्यक्ति	शत्रु-सेना हमारे धर्म से भिन्न धर्मावलम्वी विदेशी समूह

आगवर्न तथा निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) का विचार है कि हम में अपने अन्त:समूहों के सदस्यों के लिए सहानुभूति एवं सहकारिता की भावना पायी जाती है जबकि इसके विपरीत वाह्य-समूह के सदस्यों के प्रति विरोधी भावना पाई जाती है। उनके प्रति भय, संदेह, घृणा आदि के भाव होते हैं।

रॉवर्ट वीयरस्टेड (Robert Bierstedt) ने इन समूहों के वारे में लिखा है कि अन्त:समूह और वाह्य-समूह कोई वास्तविक समूह नहीं हैं। एक व्यक्ति 'हम' और 'वे' सर्वनामों का प्रयोग करता हुआ स्वयं इन्हें वना लेता है।[1] इन समूहों के संवंध में वीयरस्टेड ने दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्पित किया है। प्रथम, अन्तःसमूह वाह्य-समूह को दकियानूस और पिछड़ा हुआ समझता है, हमें अपने समूह के सदस्यों में अनेक अन्तर दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु वाह्य-समूह के सभी सदस्यों को हम समान मान कर चलते हैं। अन्त:समूह के सदस्यों के प्रति हमारे व्यवहार में अन्तर पाया जाता है जवकि वाह्य-समूह के सदस्यों के प्रति हमारे व्यवहार में समानता पायी जाती है। द्वितीय, वाह्य-समूह के काल्पनिक एवं वास्तविक खतरे से अन्त:समूह में

1. Robert Bierstedt, op. cit., p.p. 264–68.

एकता एवं सुदृढ़ता बढ़ती है। जब-कभी किसी वाह्य-समूह से खतरे का डर होता है तो अन्त:समूह में एकता सुदृढ़ हो जाती है।

4. **प्रकार्यात्मक आधार पर**—व्यक्तियों की विभिन्न आवश्यकतायें होती हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विभिन्न प्रकार के समूह बनते हैं। व्यक्ति की शैक्षणिक; व्यावसायिक, बौद्धिक, कलात्मक एवं मनोरंजनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति इसी आधार पर बने समूहों के माध्यम से होती है। नगरों में अनेक शिक्षण संस्थाएँ, व्यावसायिक संघ, क्लब, संगीत-मंडल आदि दिखलाई पड़ते हैं। गिडिंग्स (Giddins) तथा गिलिन और गिलिन (Gillin and Gillin) नामक विद्वानों ने इन समूहों को ऐच्छिक तथा अनैच्छिक समूहों के रूप में समझाया है।

5. **आकांक्षा का आधार**—आकांक्षा का आधार समूह-निर्धारण का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। **रोबर्ट के. मार्टन** (Robert K. Merton) ने आकांक्षा के आधार पर **संदर्भ समूह** (Reference Group) की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। आपने उस समूह को संदर्भ समूह माना है जिसका कोई व्यक्ति सदस्य तो नहीं हैं, परन्तु सदस्य बनने की आकांक्षा रखता है। यह आकांक्षा उसकी मनोवृत्तियों, मूल्यांकनों तथा व्यवहारों को प्रभावित करती है।[1]

अमेरिकन सैनिकों ने एक विस्तृत अध्ययन के आधार पर लिखित **'दि अमेरिकन सोल्जर'** (The American Soldier) नामक कृति में सर्वश्री **रोबर्ट मर्टन** तथा रोसी ने सन्दर्भ-समूह की अवधारणा को समझाने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में उनका निष्कर्ष यह है कि एक व्यक्ति का सन्दर्भ-समूह उसका अपना अन्त:समूह अर्थात् वह समूह हो सकता है जिसका कि वह वास्तव में सदस्य (Membership Group or In-group) है, और वह वाह्य समूह भी हो सकता है जिसका कि वह सदस्य नहीं है (Non-Membership Group or Out-group)। प्रथम अवस्था में अन्त:समूह (In-group) या अपने ही समूह के सदस्य निर्देश-तन्त्र (Frame of reference) का कार्य करते हैं, जबकि दूसरी अवस्था में वाह्य-समूह (Out-group) अथवा दूसरे समूह के सदस्य इस निर्देश-तन्त्र (Frame of reference) के लिए चुने जाते हैं। अत: श्री **मर्टन** के अनुसार सन्दर्भ-समूह का सिद्धान्त हमें यह बताता है कि व्यक्ति अन्त:समूह अथवा वाह्य-समूह को किस प्रकार अपने व्यवहार का निर्देशक मानने लगता है और उस समूह से अपना सन्दर्भ स्थापित कर लेता है। अपने उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर सन्दर्भ-समूह से सम्बन्धित अपने विचारों या निष्कर्षों को श्री **मर्टन** ने इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—

(1) **अन्त:समूह या सदस्यता-समूह सन्दर्भ-समूह के रूप में** (Membership group as a reference group)—यह देखा जाता है कि बहुधा एक व्यक्ति अपने

1. Robert K. Merton, op. cit., p. 233.

ही समूह के उन दूसरे व्यक्तियों के उप-समूह को अपना सन्दर्भ-समूह मानने लगता है जिनकी कि उपलब्धियाँ (Achievements) अधिक हैं अर्थात् जो जीवन में अधिक सफल हैं। उदाहरणार्थ, अपने ही समूह के उन सैनिकों को उसी समूह के अन्य सैनिक सन्दर्भ-समूह के रूप में स्वीकार कर सकते हैं जिन्हें कि वीरता के पुरस्कार मिले हैं।

(2) **बहुल सन्दर्भ-समूह** (Multiple Reference Group)—इसके अन्तर्गत श्री मर्टन ने दो प्रकार के सन्दर्भ-समूहों का उल्लेख किया है—

(क) **परस्पर विरोधी सन्दर्भ-समूह** (Conflicting Reference Group)—कभी-कभी व्यक्ति के जीवन में एकाधिक परस्पर विरोधी सन्दर्भ-समूह आ जाते हैं और उस अवस्था में उसके सामने यह समस्या होती है कि वह उनमें से किसको चुने अथवा किस समूह को अपना आदर्श माने। ऐसी स्थिति में व्यक्ति बहुधा परिस्थिति की समानता से प्रभावित होता है और उस समूह को अपना सन्दर्भ-समूह नहीं मानता है जो कि उसके लिए पूर्णतया अनजाना और भिन्न परिस्थिति वाला है।

(ख) **निरन्तर सम्पर्क वाले सन्दर्भ-समूह** (Mutually Sustaining Reference Group)—**श्री मर्टन** का निष्कर्ष है कि जिस आयु-समूह, अथवा वैवाहिक स्थिति या शैक्षिक स्तर वाले समूह के निरन्तर सम्पर्क में व्यक्ति रहता है उसी के अनुसार उसकी मनोवृत्तियाँ ढलने लगती हैं और उसी को वह अपना सन्दर्भ-समूह मान लेता है। **श्री मर्टन** की मान्यता यह है कि जिस समूह के साथ व्यक्ति का सामाजिक सम्बन्ध जितना निरन्तर व दीर्घ होगा, वही समूह उस व्यक्ति के जीवन को अधिक प्रभावित भी करेगा।

(3) **'दूसरे विशिष्ट'** (Significant Others)—**श्री मर्टन** का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति के सामने कुछ दूसरे प्रतिष्ठित समझे जाने वाले लोगों की प्रतिमा होती है जिन्हें कि हम **'दूसरे विशिष्ट'** (Significant Others) कह सकते हैं। ये लोग उस व्यक्ति की निगाहों में आदर्श होते हैं और इसीलिए वह इन व्यक्तियों के साथ समरूपता स्थापित करना चाहता है अर्थात् उन 'दूसरे विशिष्ट' व्यक्तियों जैसा बनना चाहता है। यही कारण है कि इन व्यक्तियों में वह स्वयं अपनी प्रतिमा या छवि (Image) तथा स्वयं अपने मूल्यांकन का प्रतिबिम्ब (Reflection) देखता है, उनके मूल्यों, आदर्शों तथा आचरण को ग्रहण करता है ताकि उन दूसरे विशिष्टों की भांति वह स्वयं भी विशिष्ट बन सके। यही कारण है कि निम्न समूह के लोग उच्च समूह को प्रभावशाली व प्रतिष्ठा वाले समूह के रूप में न केवल देखते हैं अपितु उनके मूल्यों, आदर्शों तथा आचरणों को ग्रहण करते हुए सामाजिक सीढ़ी के ऊपर चढ़कर उस उच्च समूह के पास पहुँचने का भी प्रयत्न करते हैं।

(4) **समरूपता और असमता** (Conformity and Non-conformity)—**श्री मर्टन** का कथन है कि सन्दर्भ-समूह का अपना एक प्रकार्यात्मक महत्त्व

(Functional Importance) यह है कि वह व्यक्ति को उसके साथ समरूपता स्थापित करने को प्रेरित करता है, जिसके फलस्वरूप उस व्यक्ति का व्यवहार, आदर्श व मूल्य उस समूह के मूल्य, आदर्श तथा आचरणों से भिन्न हो जाता है जिसका कि वह वास्तव में सदस्य है अर्थात् उसकी अपने समूह से असमता उत्पन्न हो जाती है। परन्तु उसका ऐसा करना अर्थात् सन्दर्भ-समूह में समरूपता और अपने समूह से असमता स्थापित करना उसी सीमा तक वांछनीय समझा जायेगा, जहाँ तक वह सामाजिक व्यवस्था के लिए अकार्यात्मक (Dysfunctional) न हो। पर यह आवश्यक नहीं है कि उस समूह के साथ जिसका कि वह सदस्य नहीं है, समरूपता स्थापित करना ही अकार्यात्मक हो। यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि उसके ऐसा करने से उसके अपने समूह के स्थापित मूल्यों को कितनी ठेस पहुंचेगी।

(5) **गैर-सदस्यता समूह** (Non-membership Group)—**श्री मर्टन** का मत है कि यह जरूरी नहीं है कि कोई व्यक्ति केवल उसी समूह का सदस्य हो जिसका वह सदस्य है। वह उस समूह का भी सदस्य हो सकता है जिसका कि वह सदस्य नहीं है। श्री मर्टन के अनुसार जिन समूहों के हम वास्तव में सदस्य नहीं होते और जिनके सदस्यों के साथ हम किसी प्रकार की अन्तःक्रिया नहीं करते, तो भी यदि वह समूह हमारे व्यवहारों, आदर्शों तथा मूल्यों को प्रभावित करते व अपने अनुरूप ढालते हैं तो वह गैर-सदस्यता समूह (Non-membership Group) भी हमारे लिए सन्दर्भ-समूह होगा।

(6) **सकारात्मक व नकारात्मक सन्दर्भ-समूह** (Positive and Negative Reference Group)—**श्री मर्टन** के अनुसार सन्दर्भ-समूह सकारात्मक हो सकते हैं और नकारात्मक भी। अर्थात् सन्दर्भ-समूह का व्यक्ति पर प्रभाव सदा स्वस्थ ही होगा, ऐसी बात नहीं है। एक व्यक्ति अपने सन्दर्भ-समूह को भी चुन सकता है जिसका कि प्रभाव व्यक्ति पर नकारात्मक हो।

(7) **सन्दर्भ-व्यक्ति या समूह का चुनाव** (Selection of Reference Individual or Group)—**श्री मर्टन** के अनुसार एक व्यक्ति के द्वारा अपने सन्दर्भ के रूप में केवल समूह को नहीं, अपितु व्यक्ति को भी चुना जा सकता है। इन दोनों का चुनाव कैसे किया जाता है, उसे **श्री मर्टन** ने इस प्रकार समझाया है।

(अ) सन्दर्भ-व्यक्ति का चुनाव आदर्श भूमिका (Role-model) के आधार पर किया जाता है। ऐसा होता है कि एक व्यक्ति को किसी दूसरे व्यक्ति की कुछ भूमिकायें अच्छी लगती हैं और वह उन्हें न केवल आदर्श मानने लगता है, अपितु उन भूमिकाओं को अपने जीवन में भी अपनाने का प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ, एक विद्यार्थी को अपने किसी शिक्षक का पढ़ाने का ढंग व विद्यार्थियों के साथ व्यवहार करने का ढंग अच्छा लगता है, तो आगे चलकर शिक्षक का पेशा अपनाने पर वह विद्यार्थी उसी शिक्षक को अपना सन्दर्भ-व्यक्ति (Reference Individual) मान लेता

है और शिक्षक के रूप में उनके आचरणों व भूमिकाओं को अपने जीवन में भी अपनाने का प्रयत्न करता है।

(व) सन्दर्भ-समूह का चुनाव सामाजिक जीवन में अपने को अधिक प्रतिष्ठित देखने की इच्छा से प्रेरित होता है। व्यक्ति की यह अभिलाषा होती है कि वह सामाजिक सीढ़ी से ऊपर की ओर जाये। इसके लिए एक आधार की आवश्यकता होती है। अतः वह किसी ऐसे समूह को चुन लेता है जो कि उसकी दृष्टि में आदर्श व अधिक प्रतिष्ठा-सम्पन्न है। इसी से वह स्पष्ट है कि सामाजिक प्रतिष्ठा पाने की इच्छा व्यक्ति को उस दूसरे समूह का चुनाव करने की प्रेरणा देती है जिसका कि वह सदस्य नहीं है।

(8) सन्दर्भ-समूहों के चुनाव को प्रभावित करने वाले तथ्य (Facts influencing the Selection of Reference Groups)—**श्री मर्टन** के उन तथ्यों की एक सूची प्रस्तुत की है जो कि सन्दर्भ-समूहों के चुनाव को प्रभावित करते हैं—

(1) समूहों की सदस्यता के लिए सामाजिक परिभाषाओं या नियमों का स्पष्ट अथवा अस्पष्ट होना।
(2) समूह में सदस्यों की लिप्त रहने की मात्रा।
(3) समूह में सदस्यता की वास्तविक अवधि (Actual Duration)।
(4) समूह में सदस्यता की अपेक्षित (Expected) अवधि।
(5) समूह के अस्तित्व की वास्तविक अवधि।
(6) समूह के अस्तित्व की अपेक्षित अवधि।
(7) किसी समूह का या उसके निर्माणक अंगों का सापेक्षिक (Relative) आकार।
(8) समूह की मुक्त (Open) अथवा वन्द (Closed) प्रकृति।
(9) किसी समूह का या उसके निर्माणक अंगों का निरपेक्ष आकार (Absolute Size)।
(10) वास्तविक तथा महत्त्वपूर्ण सदस्यों का अनुपात।
(11) सामाजिक विभेदीकरण की मात्रा।
(12) संस्तरण की आकृति (Shape) तथा ऊँचाई।
(13) सामाजिक एकता के प्रकार तथा मात्रा।
(14) समह की एकता।
(15) समूह के अन्तर्गत सामाजिक अन्तःक्रिया।
(16) समूह के सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति।
(17) समूह के आदर्श नियमों (Norms) के प्रति अपेक्षित समरूपता की सीमा, पथ-भ्रष्ट व्यवहारों के प्रति सहनशीलता।
(18) आदर्शात्मक नियन्त्रणों की व्यवस्था।

(19) समूह की भूमिकाओं के मूल्यांकन किये जाने की मात्रा ।

(20) समूह की पारिस्थिति (Ecological) संरचना ।

(21) समूह की स्वायत्तता (Autonomy) या निर्भरता (Dependence) की मात्रा ।

(22) समूह के स्थायित्व की मात्रा ।

(23) समूह के संरचनात्मक सन्दर्भ के स्थायित्व की मात्रा ।

(24) समूह का स्थायित्व (Stability) स्थापित करने के तरीके ।

(25) समूह की सापेक्षित (Relative) सामाजिक प्रतिष्ठा ।

(26) समूह की सापेक्षिक शक्ति ।

(9) **सन्दर्भ-समूह के प्रकार्यात्मक पक्ष** (Functional Aspects of Reference Group)—**श्री मर्टन** ने सन्दर्भ-समूह के कुछ निश्चित प्रकार्यों का भी उल्लेख किया है । सन्दर्भ-समूह व्यक्ति को उसके (उस समूह के) साथ समरूपता स्थापित करने की प्रेरणा देता रहता है जिसके कारण व्यक्ति अपने सन्दर्भ-समूह के मूल्यों, आदर्शों तथा आचरणों को अपने जीवन में उतारने के लिए प्रयत्नशील होता है । इसके फलस्वरूप व्यक्ति के व्यक्तित्व में न केवल अनेक नये मूल्य, आदर्श व्यवहार-प्रतिमान, विचार, प्रतिमायें (Images) आदि सम्मिलित हो जाते हैं, अपितु यह सम्भावना भी रहती है कि उसकी सामाजिक स्थिति भी ऊँची उठ सकेगी । इस प्रकार **श्री मर्टन** के अनुसार, व्यक्ति का प्रत्याशित समाजीकरण (Anticipatory Socialization) की दिशा में सन्दर्भ-समूह का प्रकार्य (Function) उल्लेखनीय है । परन्तु यह प्रत्याशित समाजीकरण केवल मुक्त सामाजिक संरचना (Open Social Structure) में ही प्रकार्य (Function) के रूप में होता है, वन्द (Closed) सामाजिक संरचना में यह अकार्य (Dysfunction) का रूप धारण कर लेता है, क्योंकि ऐसे समाज परम्परागत नियमों, आदर्शों तथा मूल्यों के द्वारा आवद्ध होने के कारण एक समूह के सदस्य द्वारा अपने समूह के मूल्यों व व्यवहारों को त्याग कर दूसरे समूह के मूल्यों व व्यवहारों को अपनाना बुरा माना जाता है और उसका विरोध भी किया जाता है । ऐसी स्थिति में, सामाजिक जीवन में तनाव व विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है । अतः दूसरे समूह के मूल्यों व व्यवहारों को अपनाने के वाद भी व्यक्ति के लिए अपनी आकांक्षाओं को पूरा करना सम्भव नहीं होता ।

इस सन्दर्भ में मर्टन ने हमारा ध्यान उस सत्य की ओर आकर्पित किया है कि जिस अनुपात में एक व्यक्ति दूसरे समूह (सन्दर्भ-समूह) के मूल्यों, आदर्शों व आचरणों के साथ अपनी समरूपता स्थापित करता है, उसी अनुपात में वह अपने समूह के मूल्यों तथा आचरणों से दूर होता जाता है और यदि उसके अपने समूह के अन्य सदस्य इस बात को पसन्द नहीं करते तो उस व्यक्ति व शेष समूह के बीच

सामाजिक सम्बन्ध बिगड़ने लगते हैं और कभी-कभी तो खुले संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। उस अवस्था में अगर व्यक्ति लौटकर अपने ही समूह के मूल्यों व आचरणों को फिर से अपनाना चाहे तो भी उसे ऐसा करने का अवसर नहीं दिया जाता। अतः दूसरे समूह के मूल्यों व आचरणों को अपनाने की प्रक्रिया एक बार शुरू हो जाने पर वह संचित होती चली जाती है और व्यक्ति अपनी मनोवृत्तियों, मूल्यों तथा सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र में अपने समूह से धीरे-धीरे अलग होता जाता है, यहाँ तक कि अन्त में वह अपने समूह से बिल्कुल विछिन्न हो जाता है और सन्दर्भ-समूह को ही पूर्णतया स्वीकार कर लेता है। ऐसा विशेषकर उस अवस्था में होता है जबकि उसका अपना समूह पुनः उसे अपने सदस्य के रूप में ग्रहण करने से इन्कार कर देता है।

6. **सामाजिक सम्बन्ध के आधार पर**—समूह वर्गीकरण का अन्तिम आधार सामाजिक सम्बन्ध है। सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर समूहों का वर्गीकरण चार्ल्स कूले (Charles Cooley) ने प्रस्तुत किया है। चार्ल्स कूले ने इस आधार पर प्राथमिक समूह (Primary Group) की अवधारणा भी प्रस्तुत किया। चार्ल्स कूले के प्राथमिक समूह की अवधारणा अत्यन्त लोकप्रिय एवं महत्त्वपूर्ण है। प्राथमिक समूह से विपरीत विशेषतायें रखने वाले समूहों को बाद में द्वितीयक समूह (Secondary Group) कहा जाने लगा। सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर ही जर्मन समाजशास्त्री **टानीज** (Tonnis) ने भी दो प्रकार के समूहों का उल्लेख किया। वे हैं—**गैमिनशैफ्ट** एवं **गैसलशैफ्ट**। गैमिनशैफ्ट को अंग्रेजी में **'समुदाय'** (Community) एवं गैसलशैफ्ट को **'समाज'** (Society) के रूप में विवेचित किया गया है। इन दोनों समूहों में सम्बन्धों की दृष्टि से निम्नलिखित अन्तर किया जा सकता है।

गैमिनशैफ्ट समूह	गैसलशैफ्ट समूह
वैयक्तिक	अवैक्तिक
अनौपचारिक	औपचारिक
परम्परागत	उपयोगितावादी
सामान्य	विशिष्ट
भावना-युक्त	व्यवहारिक

गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) ने समूहों के सभी सम्बन्धित आधारों को ध्यान में रखते हुए उन्हें अग्रांकित रूप में वर्गीकृत किया है—

गिलिन एवं गिलिन द्वारा समूहों का वर्गीकरण—

समूह के आधार	उदाहरण
1. रक्त सम्बन्धी समूह	परिवार, जाति
2. शारीरिक विशेपताओं पर आधारित समूह	समान लिंग, आयु अथवा प्रजाति पर आधारित समूह
3. क्षेत्रीय समूह	जनजाति, राज्य राष्ट्र
4. अस्थिर समूह	भीड़, श्रोता-समूह
5. स्थायी समूह	खानावदोशी जत्थे, ग्रामीण-पड़ौस, कस्बे शहर तथा विशाल नगर
6. सांस्कृतिक समूह	आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, मनोरंजनात्मक तथा शिक्षा-सम्बन्धी समूह

उपर्युक्त वर्गीकरण की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें मैकाइवर द्वारा प्रस्तुत समूहों के अतिरिक्त उन सभी समूहों को सम्मिलित किया है जो अपनी विशेपताओं में सांस्कृतिक हैं।

प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह
(Primary and Secondary Groups)

सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर **चार्ल्स कूले** (Charles Cooley) ने 1909 में अपनी कृति **'सोशियल आर्गेनाइजेशन'** (Social Organisation) में 'प्राथमिक समूह' (Primary Group) की अवधारणा का उल्लेख किया।

हमें ध्यान रखना चाहिये कि कूले ने केवल 'प्राथमिक समूह' की अवधारणा का ही उल्लेख किया। कूले ने 'द्वितीयक समूह' (Secondary Group) जिसका उल्लेख बाद के लेखकों ने किया की चर्चा नहीं की है। समाजशास्त्र के अनेक अध्येता प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह दोनों को कूले का वर्गीकरण मानने की भूल करते हैं। सत्य तो यह है कि कूले द्वारा प्राथमिक समूह की अवधारणा का उल्लेख करने के बाद उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप अनेक विचारकों ने द्वितीयक समूह की अवधारणा को प्रतिपादित किया।

प्राथमिक समूह (Primary Group)

चार्ल्स कूले के अनुसार प्राथमिक समूह वे हैं, जिनके सदस्यों में आमने-सामने के संबध पाये जाते हों अर्थात् सदस्य एक दूसरे के सम्पर्क में प्रत्यक्ष रूप से आते हों। इस प्रकार के सम्पर्क में आने वाले लोगों में **मित्र, पड़ौसी, परिवार के सदस्य** तथा

सदैव मिलने वाले लोग आते हैं। चार्ल्स कूले ने सर्वप्रथम खेल-कूद के साथियों, परिवार तथा पड़ौस की प्रकृति को स्पष्ट करने हेतु प्राथमिक समूह शब्द को काम में लिया। आपने इन समूहों को प्राथमिक इसलिए कहा क्योंकि महत्त्व एवं प्रभाव की दृष्टि से ये व्यक्ति के जीवन में प्राथमिक हैं।

प्राथमिक समूह को परिभाषित करते हुए चार्ल्स कूले ने अपनी कृति 'सोश्यल ओर्गेनाइजेशन' में लिखा है कि "प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य ऐसे समूहों से है जिनकी विशेषता आमने-सामने के घनिष्ट साहचर्य और सहयोग रूप में व्यक्त होती है। वे अनेक अर्थों में प्राथमिक हैं, परन्तु मुख्यतः इस बात में कि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों के निर्माण में मौलिक हैं। घनिष्ट साहचर्य का परिणाम यह होता है कि एक सामान्य सम्पूर्णता के वैयक्तिकताओं का इस प्रकार एकीकरण हो जाता है, जिससे प्रायः कई प्रयोजनों के लिये व्यक्ति का अपना अहम् समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य बन जाता है। इस सम्पूर्णता के वर्णन के लिये अति सरल विधि "हम" कहना क्योंकि यह अपने में उस प्रकार की सहानुभूति और पारस्परिक एकात्मीकरण (Mutual Identification) को समाविष्ट करता है जिसके लिये "हम" ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति है।"[1]

इस सन्दर्भ में कूले ने यह भी स्पष्ट किया कि यह समझना भूल होगी कि प्राथमिक समूह की एकता में मात्र समरूपता एवं प्रेम ही मिलता है, प्रत्युत् यह सदैव एक विभेदीकृत और सामान्यतः एक प्रतियोगात्मक एकता होती है। किन्तु ये मनोवृत्तियाँ सहानुभूति से समाजीकृत होता है, जो एक सामान्य अनुशासन की भावना के अधीन है या होने की दिशा में होती है।[2]

कूले की उपर्युक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि प्राथमिक समूहों में आमने-सामने के सम्बन्धों तथा हम की भावना का पाया जाना आवश्यक है। किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने कूले की परिभाषा पर आपत्तियाँ उठाई हैं। किंग्सले डेविस का कहना है कि कई बार आमने-सामने के सम्बन्धों के पाये जाने के बाद भी प्राथमिक सम्बन्धों का निर्माण नहीं हो पाता। आपने बतलाया है कि एक सिपाही अपने अफसर के आगे झुकता है, उसे सलाम करता है। इनके बीच आमने-सामने के सम्बन्ध होते हुए भी ये सम्बन्ध प्राथमिक सम्बन्ध नहीं होकर यांत्रिक सम्बन्ध हैं। आपने अन्य उदाहरण देते हुए बतलाया है कि जब सेना का एक सिपाही किसी लड़की के प्रेम-सम्बन्धों से प्रेरित होकर उसके साथ लगातार पत्र-व्यवहार करता है तो आमने-सामने के सम्बन्धों के नहीं पाये जाने पर भी उनमें प्राथमिक सम्बन्ध पाये

---

1. Charles H. Cooley, Social Organization. p. 23.
2. Charles H. Cooley : Quoted by Gillin and Gillin : Op. Cit p. 199.

जाते हैं। फेरीश (Faris) का भी मानना है कि आमने-सामने के सम्पर्कों से यद्यपि घनिष्टता प्रोत्साहित होती है तथापि प्राथमिक समूहों के अनुरक्षण के लिए ये पूर्णतया अनिवार्य नहीं हैं। आपने यह भी वतलाया है कि हम की भावना तो बड़े-बड़े द्वैतीयक समूहों में भी पाई जाती है। अतः इन विशेषताओं के आधार पर किसी समूह को प्राथमिक समूह कैसे कहा जा सकता है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि कूले ने प्राथमिक समूह की इन दो विशेषताओं के अलावा अन्य विशेषताओं पर भी जोर दिया है। उदाहरण के रूप में अपने सम्बन्धों की सम्पूर्णता, सम्बन्धों की अवधि, सम्बन्धों की घनिष्टता तथा वैयक्तिक सम्बन्धों को प्राथमिक समूहों को आवश्यक विशेषताओं के रूप में माना है। **कोजर एवं रोजनवर्ग** (Coser and Rosenberg) ने वतलाया है कि आमने-सामने के सम्बन्ध तथा लघु आकार आदि प्राथमिक समूह की संयोगवश विशेषताएँ हैं। सामाजिक सम्बन्धों का घनिष्ट होना एक ऐसी आधारभूत विशेषता है जिसके विना प्राथमिक समूह का निर्माण हो ही नहीं सकता।[1]

मैकाइवर और पेज (MacIver and Page) ने प्राथमिक समूहों के सम्बन्ध में लिखा है कि सवसे सरल सर्वप्रथम तथा साहचर्य के सभी स्वरूपों में सार्वभौमिक समूह वह है जिसमें कि थोड़ी संख्या में लोग संगति के लिये आमने-सामने मिलते हैं, पारस्परिक रूप से एक-दूसरे की सहायता करते हैं, उस प्रश्न पर विचार करते हैं जो उन सवसे सम्वन्धित है अथवा किसी सामान्य नीति की खोज करते हैं या उसे क्रियान्वित करते हैं। यह आमने-सामने का समूह सभी संगठनों में केन्द्र (Nucleus) के रूप में होता है, यह किसी न किसी रूप में सभी जटिल व्यवस्थाओं में पाया जाता है—यह सामाजिक संरचना की इकाई कोशिका (Unit Cell) है। प्राथमिक समूह, परिवार के रूप में समाज की रहस्यपूर्ण वातों से हमें परिचित कराता है। यह ऐसा समूह है जिसके द्वारा हम खिलाड़ी के रूप में अपनी सामाजिक मनोवृत्तियों को क्रियात्मक रूप देते हैं। यह हमारे रीति-रिवाजों का प्रजनन-स्थल है, हमारी कृतज्ञता का पोपक है। यह हमारे सामाजिक संतुष्टियों का प्रथम और साधारणतः वने रहने वाला प्रमुख केन्द्र है।[2] प्राथमिक समूह की उपर्युक्त विवेचना में यद्यपि मैकाइवर और पेज ने आमने-सामने के सम्बन्धों पर जोर दिया है परन्तु हमें यहाँ फेरिस (Faris) के कथन को ध्यान में रखना है। इनकी मान्यता है कि आमने-सामने के सम्वन्ध प्राथमिक समूह के लिये पूर्णतः आवश्यक नहीं हैं। आपने वतलाया है कि न्यायालय में न्यायाधीश, जूरी, वकील, अपराधी, गवाह आदि निकटता की दृष्टि से एक-दूसरे के आमने-सामने होते हैं। लेकिन फिर भी न्यायालय में कूले द्वारा वतलाई

---

1. Coser A. Rosenberg, Sociological Theory. P. P. 298–99.
2. MacIver & Page, Society, P. P. 218–19.

हुई प्राथमिक समूह की विशेषताएँ नहीं पाई जाती हैं।[1] बीयरस्टेड (Bliersted) ने लिखा है कि यह घनिष्ठता अथवा सामाजिक दूरी की मात्रा है, न कि शारीरिक दूरी जो कि प्राथमिक समूह को निर्धारित करती है।[2]

प्राथमिक समूह की विशेषतायें
(Characteristics of Primary Group)

प्राथमिक समूह की विशेषताओं को हम दो भागों में बांटकर समझ सकते हैं-जो निम्नलिखित हैं—

1. वाह्य-विशेषतायें
2. आन्तरिक-विशेषतायें

यहाँ हम इनका विस्तृत वर्णन करेंगे—

प्राथमिक समूह की वाह्य विशेषताएँ
(External Characteristics of Primary Group)

प्राथमिक समूह की वाह्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) शारीरिक समीपता (Physical Proximity)—सदस्यों में घनिष्ट सम्बन्ध तभी हो सकते हैं जब वे एक-दूसरे के आमने-सामने हों।

डेविस ने स्वयं कहा है कि "समूह के सदस्यों में जितनी अधिक समीपता होगी, उतने ही अधिक उनमें प्राथमिक समूह के सदस्य बनने के अवसर प्राप्त होंगे। उनका मत है कि शारीरिक समीपता कितनी और किन व्यक्तियों में होगी, इसका निर्धारण संस्कृति द्वारा होता है। सामाजिक संरचना में व्यक्ति की प्रस्थिति के अनुसार शारीरिक समीपता के अवसर प्राप्त होते हैं।

(2) समूह की लघुता (Smallness of the Group)—कम व्यक्तियों में ही शीघ्र परिचय और पारस्परिक प्रतीति उत्पन्न हो सकती है। उनमें आत्मीयता और एकमतता की भावना शीघ्र ही विकसित होती है। वृहद् समूहों में व्यक्तिगत सम्पर्क रखना प्रायः सम्भव नहीं हो पाता।

(3) सम्बन्धों का काल (Duration of the Relationships)—डेविस के अनुसार घनिष्टता और सम्बन्धों की अवधि में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। सम्बन्ध जितने दीर्घकाल के लिए होंगे, उतने ही घनिष्ट सम्बन्ध होंगे। घनिष्टता अधिक होने पर एक व्यक्ति की दैनिक जीवन-चर्या दूसरे व्यक्ति की दैनिक जीवन-चर्या का अंग हो जाती है।

---

1. Ellsworth Fairs, 'The Primary Group : Essence and accident', American Journal of Sociology Vol. 38 (July 1932) pp. 41–50.
2. Robert Bierstedt, op, cit., pp. 260

डेविस ने यह स्पष्ट किया है कि चाहे इन उपर्युक्त विशेषताओं में एक या दो विशेषतायें प्राथमिक समूह में यदा-कदा दृष्टिगोचर न हों, परन्तु यदि ये तीनों मिलती हों तो प्राथमिक समूह वनने के वहुत अधिक अवसर होते हैं।

आन्तरिक विशेषताएँ
(Internal Characteristics)

वाह्य विशेषताएँ यद्यपि प्राथमिक समूह के निर्माण के लिए अवसर प्रदान करती हैं, तथापि इन अवसरों से प्राथमिक समूह का निर्माण आन्तरिक विशेषताओं पर आधारित होता है। ये निम्नलिखित हैं—

(1) **उद्देश्यों की समानता** (Identity of Ends)—प्राथमिक समूह की एक प्रधान आन्तरिक विशेषता यह है कि इसके अन्तर्गत सदस्यों के उद्देश्यों में समानता होती है। प्रत्येक सदस्य दूसरे सदस्य को उसके उद्देश्य की प्राप्ति में सहायता प्रदान करता है। प्रत्येक सदस्य अपने समूह के उद्देश्य को अपना उद्देश्य मानता है। प्राथमिक समूह का उत्कृष्ट उदाहरण परिवार और मित्रों का समूह है।

(2) **सम्बन्ध स्वयं में साध्य है** (Relationship is an End in Itself)—प्राथमिक समूह में सम्बन्ध किसी उद्देश्य की पूर्ति के साधन नहीं समझे जाते प्रत्युत् स्वयं साध्य होते हैं। यदि किसी व्यक्ति से आर्थिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से मित्रता की जाय तो वह प्राथमिक समूह नहीं हो सकता। इसी तरह उच्च प्रस्थिति-धारी व्यक्तियों को पार्टियाँ देना किसी स्वार्थ की पूर्ति का परोक्ष साधन है, न कि घनिष्ट सम्बन्धों का प्रतीक।

(3) **सम्बन्ध वैयक्तिक होते हैं** (Relationship are Personal)—प्राथमिक समूह के सम्बन्ध हस्तान्तरित (Transferable) नहीं हो सकते। दूसरे शब्दों में उनका प्रतिस्थापन (Substitution) सम्भव नहीं हो सकता। परिवार में किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर अन्य व्यक्ति उसका स्थान नहीं ग्रहण कर सकता।

(4) **सम्बन्ध सम्पूर्ण होते हैं** (The Relationships are All-Inclusive)—प्राथमिक समूहों में सदस्यों के जीवन के सभी पक्ष समाहित होते हैं। परिवार में माता-पिता अपने वच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य, विवाह आदि सभी वातों में अभिरुचि रखते हैं।

(5) **सम्बन्ध स्वत: ही होते हैं** (Relationships are Spontaneous)—प्राथमिक समूह में व्यक्तियों में प्राथमिक सम्बन्धों का विकास किन्हीं वाह्य परिस्थितियों व विधानों के कारण नहीं होता। उनका विकास तो सहजात नैसर्गिक या प्राकृतिक होता है। प्राथमिक सम्बन्ध किसी आदेश या दवाव के कारण नहीं होते। अत: प्राथमिक समूह में हमारे सम्बन्ध सहजात, स्वभाविक, स्वेच्छापूर्ण और स्वत: होते हैं।

(6) सम्बन्धों में नियन्त्रण-शक्ति होती है (Relationships have the Controlling Power)—पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्टता प्राथमिक समूह को अत्यन्त शक्तिशाली नियन्त्रण की शक्ति प्रदान करती है। यह नियन्त्रण भी स्वाभाविक व नैतिक होता है। व्यक्ति समूह की इच्छा के अनुरूप कार्य करता है। उसे समूह के आदर्शों का पालन करना पड़ता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राथमिक समूह सदस्यों के लिए ऐसा प्रतिमान प्रस्तुत करता है जिससे उनमें आपस में इतनी घनिष्टता हो जाती है कि उनका व्यक्तित्व समूह का एक अविभाज्य अंग बन जाता है और सदस्यों में व्यक्तिवादिता या अहम् की भावना का विनाश हो जाता है तथा 'हम' या **समाजवाद** का विचार विकसित हो जाता है।

प्राथमिक समूह का प्रकार्यात्मक महत्त्व
(Functional Importance of Primary Group)

प्राथमिक प्रकार का समूह अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है क्योंकि, जैसा कि कूले ने उल्लेख किया है कि यह व्यक्ति के अनुभव तथा मानव समाज के विकास में प्रथम (प्राथमिक) है। हम कह सकते हैं कि यह समस्त सामाजिक जीवन के आदि रूप या आदर्श के रूप में सेवा करता है। जन्म के पश्चात् कुछ दिनों तक यदि शिशु का उचित एवं पर्याप्त रूप से लालन-पालन माता-पिता द्वारा न किया जाय तो शिशु का जीवित होना सम्भव नहीं हो सकता। कूले ने तीन प्रकार के मुख्य प्राथमिक समूहों का उल्लेख किया है जो मानव शिशु के आरम्भ के दिनों में सम्पर्क में आते हैं। ये हैं : परिवार, मित्रों का समूह तथा पड़ोस। ये तीनों क्रमशः बच्चे के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। आगे के सारे जीवन की आधारशिला प्राथमिक समूहों में बनती है। यह प्राथमिक समूह ही है जो व्यक्ति को समाज का सक्रिय सदस्य (Functioning member) बनते हैं। इस प्रकार औसत व्यक्ति प्रत्येक स्थान पर सामाजिक अन्तर्क्रिया के आधारभूत प्रतिमानों को अपने जीवन के निर्माणात्मक समय में प्राथमिक प्रकार के समूह में सीखता है।

प्राथमिक समूहों को कूले ने मनुष्य का मानवीकरण-सभ्य एवं परिष्कृत बनाना (Humanization) करने वाला एक शक्तिशाली अभिकरण कहा है। इस सन्दर्भ में कूले का कथन है कि "पाशविक प्रेरणाओं का मानवीकरण करना ही प्राथमिक समूहों द्वारा की जाने वाली सम्भवतः सबसे बड़ी सेवा है।"[1]

टालकॉट पारसंस ने भी कहा है कि मानवीकरण की प्रक्रिया प्राथमिक समूहों में ही होती है, क्योंकि छोटे-छोटे दैनिक व्यवहारों के तरीके हम प्राथमिक समूहों में ही आत्मसात् करते हैं। प्राथमिक समूहों के महत्त्व का वर्णन करते हुए हिलर

1. Ibid

Hiller) ने लिखा है, "प्राथमिक समूहों में ही बच्चा अन्य व्यक्तियों के प्रति पहली
ागरूकता प्राप्त करता है तथा साथ ही साथ स्व-चेतनता भी प्राप्त करता है।
हाँ पर संलग्नता तथा स्थान व भूमिका का भाव जो व्यक्तित्व के लिए आवश्यक है,
हली बार प्राप्त होता है, और यहाँ पर बच्चा बात करना, आदतों का निर्माण
रना तथा आज्ञा-पालन व स्व-दृढ़ कथन (Self-Assertion) अथवा उसके विपरीत
ाथ ही साथ इसके नैतिक निर्णयों को भी सीखता है। परिवार में खेल-कूद के समूह
ं, पड़ोस में व अन्य घनिष्ट सम्बन्धों में विस्तृत समाज के व परम्परा के साथ ही
ाथ प्राथमिक समूहों के उन प्रतीकात्मक (Typical) मानदण्ड व परम्परायें अत्यन्त
भावशाली ढंग से बालक को प्रभावित करते हैं।"[1]

स्पष्ट है कि प्राथमिक समूह में हमारे सामाजिक जीवन के सभी प्रकार के
रिणाम पाये जाते हैं। ये हमारे विचारों को प्रभावित करते हैं, हमारे स्नेह को
र्शाते हैं और हमारी क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। एक सुप्रसिद्ध अपराधशास्त्री
वर्गीय एडविन एच० सदरलैण्ड (Edvin H. Sutherland) द्वारा एक विभेदात्मक
ाहचर्य सिद्धान्त (Differential Association Theory) का प्रतिपादन किया
या जो कि हमें एक व्यवसाय के स्थान पर दूसरे व्यवसाय को अपनाने के लिये
ेरित करता है और विस्तृत आधार पर यह निश्चित करता है कि क्या हम 'कवि'
नते हैं या अपराधी अथवा मिस्तरी (Plumbers) या दार्शनिक।

यद्यपि मानव-समाज में प्राथमिक समूहों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है
थापि इनका अप्रकार्यात्मक (Dysfunctional) पक्ष भी दृष्टिगोचर हुआ है जिससे
सने समाज में कुछ दोषों को जन्म दिया है। **कोजर तथा रोजनबर्ग** (Coser
nd Rosenberg) ने हमारा ध्यान भाई-भतीजावाद, पक्षपात तथा धन के एकत्री-
करण की ओर आकर्षित किया है।

प्राथमिक समूह का एक अन्य अप्रकार्यात्मक पक्ष यह भी है कि सार्वभौनिक
रूप से हम सभी में अपने घर के प्रति अनुचित भावात्मक लगाव (Homesickness)
होता है। घर की याद हमें समय-समय पर सताती है। यह वास्तविक रूप में प्राथ-
मिक समूह के लिये घर पर पड़े रहने की बीमारी है।

प्राथमिक समूह के उपर्युक्त अप्रकार्यात्मक परिणामों के बावजूद भी कुछ ऐसे
कार्य हैं जैसे—समाजीकरण, व्यक्तित्व-निर्माण, व्यक्तिगत सुरक्षा, व्यक्तिगत सन्तोष,
ेम व बलिदान आदि जिनके कारण यह समूह समाज के लिये आवश्यक ही नहीं,
त्युत अपरिहार्य भी है।

---

1. E. T. Hiller, *'Principles of Sociology' Harper p. 22*, quoted by H. E. Barnes, : *'Social Institution's p. 651.*

द्वितीयक समह
(Secondary Group)

जैसे कि पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि कूले ने प्राथमिक समूह की अवधारणा (Concept) की ही चर्चा की है, द्वितीयक समूह की नहीं। तथापि यह सत्य है कि द्वितीयक समूह की अवधारणा प्राथमिक समूह के विचार से ही प्रकाश में आई है। बाद के समाजशास्त्रियों, जिनमें होमन्स तथा डेविस के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, ने द्वितीयक समूह पर प्रर्याप्त प्रकाश डाला है। द्वितीयक समूहों की प्रकृति प्राथमिक समूहों के ठीक प्रतिकूल है। किंग्सले डेविस (Kingsley-Davis) के शब्दों में द्वितीयक समूह विस्तृत रूप से प्राथमिक समूह के बारे में कही गई प्रत्येक बात के विपरीत परिभाषित किये जा सकते हैं।"[1]

फेयरचाइल्ड (Fairchied) के अनुसार, "एक समूह, जो अपने सामाजिक सम्पर्क व औपचारिक संगठन की मात्रा में प्राथमिक या आमने-सामने के सम्बन्धों वाले समूहों के प्रकार से भिन्न हो।" द्वितीयक समूह कहलाता है।[2] आगबर्न तथा निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff) के शब्दों में, "वे समूह, जो घनिष्टता के अभाव का अनुभव करते हैं, द्वितीयक समूह कहलाते हैं।[3]

बीयर स्टीड (Bierstedt) ने बताया है, "वे सभी समूह द्वितीयक हैं जो प्राथमिक नहीं हैं।[4] इन परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि प्राथमिक समूह में पायी जाने वाली विशेषताओं के विपरीत प्रकार की विशेषताओं को व्यक्त करने वाले समूह ही द्वितीयक समूह हैं। लुन्डबर्ग (Lundberg) उन समूहों को द्वितीयक समूह मानते हैं जिनमें सदस्यों के सम्बन्ध अवैयक्तिक हित-प्रधान एवं व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित होते हैं।[5]

उपर्युक्त परिभाषाओं से ज्ञात होता है कि द्वितीयक समूह वे हैं जिनमें सदस्यों के बीच अवैयक्तिक सम्बन्ध पाये जाते हैं, व्यक्तिगत रूप में सदस्यों को जानना यहाँ आवश्यक नहीं है। ऐसे समूहों में शारीरिक निकटता भी अनिवार्य नहीं है। ये सम्बन्ध औपचारिक प्रकार के जीवन के किसी एक पक्ष से सम्बन्धित, अस्थायी प्रकार के विशेष हितों पर आधारित और हस्तान्तरणीय होते हैं। यहाँ व्यक्ति का व्यक्ति के रूप में कोई महत्त्व नहीं पाया जाता, एक व्यक्ति के स्थान पर दूसरे का हस्तान्तरण सुगमता से किया जा सकता है। ये समूह विशेष उद्देश्यों की पूर्त्ति हेतु बनाये जाते हैं,

---

1. Kingsley Davis, op. cit. p. 261
2. H. P. Fairchizd : Dictionary & Sociology. p. 135
3. Ogburn & Nimkcoff, op. cit., p. 178.
4. Robert Bierstedt, op. cit. p. 306
5. Lundberg and others, Sociology, p. 765.

उद्देश्यों के पूर्ण होने पर ये समाप्त हो जाते हैं। इन समूहों में उच्च तथा निम्न प्रकार की परिस्थितियाँ देखने को मिलती हैं। द्वितीयक समूहों के सदस्यों के सम्बन्धों में स्थायित्व तथा निरन्तरता का अभाव पाया जाता है। ऐसे समूहों के सदस्य अपने आपको दृढ़ भावात्मक सम्बन्धों में बँधा हुआ नहीं पाते हैं, इनमें स्नेह सहानुभूति तथा दूसरों के हित को अपना हित समझने की प्रवृत्ति नहीं पायी जाती। स्कूल, कॉलिज, राजनैतिक दल, मजदूर संघ एवं राष्ट्र आदि द्वितीयक समूहों के उदाहरण हैं। इनमें विशेष नियमों के आधार पर सदस्यता प्राप्त की जाती है। द्वितीयक समूहों का आकार और क्षेत्र काफी विस्तृत होता है। इन समूहों की सदस्य-संख्या हजारों, लाखों तक हो सकती है। इनमें साधारणतः सचार के माध्यम द्वारा सदस्यों में सम्पर्क स्थापित होता है। द्वितीयक समूहों के सदस्यों में घनिष्टता का अभाव पाया जाता है। इन समूहों में व्यक्ति को नहीं, बल्कि उसके कार्य को महत्त्व दिया जाता है।

सभी द्वितीयक सम्पर्क समझौते की प्रकृति के होते हैं। इस प्रकार के सम्पर्क में सदस्य समझौते की शर्तों के अनुसार वँधे रहते हैं। सदस्यों के व्यवहारों में औपचारिकता विशेष रूप से पायी जाती है। ऐसे समूहों में पूर्व-निर्मित औपचारिक नियम, विधियाँ एवं परम्पराएँ पायी जाती हैं। इनके माध्यम से सदस्यों के व्यवहार को नियन्त्रित किया जाता है। सदस्यों के अधिकार व कर्त्तव्य समझौते की शर्तों द्वारा निर्धारित होते हैं। इन समूहों का संगठन योजनाबद्ध प्रकार का होता है।

द्वितीयक समूह के सफल संचालन के लिए आवश्यक है कि सदस्यों में समूहों के प्रति कुछ अपनत्व, त्याग एवं निष्ठा का भाव हो। इनके अभाव में कोई भी विश्वविद्यालय, श्रमिक संघ अथवा राजनैतिक दल पूर्ण कुशलता के साथ काम नहीं कर सकता। प्रो० किंग्सले डेविड ने बताया है कि समूह में निष्ठा और एकात्मकता अपने आप विकसित नहीं होती। ये संचार के परिणामस्वरूप एक व्यक्ति से दूसरे में विकसित होती हैं, विशेष रूप से ऐसे संचार के द्वारा जो निकट व्यक्तिगत सम्बन्धों में पाया जाता है। इस कारण बड़े द्वितीयक समूहों के अस्तित्व के लिए प्राथमिक समूह अनिवार्य है।[1] आज अनेक अध्ययनों के आधार पर डेविस का यह कथन प्रमाणित होता जा रहा है कि प्राथमिक समूह में "मैं" के स्थान पर व्यक्ति "हम" की भावना से प्रेरित होता है। यहाँ व्यक्ति में अनेक मानवोचित गुणों का जैसे प्रेम, सहानुभूति, दया, त्याग आदि का विकास होता है जिनकी आवश्यकता द्वितीयक समूहों में भी रहती है। यदि प्राथमिक समूहों में व्यक्ति का समाजीकरण उत्तमता के साथ हुआ है तो वह द्वितीयक समूहों के कार्य-संचालन में अधिक सफल हो सकता है, अधिक सक्रियता के साथ भाग ले सकता है।[2]

---

1. Kingsley Davis, : op. cit. p. 304.
2. Kingsley Davis : Ibid : p. 23-27.

द्वितीयक समूहों की प्रधान विशेषताएँ
(Chief Characteristics of Secondary Groups)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर द्वितीयक समूह की बाह्य एवं आन्तरिक विशेषताओं को निम्नलिखित विन्दुओं में रखकर प्रस्तुत किया जा सकता है :

द्वितीयक समूह की बाह्य विशेषताएं
(External Characteristics of Secondary Group)

द्वितीयक समूह की प्रधान बाह्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) शारीरिक दूरी (Physical Distance)—द्वितीयक समूह के सदस्यों में आमने-सामने के सम्बन्ध नहीं होते। ये शारीरिक रूप से दूर रहते हैं।

(2) समूह का विस्तृत आकार (Larger Size of Group)—द्वितीयक समूहों का आकार बड़ा होता है और इनके सदस्यों की संख्या अधिक होती है।

(3) सम्बन्धों का क्षणिक काल (Transitory Duration of Relationships)—इनमें विशिष्ट या निश्चित उद्देश्यों की पूर्त्ति के उपरान्त सदस्यों में आपस के सम्बन्ध टूट जाते हैं।

द्वितीयक समूह की आन्तरिक विशेषताएँ
(Internal Characteristics of Secondary Group)

द्वितीयक समूह की प्रधान आन्तरिक विशेषतायें निम्नलिखित हैं :

(1) उद्देश्यों की असमानता (Disparity in Ends)—द्वितीयक समूह के श्रेष्ठ उदाहरण भीड और राष्ट्र हैं जहाँ सदस्यों के भिन्न उद्देश्य होते हैं।

(2) सम्बन्धों का बाहरी मूल्यांकन (Extrinsic Evaluation of the Relations)—द्वितीयक समूहों के सदस्यों में संविदात्मक सम्बन्ध होते हैं अतएव वहाँ व्यक्ति स्वयं महत्त्वपूर्ण नहीं होता, वरन् उसके प्रकार्य महत्त्वपूर्ण होते हैं।

(3) औपचारिक एवं अवैयक्तिक सम्बन्ध (Formal and Impersonal Relationship)—इनमें सदस्यों के सम्बन्ध औपचारिक, अवैयक्तिक होते हैं क्योंकि सदस्यों में सम्बन्धों की स्थापना किसी विशिष्ट व निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति-हेतु होती है।

(4) अपूर्ण सम्बन्ध (Exclusive Relationship)—द्वितीयक समूह के सदस्यों के व्यक्तित्व का केवल एक भाग ही अथवा उनके जीवन का एक पक्ष ही समूह में समाविष्ट होता है।

(5) सम्बन्ध बनाये जाते हैं (Relationships are Made)—द्वितीयक समूह के सदस्यों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्ध आन्तरिक हृदय से न होकर किसी औपचारिक नियम के अनुसार बनाये जाते हैं।

(6) **बाह्य नियन्त्रण** (External Control)—द्वितीयक समूह में स्वाभाविकता के अभाव में नियन्त्रण भी औपचारिक रहता है जो नियमों, उपनियमों व प्रावधानों से निर्दिष्ट रहता है।

(7) **ऐच्छिक स्वीकृति** (Voluntary Acceptance)—द्वितीयक समूह में सदस्यता ऐच्छिक होती है। इनमें भाग लेना अथवा न लेना व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है।

(8) **सक्रिय एवं निष्क्रिय सदस्यता** (Active and Inactive Membership)—द्वितीयक समूह में व्यक्ति सक्रिय व निष्क्रिय दोनों रूपों में भाग ले सकता है। राजनैतिक दलों की सदस्यता इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण है।

द्वितीयक समूह का प्रकार्यात्मक महत्त्व
(Functional Importance of Secondary Group)

आधुनिक औद्योगिक समाज का अध्ययन करने के लिये प्राथमिक समूह की अपेक्षा द्वितीयक समूह अधिक महत्त्वपूर्ण है। मैकाइवर एवं पेज ने बताया है कि प्राथमिक-समूह-सम्बन्ध आदिम समाज व छोटे समुदाय की विशेषता है।

आधुनिक समय में औद्योगीकरण, नगरीकरण, यन्त्रीकरण एवं जनसंख्या के विस्फोट के कारण सामाजिक सरचना में आमूलभूत व महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं जिससे औपचारिक सम्बन्ध, व्यक्तिवादिता एवं अपरिचय-बोध में पर्याप्त वृद्धि हुई है। द्वितीयक समाज के ये पक्ष व्याधिकीय (Pathological) महत्त्व के हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। ये परिणाम वस्तुतः द्वितीयक समूह के विघटनात्मक पक्ष के द्योतक हैं। इनका प्रभाव व्यक्ति पर, सामाजिक सम्बन्धों पर, नैतिक मूल्यों व पर्यावरण पर पड़ता है। समाजशास्त्री इस बात से भयभीत हैं कि यदि द्वितीयक समूहों के इन व्याधिकीय तथ्यों का नियन्त्रण नहीं किया गया तो एक दिन सम्पूर्ण समूह के विघटन की पूर्ण सम्भावना है।

प्रकार्यात्मक रूप से द्वितीयक समूह का अत्यन्त महत्त्व है। प्राथमिक समूह में जिन बुनियादी विचारों व व्यक्तित्व की नींव पड़ती है, उनका विकास द्वितीयक समूहों से ही होता है। वस्तुतः प्राथमिक समूह द्वारा बनाये गये मूलभूत व्यक्तित्व को द्वितीयक समूह आगे बढ़ाते हैं। शिक्षा संस्थाएँ, राष्ट्र, क्लब, राजनैतिक दल या आर्थिक साहित्यिक समूहों का महत्त्व द्वितीयक समूहों के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। यह अवलोकित किया गया है कि युद्ध के मैदान में वे सैनिक जिनमें प्राथमिक समूह सम्बन्धी बन्धन नहीं पाये जाते हैं, युद्ध सम्बन्धी मानसिक रोग से कम पीड़ित होते हैं।

प्राथमिक और द्वितीयक समूहों में अन्तर
(Difference Between the Primary and the Secondary Groups)

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में प्राथमिक और द्वितीयक समूहों के बीच अग्र-लिखित अन्तरों का उल्लेख किया जा सकता है :—

(1) **रोबर्ट बियरस्टेर** के अनुसार "प्राथमिक समूह हमारे विचारों को ढ़ालते हैं, सम्बन्धों का मार्ग-प्रदर्शन करते हैं, और हमारी सम्पूर्ण क्रियाओं को चारों ओर से प्रभावित करते हैं, इनका प्रभाव सर्वव्यापी होता है, जबकि द्वितीयक समूह वास्तव में विशेपीकृत (Specialised) हैं, जिनका प्रभाव एक विशेप क्षेत्र तक ही सीमित होता है। इनकी प्रकृति की भिन्नता के कारण ये सर्वव्यापी भी नहीं हैं।

(2) आगवर्न व निमकाफ के अनुसार प्राथमिक समूह सदस्यों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से सम्बन्धित होते हैं। इनमें व्यक्तित्व का अधिक समय तो व्यतीत होता ही है, साथ ही इससे आशायें भी अधिक रखी जाती हैं। द्वितीयक समूह व्यक्तित्व के एक विशेप भाग से ही सम्बन्धित होते हैं, व्यक्ति का इनमें कम समय व्यतीत होता है। तथा इससे व्यक्ति अधिक आशायें भी नहीं रखते हैं।

'हिलर' (Hiller) के अनुसार प्राथमिक समूहों में व्यक्तियों के सम्बन्ध आन्तरिक(Intrinsic) और वैयक्तिक होते हैं दिखावे तथा औपचारिकता का इनमें कोई महत्त्व नहीं है, जबकि द्वितीयक समूहों में सम्बन्ध वाह्य (Extrinsic) और श्रेणीवद्ध (Categoric) होते हैं। द्वितीयक समूहों में भिन्न-भिन्न सदस्यों से भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार किया जाता है, अतः द्वितीयक समूहों कर प्रभाव व्यक्ति पर अधिक नहीं पड़ता है।

(4) प्राथमिक समूहों के सम्बन्ध सदस्यों में एकीकरण की भावना उत्पन्न करते हैं, लेकिन साथ ही वे भिन्न प्रतिवन्धों से मुक्त होते हैं। जबकि द्वितीयक समूहों में सम्बन्धों की प्रकृति अधिक स्वतन्त्र होती है, किन्तु उनमें एकीकरण करने की शक्ति अधिक नहीं होती है।

(5) प्राथमिक समूह आकार की दृष्टि से वहुत छोटे होते हैं, साधारणतया इनकी संख्या 2 से 50 तक होती है, जबकि द्वितीयक समूह अपेक्षाकृत व्यापक होते हैं जिनमें कभी-कभी नगर व राष्ट्र भी आ जाते हैं।

(6) प्राथमिक समूहों का विकास स्वतः होता है, इनका निर्माण नहीं किया जाता, जबकि द्वितीयक समूह जान-वूझकर आवश्यकतानुसार निर्मित किये जाते हैं।

(7) प्राथमिक समूहों में सम्बन्धों की अवधि लम्बी होती है, क्योंकि सदस्यों में काफी घनिष्ठ व आमने-सामने के सम्बन्ध होते हैं, जबकि द्वितीयक समूहों में गतिशीलता एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है साथ ही अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होने के कारण द्वितीयक समूहों में स्थायित्व भी अधिक नहीं होता है।

(8) प्राथमिक समूह व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित होते हैं, न कि किसी विशेप लक्ष्य से। इसके विपरीत द्वितीयक समूहों में व्यक्ति के किसी विशेप हित अथवा स्वार्थ की ही पूर्ति होती है अतः वे व्यक्ति के विशेप पक्ष से सम्बन्धित होते हैं।

(9) प्राथमिक समूहों में सदस्य एक दूसरे से केवल व्यक्ति के रूप में ही मिलते हैं। किसी अधिकारी अथवा सत्ता के रूप में नहीं। अतः सभी में समानता का व्यवहार होता है जबकि द्वितीयक समूह में सदस्य एक दूसरे से उसको पद और प्रतिष्ठा की पृष्ठभूमि में सम्बन्धों की स्थापना करते हैं और इस प्रकार इसके सदस्यों के मध्य भी एक स्तरीकरण पाया जाता है।

(10) प्राथमिक समूह अति प्राचीन हैं, ये इतने प्राचीन जितना स्वयं मनुष्य जबकि द्वितीयक समूहों का निर्माण आवश्यकतानुसार बाद में किया गया है। ये प्राथमिक समूहों के समान अति प्राचीन नहीं हैं।

(11) प्राथमिक समूहों में प्रत्यक्ष सहयोग द्वारा कार्य किया जाता है तथा सामूहिक रूप से निर्णय लिये जाते हैं। इसके विपरीत द्वितीयक समूह व्यक्तिवादिता पर आधारित होने के कारण प्रतिष्ठित व्यक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं।

(12) प्राथमिक समूह मानवीकरण व समाजीकरण करने में बहुत महत्वपूर्ण है। यह कार्य समूह के आदि नियमों (Norms) द्वारा किया जाता है जबकि द्वितीयक समूहों का समाजीकरण योगदान बहुत सूक्ष्म होता है। साथ ही यही नियमों की अपेक्षा कानून व संविदा (Contract) से अधिक विश्वास किया जाता है।

(13) प्राथिमक समूहों के सदस्यों से समान रक्त एवं समान संस्कृति होती है, जबकि द्वितीयक समूहों में सदस्यों में समान रक्त व समान संस्कृति का होना अनिवार्य नहीं है।

(14) प्राथमिक समूह ने व्यक्तिगत हित समूह के हित में विलीन हो जाते हैं, जबकि समूहों में द्वितीयक व्यक्तिगत हित के सामने सामूहिक हित का कोई महत्त्व नहीं होता।

(15) प्राथमिक समूहों की सदस्यता अनिवार्य होती है, जबकि द्वितीयक समूहों की इच्छा पर निर्भर करती है। अपनी आवश्यकतानुसार ही व्यक्ति इनकी सदस्यता ग्रहण करता है।

(18) प्राथमिक समूहों में सदस्यों के लिये अपने समूह के नियमों का आवश्यक रूप से पालन करना अनिवार्य होता है। इनमें परिवर्तन करना नैतिकता के विरुद्ध होता है। द्वितीयक समूह चूंकि तर्क पर आधारित होते हैं, अतः इनके नियमों में आवश्यकतानुसार तर्क के आधार पर समय-समय पर परिवर्तन किये जा सकते हैं।

अर्द्ध प्राथमिक या आभासी समूह (Quasi Primary Group)

अर्द्ध प्राथमिक या आभासी समूह वे होते हैं जिनमें प्राथमिक एवं द्वितीयक दोनों समूहों की विशेषतायें पायी जाती हैं। चार्ल्स कूले ने लिखा है कि "ये घनिष्ट व आमने-सामने के सम्बन्धों के द्वारा संगठन के समूह हैं जो अपनी संगठन-सम्बन्धी विशेषताओं और विशेष उद्देश्यों के कारण सीमित आकार के होते हैं। जिन्सवर्ग

(Morris Ginsberg) ने अपनी पुस्तक **'सोशियोलॉजी'** में समाज, समूह एवं अर्द्ध-समूह की विशिष्ट परिभाषा दी है। **जिन्सबर्ग** के अनुसार प्रायः समाजशास्त्र में अवधारणाओं को लेकर कठिनाइयाँ इसलिए उत्पन्न हुई हैं क्योंकि समाजशास्त्र में दैनिक बोलचाल की भाषा से शब्दों को लिया गया। अतः साधारण बोलचाल की भाषा की अस्पष्टता हमारी अवधारणाओं में भी दृष्टिगोचर होती है। कभी कभी इस अस्पष्टता का कारण यह भी है कि समाजशास्त्रियों ने मनोविज्ञान, जीव-विज्ञान एवं भौतिकशास्त्र से भी अपनी शब्दावली को लिया है। सामाजिक सन्तुलन, सामाजिक सावयव, सामाजिक मस्तिष्क जैसे शब्दों ने समस्या को सुलझाने की बजाय अधिक जटिल बनाया है। **जिन्सबर्ग** के अनुसार अवधारणाओं के स्पष्ट अर्थ विषय की परिपक्वता के लिए आवश्यक हैं। 'समाज' शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि सभी प्रकार के मानवीय सम्बन्ध चाहे वे संगठित हों या असंगठित, समाज के अन्तर्गत आने चाहिएँ। उनके अनुसार समाज की अवधारणा के अन्तर्गत केवल उन्हीं सम्बन्धों को लेना जहाँ सदस्य परस्पर एक दूसरे के बारे में सचेत हों एवं उनमें परस्पर सामान्य लक्ष्य अथवा रुचियाँ हों, ठीक नहीं है, क्योंकि अप्रत्यक्ष एवं अचेतन सम्बन्धों का हमारे सामाजिक जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के रूप में, विश्व बाजार की प्रक्रिया अनेक लोगों के जीवन को अप्रत्यक्ष और व्यापक रूप से प्रभावित करती है, जिसके बारे में प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तियों को कोई ज्ञान नहीं रहता। अतः इस अवधारणा के अन्तर्गत हम व्यक्तियों के परस्पर सभी सम्बन्धों को, चाहे वे प्रयत्क्ष हों अथवा अप्रत्यक्ष, व्यवस्थित हों अथवा अव्यवस्थित, चेतन हों अथवा अचेतन, सहयोग के हों अथवा संघर्ष के, सम्मिलित करते हैं। इस दृष्टिकोण से 'समाज' एक सार्वभौमिक एवं व्यापक स्थिति हैं जिसकी कोई निश्चित सीमा नहीं होती। इसके विपरीत 'समूह' ऐसे व्यक्तियों का संगठन है, जिसके मध्य निरन्तर सम्पर्क एवं संचार होता है और जिनकी एक मान्य संरचना होती है। यहाँ उन्होंने अर्द्ध-समूह की अवधारणा प्रस्तुत कर विश्लेषण के दृष्टिकोण से उपयुक्त अवधारणा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार ऐसे कई मानवीय संकलन (Human aggregates) होते हैं जिनका कोई अन्य ढाँचा नहीं होता, लेकिन जिनके सदस्यों में परस्पर समान रुचियाँ अथवा समान व्यवहार-प्रतिमान होते हैं जिसके कारण कभी वे निश्चित व विशिष्ट संगठित समूह का निर्माण भी कर सकते हैं। ऐसे अर्द्ध समूहों में उन्होंने सामाजिक वर्ग (Social Class) व जनता (Public) को माना है। सामाजिक वर्ग के सदस्यों के मध्य सम्बन्धों की निरन्तरता का गुण नहीं होता, अतः उन्हें समूह की संज्ञा दी जा सकती। **मर्टन** ने समूह की व्याख्या करते हुए सामाजिक संवर्ग की जो अवधारणा के समरूप है। **मर्टन** (Merton) के अनुसार "ऐसे मानव-संकलन जिनमें शारीरिक अथवा सामाजिक लक्षण एक से हों, लेकिन अन्तःक्रिया एवं सम्बन्धों का गुण नहीं हो तो उसे सामाजिक संवर्ग कहा जायेगा। प्रजाति, जाति, वर्ग आयु-

समूह, ऐसे उदाहरण हैं जिनमें सामाजिक सम्बन्धों का अभाव होता है, लेकिन ये समाज के महत्त्वपूर्ण संवर्ग है। अर्थ के दृष्टिकोण से अर्द्ध समूह एवं सामाजिक संवर्ग में कोई अन्तर नहीं है।[1]

वाटोमोर (Bottomore) ने भी अर्द्ध-समूह के सम्वन्ध की भी चर्चा की है। उन्होंने समूह के संगठन के आधार पर अर्द्ध समूह की चर्चा की है। उन्होंने समूह उसे माना है जिसमें संगठन हो और जिनके सदस्यों में एक मनोवैज्ञानिक चेतना हो। उनके अनुसार अर्द्ध-समूह में इस प्रकार की चेतना अथवा संगठन का अभाव रहता है। कई बार दो सदस्य समूह के अस्तित्व के प्रति भी जागरुक नहीं होते अथवा वहुत जागरूक होते हैं। वाटोमोर ने सामाजिक वर्ग, प्रस्थिति-समूह (Status group) आयु व लिंग-समूह आदि को अर्द्ध-समूह माना है। क्योंकि इन समूहों के सदस्य यद्यपि वहुत-सी समान विशेपता रखते हैं, फिर भी, उनमें परस्पर संगठन व जागरूकता का अभाव पाया जाता है। वाटोमोर के अनुसार जैसे-जैसे ये अर्द्ध-समूह संगठित हो जाते हैं वैसे-वैसे ही उनके सामाजिक समूह वनने की सम्भावना वढ़ती जाती है।

संक्षेप में, अर्द्ध-समूह का महत्व समूह निर्माण को समझने के लिए है, तथा यह समाजशास्त्रीय अनुसंघान का विपय हो सकता है कि किन सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारणों से अर्द्ध-समूह सामाजिक समूह वनते हैं।"[2]

विश्वविद्यालय प्रश्न
(UNIVERSITY QUESTIONS)

समाज (Society)

1. 'समाज' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
   (Write short notes on 'Society'.) (1983)
2. समाज को परिभापित कीजिए। इसकी विशेपताओं की व्याख्या कीजिए।
   (Define Society. Discuss its characteristics.) (1984)
3. समाज से आप क्या समझते हैं? समाज और एक समाज में क्या अन्तर है?
   (What do you mean by Society ? What is the difference between society and a Society.) (1985)
4. 'समाज पर मैकाइवर के विचार' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
   (Write short note on 'Views of Maciver on Society.") (1986)

---

1. सिंघी एवं गोस्वामी : समाजशास्त्र विवेचन : 107
2. सिंघो एवं गोस्वामी : पूर्वोक्त; पृष्ठ 108

समाजिक संरचना (Social Structure)

5. 'सामाजिक संरचना' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
(Write short notes on "Social Structure".) (1984–1986)

6. सामाजिक संरचना की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
(Explain the concept of social structure.) (1985)

संस्कृति (Culture)

7. संस्कृति एवं सभ्यता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
(Write short note on "Culture and Civilization".) (1984)

8. संस्कृति किसे कहते हैं? भौतिक और अभौतिक संस्कृति में भेद स्पष्ट कीजिए।
(What is culture? Distinguish between material and non-material culture.) (1985)

9. संस्कृति की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए तथा इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
(Explain the concept of culture and give its characteristics.) (1986)

संस्था (Institution)

10. 'संस्था' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
(Write short note on "Institution".) (1984)

11. संस्था की परिभाषा एवं विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
(Explain the defination and characteristics of Institution.) (1985)

12. 'संस्था की अवधारणा' पर टिप्पणी लिखिए।
(Write short note on "Concept of Institution".) (1986)

समाजीकरण (Socialization)

13. उदाहरण देकर बताइये कि बच्चे का समाजीकरण कैसे होता है?
(Discuss giving example, how a child is Socialized.) (1983)

14. समाजीकरण की मुख्य एजेन्सियाँ कौन-सी हैं? उनकी व्याख्या कीजिए।
(What are the agencies of Socialization. Discuss.) (1984)

15. समाजीकरण किसे कहते हैं? इसकी प्रक्रिया क्या है?
(What is socialization? What is its process?) (1985)

16. कूले एवं मीड के समाजीकरण के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
(Explain the theories of socialization of Cooley and Mead.) (1986)

स्तरीकरण (Stratification)

17. सामाजिक स्तरीकरण क्या है ? इसके विभिन्न प्रकारों की व्याख्या कीजिए।
(What is Social Stratification. Discuss its various forms.) (1983)

18. समाजिक स्तीकरण के किन्हीं दो सिद्धान्तों का परीक्षण कीजिए।
(Examine any two theories of Stratification.) (1984)

19. स्तरीकरण किसे कहते हैं ? स्तरीकरण पर प्रकार्य वादियों के विचारों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
(What is Stratification ? Explain critically the functionalists view on Stratifition.) (1986)

प्रस्थिति एवं भूमिका (Status and Role)

20. प्रस्थिति को परिभाषित कीजिए। प्रस्थितियों का निर्धारण कैसे होता है ?
(Define status. How are statuses determined ?) (1983)

21. प्रस्थिति को परिभाषित कीजिए। बताइये कि प्रस्थिति और भूमिका के बीच क्या सम्बन्ध है ?
(Define status. What is the relationship between status and role ? (1984)

22. प्रस्थिति-निर्धारण के विभिन्न आधारों का उल्लेख कीजिए।
(Discuss the various bases of Status-determination.) (1985)

23. प्रस्थिति एवं भूमिका की अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए तथा प्रस्थिति के प्रकारों का उल्लेख कीजिए।
Define the concepts of status of role and mention the types statuses.) (1986)

प्रतिमान (मानदण्ड) एवं मूल्य (Norms and Values)

24. सामाजिक प्रतिमानों का उल्लेख कीजिए। सामाजिक नियन्त्रण के रूप में इसके महत्त्व का मूल्यांकन कीजिए।
(Define social norms. Evaluate their importance as controlling force in society.) (1983)

25. 'जन-रीतियों' की व्याख्या कीजिए।
(Discuss "Folk-ways".) (1983–1985)

26. बीरस्टीड द्वारा दिये गये सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण दीजिए।
(Discuss Bierstedt's classification of social norms.) (1984)

27. 'लोकाचार' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
(Write short note on "Mores.") (1985)

28. समाजिक प्रतिमान (मानदण्ड अथवा आदर्श नियम) से आप क्या समझते हैं? इसके विभिन्न प्रकार कौन-कौन से हैं ?
(What do you mean by social norms ? What are its types ?) (1986)

29. 'समाजिक मूल्य' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
(Write short note on "Social values".) (1986)

समूह (Groups)

30. समाजिक समूह की परिभाषा दीजिए। प्राथमिक तथा द्वैतीयक समूहों का अन्तर बताइये।
(Define social groups. Distinguish between primary and secondary groups.) (1983)

31. समाजिक समूहों का वर्गीकरण विस्तृत रूप में दीजिए।
(Give in detail the classification of social groups.) (1984)

32. प्राथमिक समूहों से आप क्या समझते हैं ? उन्हें प्राथमिक क्यों कहा जाता है ?
(What do you mean by primary groups ? Why are they called as primary ?) (1985)

33. 'अर्द्ध-प्राथमिक समूह' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
(Write short note on "Quasi-primary groups.") (1985)

34. प्राथमिक एवं द्वैतीयक समूहों को स्पष्ट कीजिए तथा उनमें भेद बताइये।
(Define and differentiate between primary and secondary groups.) (1986)

———

3

समाज के प्रकार—नगरीय, ग्रामीण एवं जनजातीय

[TYPES OF SOCIETY—URBAN, RURAL AND TRIBAL]



समाज के प्रकार—एक परिचय
(Types of Society—An Introduction)

'समाज' (Society) की अवधारणात्मक विवेचना हम इससे पूर्व के अध्याय में विस्तृत रूप से कर आये हैं—उस अध्याय में हम आपको विस्तार से मानव-समाज, पशु-समाज, समाज का अर्थ एवं विशेषतायें समाज व एक-समाज तथा समाज के वर्गीकरण या प्रकारों के बारे में भी जानकारी दे चुके हैं।

व्यक्तियों की बहुलता सामाजिक अन्तःक्रियाओं एवं सामाजिक सम्बन्ध-इन तीनों तत्त्वों से मिलकर समाज का निर्माण होता है। समाज के वर्गीकरण में समाज के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया गया है। जर्मन समाजशास्त्री टॉनीज (Tonnis) ने दो प्रकार के समाजों का उल्लेख किया है—

1. गेमेनशाफ्ट (Gemeinschaft) एवं
2. गेसेलशाफ्ट (Gesellschaft)

हरबर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) ने समाजों के चार प्रकारों का उल्लेख किया है—

1. सरल समाज (Simple Society)
2. मिश्रित समाज (Mixed Society)
3. दोहरे मिश्रित समाज (Double Mixed Society)
4. तिहरे मिश्रित समाज (Triple Mixed Society)

इमाइल दुर्खीम (Emile Durkheim) ने भी चार प्रकार के समाजों का उल्लेख किया है—

1. सरल समाज (Simple Society)
2. सरल-बहुखण्डीय समाज (Simple Poly-Segmental Societies)
3. मिश्रित बहु-खण्डीय समाज (Mixed Poly-Segmental Society)
4. दोहरे मिश्रित बहुखण्डीय समाज (Double-Mixed Poly-Segmental Society)

कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने पांच प्रकार के समाजों का वर्णन किया है—

1. आदिम समाज (Primitive Society)
2. एशियाई समाज (Asian Society)

3. प्राचीन समाज (Ancient Society)
4. सामन्तवादी समाज (Feudalist Society)
5. पूँजीवादी समाज (Caditalistic Society)

उपर्युक्त वर्गीकरणों की विस्तृत विवेचना हम 'समाज' नामक अध्याय में कर आये हैं। इनके अलावा भी समाजवेत्ताओं ने समाज के कुछ अन्य प्रकारों का उल्लेख किया है, जैसे परम्परागत समाज, आधुनिक समाज, मूल समाज आदि। इस अध्याय में हम समाज के तीन प्रमुख प्रकारों की जानकारी आपको दे रहे हैं जो निम्नलिखित हैं—

1. ग्रामीण समाज (Rural Society)
2. नगरीय समाज (Urban Society)
3. जनजातीय समाज (Tribal Society)

ग्रामीण समाज
(Rural Society)

'ग्रामीण समाज' (Rural Society) की विशद विवेचना के पूर्व यह आवश्यक है कि हम ग्रामीण (Rural) शब्द को समझें।

'ग्रामीण' का अर्थ (Meaning of 'Rural')

'ग्रामीण' (Rural) शब्द का तात्पर्य ग्रामीण पर्यावरण में रहने वाले व्यक्तियों से लगाया जाता है। जिस प्रकार विद्वानों ने 'ग्राम (Village) शब्द को अनेक प्रकार से स्पष्ट किया है, उसी प्रकार 'ग्रामीण' (Rural) शब्द के विवेचन में भी भिन्नता देखने को मिलती है। ग्रामीण शब्द को परिभाषित करने में सबसे प्रमुख कठिनाई यह है कि ऐसी कोई निश्चित सीमा-रेखा नहीं है जो ग्राम को नगर (City) से पृथक् करती हो। इस सन्दर्भ में मैकाइवर एवं पेज (MacIver and Page) ने लिखा है कि "नगर और गांव के बीच विभाजन की ऐसी कोई स्पष्ट सीमा-रेखा नहीं है जिसके आधार पर यह बताया जा सके कि कहाँ ग्राम समाप्त होता है और कहाँ से नगर का प्रारम्भ होता है।"[1] अनेक विद्वान् 'ग्रामीण' शब्द को स्पष्ट करने के लिए सामाजिक एवं आर्थिक पिछड़ेपन को आधार मानते हैं जबकि कुछ विद्वान् कृषि-व्यवसाय के आधार पर ग्रामीण शब्द की विवेचना करते हैं। कुछ विद्वानों ने जनसंख्या के आधार पर ग्रामीण एवं नगरीय विभेद को स्पष्ट किया है, जबकि अनेक विद्वान् केवल उन समाजों को ग्रामीण समाज कहते हैं जिनकी विशेषताएँ नगरीय विशेषताओं के विपरीत होती हैं। वास्तव में ग्रामीण शब्द की अवधारणा

1. MacIver and Page, *Society* p. 311.

को स्पष्ट करने के लिए ये सभी आधार अपर्याप्त हैं। सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन के आधार पर अनेक ऐसे समूहों को भी ग्रामीण कहा जा सकता है जो नगरों में निवास करते हैं, लेकिन जो सामाजिक-आर्थिक स्तर पर बहुत पिछड़े हुए हैं; दूसरी ओर कृषि-व्यवसाय को आधार मान लेने से ग्रामों में रहने वाले अनेक व्यक्तियों को भी ग्रामीण नहीं कहा जा सकता। भौगोलिक स्थिति की अनुपयुक्तता को स्पष्ट करते हुए मैकाइवर एवं पेज (Maciver and Page) का कथन है कि "ग्रामीण एवं नगरीय शब्द मात्र भौगोलिक स्थिति को ही नहीं, बल्कि सामुदायिक जीवन के प्रकारों को भी स्पष्ट करते हैं।"[1] के० एन० श्रीवास्तव ने कहा है कि "एक ग्रामीण क्षेत्र वह है जहाँ पर लोग कृषि-उद्योग में लगे हों अर्थात् वस्तुओं का प्राथमिक उत्पादन प्रकृति के सहयोग से करते हों।"[2]

उपर्युक्त सभी कथन 'ग्रामीण' (Rural) शब्द की समुचित विवेचना नहीं करते। वास्तविकता यह है कि ग्रामीण शब्द में उन अनेक तत्त्वों का समावेश है जिन्हें किसी एक परिभाषा के द्वारा स्पष्ट नहीं किया जा सकता। **पी०एच० लैण्डिस** (P. H. Landis) ने ग्रामीण शब्द की विवेचना के लिए तीन तत्त्वों को विशेष महत्त्व दिया है अर्थात् केवल उसी समूह को ग्रामीण कहा जा सकता है जो (क) प्रकृति पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर हो, (ख) जिसका आकार सीमित हो, तथा (ग) जिसमें सदस्यों के बीच घनिष्ट और प्राथमिक सम्बन्ध पाये जाते हों।[3] लैण्डिस के ये विचार 'ग्रामीण' शब्द को स्पष्ट करने में अत्यधिक सहायक हैं। लैण्डिस की उपर्युक्त विवेचना के अनुसार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्रामीण शब्द एक ऐसी विशेषता का बोध कराता है जिसमें **प्रकृति पर निर्भरता, सम्बन्धों में घनिष्टता एवं छोटा आकार** जैसी विशेषताओं का समावेश हो।

ग्रामीण समाज की विशेषताएँ
(Characteristics of Rural Society)

ग्रामीण समाज की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। अपनी पृथक् विशेषताओं के कारण ही ग्रामीण समाज नगरीय समाज से नितान्त भिन्न है। ग्रामीण समाज की इन विशेषताओं का विवेचन करने के लिए हमें किन्हीं आधारों की विवेचना करनी चाहिए। सामान्यतः ग्रामीण समाज के अध्ययन के अग्रलिखित आधार उल्लेखनीय हैं[4] :

---

1. Maciver and Page, *Ibid*, p. 312.
2. K. N. Sriwastava, 'What is Rural', *Rural India* (March-April 1961), p. 86.
3. P.H. Landis, *Rural Life in Process* p. 18,
4. A. R. Desai : *Rural Sociology in India*, pp. 11-12.

(1) प्रकृति के अति निकट (Very close to nature),

(2) मूल व्यवसाय कृषि (Agriculture is the fundamental occupation)

(3) समाज का लघु आकार (Small size of the Society)

(4) जनसंख्या का घनत्व (Dencity of population),

(5) जनसंख्या की समानता या भिन्नता (Homogeneity or heterogeneity of population),

(6) सामाजिक गतिशीलता या गत्यात्मकता (social mobility),

(7) सामाजिक स्तरण (Social stratification),

(8) सामाजिक संश्लिष्ठता (Social solidarity) ।

उपर्युक्त आधारों पर हम ग्रामीण समाज की कुछ प्रमुख विशेषताओं पर विस्तार से प्रकाश डालेंगे :

(1) **प्रकृति के अति निकट** (Very close to nature)—ग्रामीण समाज का प्रकृति से अत्यन्त निकट सम्बन्ध होने के कारण वह प्रकृति से अत्यधिक प्रेम करता है । प्रकृति की प्रत्येक वस्तु से उसको विशेष लगाव हो जाता है । **सोरोकिन तथा जिमरमैन** (Sorokin & Zimmerman) ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "अधिकतर वह (किसान) एक नगरवासी की तुलना में अत्यधिक महान् घनिष्ठतम रूप में तथा प्रत्यक्षतः प्रकृति से सम्बन्धित है—ऐसी प्रकृति से जिसमें मिट्टी, भूभाग विशेष की वनस्पति, पशु आदि, जल, नदी, सूर्य, चन्द्र, प्रकाश, वायु, वर्षा आदि सभी सम्मिलित हैं—जबकि वह मकान में रहता है, तब उसके खेत में स्थित मकान की अथवा झोंपड़ी की केवलमात्र पतली दीवारें उसको प्रकृति से अलग करती हैं और जब वह बाहर होता है तो हर समय प्रकृति के बीच में ही रहता है, वह कुछ भी हो ।"[1]

प्रकृति से निकट का सम्बन्ध होने के कारण ही ग्रामीण समाज में अनेक विशेषताएँ उत्पन्न हो जाती हैं जो नगरीय समाज में नहीं पायी जाती हैं । ग्रामीणों को प्रकृति पर इतना अधिक आश्रित रहना पड़ता है कि वे प्रकृति को अपने जीवन-दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं । उनके लिए प्रकृति ही सब कुछ है । धूप, तूफान, आँधी, टिड्डीदल, कुहरा, ओले इत्यादि का तो उन्हें आये दिन सामना करना पड़ता है । इस प्रत्यक्ष संघर्ष के कारण उनकी जीवन-दशा नगर-वासियों से बिलकुल भिन्न हो जाती है । **बरट्रैण्ड** (Bertrand) ने लिखा है कि "ऐसा करने में वह रीति-रिवाजों, व्यवहारों तथा व्यक्तित्व की विशेषताओं को प्रकृति के संघर्ष के अनुकूल विकसित करता है ।"[2]

---

1. P. A- Sorokin and Carle C, Zimmerman : *Principles of Γural-Urban Sociology*, p. 17.
2. Beatrand & Associates. *Rural Sociology*, p. 25.

(2) **मूल व्यवसाय कृषि** (Agriculture is the fundamental occupation)—ग्रामीण समाज का मूल व्यवसाय कृषि है। ग्राम और कृषि में इतना अभिन्न सम्बन्ध है कि ग्रामीण और कृषक एक दूसरे के पर्यायवाची समझे जाते हैं। **टी० एल० स्मीथ** (T. L. Smith) कहते हैं कि "कृषि और संग्रहकार्य ग्रामीण अर्थव्यवस्था के आधार हैं। कृषक और ग्रामीण प्रायः पर्यायवाची शब्द हैं।"[1]

कृषि मूल व्यवसाय होने के कारण ग्रामीण समाज को कुछ विशिष्टताएँ प्रदान करती है। कृषि एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें किसान को प्राकृतिक वस्तु (पेड़-पौधे आदि) और पशुओं से ही काम पड़ता है, जिसके कारण कृषक अधिक परिश्रमी होता है।

किसान की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। कृषक को अनेक प्रकार के कार्य सीखने पड़ते हैं। उसे कृषि से सम्बन्धित अन्य कार्यों (वढ़ई, लुहार) को थोड़ा-थोड़ा ज्ञान रखना पड़ता है, जिसके कारण कृषक अपने जीवन के बारे में अधिक जानता है। नगर में प्रत्येक कार्य के विशेषज्ञ होते हैं, इसलिए नगरवासी कुछ विशेष भागों की ही जानकारी रखते हैं।

लोरी नेल्सन (Lowry Nelson) कहते हैं कि "कृषि का व्यवसाय ऐसा व्यवसाय है जिसमें कई लोगों की आवश्यकता पड़ती है। सामान्य रूप से सम्पूर्ण परिवार को ही कृषि-कार्यों में हाथ बँटाना पड़ता है। पति-पत्नी, लड़के-लड़कियाँ, सभी कुछ न कुछ कार्य करते ही रहते हैं। नेल्सन ने उचित लिखा है, "कृषि एक **पारिवारिक व्यवसाय है।**"[2]

(3) **समाज का लघु आकार** (Small size of the Society)—ग्रामीण समाज का आकार नगरीय समुदायों की तुलना में बहुत कम होता है। हम जानते हैं कि ग्रामीण समाज का मूल व्यवसाय कृषि है। कृषि के लिए पर्याप्त भूमि की आवश्यकता पड़ती है। एक आदमी के पास खेती करने के लिए कम से कम एक एकड़ भूमि तो होनी ही चाहिए। यदि एक ग्राम में दो सौ आदमी हैं तो उन्हें कम से कम दो सौ एकड़ भूमि की आवश्यकता पड़ेगी। इसकी तुलना में इतनी एकड़ भूमि पर हजारों आदमी वस सकते हैं या अपना व्यवसाय कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि ग्रामीण समाज छोटे होते हैं। **स्मिथ** ने लिखा है, "लघु समुदाय और ग्रामीण समुदाय एक-दूसरे के पर्यायवाची वन गये हैं।"[3]

---

1. T. Lynn Smith : *The Sociology of Rural Life* p. 18.
2. Lowry Nelson : *Rural Sociology*, p. 18.
3. Lynn Smith : Op. cit. p. 20.

ग्रामीण समाज का लघु आकार इसकी इतनी बड़ी विशेषता है कि रॉबर्ट रेडफील्ड (Robert Redfield) ने 'लघु समुदाय' का सम्बोध विकसित किया है।[1] ग्रामीण समुदाय तथा नगरीय समुदाय के बीच भेद करने के लिए भी इसी कसौटी का प्रयोग किया जाता है। जो समुदाय आकार में छोटे होते हैं, उन्हें ग्रामीण समुदाय कहा जाता है। अतः समुदाय के आकार की लघुता ग्रामीण समुदाय की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

4. **जनसंख्या का घनत्व** (Density of Population)—ग्रामीण समाज की एक अन्य विशेषता जनसंख्या के घनत्व का कम होना है। ग्रामों में कम घनी आबादी पायी जाती है। घनत्व का कम होना भी इनके व्यवसाय के कारण है। एक वर्गमील में बहुत कम लोग रहते हैं।

जनसंख्या के घनत्व के कारण इनकी जीवनधारा ही एक पृथक् प्रकार की हो जाती है। **समनर तथा केलर** (Summner and Keller) ने इस पर बल देते हुए लिखा है कि "रीति-रिवाजों के साँचे से बाहर समस्त मानवीय संस्थाएँ इस प्रकार प्रकट और नियन्त्रित की गयी हैं कि समाज की संस्थाओं का प्रकार का अन्त में जनसंख्या के अनुपात से ही निकलता है।"[2] जनसंख्या का घनत्व कम होने के कारण, ग्रामीण समाज में रहने वाले व्यक्तियों का एक-दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है।

5. **जनसंख्या की समानता या भिन्नता** (Homogenity or heterogenity of Population)—ग्रामीण समाज में जनसंख्या की समानता पायी जाती है। प्रायः सभी कृषक होते हैं या कुछ इनके सहायक। प्राथमिक सम्बन्धों में रहते-रहते इनमें अधिक समानता उत्पन्न हो जाती है।

यद्यपि ग्रामीण जनसंख्या में विभिन्न जातियों एवं धर्मों के लोग पाये जाते हैं, फिर भी उनमें विशेष जटिलता नहीं पायी जाती। वे प्रायः समान प्रकार के हो जाते हैं। उनकी अपनी भिन्न-भिन्न उप-संस्कृतियाँ होते हुए भी उनमें एकता पायी जाती है। गरीब और अमीर का भी बहुत अन्तर ग्रामीण जनसंख्या में नहीं पाया जाता। ग्रामीण एकता की ओर संकेत करते हुए बरट्रैण्ड ने लिखा है, "ग्रामीण रंगमंच में एकता यन्त्रवत् है, समभावपूर्ण एकीकरण की कुंजी है।"[3]

6. **सामाजिक गत्यात्मकता** (Social Mobility)—ग्रामीण समाज प्रायः गत्यात्मक नहीं होते। वे एक सामाजिक स्थिति से दूसरी में बहुत कम जाते हैं।

---

1. See Robert Redfield : *The Little Community*.
2. W. G. Sumner and A. G. Keller : *The Science of Society*, Vol. 4, Yale University Press, New Haven (1927).
3. Bertrand and Associates : Op. cit. p. 29

उनमें सामाजिक परिवर्तन की गति भी अत्यधिक मन्द होती है। एक स्थान से दूसरे स्थान में भी वे बहुत कम जाते हैं।

ग्रामीण समाज में गत्यात्मक या गतिशीलता नहीं के बराबर पायी जाती है। **टी. एल. स्मिथ** के अनुसार, "इस क्षेत्र में नगरीय समुदाय बहाव में परिवर्तन करती हुई एक नदी के समान है, जहाँ कि पानी गन्तव्य की ओर गमन करता है; ग्रामीण समुदाय एक शान्त तालाब की भाँति होता है जो एक ऐसे छोटे से झरने से युक्त है जिसका जल घुमावदार होकर कुछ तालाब के अन्दर और कुछ बाहर जा रहा है।"[1]

7. **सामाजिक स्तरण** (Social Stratification)—ग्रामीण समाज में सामाजिक स्तरण परम्परागत आधार पर अधिक पाया जाता है। उदाहरण के लिए, जाति-व्यवस्था का ग्रामों में अधिक कठोरता से पालन किया जाता है।

ग्रामीण समाज में सामाजिक वर्ग अधिक नहीं पाये जाते हैं। प्रायः ग्रामीण समुदाय मध्यम वर्ग के होते हैं। वर्ग के अन्तर ग्रामीण समुदाय में नहीं पाये जाते।

8. **सामाजिक एकात्मता** (Social Solidarity)– ग्रामीण समुदाय में अत्यधिक सामाजिक एकात्मता पायी जाती है। ग्रामीण एकत्मता समान लक्षण, समान उद्देश्य, समान अनुभव इत्यादि पर आधारित होती है। गिडिंग्स (Giddings) ने इस एकता के ही आधार पर जाति की चेतनता (consciousness of kind) के सम्बोध का निर्माण किया था।

ग्रामीण एकात्मता का आधार अनौपचारिक एवं असंवैधानिक है। **टी. एल. स्मिथ** ने लिखा है कि "निष्कर्ष रूप से यह अत्यधिक अनौपचारिक तथा **असंविदायुक्त** सम्बन्धों पर आधारित है।"

ग्रामीण समाज के प्रकार
(Types of Rural Society)

ग्रामीण समाज की विशेषताओं को देखने से स्पष्ट होता है कि थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ सभी ग्रामीण समाजों की प्रकृति लगभग एक जैसी होती है। इसके पश्चात् भी वास्तविकता यह है कि जनसंख्या, समूह के आकार, भू-स्वामित्व, परम्पराओं एवं कुछ अन्य आधारों पर विभिन्न ग्रामीण समाजों के बीच भी एक स्पष्ट अन्तर विद्यमान है। कुछ ग्रामीण समाज आज भी अत्यधिक पिछड़े हुए तथा सभ्यता के मध्य स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं, जबकि अनेक ग्राम अत्यधिक विकसित प्रकृति के हैं। विभिन्न देशों की आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्था ने भी ग्रामीण

1. T. Lynn Smith : Op. cit. p. 33.

समाजों की प्रकृति को प्रभावित किया है। इस दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत ग्रामीण समाजों के प्रकारों का वर्गीकरण किया जाय जिससे उनका तुलनात्मक आधार पर अध्ययन किया जा सके।

डॉ० श्यामाचरण दुबे का वर्गीकरण (Classification by S. C. Dube)

डॉ० श्यामाचरण दुबे ने यह स्पष्ट किया है कि गाँवों की सामाजिक संरचना तथा उनकी समस्याओं को समुचित रूप से समझने के लिए यह आवश्यक है कि ग्रामों का विभिन्न भागों में वर्गीकरण किया जाये। इसके लिए डॉ० एस० सी० दुबे ने निम्नांकित आधारों पर ग्रामों का वर्गीकरण किया है।[1]

(A) आकार, जनसंख्या तथा क्षेत्रफल के आधार पर।

(B) प्रजातीय विभाजन एवं जातीय विभाजन के आधार पर।

(C) भू-स्वामित्व के स्वरूप के आधार पर।

(D) शक्ति-संरचना एवं अधिकार-व्यवस्था के आधार पर।

(E) स्थानीय पृथक्करण के आधार पर।

(F) स्थानीय परम्पराओं के आधार पर।

सॉरोकिन, जिमरमैन तथा गालपिन का वर्गीकरण (Classification by Sorokin, Zimmerman and Galpin)

इन विचारकों ने भू-स्वामित्व तथा आवास की व्यवस्था को आधार मानते हुए ग्रामों को पाँच मुख्य भागों में निम्नांकित रूप से विभाजित किया है।[2]

(A) ऐसे ग्राम जहाँ की भूमि पर कृषकों का संयुक्त अधिकार होता है।

(B) ऐसे ग्राम जहाँ की भूमि पर किसान पट्टेदारी व्यवस्था के द्वारा सम्बद्ध होते हैं।

(C) वे गाँव जहाँ की अधिकांश भूमि कृषकों की व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है, परन्तु जहाँ कुछ पट्टेदार कृषि श्रमिक भी रहते हैं।

(D) ऐसे गाँव जिनमें बड़े जमींदारों के कर्मचारी निवास करते हैं।

(E) ऐसे गाँव जिनमें स्वतन्त्र भू-स्वामी, जमींदारों के कर्मचारी एवं कृषि-श्रमिक साथ-साथ रहते हैं।

बेडेन पावेल (Baden Powel) ने भी भूमि-व्यवस्था के आधार पर सभी ग्रामीण समाजों को 'रैयतवारी ग्राम' तथा 'संयुक्त ग्राम' जैसे दो भागों में विभाजित करके स्पष्ट किया है।[3] इन सभी वर्गीकरणों से स्पष्ट होता है कि किसी एक आधार

---

1. S. C. Dube, *Indian Villages*, p. 3.
2. Sorokin, Zimmerman and Galpin, *Systematic Source Book in Rural Sociology*, Vol. I, p. 56.
3. Baden Powel, *The Origin and Growth of Village Communities in India*, p. 18.

पर ही ग्रामों को अनेक भागों में विभाजित किया जा सकता है।[1] आज जैसे-जैसे ग्रामीण समाज में परिवर्तन की नवीन प्रक्रियाएँ जन्म ले रही हैं, ग्रामीण समाज के स्वरूप में और अधिक विभाजन होता जा रहा है। इस विभाजन के आधार पर ही आज अनेक समाजशास्त्री ग्रामीण समाजों का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

एच. जे. पीक (H. J. Peake) के अनुसार वर्गीकरण (Classification by H. J. Peake)

डॉ. एच. जे. पीक ने उद्विकासीय आधार को महत्वपूर्ण मानते हुए सभी ग्रामीण समुदायों को तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया है जो इस प्रकार हैं :[1]

(1) **प्रवासी कृषि ग्राम (Migratory Agricultural Villages)**—इस श्रेणी में वे सभी ग्राम आते हैं जिनके निवासी एक स्थान पर कुछ समय तक रहने के पश्चात् दूसरे स्थान पर प्रवास कर लेते हैं। किसी विशेष स्थान पर भूमि जितनी उपजाऊ होती है, ये लोग उस स्थान पर उतने ही अधिक समय तक रहते हैं। भूमि की उत्पादकता कम होने पर अथवा मौसम के प्रतिकूल हो जाने पर ये लोग तुरन्त स्थान परिवर्तन कर लेते हैं। इस दृष्टिकोण से प्रवासी ग्राम वे हैं जो सभ्यता के निम्न स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं और इनकी प्रकृति भी अस्थिर होती है।

(2) **अर्द्ध-स्थायी कृषि ग्राम (Semi Permanent Agricultural Village)**—इस श्रेणी में वे सभी ग्राम आते हैं जिनके निवासियों का जीवन पहली श्रेणी की तुलना में कुछ अधिक स्थायी होता है। ऐसे ग्रामों में अत्यधिक पुरातन तरीकों से भूमि की उर्वरा-शक्ति को कुछ समय तक बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है, लेकिन जब भूमि उपजाऊ नहीं रह जाती तब ऐसे ग्रामों के निवासी स्थान-परिवर्तन करके नये गाँवों की स्थापना कर लेते हैं।

(3) **स्थायी कृषि-जीवन वाले ग्राम (Permanent Agricultural Village)** वर्तमान युग के अधिकांश गाँव इसी श्रेणी के हैं। ऐसे ग्रामों में इनके एक लम्बी अवधि तक जीवन व्यतीत करते हैं। एक लम्बे समय तक एक ही स्थान में रहने के कारण उनमें सामुदायिकता की भावना का विकास हो जाता है। ऐसे ग्रामों के निवासी सामाजिक दृष्टिकोण से रूढ़िवादी होते हुए भी स्थायी निवास को विशेष महत्त्व देते हैं।

---

1. H.J. Peake, 'Rural Community,' *Encyclopaedia of Social Sciences*, Vol. XV, p. 254.

मेटजन के अनुसार वर्गीकरण (Classification by Meitzen)

मेटजन ने स्थानीय दूरी अथवा निकटता के आधार पर ग्रामीण समुदायों को दो भागों में विभाजित किया है ।[1]

(1) केन्द्रित गाँव (Nucleated Villages)—इस श्रेणी में वे सभी गाँव आते हैं जिनमें एक गाँव के रहने वाले सभी कृषकों के मकान एक दूसरे के अत्यधिक समीप होते हैं । निवास-स्थान की समीपता के कारण गाँव के सभी निवासियों के बीच अत्यधिक घनिष्ट एवं अनौपचारिक सम्बन्धों का विकास हो जाता है । कभी-कभी ऐसे गाँवों में घनिष्टता और स्थानीय समीपता के कारण सामूहिक आदान-प्रदान का रूप भी स्पष्ट होने लगता है । इसका तात्पर्य है कि एक परिवार में आवश्यकता की किसी वस्तु का अभाव होने पर उसे आत्मीयता के एक अधिकार के रूप में पड़ौस के मकान से प्राप्त किया जा सकता है । भारत के मैदानी भाग में इस श्रेणी के गाँवों की संख्या सबसे अधिक है ।

(2) बिखरे हुए गाँव (Scattered Villages)—ये वे गाँव हैं जिनमें कृषक एक स्थान पर झुण्ड बनाकर नहीं रहते, बल्कि अपने खेतों के किनारे पर ही घर बनाकर रहते हैं । इस दृष्टिकोण से उनके आवास बिखरे हुए होते हैं तथा इन गाँवों में सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप भी केन्द्रित गाँवों से कुछ भिन्न होता है । श्रीमती इरावती कर्वे ने ऐसे ग्रामों को 'हेमलेट गाँव' अथवा 'समूह ग्राम' (Cluster Village) कहा है ।

नगरीय समाज
(Urban Society)

ग्रामीण समाज की अवधारणात्मक विवेचना करने एवं उसके प्रकारों को समझने के बाद अब हम इनसे भिन्न विशेषतायें रखने वाले 'नगरीय समाज' (Urban Society) की विवेचना करेंगे । नगरीय समाज की विवेचना करने से पूर्व यह उपयुक्त होगा कि हम नगर (City) की अवधारणा को समझलें ।

नगर का अर्थ
(Meaning of City)

सामान्यतः नगर (City) का आशय एक ऐसे विस्तृत तथा औपचारिक समुदाय से है जिसका निर्धारण एक विशेष क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों के जीवन-स्तर तथा

2. Meitzen, *Systematic Source Book in Rural Sociology*, Vol. I. p. 263.

उनकी नगरीय मनोवृत्तियों के आधार पर होता है। अनेक विद्वानों ने जनसंख्या के आधार पर ही नगर की प्रकृति को स्पष्ट किया है।

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने लिखा है कि नगर के निर्धारण में जनसंख्या के घनत्व को एकमात्र महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि नगर कुछ विशेष प्रकार के सामाजिक तत्त्वों से बनता है। किसी स्थान पर जनसंख्या का घनत्व चाहे एक हजार से अधिक हो अथवा कम, यदि वहाँ पर नगरीय दशायें अथवा नगरीय मनोवृत्तियाँ विद्यमान हों तो उस स्थान को नगर कहा जायेगा। डेविस ने भारत से विश्लेषणात्मक उदाहरण देते हुए बताया है कि "यहाँ बहुत से गाँवों में जनसंख्या का घनत्व इतना अधिक है कि यह अनेक नगरों के घनत्व से भी अधिक है, लेकिन फिर भी इन गाँवों को नगर नहीं कहा जा सकता।"[1]

विलकाक्स (Willcox) ने नगर को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "नगर का तात्पर्य उन सभी क्षेत्रों से है जहाँ प्रति वर्गमील में जनसंख्या का घनत्व एक हज़ार व्यक्तियों से अधिक हो एवं जहाँ व्यवहारिक रूप से कृषि न की जाती हो।"[2]

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि केवल जनसंख्या का आधार ही नगर के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण नहीं है। वास्तविकता यह है कि **'नगर जीवन की एक विशेष विधि' (A way of life) है जिसमें औपचारिकता तथा व्यक्तिवादिता का प्रमुख महत्व होता है।**

वास्तव में नगर जैसे जटिल और परिवर्तनशील समुदाय को किसी एक परिभाषा में परिबद्ध नहीं किया जा सकता। अध्ययन की सरलता के लिए यह कहा जा सकता है कि नगर सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक विभिन्नताओं से युक्त वह वृतत् समुदाय है जहाँ कृत्रिमता, व्यक्तिवादिता, प्रतिस्पर्द्धा और घनी जनसंख्या के कारण नियंत्रण के औपचारिक साधनों के द्वारा सामाजिक संगठन की स्थापना की जाती है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि नगर एक भिन्न पर्यावरण से प्रभावित जीवन-यापन का एक विशेष ढ़ंग है।

नगरीय समाज की विशेषताएँ
(Characteristics of Urban Life)

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक संचरना, आर्थिक क्रियाओं की प्रकृति तथा सामाजिक प्रक्रियाओं के आधार पर नगरीय समाज की अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है। इनमें में कुछ प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट करने से नगरीय समाज की प्रकृति को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। प्रमुख विशेषतायें अग्रलिखित हैं :

---

1. Kingsley Davis : Human Society, pp. 315-16.
2. W. F. Willcox : The Urban Community. p. 118.

(1) **जनसंख्या की अधिकता** (Large Population)—नगरीय समाज की सर्व-प्रमुख विशेपता इसका वड़ा आकार और घनी जनसंख्या का होना है। भारत में आज 150 से भी अधिक ऐसे नगर हैं जिसकी जनसंख्या एक लाख से भी अधिक है जबकि दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, पूना, हैदराबाद, मद्रास आदि ऐसे नगर हैं जिनकी जनसंख्या 20 लाख से भी अधिक हो चुकी है। अनेक नगरों में जनसंख्या का घनत्व 15हजार व्यक्ति प्रति वर्गमील से भी अधिक है। इससे नगरों के वड़े आकार एवं जनसंख्या की अधिकता का अनुमान लगाया जा सकता है।

(2) **जनसंख्या की विभिन्नता** (Heterogeneity of Population)—नगर केवल जनसंख्यात्मक आकार में ही वड़े नहीं होते, वल्कि उनकी जनसंख्या में विभिन्न धर्मों, जातियों व्यवसायों और विभिन्न जीवन-स्तर के व्यक्ति साथ-साथ रहते हैं। उनकी वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन संस्कृति तथा सामाजिक मूल्यों में अत्यधिक भिन्नता होती है। इसके फलस्वरूप नगर न केवल एक भिन्नता-युक्त समाज है, वल्कि इसमें सभी व्यक्तियों को अपनी रुचि के अनुकूल पर्यावरण प्राप्त होने की सम्भावना वनी रहती है।

(3) **आर्थिक क्रियाओं के केन्द्र** (Centres of Economic Activities)—नगरों का विकास मूल रूप से आर्थिक जीवन की सफलता के आधार पर हुआ है और आज भी नगरीय समुदाय आर्थिक क्रियाओं के केन्द्र वने हुए हैं। वड़ी मात्रा में उत्पादन, श्रम-विभाजन एवं विशेपीकरण इन आर्थिक क्रियाओं के मुख्य आधार हैं।

(4) **आर्थिक वर्ग-विभाजन** (Division in Economic Classes)—नगरीय समाज में यद्यपि व्यक्ति की जाति, धर्म मनोवृत्तियों अथवा व्यवसाय को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता, लेकिन आर्थिक आधार पर सम्पूर्ण जनसंख्या एक दूसरे से भिन्न अनेक आर्थिक वर्गों में विभाजित होती है। यह केवल पूँजीपति और श्रमिक वर्ग के वीच ही व्यापक आर्थिक भिन्नता नहीं होती, वल्कि मध्यम वर्ग सवसे अधिक विपम परिस्थितियों में जीवन-यापन कर रहा होता है।

(5) **श्रम विभाजन** (Division of Labour)—नगरीय समाज की एक अन्य विशेपता श्रम-विभाजन है। ग्रामीण समाज में सामान्यत: एक व्यक्ति समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर लेता है, परन्तु नगरीय समाज में ऐसा नहीं होता। वहाँ एक ही कार्य को अनेक लोग वाँट कर करते हैं।

(6) **स्थानीय पृथक्करण** (Spatial Segragation)—नगरीय समाज में श्रम-विभाजन, विशेपीकरण तथा विभिन्न आर्थिक वर्गों के कारण स्थानीय पृथक्करण की प्रक्रिया एक अनिवार्य विशेपता वन चुकी है।

(7) **द्वितीयक सम्बन्धों की प्रधानता** (Dominance of Secondary Relationship)—नगरीय समाज में जनसंख्या की विभिन्नता तथा औपचारिक सम्वन्धों के फलस्वरूप सभी व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से द्वितीयक सम्वन्धों से वँधे होते

है। अधिकांश व्यक्ति अपना स्वार्थ पूरा करने और लाभ की भावना से ही दूसरे व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करते हैं। इसके फलस्वरूप नगरीय समाज में नियन्त्रण के द्वितीयक साधनों, जैसे कानून, पुलिस तथा न्यायालय के द्वारा औपचारिक नियंत्रण स्थापित किया जाता है।

(8) व्यक्तिवादिता तथा प्रतिस्पर्द्धा (Individualism and Competition)—किंग्सले डेविस का कथन है कि नगरीय समाज में व्यक्तिवादिता एक प्रमुख तत्त्व है। नगरों में व्यक्तिवादिता इस सीमा तक पायी जाती है कि व्यक्ति प्रत्येक क्षेत्र में साधन-सम्पन्नता और धन के संग्रह को ही जीवन का अन्तिम साध्य मानता है। इस मनोवृत्ति के फलस्वरूप प्रतिस्पर्द्धा नगरीय समाज की स्थायी विशेषता बन गयी है। यह व्यक्तिवादिता एवं प्रतिस्पर्धा आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र तक ही सीमित न रह कर सांस्कृतिक एवं पारिवारिक जीवन में भी व्याप्त हो गयी है।

(9) सामाजिक गत्यात्मकता (Social Mobility)—नगरीय समाजों में स्थानीय गत्यात्मकता का ही आधिक्य नहीं होता, बल्कि सामाजिक गत्यात्मकता भी अपनी चरम सीमा पर होती है। इसका तात्पर्य है कि व्यक्ति की योग्यता, कुशलता एवं सम्पन्नता के आधार पर उसके जीवन में ही अनेक बार समाज में उसकी स्थिति ऊँची अथवा नीची होती रहती है।

(10) हित-प्रधान सहनशीलता (Interest-Oriented Tolerance)—किंग्सले डेविस ने नगरीय समाज की विशेषताओं के अन्तर्गत वैयक्तिक हितों से प्रभावित सहनशीलता को एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना है।[1] वास्तव में, नगरवासियों में सहनशीलता एक आन्तरिक गुण नहीं होता, बल्कि अपने हितों की पूर्ति के लिए इच्छा न होते हुए भी उनको ऐसा प्रदर्शित करना पड़ता है। नगर के निवासियों में ऐसी प्रत्येक स्थिति तथा व्यवहारों को सहन करने की क्षमता होती है जो अरुचिकर तो होती है, लेकिन जिससे उनके हितों को पूरा होने की सम्भावना रहती है। यही प्रत्येक व्यक्ति वाह्य रूप से स्वयं को अत्यधिक नम्र, मृदुभाषी और सज्जन दिखने का प्रयत्न करता है, भले ही ये गुण उसके व्यक्तित्व के वास्तविक अंग न हों।

(11) सामाजिक समस्याओं के केन्द्र (Centres of Social Problems)—आज विभिन्न समाज जिन अनेक प्रमुख सामाजिक समस्याओं का सामना कर रहे हैं, नगरीय समाज उन सभी समस्याओं के केन्द्र हैं। विशेष रूप से अपराध, बाल अपराध भ्रष्टाचार, मद्यपान, वेश्यावृत्ति, युवा तनाव, बेकारी, निर्धनता एवं पारिवारिक विघटन आदि इसी प्रकार की समस्यायें हैं। आज नगरीय समुदायों के आकार तथा

---

1. Kingsley Davis : Ibid, p. 331.

जनसंख्या की विभिन्नता में जैसे:जैसे वृद्धि हो रही है, ये समस्यायें पहले की अपेक्षा और अधिक विकट होती जा रही हैं।

ग्रामीण तथा नगरीय समाज में अन्तर

(Distinguish Between the Rural and the Urban Society)

ए. आर. देसाई (A. R. Desai) ने अपनी पुस्तक 'रूरल सोशियालाजी इन इण्डिया' (Rural Sociology in India) में ग्रामीण सामाजिक जगत् को नगरीय सामाजिक जगत् से पृथक् करने के लिए निम्नलिखित सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मापदण्डों का उल्लेख किया है।[1]

(1) व्यावसायिक भिन्नतायें (Occupational Differences),

(2) पर्यावरणात्मक भिन्नतायें (Environmental Differences),

(3) समुदायों के आकारों में भिन्नतायें (Differences in the Sizes the Communities),

(4) जनसंख्या के घनत्व में भिन्नतायें (Differences in the Density of the Population),

(5) जनसंख्या की सहजातीयता तथा विजातीयता (Differences in the Homogeneity and Heterogeneity of the Population),

(6) सामाजिक गत्यात्मकता गतिशीलता में भिन्नतायें (Differences in the Social Mobility),

(7) प्रवर्जन की दिशा में अन्तर (Differences in the Direction of Migration),

(8) सामाजिक विभेदीकरण तथा स्तरीकरण में अन्तर (Differences in the Social Differentiation and Stratification),

(9) सामाजिक अन्तःक्रिया की व्यवस्था में अन्तर (Differences in the System of Social Interaction),

सोरोकिन तथा जिमरमैन (Sorokin and Zimmerman) द्वारा प्रस्तुत अग्रलिखित सारिणी भी ग्रामीण और नगरीय जगत् के निर्णायक अन्तरों पर भलि-भाँति प्रकाश डालती है[2]—

1. A. R. Desai : Rural Sociology in India, p, 10-11.
2. P.A. Sorokin and C. C. Zimmerman : Principles of Rural-Urban Sociology, pp. 56-57.

अन्तर का विषय	ग्रामीण समाज (Rural Society)	नगरीय समाज (Urban Society)
1. व्यवसाय (Occupation)	पूरे समाज में आमतौर पर कुछ थोड़े से लोगों को छोड़कर सभी कृषक होते हैं।	सभी लोग प्रधानतः कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों में संलग्न रहते हैं।
2. पर्यावरण (Environment)	मानवीय सामाजिक पर्यावरण पर प्रकृति की प्रधानता रहती है।	अपेक्षतः प्राकृतिक पर्यावरण के ऊपर मानवनिर्मित पर्यावरण की प्रबलता रहती है।
3. समुदाय का आकार (Size of Community)	खुले फैले खेत और छोटे-छोटे जन-समुदाय 'कृषक-वाद' और समुदाय के आकार के नकारात्मक सह-सम्बन्ध दिखाते हैं। अर्थात् समुदाय का आकार छोटा होता है।	नगरीय समाज बड़ा होता है अर्थात् नगरीयता और समुदाय के आकार में सकारात्मक सह-सम्बन्ध होता है।
4. जनसंख्या का घनत्व (Density of Population)	जनसंख्या की सघनता कम होती है। आमतौर पर ग्रामीणता और जनसंख्या की सघनता में नकारात्मक सह-सम्बन्ध होता है।	नगरीयता और जनसंख्या की सघनता में सकारात्मक सह-सम्बन्ध होता है।
5. जन समुदायों की विषमरूपता और समरूपता Heterogeneity and Homogeneity of Population)	ग्रामीण समाज प्रायः समरूप होते हैं। विषमरूपता से इनका नकारात्मक सह-सम्बन्ध होता है।	इसमें प्रायः विषमरूपता होती है। नगरीयता और विषमरूपता में सकारात्मक सह-सम्बन्ध होता है।
6. सामाजिक विभेदीकरण तथा स्तरीकरण (Social Differentiation and Stratification)	इनमें सामाजिक विभेदीकरण तथा स्तरीकरण में कमी होती है।	नगरीयता के साथ सामाजिक विभेदीकरण और स्तरीकरण का सम्बन्ध सकारात्मक होता है।

7. गत्यात्मकता (Mobility)	इनमें क्षेत्रीय, व्यवसायिक और अन्य प्रकार की सामाजिक गत्यात्मकता की कम तीव्रता होती है।	नगरीयता और गत्यात्मकता के बीच सकारात्मक सह-सम्बन्ध होता है।
8. अन्तःक्रिया की व्यवस्था (System of Interaction)	ग्रामीणों की अन्तःक्रिया की व्यवस्था का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता है। व्यक्तिगत और अपेक्षतः स्थायी (प्राथमिक) सम्बन्धों की प्रधानता रहती है।	सम्बन्धों तथा सम्पर्कों की संख्या काफी अधिक होती है। अन्तःक्रिया की व्यवस्था का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होता है। द्वितीयक सम्बन्धों की प्रधानता होती है जिसमें जटिलता, विविधता, सतहीपन और औपचारिकता अधिक होती है।

रिचार्ड डेवी (Richard Dewey) ने निम्नांकित पाँच आधारों पर नगरीय एवं ग्रामीण समुदायों को दो भिन्न ध्रुवों (Extremes) के रूप में स्पष्ट किया है।[1]

नगरीय समाज की विशेषतायें	ग्रामीण समाज की विशेषतायें
1. अज्ञात स्थिति 2. श्रम विभाजन 3. इन दोनों परिस्थितियों से उत्पन्न सामाजिक और आर्थिक भिन्नता 4. अवैयक्तिक तथा औपचारिक सामाजिक सम्बन्ध 5. व्यक्तिगत पृष्ठभूमि में स्वतन्त्र पद प्राप्त करने की आकांक्षा तथा प्रयत्न।	नगरीय समाज की समस्त विशेषताओं के पूर्णतया विपरीत

1. Richard Dewey : The Rural-Urban Continuum, Real but Relatively Unimportant,' quoted by Sutherland, Introductory Sociology, p. 228.

उपरोक्त विद्वानों द्वारा व्यक्त किये गये ये सभी आधार महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन प्रस्तुत विवेचन में एक सामान्यीकरण के रूप में हम कुछ विशेष आधारों पर नगरीय एवं ग्रामीण समाजों के मध्य तुलना करेंगे।

(1) सामाजिक जीवन के आधार पर भेद (Contrast in Social Life)—सामाजिक जीवन का निर्माण मुख्य रूप से सामाजिक स्तरीकरण, सामाजिक संगठन, सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूप तथा सामुदायिकता की भावना के आधार पर होता है। इन सभी विशेषताओं के आधार पर ग्रामीण तथा नगरीय समाजों के मध्य एक स्पष्ट भेद किया जा सकता है।

(2) पारिवारिक आधार पर भेद (Contrast in Family Life)—ग्रामीण और नगरीय समाज के भेद को अनेक विद्वानों ने पारिवारिक सम्बन्धों तथा पारिवारिक स्थिति के आधार पर स्पष्ट किया है। ग्रामीण समाज में परिवार एक शक्तिशाली और आत्म-निर्भर केन्द्रीय इकाई है। यहाँ परिवार के प्रति सभी में असीमित उत्तरदायित्व की भावना होती है। सदस्यों पर नियन्त्रण रखने में परिवार सबसे शक्तिशाली संस्था है। यहाँ सम्पत्ति का रूप व्यक्तिगत न होकर पारिवारिक होता है। परिवार की नैतिकता को व्यक्ति की नैतिकता माना जाता है। विवाह, सामाजिक सम्पर्क तथा खान-पान के क्षेत्र में व्यक्ति परिवार के नियमों की अवहेलना नहीं कर सकता। इसके विपरीत नगरों में साधारणतया व्यक्ति की उच्च अथवा निम्न प्रस्थिति से ही परिवार की प्रस्थिति का भी निर्धारण होता है। नगरीय समाज में एक ही परिवार के सदस्यों के बीच सम्बन्ध औपचारिक होते हैं। सम्पत्ति का रूप व्यक्तिगत होता है तथा सभी सदस्य विवाह और सामाजिक सम्पर्क को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आधार मानते हैं।

(3) सांस्कृतिक जीवन के आधार पर भेद (Contrast in Cultural Life)—ग्रामीण और नगरीय समाज सांस्कृतिक आधार पर भी एक-दूसरे से भिन्न दिखाई देते हैं। ग्रामीण समाज आज भी परम्परागत संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर रहा है जबकि नगरीय समाज में एक परिवर्तनशील संस्कृति का विकास हुआ है। ग्रामीण संस्कृति में युग-युगों से प्राप्त अनुभवों का समावेश है जो उनकी संस्कृति को प्राकृतिक दशाओं तथा सामाजिक पर्यावरण के अनुकूल बनाये हुए हैं। नगरों की अपनी कोई मौलिक संस्कृति नहीं है, बल्कि यह ग्रामीण संस्कृति का ही एक संशोधित रूप है। वस्तुतः नगरीय संस्कृति नवाचारों तथा प्रौद्योगिकी पर आधारित संस्कृति है, जबकि ग्रामीण संस्कृति व्यवहारवादी एवं मानवतावादी है।

(4) सामाजिक नियन्त्रण में अन्तर (Contrast in Social Control)—ग्रामीण समाज में प्राथमिक सम्बन्धों तथा प्राथमिक नियन्त्रण को सर्वोच्च महत्त्व दिया जाता है जबकि नगरीय समाज में द्वितीयक समूहों के द्वारा द्वितीयक नियन्त्रण की स्थापना की जाती है। ग्रामों में कोई भी व्यक्ति गाँव के सम्मानित तथा वृद्ध

व्यक्तियों की आज्ञा अथवा पंचायत द्वारा दिये गये निर्णय की अवहेलना नहीं कर पाता। इसके विपरीत नगरों में समूहों के निर्णय का व्यक्ति के जीवन में साधारणतया कोई महत्त्व नहीं होता। इन दोनों समाजों में नियन्त्रण के साधन भी एक-दूसरे से पृथक हैं। ग्रामीण समाज में परम्परागत साधन जैसे—धर्म, प्रथा, परम्परा, और लोकाचार सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख अभिकरण हैं, जबकि इसके विपरीत नगरीय समाज में कानून, पुलिस तथा न्यायालय की सहायता से सामाजिक नियन्त्रण स्थापित किया जाता है।

बीसेन्ज तथा बीसेन्ज (Biesanz and Biesanz) का कथन है कि "ग्रामीण समाज में प्रथा की शक्ति राजा के समान है तथा लोक रीतियाँ और लोकाचार लगभग सभी मानवीय व्यवहारों को नियन्त्रित करते हैं।"[1] किंग्सले डेविस ने भी लिखा है कि "नगरों में व्यक्ति अपने प्राथमिक समूह के नियन्त्रण से मुक्त होकर यहाँ की अथाह भीड़ में अदृश्य होकर छुटकारा पा सकता है। नगर की यह विचित्रता व्यक्ति को घनिष्ट नैतिक नियन्त्रण से मुक्त कर देती है।"[2]

(5) **आर्थिक जीवन के आधार पर भेद** (Contrast in Economic Life)—ग्रामीण तथा नगरीय समुदाय में विभिन्न व्यवसायों, जीवन-स्तर, उपभोग की प्रकृति तथा वर्ग-संरचना के दृष्टिकोण से भी एक स्पष्ट भिन्नता विद्यमान है। ग्रामीण समुदाय में कृषि और कुटीर उद्योग ही आजीविका के स्रोत हैं, जबकि नगरीय समुदाय में हजारों व्यवसायों में से किसी भी व्यवसाय के द्वारा व्यक्ति आजीविका उपार्जित कर सकता है ग्रामीण जीवन-स्तर सरल है जिसमें कोई निश्चित आर्थिक संस्तरण देखने को नहीं मिलता। दूसरी ओर नगरों में जीवन-स्तर से सम्बन्धित व्यापक विषमता देखने को मिलती है एक ओर पूँजीपतियों का आडम्बरपूर्ण और सम्पन्न जीवन है तो दूसरी ओर यहाँ ऐसे व्यक्ति भी निवास करते हैं जिन्हें एक समय भर-पेट भोजन नहीं मिलता। ग्रामीण समुदाय में उत्पादन केवल उतना ही होता है जो उपभोग के लिए पर्याप्त हो सके, जबकि नगरीय समुदाय में सम्पत्ति का संचय करना व्यक्ति का सर्वोच्च लक्ष्य होता है

(6) **विशेषीकरण के आधार पर भेद** (Contrast on the basis of Specialization)—ग्रामीण समाज में जीवन का कोई भी क्षेत्र विशेषीकृत नहीं होता। एक व्यक्ति अपने जीवन से सम्बन्धित सभी आवश्यकताओं के बारे में थोड़ा-बहुत ज्ञान अवश्य रखता है। इस दृष्टिकोण से ग्रामीण समाज का जीवन एक सामान्य जीवन है, जबकि नगरीय समाज में विशेषीकरण अपनी चरम सीमा पर होता है। आर्थिक क्षेत्र में जैसे-जैसे प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती जाती है, प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष क्षेत्र में विशेष

---

1. Biesanz and Biesanz : Modern Society, p. 114.
2. Kingsley Davis : Ibid, p. 288-289.

कुशलता अर्जित करने का प्रयत्न करता है। केवल आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं, नगरीय समुदाय की भौतिक संरचना में भी एक विशेषीकरण होता है। इसका तात्पर्य है कि यहाँ विभिन्न व्यवसायों तथा विभिन्न प्रस्थिति-समूहों के स्थानीय क्षेत्र भी एक-दूसरे से पृथक् हैं।

(7) मनोवृत्तियों के आधार पर भेद (Contrast on the basis of Attitudes)—सामाजिक मनोवृत्तियां अर्थात् व्यक्ति के दृष्टिकोण तथा भावनाओं के आधार पर नगरीय तथा ग्रामीण समाज में भेद किया जा सकता है। ग्रामीण समाज में सामूहिकता की भावना अत्यधिक प्रवल होती है। यहाँ व्यक्ति प्रथाओं और परम्पराओं में दृढ़ आस्था रखता है। धर्म और संस्कार उनके सामान्य जीवन के प्रमुख अंग हैं तथा सहनशीलता, पारस्परिक सहायता और जातीयता उनकी प्रमुख मानसिक विशेषताएँ हैं। ग्रामीण समाज में जीवन के प्रति व्यक्तियों का दृष्टिकोण कम सन्देहपूर्ण और कम आलोचनात्मक होता है। यहाँ तर्क एवं बुद्धि के स्थान पर अधिकांश व्यवहारों व घटनाओं की व्याख्या भाग्य के सन्दर्भ में की जाती है तथा प्रत्येक व्यक्ति अपने गाँव को एक प्राथमिक समूह के रूप में देखता है। इन विशेषताओं के विपरीत नगरीय समुदाय में व्यक्ति की मनोवृत्तियों पर व्यक्तिवादिता का सर्वाधिक प्रभाव देखने को मिलता है। नगरीय समाज में धर्म, परम्परा तथा प्रथा को रूढ़िवादिता माना जाता है तथा परिवर्तन को प्रगति के रूप में मान्यता दी जाती है। यहाँ व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ साधारणतया शंकालु एवं आलोचनात्मक होती हैं। प्रतियोगिता के कारण उद्वेगपूर्ण, वनावटी और संघर्षयुक्त सम्वन्ध नगरीय समाज में अधिक दिखाई देते हैं।

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न विशेषताओं के आधार पर यह सरलतापूर्वक स्पष्ट हो जाता है कि अनेक क्षेत्रों में ग्रामीण तथा नगरीय समुदाय दो विभिन्न ध्रुव हैं। तथापि ग्रामीण और नगरीय समाज दो पूर्णतया पृथक् समाज नहीं हैं और न ये दोनों ऐसे दो ध्रुवीय विन्दु हैं जिनका आपस में कोई सम्वन्ध नहीं है। वास्तव में जहाँ पर एक का अन्त होता है वहीं से दूसरे का न केवल आरम्भ हो जाता है अपितु काफी दूर तक दोनों एक-दूसरे से विलकुल मिश्रित होकर एक साथ चलते हैं। मैकाइवर एवं पेज ने लिखा है कि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि ग्रामीण व्यक्ति अधिक मूर्ख और आडम्वरपूर्ण होता है ···· ····। गाँव और नगर दोनों ही समाज हैं, एक-दूसरे से न अधिक प्राकृतिक अथवा न अधिक कृत्रिम हैं।"[1] जिस्ट और हैलवर्ट (Gist and Halbert) का भी यह कथन इस सम्वन्ध में उल्लेखनीय है कि ग्रामीण और नगरीय जीवन का सुपरिचित विभाजन सामुदायिक जीवन के तथ्यों पर आधारित होने की अपेक्षा अधिकांशतः एक सैद्धान्तिक अवधारणा है।"[2]

1. MacIver and Page, op. cit., pp. 321-322.
2. Gist and Halbert : *Urban Society*. p. 3.

डेविड पोकाक (David F. Pocock) ने विशेपकर भारतीय परिप्रेक्ष्य में नगरीय समाज एवं ग्रामीण समाज के सन्दर्भ में यह मत व्यक्त किया है कि "भारत के नगरों एवं गाँवों के स्वभाव-सम्वन्धी निश्चित उद्विकास को मानना और साथ ही उनको पृथक् रूप में दूसरे स्थानों में उनके समरूपों से एक ही समय उनकी तुलना करके के वारे में सोचना असम्भव प्रतीत होगा। भारत की नगरीय और ग्रामीण जनसंख्या का समाजशास्त्र नगरीय तथा ग्रामीण समाजशास्त्रियों के मध्य विभाजित नहीं हो सकता।[1]

ग्रामीण-नगरीय सातत्य
(The Rural-Urban Continuum)

ग्रामीण तथा नगरीय समाज के विभिन्न भेदों को देखते हुए आज एक नवीन अवधारणा का विकास हुआ है, जिसे हम **ग्रामीण-नगरीय सातत्य** (Rural-Urban Continuum) कहते हैं। यह अवधारणा इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न से सम्वद्ध है कि ग्रामीण-नगरीय भिन्नताएँ एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न रूप से (in dichotomous fashion) विकसित होती हैं अथवा यह भिन्नताएँ सापेक्षिक हैं और दोनों समुदायों को एक-दूसरे से जोड़ती हैं। आरम्भ में **डेवी, वॅनेट तथा हॉजर** ने इस अवधारणा के द्वारा यह स्पष्ट किया कि ग्रामीण-नगरीय सातत्य एक ऐसी विचारधारा है जो ग्रामीण समाज को नगरीय समाज से पृथक् करके अध्ययन करने पर वल देती है।[2] ऐसे विद्वानों की श्रेणी में आर. रेडफील्ड का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है जिनके अनुसार साधारण से साधारण आदिम जनजातियों से लेकर जटिल से जटिल नगरीय लोगों तक के तमाम जन-समुदायों की एक ग्रामीण-नगरीय सातत्य होता है जिसमें मानव-समाज का प्रत्येक रूप व प्रत्येक अंग सम्मिलित होता है और इसी सातत्य की शृंखला के वीच में एक ऐसी कड़ी होती है जिसे कृपक समुदाय (जिसका स्वरूप

---

1. D. F. Pocock : Sociologies : *Urban and Rural, Contribution to Indian Sociology*, Vol. IV, p. 18.
2. See Dewey, *The Rural-Urban Continuum : Real but relatively unimportant* (1960);

   Benet, *The Ideology of the Rural-Urban Continuum* (1963);

   Hauser, *Urban-Rural Dichotomies as Forms of Western Ethnocentrism* (1965).

आधुनिक अर्थ में समुदाय है) कहते हैं। रेडफील्ड ने अपनी पुस्तक **'पिजेन्ट सोसायटी एण्ड कल्चर'** (Peasant Society and Culture) में इसे **लोक-नगरीय सातत्य** (Folk-Urban Continuum) कहा है। अनेक दूसरे विद्वानों जैसे **सॉरोकिन, जिमरमैन, स्पेन्सर टॉनीज** तथा **वेबर** ने भी इस विचारधारा का समर्थन करते हुए यह स्पष्ट किया कि अनेक आधारों पर नगरीय समाज की प्रकृति ग्रामीण समाज से अत्यधिक भिन्न है, अतः इन दोनों समाजों का अध्ययन पृथक् रूप से किया जाना चाहिए। विर्थ (Wirth) ने अपने शोध-पत्र **'नगरीयता एक जीवन विधि के रूप में'** (Urbanism as a way of Life) द्वारा यह स्पष्ट किया कि नगरीय तथा ग्रामीण समाज में सम्बन्धों की प्रकृति, मनोवृत्तियाँ एवं जीवन-स्तर एक-दूसरे से अत्यधिक भिन्न हैं, अतः इन दोनों समाजों को दो ध्रुवों के रूप में स्पष्ट किया जाना चाहिए।[1]

ग्रामीण तथा नगरीय समुदायों की भिन्नता को व्यवहार में प्राप्त कर सकना अत्यधिक कठिन है। बर्ट्रेण्ड (Bertrand) का कथन है कि "ग्रामीण तथा नगरीय अन्तर केवल तुलनात्मक अंशों में ही होता है तथा इन दोनों ध्रुवों के बीच एक ऐसी भी शृंखला स्पष्ट होती है जो इन्हें एक-दूसरे से जोड़ती है।"[2] **राइसमैन** (Reissman) ने ग्रामीण-नगरीय विभेद की आलोचना करते हुए लिखा है कि "ग्रामीण-नगरीय अन्तर से सम्बन्धित सिद्धान्त विद्यार्थियों की पाठ्य-पुस्तकों में ही सुरक्षित हैं और उनका केवल परीक्षा के समय ही महत्त्व होता है। अनुसन्धान की प्रविधि के रूप में उनका महत्त्व कभी भी प्रमाणित नहीं हुआ है।"[3] यथार्थ में ग्रामीण तथा नगरीय समाज की विभिन्नताएँ उनकी भौगोलिक और भौतिक स्थिति को देखते हुए ही स्पष्ट की हैं।

आर. ई. पाहल (R. E. Pahl) ने लिखा है कि अतीत में ग्रामीण-नगरीय सातत्य की अवधारणा को नगरीकरण की प्रक्रिया के रूप में समझा जाता रहा था। इस प्रक्रिया के विश्लेषण में सीमा-तत्त्व को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। वास्तव में सामाजिक परिवर्तन की अवधि में आवास की भौतिक दशाएँ और व्यावसायिक स्वरूप इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रहता जितना कि सामाजिक संरचना में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन महत्त्वपूर्ण होते हैं। आज यदि कहीं ग्रामीण-नगरीय अन्तर विद्यमान भी है तो उसका आधार जनसंख्यात्मक अथवा भौतिक नहीं है, बल्कि यह सामाजिक प्रक्रिया के रूप में दृष्टिगत होता है। सबसे बड़ा तथ्य तो यह है कि आज विभिन्न क्षेत्रों में पुंज

---

1. L. Wirth, Urbanism as a way of Life, in Halt and Reiss, *Cities and Society*, pp. 46-63.
2. Bertrand and Others, *Rural Sociology*, p. 24.
3. Reissman, *The Urban Process*, p. 123.

समाजों (Mass Societies) का विकास हो रहा है जिनमें नगरीय एवं ग्रामीण विशेषताओं का समन्विन प्रभाव देखने को मिलता है।[1]

उपर्युक्त विचारकों के विचार स्पष्ट करते हैं कि ग्रामीण तथा नगरीय अन्तर एक अन्तिम सीमा पर ही स्पष्ट होते हैं। इन दोनों सीमाओं के बीच आने वाले सभी समाज चाहे ग्रामीण कहे जाते हों अथवा नगरीय, उनके बीच इतनी समानता है कि उन्हें एक-दूसरे से पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता। ई. ई. बर्गेल (E. E. Bergel) ने कहा है कि "प्रत्येक व्यक्ति यह जानता हुआ प्रतीत होता है कि नगर क्या है, परन्तु कोई व्यक्ति नगर को समुचित रूप से परिभाषित नहीं कर सका है।"[2] नगर और गांव की परिभाषा की अस्पष्टता के कारण ही सर्वमान्य रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि किस स्थान पर गांव की सीमा समाप्त हो रही है और कहां से नगर की विशेषताएँ प्रारम्भ हो रही हैं। सम्भवत: इसीलिए गिस्ट और हलबर्ट ने यह निष्कर्ष दिया है कि "ग्रामीणता और नगरीयता का विभाजन सामाजिक जीवन के तथ्यों पर आधारित नहीं है, बल्कि यह केवल एक मौखिक अवधारणा है।"

इस प्रकार ग्रामीण-नगरीय सातत्य का तात्पर्य उन ग्रामीण और नगरीय विभेदों से है जो दोनों समुदायों को एक-दूसरे की तुलना में स्पष्ट करते हैं तथा उनके बीच निरन्तरता को बनाए रखते हैं। भारतीय सन्दर्भ में यह धारणा और भी अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। मैकाइवर एवं पेज ने जिन आधारों को ग्रामीण और नगरीय जीवन के बीच तुलना से सम्बन्धित कठिनाइयां कहा है,[3] वे परिस्थितियां वास्तव में ग्रामीण तथा नगरीय निरन्तरता को ही स्पष्ट करती हैं।

जनजातीय समाज
(Tribal Society)

भारतवर्ष में अनेक जनजातीय समूह पाये जाते हैं। एक अनुमान के अनुसार भारत में 550 से अधिक जनजातियां निवास करती हैं। 'जनजाति' (Tribe) को आदि-वासी, आदिम जातियां (Primitive Tribe), पर्वतीय जातियाँ, वन्य जातियाँ, पिछड़े हुए हिन्दू आदि अनेक नामों से जाना जाता है।

---

1. R. E. Pahl, *Readings in Urban Sociology*, p. 267.
2. E. E. Bergel, *Urban Sociology*, p. 5.
3. MacIver and Page, *Society*, pp. 311-14.

आई. एम. लुइस (I. M. Lewis) ने **जनजाति** (Tribe) शब्द के प्रयोग को बहुत ही व्यापक और सामान्य अर्थ में लिया है। उनके अनुसार जनजाति पद का प्रयोग मनुष्यों के उस प्राथमिक समय को कहते हैं जो किसी मुखिया की देखरेख में आदिम या जंगली दशा में रहता है। लेकिन लुइस जन-जाति की इस सामान्य परिभाषा को बड़ा ही नैतिक मूल्यों से भरा पाते हैं। उनका कहना है कि जन-जाति शब्द की अपेक्षा **जनजातीय समाज** (Tribal Society) अधिक अच्छा है। जन-जातीय समाज **आदिम समाज** (Primitive Society) या **पूर्व साक्षर समाज** (Pre-literate Society) से भी अधिक रुचिकर है। जन-जातीय समाज के प्रयोग का यह अर्थ नहीं है कि हम जन-जाति शब्द का प्रयोग नहीं करें। वास्तव में देखा जाय तो संसार-भर में जनजाति शब्द का प्रयोग बड़े ही तकनीकी अर्थ में लिया जाता है और ऐसी अवस्था में हमें जन-जातीय समाज के लक्षणों के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट हो जाना चाहिए। इससे पूर्व कि हम जन-जातीय समाज की विशेषताओं का उल्लेख करें, यह समझलें कि जनजाति क्या है?

जनजाति क्या है? (What is Tribe)

अनेक समाजशास्त्रियों एवं मानवशास्त्रियों ने जन-जाति को परिभाषित किया है।

राल्फ लिंटन (Ralph Linton) ने लिखा है कि "सामान्यतः जनजाति खानाबदोशी झुण्डों का एक समूह है जो एक भू-भाग पर रहता है, तथा जो सांस्कृतिक समानताओं, सतत् सम्पर्कों तथा एक निश्चित सामाजिक हितों की भावना के आधार पर एकता की भावना रखता हो।"

डी. एन. मजूमदार (D. N. Majumdar) ने **'रेसेज एण्ड कल्चरस ऑफ इण्डिया"** (Races and Cultures of India) में लिखा है कि—

"कोई जनजाति परिवारों तथा पारिवारिक वर्गों का एक समूह है जिसका एक सामान्य नाम है, जिसका सदस्य एक निश्चित भू-भाग पर निवास करते हैं, एक सामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं, तथा विवाह व्यवसाय के विषय में कुछ निषेधाज्ञाओं का पालन करते हैं, जिन्होंने एक आदान-प्रदान सम्बन्धी तथा पारस्परिक कर्तव्य-विषयक एक निश्चित व्यवस्था का विकास कर लिया है। साधारणतया जनजाति अन्तर्विवाह के सिद्धान्त का समर्थन करती है और उनके सभी सदस्य अपनी ही जनजाति के अन्तर्गत विवाह करते हैं।[1]

गिलिन और गिलिन ने अपनी रचना, **कल्चरल एन्थ्रोपोलाजी** में जनजाति की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "स्थानीय जनजाति समूहों का ऐसा समवाय जन-जाति कहा जाता है जो एक सामान्य क्षेत्र में निवास करता है, एक सामान्य भाषा का प्रयोग करता है तथा जिसकी एक सामान्य संस्कृति है।"[2]

1. D. N. Majumdar ; Races and Cultures of India ; p. 367.
2. Gillin and Gillin ; Quoted D. N. Majumdar : Ibid : p. 282.

डॉक्टर रिवर्स ने कहा है कि "यह एक साधारण प्रकार का सामाजिक समूह है जिसके सदस्य एक सामान्य बोली का प्रयोग करते हैं तथा युद्ध आदि जैसे सामान्य उद्देश्यों के लिए सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं।"[1]

डॉक्टर रिवर्स ने अपनी परिभाषा में सामान्य निवास का उल्लेख नहीं किया है, क्योंकि अनेक जनजातियाँ खानाबदोशी जीवन व्यतीत करती हैं। यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि एक जनजाति समुदाय की अपनी विशिष्ट भाषा, संस्कृति, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था, पुराकथा व प्रजाति आदि होती है। अतः आमतौर पर प्रत्येक जनजाति एक निश्चित भू-भाग पर निवास करती है, इस देश के प्राचीनतम लोगों में से माना जाता है। परन्तु बाहरी आक्रमण से बचने के लिए ये लोग अगम्य प्रदेशों में शरण लेने को बाध्य हुए। जनजातीय एवं गैर-जातीय समूहों से किस प्रकार भेद किया जाय, अर्थात् किस समूह को जनजातीय श्रेणी में रखा जाय, यह एक विवाद का विषय रहा है। सरकारी कर्मचारी, समाज-सुधारक, मानवशास्त्री, आदि में इस विषय में मतभेद रहा है। डॉ. जी. एस. घुरये ने अपनी पुस्तक दि शिड्यूल्ड ट्राइब्स (The Scheduled Tribes) में यह भेद धर्म, व्यवसाय तथा प्रजातीय तत्त्वों के आधार पर किया है, किन्तु इन्हें इस भेद के लिए पर्याप्त आधार नहीं माना जा सकता। प्रोफेसर ए. आर. देसाई ने उन जनजातीय समूहों, जो कि अभी तक संस्कृतिकरण एवं आत्मसात्करण का विरोध करते आये हैं, के कुछ सामान्य लक्षणों पर प्रकाश डाला है, जो कि एक समय में सभी जनजातियों में पाये जाते थे। ये सामान्य लक्षण निम्नलिखित हैं—[2]

1. वे सभ्य जगत् से दूर पर्वतों तथा जंगलों में दुर्गम स्थानों में निवास करते हैं।
2. वे निग्रिटोज, एस्ट्रॉलाइड अथवा मंगोलाइड में से एक प्रजातीय समूह से सम्बन्ध रखते हैं।
3. वे जनजातीय भाषा प्रयोग करते हैं।
4. वे आदिम धर्म को मानते हैं जो कि सर्वजीववाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, जिसमें भूतों तथा आत्माओं की पूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान है।
5. वे जनजातीय व्यवसायों को अपनाते हैं, जैसे उपयोगी प्राकृतिक वस्तुओं का संग्रह, शिकार, वन में उत्पन्न वस्तुओं का संग्रह करना।
6. वे अधिकांशतया मांस भक्षी होते हैं।

1 Dr. Rivers ; Quted ; Ibid : p. 368.
2. A. R. Desai ; Rural India in Transition : p. 51-52.

7. उनकी खानाबदोशी आदतें हैं तथा मदिरा एवं नृत्य के प्रति उनकी विशेष रुचि होती है।

जन-जातीय समाज के बारे में परम्परागत विचार
(Traditional Concept in Tribal Society)

"उद्विकास युग के लेखकों ने जनजातीय और आधुनिक समाज के अन्तर को स्पष्ट किया है। यह अन्तर उन्होंने दो स्तरों पर देखा है : **सामाजिक स्तर और राजनीतिक संगठन स्तर।** **मोरगन और हेनरी मेन** का कहना था कि जन-जातीय समाज में संगठन का आधार **जन्मजात स्थिति या बन्धुत्व व्यवस्था** होती है, जबकि आधुनिक समाज के संगठन का आधार **संविदा** (contract) होता है। जनजाति समाज के सदस्य एक दूसरे से गोत्र और विवाह-सम्बन्धों द्वारा सम्बद्ध होते हैं। आधुनिक समाज बन्धुत्व या जन्मजात स्थिति को सीमित अर्थ में ही प्रयोग में लाता है। उसके सम्बन्धों का आधार तो कानून द्वारा की गई संविदा होती है। उद्विकासवादियों की दृष्टि में इस भाँति जनजातीय समाज का बहुत बड़ा लक्षण उनका बन्धुत्व पर आधारित संगठन है। **बेली** की उड़ीसा के कोन्ड की खण्डात्मक राजनीतिक व्यवस्था की अवधारणा एक सीमा तक उद्विकासवादियों के लक्षण से मिलती जुलती है। कोन्ड जन-जाति बन्धुत्व व्यवस्था पर संगठित है और इसी लक्षण के आधार पर राजनीतिक शक्ति को वह हथियाने का प्रयास करती है।"[1]

"उद्विकासवादियों ने जनजातीय समाज और आधुनिक समाज के अन्तर का दूसरा आधार **क्षेत्र** (territory) लिया है। इसके अनुसार यह माना जाता है कि जन-जातियाँ निश्चित क्षेत्रों या हिस्सों (Pockets) में रहती हैं। सामान्य भाषा में हम इसे **जन-जातीय पट्टी** (Tribal Belt) कहते है। जनजातियों के इस परम्परागत लक्षण को आधुनिक अनुसन्धान द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता। **लकमेन और शपेरा** ने जन-जातियों की राजनीतिक और विधि-संस्थाओं का अच्छा अध्ययन किया है। इन मानव वैज्ञानिको का कहना है कि अफ्रीका की जन-जातियों में संविदा तो मिलती है, लेकिन क्षेत्र नहीं मिलता। ऐसी अवस्था में आधुनिक अध्ययनों की आधार सामग्री पर क्षेत्र को जन-जातियों का निश्चयात्मक लक्षण नहीं कहा जा सकता। वास्तव में देखा जाय तो जन-जातीय समाज को समूह बनने की उद्विकासवादी सन्दर्भ में देखना ही दोषपूर्ण है। हमारा सन्दर्भ तो यह होना चाहिए कि जन-जातीय समाज का स्वरूप, आकार और डिजाइन क्या है।"[2] हम इस नवीन सन्दर्भ से जनजातीय समाज के लक्षणों को देखेंगे।

1-2. डॉ. शम्भू लाल दोशी : उच्च सामाजिक मानव विज्ञान; पृष्ठ 224.

जनजातीय समाज के लक्षण (Features of Tribals Society)

"जन-जातीय समाज के लिये समानार्थक पदों जैसे कि साधारण समाज, पूर्व-औद्योगिक समाज या जनसमाज का प्रयोग होता है। इन समानार्थक पदों को देखकर बहुत स्पष्ट है कि हमें जन-जातीय समाज की अन्तर्वस्तु (content) को देखे बिना उसके स्वरूप को देखना चाहिये। यदि हम जनसमाज या पूर्व-औद्योगिक समाज की अन्तर्वस्तु को देखना प्रारम्भ करें, तो इस विवरण का कोई अन्त नहीं होगा और हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पायेंगे। इस अवस्था में हमें जनजातीय समाज के लक्षणों के विवरण में इन समाजों के स्वरूप को ही देखना चाहिए। आदर्श रूप में जैसा कि विल्सन और विल्सन (Godfrey Wilson and Monica H. Wilson) ने कहा है कि जनजातियाँ छोटे आकार में होती हैं, इनका विस्तार-क्षेत्र छोटा होता है, तथा इनकी सामाजिक विधि और राजनैतिक सम्बन्ध भी बहुत सीमित क्षेत्र में होते हैं। इसी सीमितता में बँधे हुए उनके नैतिक, धार्मिक और संसार-सम्बन्धी दृष्टिकोण होते हैं। इनकी भाषा अलिखित होती है और ऐसी अवस्था में भाषा संचार एक सीमित क्षेत्र में ही होता है। इनकी अर्थव्यवस्था जीविका-स्तर की होती है जिसमें आत्म-निर्भरता की मात्रा अधिक पायी जाती है। ऐसी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के कारण जनजातीय समाज में सामाजिक संस्थायें एक दूसरे से गुँथी हुई होती हैं। जनजातीय लोगों में सामाजिक सुदृढ़ता भी अधिक होती है।"

जनजातीय समाज के उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर यह समझना भूल होगी कि ये समाज सभ्य समाजों से एकदम पृथक् हैं और इनमें गत्यात्मकता नहीं होती। ऐसा विचार अतिरंजित होगा। संसार की जन-जातियों का जो अध्ययन आज हमें प्राप्त है, उसके आधार पर यह कहना पड़ेगा कि समाज के कुछ पहलुओं को लेकर जनजातियाँ यथा—स्थित समाज (static society) हैं और कुछ को लेकर गत्यात्मक। फोर्ड ने बहुत ही उचित कहा है कि जन-जातियों में अन्य समाजों की तकनीकी, नैतिकता, और सौन्दर्य-बोध की अवधारायें होती हैं। इन समाजों का या तो शान्तिपूर्ण ढंग से या युद्ध द्वारा दूसरे समाजों से सम्पर्क होता है और इस सम्पर्क के परिणामस्वरूप आमूल परिवर्तन भी होते हैं। अतः यदि जन-जातियों में अपने भौतिक और सामाजिक वातावरण के साथ सन्तुलन स्थापित कर रखा है तो उन्होंने गतिशीलता भी अपनाई है। इसी सन्दर्भ में लूईस लिखते हैं : "केवल जब इन्हीं विशेषताओं को स्वीकार करते हैं, तभी जनजातीय समाज की काम चलाऊ अवधारणा उपयोगी होती है। यही अवधारणा वास्तव में पाये जाने वाले समुदायों पर विशाल आकार में लगाई जा सकती है।"

"जनजातीय समाज की यह अवधारणा छोटे समूहों पर जो पृथक् और आत्म-निर्भर हैं, भलीभांति लागू होती है। मेलिनोस्की द्वारा अध्ययन किए गए। मलेनेशिया ने ट्रोबियण्ड द्वीपवासियों, फर्थ के टिकोपिया, फोर्टिस के घाना के तलेन्सी

आदि अनेक जन-जातीय समाजों पर यह अवधारणा, लागू होती है। वास्तव में देखा जाय तो जन-जातीय समाज मध्य स्तर के समाज हैं। इन समाजों में राजनीतिक तथा विधि-संस्थाओं में वहुत थोडी सीमा में आन्तरिक **विशिष्टीकरण** (Differentiation) होता है। यह विशिष्टीकरण जन-जातीय समाज के आदर्श प्रारूप से नहीं मिलता।'[1]

जनजातियों का वर्गीकरण (Classification af Tribes)

प्रजातीय तत्त्वों, भाषा, भौगोलिक रचना तथा संस्कृति एवं आर्थिक आधार पर जनजातियों को विभिन्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. **भौगोलिक वर्गीकरण** (Geographical Classification)—भौगोलिक दृष्टि से सामाजिक मानव शास्त्रियों ने भारतीय जनजातियों को कई भागों में विभाजित किया है जिसमें डॉ. गुहा तथा डॉ. **मजूमदार** का वर्गीकरण उल्लेखनीय है। **डॉ. बी. सी. गुहा** (B. C. Guha) ने भारतीय जनजातियों को तीन बड़े भौगोलिक प्रदेशों में बाँटा है—

1. **उत्तरी एवं उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र**—जो कि उत्तर में लेह से लेकर पूर्व में लुशाई पर्वत तक फैला हुआ है।
2. **मध्यवर्ती क्षेत्र**—जो गंगानदी के दक्षिण में कृष्णानदी के उत्तर तक फैला हुआ है। नर्मदा तथा गोदावरी नदियों के बीच के पर्वतीय प्रदेश में अति प्राचीनकाल से जनजातियाँ निवास करती हैं।
3. **दक्षिणी क्षेत्र**—कृष्णानदी के दक्षिण का प्रदेश है। दक्षिण प्रदेश की समस्त जनजातियाँ इसी क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। डॉ. डी० एन० मजूमदार ते भी भौगोलिक आधार पर जनजातियों को उत्तर, उत्तरपूर्व, मध्यवर्ती तथा दक्षिणी भाग-इन तीन में विभाजित किया है।

डॉ. श्यामा चरण दुबे (Dr. S. C. Duby) ने जनजाति-प्रधान क्षेत्रों को चार भागों में बाँटा है।

1. उत्तर और उत्तर-पूर्वी क्षेत्र
2. पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र
3. मध्य क्षेत्र
4. दक्षिणी क्षेत्र

1. **उत्तर और उत्तर-पूर्वी क्षेत्र**—उत्तर प्रदेश में कूर्मांचल प्रदेश की भोटिया जनजाति तथा तराई में रहने वाली थारू जनजाति से लेकर असम में कुकी तथा

---

1. डॉ. शम्भू लाल दोषी : पूर्वोक्त : पृष्ठ 225.

लुशाई तक इसी क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। असम की नागा, खासी, कुकी, अबोर, मिकिर, गुरुंग (नागा समूह के अन्तर्गत अंगामी, कोनयक, सेमां, रेंगमा, यिम्तसंगर, चांग नागा जनजातियां) आती हैं। लेप्चा जनजाति सिक्किम और सीमावर्ती भारतीय क्षेत्रों में पायी जाती है। इस क्षेत्र की अनेक जनजातियाँ अपनी विशिष्टता बनाये हुए हैं। जैसे भोटिया लोग प्रसिद्ध व्यापारी होने के साथ हस्तकला में अत्यन्त निपुण होते हैं। थारू जनजाति में स्त्रियों में जादू की कुशलता सर्वविदित है। नागा जनजाति के लोग अपनी वीरता एवं युद्ध-कुशलता के लिए प्रसिद्ध हैं। गारो तथा खासी जन-जातियों में मातृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं।

2. **पश्चिमी तथा उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र**—इस क्षेत्र में पंजाब, राजस्थान, महाराष्ट्र तथा गुजरात की जनजातियाँ आती हैं; राजस्थान की जनजातियों में भील, गरासिया, मीणा तथा बनजारे प्रसिद्ध हैं तथा गुजरात प्रदेश की महादेवकोली, कटकरी, वार्ली तथा डब्ला प्रमुख जनजातियां हैं।

3. **मध्यवर्ती क्षेत्र**—इसमें देश की सर्वाधिक जनजातीय जनसंख्या निवास करती है। विस्तार की दृष्टि से भी यह प्रदेश सबसे बड़ा है। बिहार के सन्थाल, मुण्डा, उरांव, बिरहोर, उड़ीसा के बोन्दो, खोंड, सोरो तथा जुआंग तथा मध्यप्रदेश के गोंड, बैगा, कोल, कोरकू, कमार, गुमिया आदि इस क्षेत्र के अन्दर आते हैं। दक्षिण पठार की कुछ जनजातियाँ जैसे चेंचू, कोलाम, कोया, राजगोंड आदि भी इसी क्षेत्र के अन्दर आती हैं। छोटा नागपुर क्षेत्र में बिरहोर, उरांव, मुण्डा, हो, खड़िया आदि जनजातियाँ निवास करती हैं। गोंड जनजाति मध्य क्षेत्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण जन-जातियों में से है।

4. **दक्षिणी क्षेत्र**—डा. गुहा ने कृष्णा नदी के दक्षिण में 16° उत्तर अक्षांश तथा डॉ. मजूमदार ने 20° उत्तर अक्षांश के नीचे के भागों को दक्षिण क्षेत्र माना है। इस क्षेत्र में समस्त दक्षिण प्रान्तों, जैसे आन्ध्र, मैसूर, कुर्ग, मद्रास तथा केरल की जनजातियाँ आती हैं। पश्चिमी घाट के दक्षिणी भागों में रहने वाली जन-जातियों को देश की अति प्राचीन जनजातियों के रूप में माना जाता है। नल्लां मल्लाई की चेन्चु जनजाति तथा नीलगिरि पर्वतों के पास की टोडा, कोटा, बदागा जनजातियाँ प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त चेट्टी, इरूला, कुरिचिया, कुरुम्बा, कादर तथा केनी जनजातियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

2. प्रजातीय वर्गीकरण (Racial Classification)

अनेक मानव शास्त्रियों ने भारतीय जनजातियों में प्रजातीय तत्त्वों के सम्बन्ध में अध्ययन करके अपने विचार प्रकट किये हैं जिनमें रिजले, हट्टन, हेडन, डॉ. गुहा तथा डॉ. मजूमदार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारतवर्ष की प्रजातियों के बारे में सर्वप्रथम हर्बर्ट रिजले ने अपनी रचना, 'दि पीपुल्स आफ इण्डिया' में चर्चा की। रिजले ने भारत की प्रजातियों को सात

मुख्य भागों में बाँटा है। इनका कथन है कि सर्व-प्रथम भारत में तीन प्रजातियाँ निवास करती थीं जो कि (1) **मंगोल** (2) द्रविड़ (3) **तथा इण्डो,आर्य** के नाम से जानी जाती थीं। बाद में द्रविड़ तथा इण्डो-आर्य के सम्मिश्रण से इण्डोद्रविड़ बन गये तथा द्रविड़ एवं मंगोल के सम्मिश्रण से **मंगोल-द्रविड़** बन गये तथा मंगोल की एक अन्य शाखा तथा द्रविड़ से **सिथियन द्रविड़ बन** गये। इसके अतिरिक्त, बलोचिस्तान एवं उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त (जोकि अब पाकिस्तान में है) में **टर्को-ईरानीय** प्रजाति के लोग पाये जाते हैं।

ए. सी. हेडन ने उपर्युक्त वर्गीकरण को अस्वीकार करते हुए भारतीय जन-जातियों को पाँच भागों में विभक्त किया, जैसे **आदि द्रविड़, मंगोल, इण्डो आर्य, तथा इण्डोएल्पाइन** ।

जे. एच. हट्टन (J. H. Hutton) ने भारत की प्रजातियों को 6 मुख्य भागों में विभाजित किया—

1. निग्रिटो, 2. प्रोटो आस्ट्रेलियाइड, 3. मेडिटरेनियन, 4. अल्पाइन, 5. मंगोलाइड तथा 6. इण्डोआर्य।

डॉ. बी. सी गुहा ने 1931 में भारतीय जनसमाज को निम्न प्रजातियों में वर्गीकृत किया—

1. नीग्रिटो
2. प्रोटोआस्ट्रेलाइड
3. मंगोलाइड—
   - (अ) पेलियो मंगोलाइड :
     - (क) डोलिको सेफाल्स (लम्बे सिर वाले)
     - (ख) ब्रेकी सेफाल्स (चौड़े सिर वाले)
   - (ब) टिबेटो मंगोलायड :
4. मेडिटरेनियन (भूमध्य सागरीय)
   - (अ) पेलियो मेडिटरेनियन
   - (ब) मेडिटरेनियन
   - (स) ओरियन्टल
5. वेस्टर्न ब्रेकी सेफाल्स (चौड़े सिर वाले)
   - (अ) आल्पिनायड
   - (ब) डिनेरिक
   - (स) आर्मिनायड
6. नार्डिक

3. भाषागत वर्गीकरण (Linguistic Classification) :

भाषागत दृष्टि से जनजातियों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

1. द्रविड़ भाषा-भाषी
2. आस्ट्रो एशियाटिक (आस्ट्रिक) भाषा-भाषी
3. तिब्बती-चीनी भाषा-भाषी

1. द्रविड़ भाषा—द्रविड़ भाषी समूह मध्यवर्ती तथा दक्षिण भारत में फैला हुआ है। गोंड, कन्ध, उरांव, माल्टो और टोडा जनजातियाँ भाषा की दृष्टि से द्रविड़ परिवार से सम्बन्धित हैं। मध्य प्रदेश, आन्ध्र तथा हैदराबाद में गोंडी भाषा बोली जाती है। उड़ीसा में खोंड, बिहार तथा उड़ीसा में कुरूख अथवा उरांव, बिहार में राजमहल पहाड़ियों के आस-पास माल्टो जनजाति की भाषायें बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त इस समूह की अन्य भाषायें हैं—मेलर, पोलिया, सओरा, कोया, पनियान, चेंचू, इरूला, कादर, मलेसर तथा मालाकुरवान।

2. आस्ट्रो-एशियाटिक—इस भाषा समूह में ये जनजातियाँ आती हैं—मध्य तथा पूर्वी भारत की कोल तथा मुण्डा भाषायें, असम में खासी और निकोबार द्वीप की निकोबारी भाषा को भी इसी भाषा-समूह के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त संथाली कोरकू, सावड़ा, गदाबा जनजातियों की बोली भी उक्त समूह से सम्बद्ध मानी जाती है। मुण्डारी, हो, खड़िया, भूमिज तथा बिहार और असम की अनेक जनजातियों को इसी श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मध्य प्रदेश और बरार में कोरकू, उड़ीसा में सवान, (सोरा) तथा गदाबा जनजातियों की बोली भी आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा-समूह के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। अनेक जनजातियों में मौखिक साहित्य काफी सम्पन्न है तथा कहीं-कहीं तो इसे लिपिबद्ध करने का प्रयास भी किया गया है।

3. तिब्बती-चीनी उद्‌भव की जनजातीय भाषायें—इनमें से अधिकांश बोलियाँ जनसंख्या की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। हिमालय की तलहटी तथ असम की अधिकांश जनजातियाँ तिब्बती-चीनी तथा तिब्बती-बर्मी भाषायें बोलती हैं। आरम्भ में इन भाषाओं को तिब्बती-चीनी तथा श्यामी-चीनी दो भागों में विभक्त किया गया था परन्तु अमरीकी विद्वान् राबर्ट शेफर ने इन्हें सात शाखाओं में विभक्त किया है। ये शाखायें हैं : (1) साइनिटिक, (2) मेनिक, (3) बोडिक, (4) बारिक, (5) डाइक अथवा थाई, (6) केरेनिक तथा (7) बर्मी। हिमालय के क्षेत्रों, नेपाल तथा दार्जिलिंग में तिब्बती-बर्मी शाखा का प्रचलन है। खामती के अतिरिक्त सुदूर पूर्वी असम में बोली जाने वाली अन्य सभी भाषायें श्यामी-चीनी शाखा के अन्तर्गत आती हैं। शेष असम में तिब्बती-बर्मी शाखा की बोली का प्रचलन पाया जाता है। उत्तरी असम के सीमान्त पर कुछ तिब्बती-बर्मी जनजातियाँ हैं जैसे—अबोर, मिरी, डफला आदि।

(4) आर्थिक वर्गीकरण (Economic Classification) :

जनजातियों को आर्थिक आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है। जनजातीय अर्थव्यवस्था अपने आप में एक विशिष्टता को लिए हुए है। वे अर्थव्यवस्था की विभिन्न अवस्थाओं, जैसे भोजन संग्रह करने की अवस्था से लेकर स्थानान्तरण कृषि तथा स्थायी कृषि अवस्था तक में रहती हैं।

कोरापुत में 1957 में आयोजित चतुर्थ जनजातीय कल्याण सम्मेलन में पढ़े अपने भाषण में डॉ. टी. सी. दास ने जनजातियों को 5 भागों में विभाजित किया है।

1. खानाबदोश, भोजन संग्रहीता और चरागाही।
2. पहाड़ी ढालों के स्थानान्तरण कृषक।
3. पठार के तथा पहाड़ की तलहटी के हल से खेती करने वाले कृषक।
4. जनजातियाँ जो कि आंशिक रूप से हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में लीन हो चुकी हैं।
5. पूर्ण रूप से आत्मसात्कृत जनजातीय समूह, जो कि हिन्दुओं में उच्च सामाजिक पद (सोश्यल स्टेट्स) प्राप्त किये हुए हैं।

डॉ. हट्टन ने भारतीय जनजातियों को तीन समूहों में विभाजित किया है—

1. वे जनजातियाँ जो वनों से खाद्य सामग्री एकत्रित करती हैं।
2. जनजातियां जो चरागाही की अवस्था में है।
3. जनजातियाँ जो कृषि कार्य, शिकार, मछली मारना तथा उद्योगों पर जीवन यापन करती हैं।

मजूमदार तथा मदन ने आर्थिक दृष्टि से भारतीय जनजातियों को निम्न प्रकार से विभाजित किया है—[1]

1. भारतीय जनजातियों का एक बड़ा भाग वनों पर निर्भर करता है। इनमें से अधिकांश जनजातियाँ वन-प्रदेशों में तथा उनके निकट निवास करती हैं। भोजन जमा करना ही इनकी अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषता है। कोचीन के कादर, ट्रावनकोर के मालापन्तारम, मदुरा के पलियान, वाइनाड के पनियान, हैदराबाद के चेंचू विहार के बिरहोर, मयूरभंज, सिंघभूम तथा मानभूम के पहाड़ी खड़िया जनजाति के लोग इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। ये जनजातियाँ नाममात्र को कृषि-कार्य करती हैं और यह कृषि भी स्थानांतरण-कृषि है।

2. दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत वे जनजातियाँ आती हैं जिनकी अर्थव्यवस्था भोजन-संग्रहण तथा आदिम कृषि-व्यवस्था के प्रकारों के बीच की है। कमार, वैगा तथा विशन पहाड़ी के रेड्डी जनजाति के लोग इस व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं।

---

1. **Dr. Mazumdar and Madan** : An Introduction to Social Anthropology; p. 267–268.

3. तीसरी श्रेणी में जनसंख्या का वह बहुत बड़ा भाग आता है जो कि किसी न किसी प्रकार की कृषि पर आश्रित होने के साथ-साथ निकट के जंगलों से वन्य उत्पादक वस्तुओं का संचय भी करता है। उत्तरी-पूर्वी भारत की जनजातियाँ अधिकांशतया इस श्रेणी के अन्तर्गत आती हैं। इसके अतिरिक्त भारत के मध्यवर्ती प्रदेशों में रहने वाली अनेक जनजातियाँ इस श्रेणी में रखी जा सकती हैं। तीसरी श्रेणी की जनजातियों को दो उप-श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) स्थानान्तरण कृषि करने वाली जनजातियाँ, जैसे—मुड़िया, माड़िया, कोरवा, सावड़ा, गारो आदि।

(ब) स्थायी कृषि करने वाली जनजातियाँ, जैसे—गोंड, उरांव, थारू, मुण्डा, भील, कोटा, परजा, भटरा आदि।

4. चतुर्थ श्रेणी के अन्तर्गत उन जातियों को रखा जा सकता है जो कि उद्योगों की ओर आकर्पित हुई हैं। विशेप रूप से विहार, वंगाल तथा असम की जनजातियाँ अपने परम्परागत व्यवसायों को छोड़कर औद्योगिक प्रतिष्ठानों में कार्य की तलाश में आने लगी हैं। संथाल, हो, मुण्डा, असुर, भुंइया आदि जनजातियों के लोग औद्योगिक श्रमिक के रूप में कार्य करने के लिए शहरी क्षेत्रों की ओर आते हैं।

डॉ. मजूमदार ने अपनी पुस्तक 'दि रेसेस एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया' में विभिन्न जनजातियों के आर्थिक स्तर का उल्लेख निम्नलिखित तालिका के रूप में किया है—[1]

जनजातियों का आर्थिक स्तर

स्थान	शिकार एवं खाद्य संचय की अवस्था	स्थानान्तरण कृपि–पेड़ काटना, निर्माण इत्यादि	स्थायी कृपक (जो जानवरों को पालते हैं) मुर्गी पालन, कपड़ा बुनना, वर्तन निर्माण आदि
उत्तर-प्रदेश	राजी	कोरवा, सहरिया, मुइया, खारवार	थारू, मजही, विण्ड, बोक्सा, खस, कोल
विहार	खड़िया, विरहोर	कोरवा, असुर	मुण्डा, हो, तमारिया, उरांव
बंगाल	कुकी	गारो, माल, पहाड़िया	पोलिया, संथाल
मध्य-प्रदेश	हिलमाड़िया	मूरिया, दण्डामी, माड़िया, गोंड	परजा भारत
असम	कुकी, कोनयक, नागा,	नागा, गारो	खासी, मनीपुरी

1. Dr. Majumdar ; Ibid. p. 153.

मद्रास तथा आंध्र	कोया, कोंटारेड्डी, पालियान, कादर, हिलपान्तराम	कोंड, कुरूबा, गोंड, सोरा, मुण्डावान	वदागा, कोरा, इरूला, परजा
उड़ीसा	ज्वांग	सोरा	—
महाराष्ट्र	—	—	भील, गोंड

(5) सांस्कृतिक वर्गीकरण (Cultural Classification)

श्री वेरियर एल्विन (Varrier Elwin) ने संस्कृति-सम्पर्क को आधार मान कर जनजातियों को चार मुख्य भागों में विभक्त किया है।[1] प्रत्येक भाग सभ्यता के स्तर को इंगित करता है—

1. प्रथम वर्ग में वे जनजातियाँ आती हैं जो कि सच्चे अर्थ में जनजातियाँ कहलाने योग्य है। ये विकास के प्राचीनतम स्तर पर हैं। जनसंख्या की दृष्टि से ये बहुत कम हैं। ये दुर्गम स्थानों में निवास करती हैं, जो स्थान सभ्य लोगों के स्थानों से काफी दूरी पर है। वस्तर के पहाड़ी माड़िया, उड़ीसा के ज्वांग, गदावा और वोंदो को इस श्रेणी में रखा गया है। इनका सामाजिक संगटन परम्परागत रूप से वना हुआ है तथा इनकी परम्परायें पूर्ण रूप में वनी हुई हैं।

2. दूसरी श्रेणी के लोग प्रथम की तरह ही सुदूर घने जंगलों में निवास करते हैं तथा प्राचीन परम्पराओं का पूर्ण रूप से पालन कर रहे हैं। विशन-हार्न माड़िया, भूमिया, विजवार तथा वैगा इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। अव इनमें अनेक परिवर्तन आ रहे हैं।

3. तीसरी श्रेणी के लोगों की संख्या वहुत अधिक है तथा वाहरी सम्पर्क के परिणामस्वरूप इनकी जनजातीय संस्कृति, धर्म, कला तथा सामाजिक संगठन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ रहे हैं। ये पारम्परिकता का त्याग करने लगे हैं तथा वाहरी जगत से अधिकाधिक प्रभावित होते जा रहे हैं।

4. इस श्रेणी के अन्तर्गत प्राचीन सामन्त तथा जमींदार लोग आते हैं। जैसे—भील, नागा, सरदार, गोंड राजा, कोरकू, सामन्त, धनी संथाल, उरांव नेता सभ्य मुण्डा जनजाति के लोग इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं। ये जनजातियाँ तयानाम, गाँव, तथा धर्म की कुछ विशेषताओं के अतिरिक्त पूर्ण रूप से आधुनिकता में प्रवेश कर रही हैं। जैसे—आधुनिक ढंग से रह रही हैं, हिन्दू धर्म स्वीकार कर चुकी हैं तथा अपने आर्थिक जीवन को उन्नत वना चुकी हैं। इस प्रकार यह लोग आधुनिक सभ्यता से सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं।

डा. मजूमदार ने एल्विन के वर्गीकरण की आलोचना करते हुए एल्विन के इस तर्क का खण्डन किया है कि गैर-जनजातियों के साथ सम्पर्क के परिणाम

1. Varrier Elwin ; Aborginals, p. 7-11.

जनजातियों के लिए सदैव अहितकर होंगे। एल्विन ने कहा है कि प्रथम वर्ग की जनजातियों की कोई समस्या नहीं है, परन्तु डा. मजूमदार ने इस बात का खण्डन किया है। एल्विन का कथन है कि प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के लोगों को सीधे चौथी श्रेणी की ओर बढ़ना है, किन्तु डॉ. मजूमदार के अनुसार चौथी श्रेणी को आदर्श के रूप में नहीं माना जा सकता है। यदि जनजातियों का सांस्कृतिक सम्पर्क बिना किसी नियन्त्रण के शोषकों से हो जाय तो ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है जिसकी कि एल्विन को आशंका थी, किन्तु यदि सरकारी प्रयत्नों व समाज-सुधारकों की सहायता से सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ता है तो इस प्रकार की स्थितियों को उत्पन्न होने से रोका सकता है।

डा. मजूमदार ने मोटे तौर से जनजातीय संस्कृति को दो श्रेणियों में रखा है।

1. आत्मासात्कृत (Assimilated)
2. अनुकूलित (Adaptive)

प्रथम के अन्तर्गत वे जनजातियाँ आती हैं जिनकी संस्कृति किसी अन्य संस्कृति में पूर्ण रूप से समा गई है तथा अनुकूलित जनजातियाँ वे हैं जो कि सम्पर्क में आने वाली संस्कृतियों का अनुकूलन कर रही हैं। मजूमदार तथा मदन ने अपनी रचना दि इन्ट्रोडक्शन टु सोश्यल एंथ्रोपोलाजी में एक और वर्गीकरण प्रस्तुत किया है, जिसके अनुसार जनजातियों को तीन समूहों में रखा गया है—

1. वे जनजातियाँ, जो कि ग्रामीण-नगरीय समूहों से सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत दूर हैं अर्थात् जो इन समूहों के सम्पर्क में अभी तक नहीं आ पायी हैं।
2. वे जनजातियाँ जो कि ग्रामीण व नगरीय समूहों की संस्कृति से प्रभावित हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनके जीवन में अनेक असुविधायें एवं समस्यायें उत्पन्न हो गयी हैं।
3. वे जनजातियाँ जो ग्रामीण व नगरीय समूहों की संस्कृति के सम्पर्क में आने पर कोई असुविधा अथवा समस्या का सामना नहीं कर रही हैं।

1952 में कलकत्ता में आयोजित भारतीय सामाजिक कार्य सम्मेलन (इण्डियन कांग्रेस आफ सोश्यल वर्क) में एक जनजातीय कल्याण समिति का गठन किया गया; जिसने भारतीय जनजातियों को निम्नलिखित सांस्कृतिक श्रेणियों में बाँटा है—

1. **जनजातीय समुदाय** : वे जनजातियाँ जो कि अभी तक सुदूर पर्वतीय प्रदेशों तथा घने जंगलों में निवास करती हैं तथा जीवन की प्राचीन विधियों का आज भी पालन कर रही हैं।
2. **अर्ध जनजातीय समुदाय** : अर्थात् वे जनजातियां जो कि अब करीब के गाँवों में स्थायी रूप से रहने लग गयी हैं तथा जिन्होंने कृषि एवं अन्य सम्बद्ध व्यवसायों को अपना लिया है।

3. **संस्कृति प्रभावित जनजातीय समुदाय**—अर्थात् वे जनजातियां जो कि नगरों एवं कस्बों की ओर आने लग गयी हैं तथा आधुनिक उद्योगों एवं अन्य व्यावसायिक कार्य करने लग गयी हैं तथा जिन्होंने आधुनिक सांस्कृतिक लक्षणों को अपना लिया है।
4. **पूर्ण आत्मसात्कृत जनजातीय समुदाय**—डॉ. घुरये ने अपनी कृति दि सिड्यूल्ड ट्राइब्स में भारतीय जनजातियों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—

(1) **प्रथम** जनजातियों में वे हैं जिन्होंने युद्ध सफलतापूर्वक लड़ा है तथा जो हिन्दू समाज के अन्दर भी पर्याप्त उच्च स्तर वाली मानी जाती हैं।

(2) **द्वितीय** में वे विशाल जनजातीय समुदाय हैं जो कि आंशिक रूप से हिन्दू समाज के अंग बन गये हैं अथवा हिन्दू संस्कृति व समाज-व्यवस्था के अनुकरण से हिन्दुओं जैसे हो गये हैं तथा हिन्दुओं के निकट सम्पर्क में आ गये हैं।

(3) **तृतीय** वे पर्वतीय प्रदेशों में रहने वाली जनजातियाँ हैं जिन्होंने ऐसी बाहरी संस्कृतियों का, जिन्होंने उनकी सीमाओं पर दबाव डाला है, विरोध करने में अपनी सामर्थ्य का परिचय दिया है।

विश्वविद्यालय प्रश्न
(University Questions)

1. ग्रामीण तथा नगरीय समुदायों में अन्तर कीजिए।
   (Di·tinguish between Rural and Urban Societies.) (1984)
2. ग्रामीण एवं नगरीय समाजों में भेद कीजिये।
   (Differentiate between Rural and Urban Societies.) (1986)
3. जनजातीय समाज किसे कहते हैं? भारतीय जनजाति समाज का वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।
   (What is the tribal society? Give the classification of Indian Tribal societies.) (1986)

———



4

सामाजिक परिवर्तन—अवधारणा, प्रतिमान एवं कारक

(Social Change—Concept, Patterns and Factors)

सामाजिक परिवर्तन—एक परिचय
(Social Change—An Introduction)

"समाज परिवर्तनशील एवं गतिशील है।"[1] मेकाइवर एवं पेज का यह कथन है कि समाज की परिवर्तनशील प्रकृति की अनिवार्यता को दर्शाता है। समाजशास्त्र के पिता आगस्त काम्ट (Auguste Comte) ने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु में दो विन्दुओं का उल्लेख किया है।

1. सामाजिक स्थैतिकी (Social statics) एवं
2. सामाजिक गत्यात्मकता (Social Dynamics)

सामाजिक गत्यात्मकता ही समाज की परिवर्तनशील प्रकृति को दर्शाती है। हेरेक्लिटस ने भी लिखा था कि सभी वस्तुयें परिवर्तन के बहाव में हैं। स्पष्ट है कि समाज अनिवार्यतः परिवर्तनशील है इतिहास साक्षी है कि दुनियाँ में किसी भी ऐसे समाज का उदाहरण नहीं दिखायी देता जो अपनी सामाजिक संरचना को स्थैतिक (static) रख पाया हो। यह सम्भव है कि विभिन्न समाजों में परिवर्तन की मात्रा, दिशा, गति एवं स्वरूप में अन्तर होता है। जो समाज सौ या हजार वर्ष पूर्व थे, वे आज नहीं हैं, तथा जो आज हैं, वे सौ या हजार वर्ष वाद परिवर्तित हो चुके होंगे। मेकाइवर एवं पेज लिखते हैं कि एक हजार वर्ष पहले यूरोप और अमेरिका के समाजों का रूप आज के समाज से नितान्त भिन्न था। इन एक हजार वर्षों में अवश्य ही उनमें नये-नये परिवर्तन हुए हैं। आज से दस हजार वर्ष पहले सामाजिक व्यवस्था कैसी थी, उनमें कैसे-कैसे परिवर्तन और पुनर्गठन हुये, परिवार तथा राज्य जैसे मौलिक तत्वों में किस प्रकार परिवर्तन हुये होंगे, आदि वातों को व्यक्त करना आज के व्यक्ति की कल्पना-शक्ति के वाहर है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवर्तन एक अनिवार्य प्रक्रिया है और कोई भी समाज इससे अछूता नहीं है। सामाजिक परिवर्तन की विविवत् अवधारणा, विवेचना से पूर्व यह उपयुक्त होगा कि हम परिवर्तन की अवधारणा को भली-भाँति समझ लें।

परिवर्तन क्या है ?
(What is Change)

सामान्य अर्थों में 'परिवर्तन' का तात्पर्य 'वदलाव' से लगाया जाता है, अर्थात् किसी व्यक्ति, क्रिया या वस्तु की पहले की स्थिति में वदलाव आ जाना। फीचर (Fitcher)

1. Maciver & Page : Society : p. 508
2. Maciver & Page : Ibid ; p. 509

ने लिखा है, "परिवर्तन संक्षेप में पहले की अवस्था या अस्तित्व के प्रकार में बदलाव या अन्तर (Variation) को कहा जाता है।" मोटे रूप में परिवर्तन किसी दिशा में प्रवाहमान किसी क्रिया अथवा किसी भौतिक या अभौतिक संस्कृति के किसी पक्ष में होने वाले विचलन या विचलन उत्पन्न करने को कहा जाता है।

विलबर्ट मूर (Wilbert Moore) ने अपनी कृति 'सोश्यल चेन्ज' (Social Change) में परिवर्तन की प्रकृति के पक्ष में छः विन्दुओं को प्रस्तुत किया है,[1] जो निम्नलिखित हैं—

(1) प्रत्येक समाज अथवा संस्कृति में परिवर्तन नियमित रूप से और बार-बार होते रहते हैं। अतः यह निरन्तर और पुनरावर्ती हैं।

(2) परिवर्तन देश-काल (Time and Space) की दृष्टि से सापेक्ष है। किसी काल विशेप में हुए परिवर्तन समस्त विश्व को प्रभावित कर सकते हैं। परिवर्तन के प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों ही प्रकार के परिणाम हो सकते हैं।

(3) समकालीन परिवर्तन 'प्रत्येक स्थान' पर अपेक्षित होते हैं और प्रत्येक स्थान पर इनके परिणाम महत्त्वपूर्ण और अर्थपूर्ण हो सकते हैं, इसलिए इनका दोहरा महत्त्व है।

(3) प्राचीन परिवर्तन की तुलना में निवर्तमान परिवर्तन अधिक हुए हैं अर्थात् निवर्तमान परिवर्तन नियोजित अधिक हैं।

(5) कोई सामान्य सा परिवर्तन भी व्यक्तिगत जीवन व समाज के व्यापक क्षेत्रों को प्रभावित कर सकता है।

(6) परिवर्तन की प्रकृति संचयी है अर्थात् एक के बाद दूसरा परिवर्तन, आपस में मिले हुए और जुड़े हुए रूप में, नयी कार्य-पद्धतियों को जन्म देता है। इस बीच कई कार्य-पद्धतियाँ अनुपयोगी हो जाती हैं।

परिवर्तन का सम्बन्ध प्रमुख रूप से तीन बातों से है—(1) वस्तु, (2) **समय** एवं (3) **भिन्नता**।

(1) **वस्तु** (Object)—परिवर्तन का सम्बन्ध किसी न किसी विषय अथवा 'वस्तु' से होता है। जब हम कहते हैं कि परिवर्तन आ रहा है, तब हमें यह भी स्पष्ट करना होता है कि परिवर्तन किस वस्तु अथवा विषय में आ रहा है। विषय-वस्तु को बताये बिना परिवर्तन का हम अध्ययन नहीं कर सकते हैं।

(2) **समय** (Time)—परिवर्तन का '**समय**' से घनिष्ट सम्बन्ध है। परिवर्तन को प्रकट करने के लिए हमारे पास कम से कम दो समय होने चाहिए। एक ही समय में परिवर्तन की चर्चा नहीं की जा सकती है। उदाहरण के लिए, हम कह सकते हैं कि भारत वैदिककाल की तुलना में वर्तमान समय में बहुत कुछ बदल गया है, समय के सन्दर्भ में ही परिवर्तन ज्ञात होता है। समय की अवधारणा को सम्मिलित किये बिना किसी भी परिवर्तन के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता।

(3) **भिन्नता** (Variation)—विभिन्न समयों में यदि किसी वस्तु में 'भिन्नता' नहीं आये तो परिवर्तन नहीं कहलायेगा। वस्तु के रूप में यदि समय के साथ अन्तर न आये तो हम यही कहेंगे कि परिवर्तन नहीं हुआ है। अतः वस्तु के रंग-रूप, आकार-

1. Wilbert Moore : Social Change, p. 4.

प्रकार, संरचना, कार्य अथवा अन्य पक्षों में भिन्नता प्रकट होने पर ही हम परिवर्तन का अध्ययन कर सकते हैं।

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Change)

सामान्यत: सामाजिक परिवर्तन का आशय समाज एवं उसकी संरचना में होने वाले परिवर्तन से लगाया जाता है। और भी स्पष्ट रूप में समाज में होने वाला परिवर्तन की सामाजिक परिवर्तन है।

आरम्भिक समाजशास्त्रियों एवं विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को उद्विकास (Evolution) एवं प्रगति (Progress) के साथ-साथ विश्लेषित किया था और तीनों अवधारणाओं सामाजिक परिवर्तन, उद्विकास एवं प्रगति के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट नहीं किया था। इसका मूल कारण यह था कि आरम्भिक समाजशास्त्री एवं समाज-वैज्ञानिक इन तीनों अवधारणाओं में कोई अन्तर स्पष्ट नहीं कर पाये। लेकिन बाद में इन्हें पृथक् माना गया।

सबसे पहले सन् 1922 में डब्ल्यू० एफ० आग्बर्न (W. F. Ogborn) ने **'सोशल चेन्ज'** (Social Change) नामक अपनी पुस्तक का प्रकाशन किया। आग्बर्न ने ही पहली बार इन तीनों अवधारणाओं—सामाजिक परिवर्तन, उद्विकास एवं प्रगति में भेद किया तथा सामाजिक परिवर्तन की विशद व्याख्या की। इसके बाद ये तीनों ही अवधारणाएँ समाजशास्त्रीय शब्दावली में अत्यन्त विशद एवं व्यापक रूप से प्रयुक्त होने लगीं।

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्टत: समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम विभिन्न विद्वानों द्वारा परिभाषाओं को समझने का प्रयास करें।

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने अपनी पुस्तक **'ह्यूमन सोसाइटी'** में लिखा है कि "सामाजिक परिवर्तन से हमारा अभिप्राय केवल उन परिवर्तनों से है जो सामाजिक संगठन में होते हैं अर्थात् समाज की संरचना और समाज के कार्यों में होते हैं।"[1] इस परिभाषा के अनुसार सामाजिक संगठन के संरचनात्मक (Structural) और प्रकार्यात्मक (Functional) दोनों पक्षों में होने वाले परिवर्तन को हम सामाजिक परिवर्तन कहेंगे। दूसरे शब्दों में, सामाजिक परिवर्तन से आशय समाज की किन्हीं एक-दो विशेषताओं में नहीं, बल्कि सम्पूर्ण व्यवस्था में परिवर्तन से है।

मेकाइवर एवं पेज (Maciver & Page) ने **'सोसाइटी'** में लिखा है कि "समाजशास्त्री के रूप में हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध केवल सामाजिक सम्बन्धों से है, अत: केवल सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों को ही सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।"[2]

गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) ने लिखा है कि "सामाजिक परिवर्तन जीवन की मानी हुई रीतियों में परिवर्तनों को कहते हैं, चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं के परिवर्तनों से हुए हों अथवा सांस्कृतिक साधनों से, जनसंख्या की

---

1. Kingslay Davis : Human Society, p. 622.
2. Maciver & Page : Society, p. 511.

रचना या सिद्धान्तों के परिवर्तनों से हुए हों या प्रसार से हुए हों अथवा समूह के अन्दर ही आविष्कारों के फलस्वरूप हुए हों।"[1] गिलिन एवं गिलिन की परिभाषा उन विभिन्न कारणों को प्रस्तुत करती है जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन घटित होता है।

मैरिल एवं एलड्रीज (Merill and Eldredge) के शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य यह है कि समाज के अधिकतर व्यक्ति इस प्रकार के कार्यों में संलग्न हैं जो उनके पहले के लोगों के कार्यों से भिन्न हैं। समाज-प्रतिमानित (Patterned) मानवीय सम्बन्धों का एक-विशाल और जटिल जाल-सा है, जिसमें सभी मनुष्य भाग लेते हैं। जब मानव-व्यवहार परिवर्तन की प्रक्रिया में होता है तो हम इसी बात को दूसरे रूप में कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।"[2]

डॉसन एवं गेटिस (Dawson and Gettys) के अनुसार, "सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है, क्योंकि सम्पूर्ण संस्कृति अपनी उत्पत्ति, अपने अर्थ और प्रयोग में सामाजिक (Social) है।"[3] इन लेखकों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई अन्तर नहीं माना है, क्योंकि इनका विचार है कि संस्कृति वास्तव में एक सामाजिक घटना है जिसकी उत्पत्ति सामाजिक पृष्ठभूमि पर ही होती है, अतः सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन में अन्तर करना कोई अर्थ नहीं रखता।

रोनाइल्ड फ्रीडमैन एवं उनके अन्य सहयोगियों (Ronald Freedman and Others) ने 'प्रिन्सिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी' नामक अपनी कृति में लिखा है कि, "एक निश्चित समूह अथवा समाज में व्यवहार के प्रस्थापित ढंगों में किसी भी गैर-पुनरावृत्तिपूर्ण हेर-फेर को हम सामाजिक परिवर्तन कहेंगे।"[4]

मोरिस जिन्सबर्ग (Morris Ginsberg) का कहना है कि "मैं सामाजिक परिवर्तन का तात्पर्य सामाजिक संरचना (अर्थात् एक समाज का आकार, इसके भागों अथवा इसके संगठन के प्रकार का सन्तुलन अथवा ढांचा) में होने वाले परिवर्तन से समझता हूँ।"[5]

हैरी जॉनसन (Harry Johnson) के शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था की संरचना में होने वाला परिवर्तन है।"[6]

आलविन बासकॉफ (Alvin Baskoff) के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन एक ऐसी बोधगम्य प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत हम निश्चित सामाजिक व्यवस्थाओं की संरचना एवं प्रकार्य में होने वाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की खोज कर सकते हैं।"

---

1. Gillin & Gillin : Cultural Sociology. p. 561.
2. Merill & Eldred : Culture and Society. p. 512.
3. Dawson & Gettys : Introduction to Sociology, p. 580.
4. Ronald Freedman & Others : Principles of Sociology, p. 234.
5. Morris Ginsberg : Social Change; BJS (Sept. 1958), p. 205.
6. Harry M. Johnson : Sociology : A Systematic Introduction. p. 626.

उपर्युक्त समस्त परिभाषाएँ इस तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि सामाजिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है। विस्तृत अर्थ में सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक संरचना, सामाजिक प्रकार्य, सामाजिक सम्बन्ध एवं अन्त:क्रिया आदि सम्मिलित होते हैं, क्योंकि मूलतः सामाजिक व्यवस्था उसे कहा जाता है जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति एक सीमित स्थिति में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अन्त: क्रियाएँ करते हैं।

एक उदाहरण से इसे और स्पष्टत: समझा जा सकता है, जैसे 'जाति-प्रथा' भारतीय सामाजिक संरचना का एक प्रमुख स्तम्भ है। वर्तमान में अनेक प्रक्रियाओं जैसे नगरीकरण (Urbanization), औद्योगीकरण (Industrialization), पश्चिमीकरण (Westernization), आधुनिकीकरण (Modernization) आदि के द्वारा 'जाति-प्रथा' की संरचना (Structure) एवं उसके प्रकार्यों (Functions) में परिवर्तन हो रहे हैं। ये सभी परिवर्तन वस्तुत: सामाजिक परिवर्तन के द्योतक हैं।

यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिये कि सामाजिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों की गति बहुत धीमी होती है। **पर्सी कोहेन** (Percy Cohen) ने **'मॉडर्न सोश्यल थ्योरी'** में लिखा है कि "कोई भी सामाजिक व्यवस्था कभी पूर्णरूपेण परिवर्तित नहीं होती।"[1] अर्थात् सामाजिक संरचना में परिवर्तन सदैव आंशिक रूप से होता है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति एवं विशेषताएँ
(Nature and Characteristics of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन एक सर्वव्यापी एवं सार्वभौमिक नियम है, लेकिन फिर भी स्थिर और गतिशील समाजों में इसकी प्रकृति एवं विशेषताएँ भिन्न-भिन्न दिखायी देती हैं। स्थिर समाजों में अनेक पीढ़ियों तक व्यक्तियों की स्थिति और भूमिका में कोई परिवर्तन नहीं होता, जबकि गतिशील समाजों में व्यक्तियों के पदों, मनोवृत्तियों, व्यवसाय, शिक्षा, सांस्कृतिक नियमों एवं व्यवहारों में तीव्र गति से परिवर्तन होता है, अत: सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति की विवेचना यहाँ उपयुक्त होगी।

विलबर्ट मूर (Wilbert E. Moore) ने अपनी कृति 'सोश्यल चेंज' में सामाजिक परिवर्तन की सात विशेषताओं का उल्लेख किया है।[2] ये निम्नलिखित हैं :

1. सामाजिक परिवर्तन एक अपवाद न होकर एक अनिवार्य नियम है। इसका आशय यह नहीं है कि सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत सामाजिक संरचना के सम्पूर्ण तत्त्व पूर्ण रूप से परिवर्तित हो जाते हैं, वल्कि इसका आशय यह है कि सामाजिक संरचना के किसी न किसी अंग या भाग में परिवर्तन अवश्य होता है। सामाजिक पुनर्निर्माण, अथवा पुनर्रचना (Social Reconstruction) की अवधि में इसकी गति सबसे अधिक तेज होती है।

---

1. Percy Cohen : Modern Sociological Theory, p. 84.
2. Wilbert Moore : *Social Change*, p. 2.

2. प्रारम्भिक समाजों की तुलना में आधुनिक समाजों में परिवर्तन अधिक होते हैं। ऐसे परिवर्तनों को वर्तमान में हम अधिक स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

3. यद्यपि सामाजिक परिवर्तन के प्रसार को सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है, लेकिन फिर भी अभौतिक साधनों (विचारों, संस्थाओं आदि) में परिवर्तन की जो गति होती है, उससे कहीं तीव्र गति भौतिक वस्तुओं के क्षेत्र में देखने को मिलती है।

4. स्वाभाविक ढंग से एवं सामान्य गति से जो परिवर्तन होते हैं, उनका प्रभाव हमारे विचारों तथा सामाजिक संरचना पर अधिक पड़ता है।

5. सामाजिक परिवर्तन को अनुमान से ही जाना जा सकता है, उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

6. सामाजिक परिवर्तन गुणात्मक (Qualitative) होता है अर्थात् सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत एक स्थिति दूसरी स्थिति को प्रभावित करती है और यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक इसके अच्छे या बुरे प्रभावों से सम्पूर्ण समाज परिचित नहीं हो जाता।

7. आधुनिक समाजों में सामाजिक परिवर्तन न तो मनमाने ढंग से किया जाता है और न ही उसे प्राकृतिक नियमों पर स्वतन्त्र व असंगठित छोड़ दिया जाता है। साधारणतः प्रत्येक समाज में सामाजिक नियोजन के द्वारा इसे नियन्त्रित कर इच्छित उद्देश्यों की पूर्त्ति की दिशा में क्रियाशील बनाया जाता है।

सामान्यतः सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति के बारे में निम्नलिखित बिन्दु प्राप्त किये जा सकते हैं :

1. **सामाजिक परिवर्तन की तीव्रता** (The Rapidity of Social Change) संसार के लगभग समस्त राष्ट्रों में सामाजिक परिवर्तन की गति में होड़ लगी हुई है। जिन समाजों में परिवर्तन तीव्र गति से नहीं होते, उन्हें हम पिछड़ा हुआ समाज मानते हैं। जैसे-जैसे वैज्ञानिक अनुसंधानों और अन्वेषणों में वृद्धि हो रही है, वैसे-वैसे सामाजिक परिवर्तन की गति भी तीव्र होती जा रही है। संचार, यातायात आदि के साधनों के विकास ने इस तीव्रता में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

2. **सामाजिक परिवर्तन की अमूर्त्तता** (Abstraction of Social Change) सामाजिक सम्बन्ध चूँकि अमूर्त्त होते हैं, अतः उनमें हुए फेर-बदल या संशोधनों को निश्चित रूप से नहीं बतलाया जा सकता। सामाजिक सम्बन्धों की अमूर्त्तता के कारण ही सामाजिक परिवर्तन भी अमूर्त्त माना जाता है। सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध भी सामान्यतः गुणात्मक ही माना जा सकता है।

3. **सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता** (Essentiality of Social Change)—सामाजिक परिवर्तन प्रत्येक समाज में अनिवार्यतः होता है। प्रत्येक समाज भी प्रगति का आकांक्षी होता है और प्रगति के लिए आवश्यक है कि समाज

की स्थापित संरचना में परिवर्तन किया जाये। यही कारण है कि प्रत्येक समाज सामाजिक परिवर्तन की अनिवार्यता को स्वीकार करता है।

4. सामाजिक परिवर्तन की तुलनात्मकता (Comparative Nature of Social Change)—हम स्पष्ट कर आये हैं कि विभिन्न समाजों में सामाजिक परिवर्तन की गति भिन्न-भिन्न होती है। यही नहीं एक समाज के विभिन्न भागों में भी सामाजिक परिवर्तन की गति भिन्न-भिन्न होती है। अत: इसे जानने के लिए तुलना की आवश्यकता होती है। एक समाज में सामाजिक परिवर्तन को तभी जाना जा सकता है, जबकि उसकी तुलना दूसरे समाज से की जाये।

5. सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान (Various Pattern of Social Change)—सामाजिक परिवर्तन सदैव एक ही प्रकार का नहीं होता है, अपितु परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान होते हैं, जैसे समरैखिक प्रतिमान, चक्रीय प्रतिमान या उतार-चढ़ाव का प्रतिमान शिक्षा, विज्ञान एवं कला आदि के क्षेत्र में समरेखीय प्रतिमान को देखा जा सकता है, जबकि फैशन के क्षेत्र में चक्रीय प्रतिमान एवं आर्थिक क्षेत्र में उतार-चढ़ाव के प्रतिमान को देखा जा सकता है।

6. भविष्यवाणी में कठिनाई (Difficulty in Prediction)—सामाजिक परिवर्तन की दिशा और कारकों के बारे में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। वर्तमान में मानवीय सम्बन्ध जिन रूपों में दिखाई देते हैं, भविष्य में भी वे उन्हीं रूपों में दिखाई देंगे, ऐसा कहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। यदि आज एक समाज के सम्बन्ध दूसरे समाज से अच्छे हैं तो कल उनमें तनाव या संघर्ष भी हो सकता है। अत: यह कहना कि सामाजिक परिवर्तन होगा या नहीं, उसकी गति तीव्र होगी या मन्द, यह सब अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। अत: सामाजिक परिवर्तन की भविष्यवाणी कठिनाईपूर्ण होती है।

7. सामाजिक परिवर्तन की सार्वभौमिकता (Universality of Social Change)—सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप एवं प्रतिमान यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, लेकिन फिर भी विश्व के प्रत्येक समाज में परिवर्तन अवश्यम्भावी है और इसी कारण से सामाजिक परिवर्तन को सार्वभौमिक कहा जा सकता है। परिवर्तन की इसी सार्वभौमिकता के कारण सभी समाज अनवरत रूप से परिवर्तित होते रहते हैं।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन
(Sodial and Cultural Change)

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा की अवधारणात्मक विवेचना के लिए यह आवश्यक है कि हम 'सांस्कृतिक परिवर्तन' (Cultural Change) की अवधारणा को भी समझें। आरम्भ में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई अन्तर नहीं किया गया था। इसका मूल कारण 'समाज' (Society) और 'संस्कृति' (Culture) की अन्तत: सम्बन्धता का है।

अनेक समाज वैज्ञानिकों ने भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई अन्तर नहीं किया। गिलिन एवं गिलिन, मैरिल एवं एल्ड्रिज तथा डासन एवं गेटिस जैसे समाजशास्त्रियों ने अपनी सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या में सांस्कृतिक परिवर्तन को सम्मिलित किया है।

गिलिन एण्ड गिलिन ने अपनी कृति 'कल्चरल सोश्योलोजी' में लिखा है कि 'जीवन के स्वीकृत ढंगों में जब संशोधन होने लगता है तो उसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।'[1]

वस्तुतः 'जीवन के स्वीकृत ढंग' (Accepted Modes of Life) का दूसरा नाम ही 'संस्कृति' (Culture) है। प्रसिद्ध सामाजिक मानवशास्त्री मेलिनोस्की (Malinowaski) ने लिखा है कि "संस्कृति के अन्तर्गत जीवन के समग्र तरीके या ढंग (Total ways of Life) सम्मिलित हो जाते हैं।" इस दृष्टिकोण से यदि देखा जाये तो हम कह सकते हैं कि सांस्कृतिक परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।

मैरिल एवं एल्ड्रीज ने भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई अन्तर नहीं किया है। आपके अनुसार, "जब मानव-व्यवहार संशोधित हो रहा हो तो वह समाज में हो रहे परिवर्तन का सूचक है।"[2]

मानवीय-व्यवहार व मानवीय क्रियाओं को सांस्कृतिक भी माना जाता है। हर्षकोविट्ज (Herskovitz) ने मानवीय क्रियाओं को सांस्कृतिक माना है। इस प्रकार जीवन के सम्पूर्ण ढंग एवं मानवीय व्यवहार में हम धर्म, साहित्य, कला, दर्शन, व्यवहार के ढंग, वेशभूषा, रहन-सहन के तरीके, खान-पान आदि को सम्मिलित करते हैं। संस्कृति की परिभाषा में भी इन सभी तत्त्वों को सम्मिलित किया गया है। अतः इन विद्वानों ने सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तन में अन्तर नहीं किया।

डासन एवं गेटिस (Dawson and Gettys) ने अपनी पुस्तक 'इन्ट्रोडक्शन टू सोश्योलोजी' में स्पष्टतः लिखा है कि "साँस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन ही है, क्योंकि समस्त संस्कृति अपनी उत्पत्ति, अर्थ एवं प्रयोग में सामाजिक होती है।"

उपर्युक्त समाजशास्त्रियों के विचार से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सामाजिक और साँस्कृतिक परिवर्तन में कोई अन्तर नहीं है। वस्तुतः बाद के अनेक समाजशास्त्रियों ने इन दोनों में अन्तर किया है। मोटे तौर पर 'समाज' (Society) में होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है, जबकि 'संस्कृति' (Culture) में होने वाले परिवर्तन साँस्कृतिक परिवर्तन हैं।

किंग्सले डेविस ने लिखा है कि "सांस्कृतिक परिवर्तन की परिधि सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत होती है।........यह सच है कि संस्कृति का

---

1 Gillin and Gillin : Op. cit., p. 561-562.

2. Merrill and Eldredge : Op. cit., p. p. 512.

कोई भी भाग सामाजिक व्यवस्था से पूर्णतः असम्बद्ध नहीं होता, लेकिन यह भी सच है कि सामाजिक व्यवस्था विना किसी ज्ञात रूप में प्रभावित हुए, संस्कृति की शाखाओं में परिवर्तन हो सकता है।"[1]

मेकाइवर एवं पेज ने भी सामाजिक परिवर्तन को साँस्कृतिक परिवर्तन से भिन्न माना है। इस प्रकार, समाज सम्बन्धों का जाल है, अतः सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है, जबकि साँस्कृतिक परिवर्तन के अन्तर्गत कला, साहित्य, धर्म आदि सभी विषयों में होने वाले परिवर्तन साँस्कृतिक हैं। मिल-मालिकों व श्रमिकों के सम्बन्धों में कोई परिवर्तन होता है तो इसका सम्बन्ध समाज से होगा, न कि संस्कृति से, जबकि मोटरों या वस्त्रों के डिजाइन में कोई परिवर्तन होगा तो इसका सम्बन्ध संस्कृति से होगा न कि समाज से।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब हम सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन में प्रमुख अन्तरों को देख सकते हैं—

(1) सामाजिक परिवर्तन केवल सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन हैं, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन के अन्तर्गत कला, साहित्य, धर्म आदि में होने वाले परिवर्तनों को लिया जाता है।

(2) सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा साँस्कृतिक परिवर्तन की परिधि कहीं अधिक विस्तृत है।

(3) सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप समाज का ढाँचा कुछ न कुछ अवश्य बदल जाता है, जबकि साँस्कृतिक परिवर्तन के फलस्वरूप संस्कृति के विभिन्न पक्षों में परिवर्तन होते हैं।

(4) सामाजिक परिवर्तन एक क्रिया है जो प्राकृतिक और संचित दोनों ही कारणों या प्रयत्नों से निरन्तर रहती है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन इस प्रक्रिया की उपज (Product) है अर्थात् सामाजिक परिवर्तनों का होना स्वाभाविक है जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन साधारणतः नियोजित होता है। सांस्कृतिक परिवर्तनों के लिए सचेत प्रयत्न करने पड़ते हैं।

(5) सामाजिक परिवर्तनों की गति सांस्कृतिक परिवर्तन की अपेक्षा तेज होती है, क्योंकि सामाजिक सम्बन्धों में जितनी शीघ्रता से परिवर्तन हो सकते हैं, उतनी शीघ्रता से कला, धर्म और दर्शन, विज्ञान और परम्परा आदि में नहीं हो सकते।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन दो अलग-अलग तरह के परिवर्तन हैं, लेकिन भिन्नता का अर्थ यह नहीं है कि दोनों में कोई सम्बन्ध है ही नहीं। वास्तव में दोनों का एक-दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध है और एक का प्रभाव दूसरे पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कुछ न कुछ अवश्य ही पड़ता है।

---

1. **Kingsley Davis : Op. cit., p. 544.**

परिवर्तन के कुछ अन्य शब्द (Some Other Contents of Change)

सामाजिक परिवर्तन से मिलते-जुलते कुछ अन्य शब्दों का प्रयोग भी हम सामान्यतः किया करते हैं। यहाँ हम ऐसे ही कुछ महत्त्वपूर्ण व प्रमुख शब्दों को प्रस्तुत कर रहे जो निम्नलिखित हैं—

1. प्रक्रिया (Process)
2. उद्‌विकास (Evolution)
3. वृद्धि (Growth)
4. उन्नति और अवनति (Progress and Decline)
5. अनुकूलन (Adaptation)
6. सुधार (Reformation)
7. क्रान्ति (Revolution)

इनका यहाँ हम संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे,

1. **प्रक्रिया** (Process)—जब परिवर्तन में एक क्रम दिखायी दे, अर्थात् जब एक के बाद दूसरी क्रिया प्रारम्भ होती है और परिवर्तन का क्रम कुछ काल तक चलता रहता है। परिवर्तन करने वाली शक्तियाँ सम्पर्क में ही सन्निहित रहती हैं। इस प्रकार का परिवर्तन किसी विशिष्ट दिशा में नहीं होता। ऐसे परिवर्तन को ही प्रक्रिया कहा जाता है। दो मित्रों में संघर्ष हो सकता है और दो दुश्मन दोस्त बन सकते हैं। ऐसे परिवर्तन गुण-दोषहीन होते हैं। इसलिए संक्षेप में प्रक्रिया अथवा विधा वह परिवर्तन है जिसमें सन्निहित शक्तियों के कारण एक परिस्थिति एक क्रम से दूसरी परिस्थति में बदलती है।

2. **उद्‌विकास** (Evolution)—"प्रक्रिया" शब्द को "उद्‌विकास" शब्द से भिन्न समझना चाहिये। हम उद्‌विकास के लिए प्रस्फुटन शब्द का भी प्रयोग कर सकते हैं। जब एक कली फूल में बदलती है तो उसे हम उद् विकास कहते हैं। कली में फूल के सब गुण सन्निहित रहते हैं, परन्तु कली में हम फूल की अलग-अलग पंखुड़ियाँ नहीं देख पाते हैं। कली जब विकसित होती है तो उसके अन्तर्निहित गुण व अंग प्रस्फुटित होकर हमें अलग-अलग दिखाई देते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन की एक विशिष्ट दिशा होती है जो प्रक्रिया में दिखाई नहीं पड़ती। उद्‌विकास होने पर हमें वस्तु की संरचना में या कार्यों में भी अन्तर दिखाई पड़ता है। जो अंग या कार्य प्रारम्भिक अवस्था में हमारी दृष्टि में नहीं आते, वे विकसित अवस्था में हमें स्पष्ट रूप में दिखने लगते हैं। यदि हम यह कहें कि हमारा आधुनिक समाज कुटुम्ब से विकसित हुआ तो हमारे कहने का केवल यही तात्पर्य है कि आधुनिक समाज के सभी अंग जो स्पष्ट रूप से हमें आज दिखाई दे रहे हैं, वे प्रारम्भ में कुटुम्ब में ही अन्तर्हित थे। आज राज्य आर्थिक समुदाय से अलग है, धार्मिक समुदाय और राज्यों का क्षेत्राधिकार भी अलग-अलग है। किन्तु प्रारम्भ में कुटुम्ब में पिता का शासन होता था,

वही आर्थिक व्यवस्था बनाता था और धार्मिक कार्यों को करता था। कुटुम्ब में ही राज्य, धर्म, अर्थ व समाज की शक्तियाँ निहित थीं। इसलिए उद्विकास उस परिवर्तन को कहते हैं जब एक दशा का रूपान्तरण इस प्रकार होता है कि उस दशा के अन्तर्हित सभी अंग-प्रत्यंग अपनी नई दशा में प्रस्फुटित होकर अलग-अलग स्पष्ट रूप से दिखने लगते हैं। इसलिए उद्विकास का एक निश्चित रुख अंगीकरण (Individuation) की ओर रहता है।

3. **वृद्धि** (Growth)—"वृद्धि" या "कमी" शब्दों का प्रयोग संख्यात्मक परिवर्तनों के लिए किया जाता है। विकास में गुणात्मक परिवर्तन होता है जबकि वृद्धि में संख्यात्मक। जब हम कहते हैं कि शहर की आबादी घट गई, मनुष्य की ऊँचाई बढ़ गई तो इस 'घटी' और 'बढ़ी' से हम उन परिवर्तनों की ओर संकेत करते हैं जिन्हें हम माप सकते हैं।

4. **उन्नति और अवनति** (Progress and Decline)—'उन्नति' और 'अवनति' शब्दों का प्रयोग गुणात्मक परिवर्तनों को बताने के लिए किया जाता है, परन्तु यह परिवर्तन विकास से भिन्न होता है। भारतीय रेलों के जाल को देखकर हम यह कह सकते हैं कि भारत ने ब्रिटिश सत्ता के अधीन उन्नति की है। परन्तु यदि हम यह सोचते हैं कि ब्रिटिश सत्ता के कारण मनुष्य का नैतिक पतन हो गया है तो हम यही कहेंगे कि ब्रिटिश राज्यकाल में भारत की अवनति हुई है। जब हम सामाजिक अर्हाओं की दृष्टि से परिवर्तन को देखते हैं तभी हम उन्नति और अवनति शब्द का प्रयोग करते हैं। अवनति और उन्नति में अच्छाई या बुराई का विचार अन्तर्हित रहता है। यह परिवर्तन भी किसी लक्ष्य की ओर जाता है या वहाँ से हटता हुआ दिखाई देता है। यह लक्ष्य हमारा आदर्श या इच्छित गन्तव्य (Desired ends) कहलाता है, पर यह लक्ष्य नैसर्गिक शक्तियों (Natural Powers) द्वारा नहीं बनता है। यह बनता है हमारी सामाजिक अर्हाओं द्वारा। जब हमारे परिवर्तन का रुख हमारे समाज की अर्हाओं द्वारा निर्मित गन्तव्य की ओर रहता है, तब हम उस परिवर्तन को उन्नति कहते हैं; जब हम उसका रुख इस आदर्श से विपरीत दिशा में पाते हैं तो उस परिवर्तन को अवनति कहते हैं। विकास का रुख कोई आदर्श की ओर नहीं रहता है।

5. **अनुकूलन** (Adaptation)—"अनुकूलन", "सामंजस्य" (Harmony), 'अनुकूलकरण' आदि शब्द वस्तुओं या व्यवस्था में परिवर्तन नहीं बताते हैं। ये शब्द दो वस्तुओं के बीच परिवर्तित सम्बन्धों के द्योतक हैं।

6. **सुधार** (Reformation)—नवीन परिस्थितियाँ समाज की पुरानी व्यवस्था को बिगाड़ देती हैं। सांस्कृतिक विलम्बन होने पर मनुष्य और उसके वातावरण के मध्य समायोजन की आवश्यकता दिखती है। इन नवीन परिस्थितियों को अपनाने के लिए पुरानी रूढ़ियों या पुराने व्यवहारों में परिवर्तन करना आवश्यक हो

जाता है। मनुष्य जब जान-बूझ कर सामाजिक अव्यवस्था को हटाने का प्रयत्न करता है, तब उस परिवर्तन को हम सुधार कहते हैं। सुधार का अर्थ होता है बुराइयों, कमजोरियों और दोषों को दूर करना और समाज व संस्था को अच्छा बनाना। सुधार इस प्रकार से नये सामाजिक अन्वेषण हैं। सुधार आन्दोलन उसी समय सफल हो सकते हैं जब (1) वे जन-रीतियों के साथ मेल खाते हैं या (2) उनमें एकाएक परिवर्तन नहीं करते हैं, या (3) जब वे अधिक से अधिक लोगों द्वारा स्वीकृत होते हैं।

7. क्रान्ति (Revolution)—संस्कृति के किसी महान् और तीव्र गति वाले परिवर्तन को क्रान्ति कहते हैं। क्रान्ति संस्कृति की किसी विशेष शृंखला में ही होती है और बाद में ही इसका प्रभाव पूरे समाज पर पड़ता है। धार्मिक क्रान्ति, औद्योगिक क्रांति, राज्य क्रांति शब्दों से ही स्पष्ट है कि क्रांति संस्कृति के एक विशिष्ट अंग में ही होती है। विज्ञान के क्षेत्र की क्रांतियां अन्य क्रान्तियों से भिन्न होती हैं। मोटर, रेल या अणुबम्ब ने विज्ञान के क्षेत्र में क्रांति की है। ऐसी क्रांति वास्तव में भिन्न-भिन्न कई अन्वेपणों के समावेश होने पर महान् तीव्र परिवर्तन उपस्थित करती हैं। **ली बॉन** के अनुसार केवल वैज्ञानिक क्रान्ति ही विवेक द्वारा संचालित होती है। धार्मिक क्रान्ति भावना में परिवर्तन करती है। राज्य क्रान्ति उस समय होती है जब राज्य अशक्त रहता है, इसलिए कुशल शासक क्रान्ति के नेताओं से समझौता कर या राज्य में सुधार कर क्रान्ति को रोकते हैं और बाद में धीरे-धीरे क्रान्ति को कुचल देते हैं।

सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख प्रतिमान
(Broad Patterns of Social Change)

सभी समाजों तथा सभी समय में सामाजिक परिवर्तन एक-सा नहीं होता। इसीलिए सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न रूप या प्रतिमान (pattern) हमें देखने को मिलते हैं। **सर्वश्री मैकाइवर** तथा **पेज** (MacIver and Page) ने सामाजिक परिवर्तन के निम्नलिखित तीन प्रमुख प्रतिमानों का उल्लेख किया है[1]—

(i) प्रथम प्रतिमान (First Pattern)—सामाजिक परिवर्तन का प्रथम प्रतिमान **मैकाइवर** एवं पेज वह है जोकि एक सिलसिले से क्रम-विकास की ओर एक ही दिशा में निरन्तर बढ़ता जाता है, चाहे ऐसे परिवर्तन का प्रारम्भ एकाएक ही क्यों न हो। उदाहरणार्थ, एक नवीन आविष्कार समाज में न केवल एकाएक परिवर्तन

---

1. MacIver and Page, *Society, pp. 519-521.*

लाता है, अपितु अनेक आगामी परिवर्तनों का सिलसिला भी उत्पन्न करता है, क्योंकि उस आविष्कार में जैसे-जैसे सुधार होता जाता है, वैसे-वैसे परिवर्तन का सिलसिला लगातार आगे बढ़ता जाता है। टेलीफोन, रेडियो, प्रिंटिंग मशीन, भाप से चालित इंजन आदि सभी चीजों के आविष्कार के बाद परिवर्तन का जो सिलसिला चला है, उससे हम सब परिचित ही हैं। चूंकि सामाजिक परिवर्तन के इस प्रतिमान के अन्तर्गत परिवर्तनों की प्रकृति या प्रवृत्ति निरन्तर एक ही दिशा में आगे की ओर बढ़ने की होती है, इस कारण ऐसे परिवर्तनों को **रेखीय या रैखिक परिवर्तन** (linear change) कहते हैं। उदाहरणार्थ, यातायात के साधनों में यह रेखीय परिवर्तन पहियों (wheels) के आविष्कार के बाद देखने को मिलता है जबकि परिवर्तन निरन्तर एक ही दिशा में आगे की ओर होता गया है जैसे पहले बैलगाड़ी, फिर इक्का-तांगा, फिर बाईसिकिल, उसके पश्चात् रेलगाड़ी, फिर हवाई जहाज इत्यादि।

(ii) **द्वितीय प्रतिमान** (Second Pattern)—सामाजिक परिवर्तन के इस द्वितीय प्रतिमान के अन्तर्गत परिवर्तन की प्रवृत्ति लगातार एक ही दिशा में आगे बढ़ने के बजाय ऊपर-नीचे जाने की होती है। इसका तात्पर्य यही है कि कुछ समय तक परिवर्तन ह्रास अथवा प्रगति की ओर बढ़ने के बाद उसकी दिशा विपरीत की ओर (प्रगति अथवा ह्रास की ओर) मुड़ जाती है। इस प्रकार के प्रतिमान में चूंकि परिवर्तन की दिशा ऊपर से नीचे की ओर और फिर नीचे में ऊपर की ओर (अथवा पहले नीचे से ऊपर की ओर और फिर ऊपर से नीचे की ओर) होती है, इस कारण इसे **उतार-चढ़ावदार परिवर्तन** (fluctuating change) कहते हैं। उदाहरणार्थ, जन-संख्या के क्षेत्र में हम इस प्रकार के उतार-चढ़ावदार परिवर्तन को देख सकते हैं। भारतवर्ष में पहले जनसंख्या में परिवर्तन लगातार वृद्धि की ओर रहा, फिर परिवार नियोजन आदि कार्यक्रमों के फलस्वरूप परिवर्तन एक विपरीत दिशा में मुड़ गया है। इसी प्रकार सांस्कृतिक क्षेत्र में पहले भारतवासी आध्यात्मवाद की ओर निरन्तर आगे बढ़ते गये, पर बाद में ह्रास की ओर नीचे उतरने लगे और अब अध्यात्मवाद के विपरीत भौतिकवाद की ओर तेजी से आगे बढ़ रहे हैं। पहले-पहले सामाजिक मूल्य त्याग की ओर उन्मुख था, अब भोग की ओर बढ़ रहा है। परिवर्तन के इस प्रतिमान में यह निश्चित नहीं रहता कि परिवर्तन की दिशा कब किस ओर (उतार अथवा चढ़ाव की ओर) मुड़ जायेगी।

(iii) **तृतीय प्रतिमान** (Third Pattern)—तीसरे प्रकार के प्रतिमान को **तरंगीय परिवर्तन** (wave-like change) कहा जाता है। इसकी प्रकृति भी दूसरे प्रतिमान से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना है कि उतार-चढ़ावदार परिवर्तनों में परिवर्तन की दिशा एक सीमा के बाद विपरीत दिशा की ओर मुड़ जाती है और इस विपरीत रूप को निश्चित रूप से देखा जा सकता है। परन्तु तरंगीय परिवर्तन में लहरों की भाँति एक के बाद दूसरा परिवर्तन आता रहता है और यह

कहना कठिन होता है कि दूसरी लहर प्रथम लहर के विपरीत है अथवा दूसरा परिवर्तन प्रथम के सन्दर्भ में ह्रास या प्रगति का सूचक है। उदाहरणार्थ, 'फैशन की दुनिया' में नये-नये फैशनों की तरंग या लहर आती रहती है और प्रत्येक के बाद कुछ नया परिवर्तन हो जाता है—इसमें पतन या प्रगति का कोई प्रश्न ही नहीं होता।

लेकिन यहां हम सामाजिक परिवर्तन के तीन सामान्य परिवर्तनों का उल्लेख करेंगे। जो निम्नलिखित हैं—

1. रैखिक परिवर्तन (Linear Change)
2. उतार-चढ़ावदार परिवर्तन (Boom and Depression Type)
3. चक्रीय परिवर्तन (Cyclical Change)

(I) रैखिक परिवर्तन (Linear Change)—कुछ परिवर्तन ग्राफ कागज पर एक सरल रेखा द्वारा व्यक्त किये जा सकते हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र में जितने अन्वेषण हुए हैं वे एक क्रम से और धीरे-धीरे। सारे शिल्प-सम्बन्धी परिवर्तनों में यह क्रम दिखायी देता है। पहले पत्थर के साधारण शस्त्र बने, धीरे-धीरे उनमें अधिक कुशलता दिखायी गयी फिर कांसे के शस्त्र बने और फिर लोहे के। बारूद के आविष्कार ने शस्त्रों की कार्यक्षमता अधिक बढ़ायी और आज हमारे शस्त्रों की कार्यक्षमता अन्य आविष्कारों के कारण बहुत ही अधिक बढ़ गयी है।

इस प्रकार समाज में जो परिवर्तन होता है और उसे जब हम एक रेखा से प्रदर्शित करते हैं तो वह रैखिक परिवर्तन कहलाते हैं। यह रेखा या तो क्षैतिज हो सकती है या इसकी दिशा विकास की तरफ हो सकती है। प्रौद्योगिकी (technology) के परिणामस्वरूप हो रहे परिवर्तनों को हम रैखिक परिवर्तन के प्रतिमान के अन्तर्गत रख सकते हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों की यह विशेषता है कि उनमें परिवर्तन विकास की तरफ होता है और साधारणतया उसका दृष्टिकोण उपयोगितावादी (utilitarian) होता है। उन्नीसवीं शती में जीव-विज्ञान के क्रमिक विकास को, जिसमें डार्विन और मेण्डेल के सिद्धान्त प्रमुख हैं, इसी प्रकार के सामाजिक परिवर्तन की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस प्रकार के परिवर्तनों में क्रमिक विकास या उन्नति होती है। यातायात के साधनों में विकास, भौतिक संस्कृति में विकास आदि इसी प्रकार के प्रतिमान के अन्तर्गत आते हैं। ऑगबर्न ने लिखा है कि इस प्रकार के परिवर्तन की यह विशेषता है कि इसमें उपयोगितावादी दृष्टिकोण को लिये हुए निरन्तर संचयी विकास होता है। ऐसा तब तक होता रहता है जब तक कि उसी दिशा में एक नयी योजना से उसका अप्रचलन न हो जाय। इस प्रकार के परिवर्तन-प्रतिमान को अग्रांकित रेखाचित्र से प्रदर्शित किया जा सकता है :



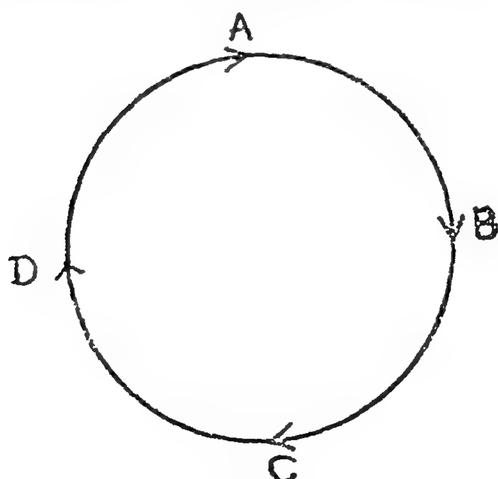
(2) **उतार-चढ़ावदार परिवर्तन** (Boom and Depression type)—परिवर्तन का दूसरा प्रतिमान उतार-चढ़ावदार होता है। आर्थिक जगत् तथा जनसंख्या के क्षेत्र में निरन्तर हो रहे परिवर्तन को हम इसके अन्तर्गत रख सकते हैं। कोई समाज किसी समय में आर्थिक दृष्टिकोण से समृद्ध होता है, जबकि किसी समय में उसकी स्थिति आर्थिक रूप से विगड़ जाती है। जनसंख्या के क्षेत्र में भी इसी प्रकार के परिवर्तन दृष्टिगत होते हैं। कभी-कभी जन्म-दर के वढ़ जाने के कारण जनसंख्या का घनत्व वढ़ जाता है, जबकि कभी-कभी जन्म-दर के कम हो जाने के कारण तथा मृत्यु-दर के वढ़ जाने के कारण जनसंख्या का घनत्व कम हो जाता है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी इसी प्रकार के प्रतिमान दृष्टिगत होते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन को हम निम्नांकित रेखाचित्र द्वारा दिखा सकते हैं :



उपर्युक्त चित्र में जैसा कि दिखलाया गया है कभी तो स्थिति अच्छी होती है जैसा कि 'A' विन्दु को देखने से पता चलता है और कभी स्थिति खराव हो जाती है जैसा कि 'B' विन्दु को देखने से स्पष्ट होता है। मैकाइवर ने इस प्रकार के प्रतिमानों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'नगर विकसित होते हैं, उनका ह्रास होता है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन्नत होता है और अवनत हो जाता है, व्यापारिक क्रिया-कलाप उन्नत, विकसित व अवनत हो जाते हैं।'[1] इस प्रकार के परिवर्तनों में निश्चितता नहीं होती।

1. MacIver and Page, *Society*, 520.

(3) चक्रीय परिवर्तन (Cyclical change)—बहुत से परिवर्तन एक चक्र के रूप में चलते हैं। प्राकृतिक वस्तुओं में यह परिवर्तन स्पष्ट रूप से देखा जाता है। सुबह, दोपहर, शाम, रात्रि यह क्रम सदैव ही चलता है। मौसम में भी यही क्रम है। जीवन में भी यही क्रम है। मानव-जीवन में भी शिशु, तरुण, प्रौढ़ अवस्थाओं का एक वृत्ताकार क्रम चलता रहता है। मनुष्य मरने के बाद जन्म लेता है और फिर शिशु के रूप में अवतरित होकर वृद्धावस्था की तरफ अग्रसर होता है। सभ्यता के उत्थान और पतन में भी हमें ऐसे ही लक्षण मिलते हैं। फैशन के क्षेत्र में भी परिवर्तन चक्रीय होता है। आज जो फैशन का रूप है, वह एक काल के बाद फिर आयेगा; जैसे, पहले लोग चौड़ी मोहरी की पैन्ट पहनते थे, फिर पतली मोहरी की पहनने लगे, और अब फिर धीरे-धीरे चौड़ी मोहरी की तरफ बढ़ रहे हैं। लड़कियों का पहनावा भी पहले ढीला होता था, बीच में चुस्त और अब फिर ढीला हो गया है। दुरखीम ने यह बताया है कि 6 से 7 बजे सवेरे और शाम को 7 से 10 बजे तक रात्रि में मृत्यु और आत्महत्याएँ अधिक होती हैं। दोपहर में 12 से 2 तक इनकी संख्या सबसे कम रहती है। कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार मई, जून में आत्महत्याएँ सबसे अधिक होती हैं और नवम्बर से फरवरी तक सबसे कम। व्यापार का चक्र भी एक निश्चित रूप से घूमता है। ड्रॉमेल (Drommel) के अनुसार प्रत्येक सोलहवें वर्ष में राजनैतिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते हैं। इन समाजशास्त्रियों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन का एक निश्चित चक्र होता है। ये सब परिवर्तन के ढंग संख्यात्मक परिस्थितियों को ही दर्शा सकते हैं, गुणात्मक परिवर्तन का ढंग अधिक जटिल होता है। इस प्रकार के परिवर्तन को निम्नांकित चित्र से दिखाया जा सकता है।



परिवर्तन घड़ी की सुई की दिशा में निरन्तर होता रहता है और कुछ समय के बाद अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त करता है। स्पेंगलर (Spenglar) ने अपनी

प्रमुख कृति 'पश्चिम के पतन' में सभ्यता के परिवर्तन को इसी प्रतिमान के अन्तर्गत रखा है।

उपर्युक्त चित्रों द्वारा अभी हमने सामाजिक परिवर्तन के प्रतिमानों का उल्लेख किया है। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि परिवर्तन की प्रक्रिया इतनी जटिल है कि इस प्रकार के सरल चित्रों में इनका प्रतिनिधित्व नहीं किया जा सकता। बहुत से परिवर्तन ऐसे हैं जो हमें बाध्य करते हैं कि हम उन्हें सभी प्रकार के प्रतिमानों के अन्तर्गत स्थान दें। जैसे, आर्थिक क्षेत्र तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में परिवर्तन चक्रीय प्रतिमान के अन्तर्गत भी रखे जा सकते हैं और उतार-चढ़ावदार प्रतिमान के अन्तर्गत भी। समाज में जो गुणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं, उनका माप और प्रदर्शन कोई आसान काम नहीं।

सामाजिक परिवर्तन के कारक
(Factors of Social Change)

सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए कोई एक कारक नहीं, अपितु अनेक कारक उत्तरदायी हैं। कारण और कारक में कुछ सूक्ष्म अन्तर है। इतिहासकार उन अनेकों कारणों की खोज करने का प्रयत्न करता है जो किसी विशेष घटना को उत्पन्न करते हैं, जबकि एक समाजशास्त्री उन परिणामों को खोजता है जो कारणों के एक वर्ग द्वारा उत्पन्न होते हैं। इन कारणों के वर्ग को हम 'कारकों' (Factors) की संज्ञा दे सकते हैं।[1] आगे हम उन कुछ विशेष कारकों का विवेचन करेंगे जो समाजशास्त्रियों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। इनमें से प्रत्येक का सामाजिक परिवर्तन के एक विशेष सिद्धान्त में पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित रूप में साथ होता है।

(1) प्राकृतिक कारक
(Natural Factors)

अनेक बार प्रकृति अपने तरीके से सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण कारक बन जाती है। प्राकृतिक संकटों के फलस्वरूप सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ जाते हैं, कल के शहर और गाँव आज उजाड़ या वीरान स्थानों में बदल जाते हैं। गर्मी, सर्दी, वर्षा, भूकम्प, भूमि की बनावट आदि प्राकृतिक दशाओं तथा विभिन्न प्राकृतिक संघर्षों का व्यक्तियों के विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। इनसे व्यक्तियों में प्रेरणा और आत्मबल का संचार होता है तो उनमें निराशा और उत्साहहीनता भी पनप सकती है। अकालों के फलस्वरूप जनसंख्या और लोगों के पारस्परिक

1. Robert Bierstedt : Op. cit, p. 526.

सम्बन्धों में भयंकर परिवर्तन उपस्थित हो जाते हैं। कहा जाता है कि क्षुधा-पीड़ित माँ बच्चे को छोड़ कर चली जाती है, पति मुट्ठी भर चावल के लिए पत्नी को बेच देता है और रोटी के टुकड़े के लिए मनुष्य और कुत्ते में संघर्ष होता है। हैजा, प्लेग आदि महामारियों का प्रभाव लोगों के जीवन और सामाजिक सम्बन्ध पर अवश्य ही पड़ता है। प्राकृतिक अथवा भौगोलिक परिवर्तनों पर मनुष्य का नियन्त्रण बहुत कम अथवा नहीं होता है, अतः इस प्रकार के परिवर्तनों के साथ-साथ उसको भी परिवर्तित होना ही पड़ता है। बकल तथा हंटिंगटन का तो अभिमत है कि जलवायु सम्पूर्ण सभ्यता के विकास और विनाश का कारण बन सकती है और प्राकृतिक अवस्था के अनुसार ही मनुष्य की कल्पना, भौतिक विकास आदि सम्भव होता है।

(2) प्राणिशास्त्रीय कारक
(Biological Factors)

प्राणिशास्त्रीय अथवा जैविक कारक भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं। जनसंख्या की रचना, उसका घटना-बढ़ना, वितरण, स्त्री-पुरुषों की जनसंख्या का अनुपात, व्यक्तियों के शारीरिक और मानसिक गुण, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक इन लोगों का आना आदि प्राणिशास्त्रीय कारक में लिये जाते हैं। ये सभी बातें सामाजिक संगठन और संस्थाओं को परिवर्तित करके समाज के रूप को न्यूनाधिक बदल देती हैं। उदाहरणार्थ, यदि वंशानुसंक्रमण द्वारा दुर्बल सन्तानें हो रही हैं अर्थात् किसी समाज में स्वास्थ्य का स्तर नीचा है तो उसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर अवश्य ही पड़ेगा और जीवनावधि कम होने से देश में अनुभवी व्यक्तियों की कमी होगी और इस प्रकार सामाजिक आविष्कारों की सम्भावनाएँ भी कम हो जायेंगी। किसी समाज में अधिकाधिक लड़के पैदा होते जाने से लड़कियों की संख्या कम हो जायेगी और फलस्वरूप बहुपति प्रथा फैलने से सन्तानों की संख्या कम हो जायेगी, लड़कियों की तुलना में लड़कों का जन्म अधिक होगा, स्त्रियों का बाँझपन पनपेगा और वे अनेक गुप्त रोगों का शिकार बनेंगी। यदि समाज में लड़कियों का जन्म अधिक होगा तो बहुपत्नी प्रथा पनपेगी, फलस्वरूप अधिक सन्तानें पैदा होंगी, पुरुषों का स्वास्थ्य गिरेगा और स्त्रियों की दशा दयनीय हो जायेगी।

(3) जनसंख्यात्मक कारक और सामाजिक परिवर्तन
(Demographic Factors and Social Change)

जनसंख्यात्मक कारक सामाजिक परिवर्तन के लिए अनेक प्रकार से उत्तरदायी हो सकते हैं—

प्रथम, जनसंख्या के आकार और जनसंख्या के घनत्व के घटने-बढ़ने से सामाजिक परिवर्तन हो जाने की सम्भावना रहती है। उदाहरणार्थ, जन्म-दर बढ़ने और मृत्यु दर घटने से देश में जनसंख्या बढ़ेगी और यदि अतिजनसंख्या की स्थिति

पैदा हो गई तो देश में भुखमरी, महामारी आदि का प्रकोप होगा। लाखों-करोड़ों व्यक्ति मृत्यु का शिकार होंगे। इन सब बातों का सामाजिक जीवन और सम्बन्धों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा। दूसरी ओर, जन्म-दर घटने और मृत्यु-दर बढ़ने से देश की जनसंख्या गिरती जायेगी और समाज में कार्यशील व्यक्तियों की कमी उत्पन्न हो जायेगी।

द्वितीय, यदि आप्रवास (Immigration) होगा अर्थात् एक देश में दूसरे देश से लोग आकर बसेंगे तो भी सामाजिक परिवर्तन होगा। आप्रवास के कारण समाज में ऐसे लोगों की संख्या बढ़ती है, जिनकी संस्कृति, प्रजातीय विशेषताएँ, सामाजिक मूल्य, जीवन-स्तर आदि मूल निवासियों से भिन्न होते हैं। कालान्तर में इन विशेषताओं का मूल-निवासियों की विशेषताओं से मिश्रण होने लगता है, फलस्वरूप दोनों समूहों की मिश्रित संस्कृति विकसित होने लगती है, व्यवहार के नये ढंग पनपते हैं और जैविक गुणों के मिश्रित हो जाने से व्यक्तियों की मानसिक और शारीरिक विशेषताएँ भी परिवर्तित होने लगती हैं। इन सभी कारकों का प्रभाव लोगों की चिन्तन-प्रणाली, नैतिकता, व्यवहार-प्रतिमानों आदि पर पड़ता है और इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन होता है।

तृतीय, यदि उत्प्रवास (Emigration) होता है अर्थात् हमारे समाज से व्यक्ति दूसरे समाज में चले जाते हैं तो हमारी जनसंख्या जम होने लगती है और फलस्वरूप उत्पादन-साधनों से पुनः अभियोजन की समस्या उत्पन्न होती है। उत्प्रवास के फलस्वरूप सामान्यतः कुछ समय के लिए स्त्रियों का अनुपात बढ़ता है, क्योंकि उत्प्रवास पुरुषों द्वारा ही प्रायः अधिक संख्या में होता है। अनेक परिवारों में पुरुष की अनुपस्थिति के फलस्वरूप पारिवारिक विघटन के तत्त्व प्रबल हो जाते हैं। इस प्रकार समाज में परिवर्तन होने लगता है।

चतुर्थ, जनसंख्या के घनत्व (Density of Population) के बढ़ने से भी सामाजिक परिवर्तन होते हैं। जनसंख्या का घनत्व अधिक होने से उस अधिक जनसंख्या को पालने-पोसने के लिए नये-नये आविष्कारों से सामाजिक प्रगति सरल होती है और गहन कृषि तथा नई भूमि पर कृषि को प्रोत्साहन मिलता है। फिर भी यदि भूमि पर जनसंख्या का दबाव बना रहता है तो लोग गाँवों को छोड़कर शहरों में बसने लगते हैं और इस प्रकार शहरों का विकास होता है।

अन्त में, आयु, लिंग, वैवाहिक स्तर आदि का अर्थात् जनसंख्या-सम्बन्धी संरचना का भी सामाजिक परिवर्तन से निकट का सम्बन्ध है।

(4) प्रौद्योगिक कारक
(Technological Factors)

आधुनिक युग में सामाजिक परिवर्तनों का सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण कारक प्रौद्योगिक कारक है। प्रौद्योगिकी अथवा टेक्नालॉजी वैज्ञानिक सिद्धान्तों का जन-

साधारण के जीवन को सुखी बनाने के लिए व्यावहारिक उपयोग होता है। प्रौद्योगिक विकास के फलस्वरूप नये-नये औद्योगिक नगर बसते हैं, नये-नये कल-कारखाने लगाये जाते हैं, नये-नये सुविधाजनक यन्त्र आविष्कृत किये जाते हैं तथा लोगों की आर्थिक समृद्धि में वृद्धि होती है। नयी मशीनों, नये यन्त्रों के आविष्कारों का प्रभाव सामाजिक जीवन पर अवश्य पड़ता है। मेकाइवर तथा पेज ने ठीक ही लिखा है कि वाष्प-इंजनों के आविष्कार से सामाजिक जीवन से लेकर राजनीतिक जीवन में इतने क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं कि उनकी कल्पना करना भी कठिन है। ऑगबर्न ने रेडियो के आविष्कार के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले 150 परिवर्तनों का उल्लेख किया है। ये तथ्य हमसे छिपे हैं कि मशीनों आदि के आविष्कार से वृहद्-स्तरीय उत्पादन सम्भव हुआ है। श्रम-विभाजन और विशेषीकरण का महत्त्व बढ़ा है, व्यापार और वाणिज्य का प्रसार हुआ है, नगरों का तीव्र गति से विकास होने लगा है, जीवन-स्तर ऊँचा उठा है, विभिन्न संकटों तथा औद्योगिक संघर्षों में अभिवृद्धि हुई है, ग्रामों का नगरीकरण हुआ है, संयुक्त परिवार विघटित होने लगे हैं, धर्म का प्रभाव घटा है, स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन आया है और वे घर से बाहर काम करने लगी हैं नयी-नयी सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, आदि। बीरस्टीड ने लिखा है, "कारण (आविष्कार से परिणाम (सामाजिक परिवर्तन) की गति एक सरल या स्वचालित प्रक्रिया है।" कार्ल मार्क्स ने लिखा है कि समस्त सामाजिक संरचना प्रौद्योगिकी पर टिकी हुई है और यदि कोई भी परिवर्तन प्रौद्योगिकी में होता है तो स्वाभाविक रूप से उसका प्रभाव सामाजिक संरचना पर पड़ता है तथा धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि जीवन के विभिन्न पहलुओं में परिवर्तन हो जाता है।

(5) आर्थिक कारक
(Economic Factors)

सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र में आर्थिक कारक का भी अत्यधिक योगदान है। इस सम्बन्ध में विद्वानों का कथन है कि आर्थिक परिस्थितियाँ या दशाएँ भी समाज में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती हैं। उदाहरण के रूप में मानव के आर्थिक जीवन के विकास की अवस्थाओं का अध्ययन किया जा सकता है। सबसे प्रथम जब मानव शिकारी अवस्था में था तो उसका सामाजिक जीवन नहीं के बराबर था और वह इस रूप में कि उसका उद्देश्य केवल अपना पेट पालना ही था और इसीलिए वह दिन-भर शिकार की तलाश में इधर-उधर घूमता-फिरता था। इस अवस्था के बाद चारागाही अवस्था, फिर कृषि अवस्था और आज मानव ने औद्योगिक अवस्था में प्रवेश किया है। आज मानव-जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं। आज मानव केवल पेट भरने के लिए परिश्रम नहीं करता वरन् वह समाज कल्याण के उद्देश्य से भी अनेक प्रकार के वैज्ञानिक (Scientific) आविष्कारों के द्वारा समाज को अति महत्त्वपूर्ण योगदान देता है और इस रूप में आज का मानव-जीवन

प्रारम्भिक शिकारी अवस्था से बिल्कुल ही बदल गया है। इस प्रकार सामाजिक घटनाओं के सन्दर्भ में आर्थिक कारकों के प्रभाव को सामाजिक परिवर्तन के रूप में भली प्रकार से देखा जा सकता है।

(6) वैधानिक कारक
(Legal Factors)

आधुनिक युग में सामाजिक परिवर्तन लाने की दिशा में वैधानिक कारकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में कानूनों का ऐतिहासिक विकास समाज के विकास का द्योतक है। भारतीय समाज जो जाति परम्पराओं तथा प्रथाओं द्वारा नियन्त्रित था, अब औपचारिक कानूनों द्वारा नियन्त्रित होता है, अतः व्यक्ति के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है तथा जनमत का महत्त्व भी बढ़ा है। भारत में न केवल कानूनी क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, अपितु व्यापारिक परिवर्तन भी आये हैं, अतः सम्बन्धों का आधार समझौता अधिक हो गया है। कानूनों के निर्माण में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कानूनों का उल्लंघन कम से कम हो। कानून इस अर्थ में कि जो व्यवस्था है उसे बनाये रखने का आधार नहीं है, अपितु कानून उसमें परिवर्तन लाता है। सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के रूप में कानून दो अन्तः-सम्बन्धी प्रक्रियाओं से सम्बन्धित है। कानून बनने के साथ कानून नयी मान्यताओं व सामाजिक मूल्यों को स्थापित करता है। साथ ही इसके विपरीत कार्य करने वाले के लिए कानून दण्ड की व्यवस्था भी करता है, परन्तु प्रत्येक निर्मित कानून एक सामाजिक शक्ति नहीं बन जाता, इसके लिए आवश्यक है कि व्यक्ति उसे ग्रहण कर ले, मानसिक रूप से स्वीकार कर लें। यदि कानून संस्थागत नहीं हो पाते और उनका उपयोग नहीं किया जाता तो धीरे-धीरे लोक कानून के प्रति सम्मान खो देंगे।

(7) राजनीतिक तथा सैनिक कारक
(Political and Military Factors)

रोबर्ट बीयरस्टीड ने लिखा है कि "कुछ लेखकों के अनुसार सामाजिक परिवर्तन युद्धों (Battles), छुटपुट लड़ाइयों (Skirmishes), वंशों (Dynastics) और युद्धों, विजय तथा पराजय की कहानी है। वास्तव में, इतिहास कुछ ही समय-पूर्व तक भी सैनिक शक्ति के आधार पर ही लिखा गया था और इसी प्रकार सामाजिक परिवर्तन में भी सैनिक समाजिक सिद्धान्त विद्यमान है।"[1]

यदि नेपोलियन का मास्को पर आक्रमण सफल हो गया होता, यदि हिटलर इंग्लिश चैनल को पार कर लेता, तो सैनिक सिद्धान्त के अनुसार सम्यता का रूप

1. Bierstedt : The Social Order, p. 578.

कुछ और ही होता । यदि हम इन व्याख्याओं को स्वीकार करें, तो इतिहास को केवल थल और जल सेनाओं के उत्थान-पतन के सन्दर्भ में ही समझा जा सकता है । एक सेना की विजय एकमात्र कारक वन जाता है जो एक समाज के विकास में अनेक परिवर्तनों की व्याख्या करता है । इस प्रकार समाज की कहानी संघर्ष और युद्ध, विजय और पराजय की कहानी है । यद्यपि सामाजिक परिवर्तन में सैनिक कारक के महत्त्व को स्वीकार करना होगा, तथापि बीयरस्टीड का लिखना उचित है कि "सैनिक सिद्धान्त अकेला ही युद्ध के समाजशास्त्र (Sociology of War) की व्याख्या नहीं कर सकता ।"[1]

इसी प्रकार सैनिक कारक को राजनीतिक कारक से पृथक् करना भी कठिन है, क्योंकि इतिहास के अनेक प्रकरणों में क्रान्ति और युद्ध की राजनीतिक घटनाओं का समावेश होता है । इतिहास एक भूतकालीन राजनीति है और राजनीति इतिहास को प्रस्तुत करती है ।

राजनैतिक घटनाओं अथवा प्रकरणों का प्रभाव सामाजिक परिवर्तन को किस प्रकार जन्म देता है, इस तथ्य को भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास के कुछ उदाहरणों से ज्ञात किया जा सकता है । तिलक और गोखले ने स्वतन्त्रता आन्दोलन को गति दी । तिलक ने स्वतन्त्रता आन्दोलन को अधिक व्यापक बनाया । महात्मा गाँधी ने अफ्रीका के अपने अनुभव से भारत में सत्याग्रह प्रारम्भ किया । नील आन्दोलन की सफलता ने गाँधीजी के कार्यक्रम को अधिक महत्त्वपूर्ण बनाया । द्वितीय महायुद्ध में भारत से दो लाख सिपाही युद्ध में भाग लेने यूरोप, मध्य एशिया और अफ्रीका गए । इन लोगों ने भी संसार के अपने अनुभवों से भारतीय समाज में परिवर्तन लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया । स्वतन्त्रता की लड़ाई के समय भारत में अनेक परिवर्तन आये । ये परिवर्तन हरिजनों, मजदूरों, महिलाओं की स्थिति और शिक्षा के विस्तार, नगरीकरण और सम्प्रेषण के साधनों से सम्बन्धित थे । राजनीतिक चेतना और आर्थिक हितों के बारे में सजगता ऐसे परिणाम थे जिनसे भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा । स्वतन्त्रता ने भारत को विभाजित भी किया जिससे न केवल समाज अपितु भूगोल भी बदला, कई मनोवैज्ञानिक कठिनाइयाँ भी पैदा हुईं, परन्तु आजादी के साथ-साथ युवा पीढ़ी के नए सामाजिक मूल्यों की प्रतिस्थापना की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो गयी ।

(8) सांस्कृतिक कारक
(Cultural Factors)

एक सामाजिक प्राणी के रूप में मानव की कुछ आवश्यकताएँ होती हैं । सामाजिक प्राणी के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए मानव को अपनी

---

1. Bierstedt : The Social Order, p. 573.

आवश्यकताओं के सदर्भ में अनेक प्रकार के प्रयत्न करने पड़ते हैं। इन प्रयत्नों के दौरान ही अनेक व्यवस्थाओं का विकास हो जाता है। इन व्यवस्थाओं में विज्ञान, धर्म, कला, प्रथा-परम्परा, रीति-रिवाज आदि सभी सम्मिलित होते हैं। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मानव द्वारा निर्मित इन्हीं व्यवस्थाओं का नाम ही 'संस्कृति' (Culture) है। इसी 'संस्कृति' को आधार मानकर कुछ विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। इससे एक वात का और स्पष्टीकरण हो जाता है, वह यह कि सांस्कृतिक कारक सामाजिक परिवर्तन के उन कारकों में से है जो कि मानव द्वारा निर्मित होते हैं।

(9) वैचारिक या सैद्धान्तिक कारक और सामाजिक परिवर्तन (Ideological Factors and Social Change)

सामाजिक प्ररिवर्तन के लिए वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक कारक वहुत वड़ी सीमा तक उत्तरदायी हैं। विचार और आदर्श दोनों ही सामाजिक परिवर्तन की प्रेरणात्मक शक्ति हैं। लोगों के विचार ही एक समाज में किसी वस्तु का (जैसे—वे क्या करते हैं, और क्या चाहते हैं) उसी के अनुसार निर्धारण करते हैं। इसमें आश्चर्य नहीं कि अनेक समाजशास्त्री विचारों को सामाजिक परिवर्तन का एक आधारभूत कारक मानें और आदर्शात्मक नवाचार को इस समस्या के समाधान की एक पद्धति स्वीकारें। मार्क्स और गाँधी की वैचारिक क्रान्ति ने कितना प्रवल सामाजिक परिवर्तन किया और आज भी उनके विचार कितना सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन ला रहे हैं, कहने की आवश्यकता नहीं है। आज के युग में पूँजीवादी, समाजवादी, नियोजित समाजवादी, मार्क्सवादी आदि विचारधाराएँ सारे विश्व को उद्वेलित किये हुए हैं और वे अनेकानेक सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। विचारों के आदर्श प्रारूप किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन लाते हैं और लोगों को प्रभावित करते हैं, इसका एक उदाहरण प्रख्यात समाजशास्त्री बीयरस्टीड के निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट है—

निम्नलिखित कहावतें अमेरिकी छात्रों और अनेक अमेरिकी घरों और व्यापारियों में प्रसिद्ध हैं—

(1) ईमानदारी ही सर्वश्रेष्ठ नीति है (Honesty is the Best Policy)।
(2) समय ही धन है (Time is Money)।
(3) धन ही धन को अर्जित करता है (Money begets Money)।
(4) एक पैनी वचाना भी एक पैनी अर्जित करना है। (A penny saved is penny earned)।
(5) रात्रि में जल्दी सोना और प्राप्तः जल्दी उठना व्यक्ति को स्वस्थ, बुद्धिवान् एवं धनवान् बनाता है (Early to bed and earily to rise makes a man healthy, wealthy and wise)।

इसी प्रकार की अन्य कहावतें भी हैं। इन सभी कहावतों को यदि हम संयुक्त रूप में देखें तो इन सभी का अर्थ यही है कि कार्य करना ही गुण है और इसलिए धन कमाना और बचाना उचित और अच्छा है।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त
(Theories of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के अनेक सिद्धान्त प्रचलित हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि "क्योंकि सामाजिक ढांचे और सामाजिक सम्बन्धों को किसी एक सिद्धान्त के द्वारा ही स्पष्ट नहीं किया जा सकता, इसीलिए सामाजिक परिवर्तन को भी एक सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट करना सरल नहीं है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के सामाजिक संगठनों की प्रकृति भी एक दूसरे से भिन्न होती है, इसलिए वहाँ परिवर्तन के आधारों का भी भिन्न-भिन्न होना बहुत स्वाभाविक है।" इस दृष्टिकोण से निम्नांकित विवेचना में हम सामाजिक परिवर्तन के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों को स्पष्ट करेंगे।

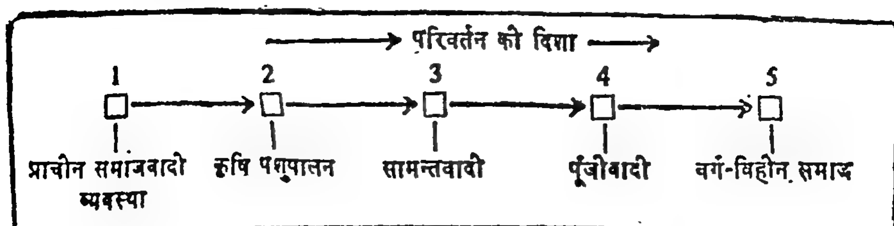
1. कार्ल मार्क्स का सिद्धान्त
(Marxist Theory of Change)

कार्ल मार्क्स के सिद्धान्त को भी रेखीय सिद्धान्त के अन्तर्गत रखा जा सकता है। मार्क्स के अनुसार सामाजिक घटनाएँ यहाँ तक कि मानव-समाज का स्वरूप तथा उसमें कार्यशील संस्थाएँ अपना रूप आर्थिक दशाओं के अनुरूप बदलती रहती हैं। जिन घटनाओं के पीछे हम अन्य कारकों को उत्तरदायी मानते हैं, वास्तव में उनके पीछे आर्थिक कारण ही प्रधान होता है, ऐसा मार्क्स का मत था।

कार्ल मार्क्स के अनुसार समस्त मानव-समाज पाँच स्तरों से होता हुआ परिपक्वता की दशा में पहुँचता है जो रेखीय प्रतीत होता है। वे पाँच स्तर निम्न-लिखित हैं—

1. प्राचीन समाजवादी व्यवस्था का स्तर,
2. कृषि, पशुपालन की व्यवस्था का स्तर,
3. सामन्तवादी व्यवस्था का स्तर,
4. पूँजीवादी व्यवस्था का स्तर,
5. वर्ग-विहीन समाज की स्थापना का स्तर।

यदि मार्क्स के मत को रेखाचित्र में व्यक्त करें तो वह निम्न प्रकार होगा :



मार्क्स का मत था कि अन्तिम स्तर आदर्शात्मक होगा जहाँ वर्ग-संघर्ष और मानव-शोषण को स्थान नहीं मिलेगा और वह व्यवस्था आदर्श व्यवस्था के रूप में सदैव बनी रहेगी।

मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को स्पष्ट किया है। मार्क्स का विचार है कि मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने का आधार उत्पादन और प्रौद्योगिकी है। जब कभी उत्पादन की प्रविधियों में परिवर्तन होता है तो हमारे आर्थिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन हो जाता है। यह एक नयी आर्थिक संरचना होती है और इसी की नींव पर सामाजिक, वैधानिक तथा राजनीतिक अधिसंरचना (Super-structure) का निर्माण होता है। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन का आधारभूत कारण **प्रौद्योगिकी में होने वाला परिवर्तन** ही है। मार्क्स द्वारा दिये गये परिवर्तन के इस सिद्धान्त को निम्नांकित स्तरों के द्वारा सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

(1) उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन
(Change in the mode of production)
↓
(2) उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन
(Change in the forces of production)
↓
(3) आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन
(Change in the relations of production)
↓
(4) सामाजिक परिवर्तन
(Social change)

इस प्रकार मार्क्स ने यह स्पष्ट किया है कि जब कभी भी उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होता है, तब उत्पादन की शक्तियाँ भी बदलने लगती हैं। उदाहरण के लिए, जब उत्पादन का उद्देश्य उपभोग की आवश्यकताओं को पूरा करना था, तब उत्पादन की शक्तियाँ (अर्थात् मशीनें, उपकरण और स्वतः चालित संयंत्र) बहुत

अविकसित थीं, लेकिन जब उत्पादन लाभ प्राप्त करने के लिए किया जाने लगा तो, उत्पादन की शक्तियों में महान् परिवर्तन हो गया। इस प्रकार बड़ी-बड़ी मशीनों का आविष्कार हुआ, कारखानों की स्थापना हुई और एक ही स्थान पर हजारों की संख्या में श्रमिक साथ-साथ कार्य करने लगे।

उत्पादन के तरीकों और उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन होने से आर्थिक सम्बन्धों में परिवर्तन होता है। उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन होने से एक ऐसे वर्ग का निर्माण होता है जिसका उत्पादन के सभी साधनों पर पूर्ण अधिकार होता है, जबकि दूसरी ओर एक बड़ा वर्ग वह होता है जिसे सभी प्रकार से आर्थिक लाभों से वंचित रखा जाता है। प्रथम वर्ग को हम **पूँजीपति वर्ग** कहते हैं और दूसरे वर्ग को मार्क्स के शब्दों में **सर्वहारा वर्ग** कहा जाता है। पूँजीपति मजदूरों के श्रम को कम से कम मूल्य पर खरीद कर उनसे अधिकतम लाभ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार पूँजीपतियों को जो अतिरिक्त मूल्य,(surplus value) प्राप्त होता है वह वास्तव में श्रमिक वर्ग के श्रम का ही फल होता है। इसके परिणामस्वरूप इन दोनों वर्गों के बीच संघर्ष आरम्भ हो जाता है।[1] संघर्ष की यह प्रक्रिया एक नवीन आर्थिक संरचना (Economic structure) का निर्माण करती है जिसमें व्यक्तियों के सामाजिक सम्बन्ध बिल्कुल नये सिरे से स्थापित होते हैं। स्वयं मार्क्स के शब्दों में, "सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन की शक्तियों से घनिष्ट रूप के सम्बद्ध हैं। उत्पादन की नयी शक्तियों को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति पहले उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन करते हैं; इस प्रकार उत्पादन के तरीकों और आजीविका उपार्जित करने के तरीकों में परिवर्तन होने से उनके सभी सामाजिक सम्बन्ध भी परिवर्तित हो जाते हैं।" दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि आर्थिक सम्बन्धों की यही संरचना मनुष्य के सांस्कृतिक, बौद्धिक, कलात्मक व आध्यात्मिक जीवन, धर्म, दर्शन तथा सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार स्वाभाविक है कि उत्पादन की विधियों में होने वाला कोई भी परिवर्तन जो प्रौद्योगिकीय विकास पर आधारित है, हमारे आर्थिक सम्बन्धों को परिवर्तित करेगा और इन नये सम्बन्धों के फलस्वरूप सम्पूर्ण सामाजिक संरचना परिवर्तित हो जायेगी, क्योंकि सामाजिक संरचना और आर्थिक संरचना एक दूसरे से पृथक् नहीं की जा सकतीं। यही सामाजिक परिवर्तन है।

आलोचना
(Criticism)

मार्क्स के सिद्धान्त की अनेक विद्वानों ने आलोचना की है। **पी. सोरोकिन** (P. Sorokin) ने मार्क्स की आलोचना अग्रलिखित आधारों पर की है।[2]

---

1. Karl Marx : Critique of Political Economy, p. 11. quoted by MacIver, Society, pp. 558-62,
2. P. Sorokin : Contemporary Sociological Theories,pp. 527-44,

(1) मार्क्स के सिद्धान्त का सबसे बड़ा और प्रथम दोष इनके द्वारा एक ही आर्थिक कारण को अन्तिम मान लेना है। कोई व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि मनुष्य की भोजन की मूलप्रवृत्ति ही एकमात्र प्रेरक कारक है और यही सामाजिक परिवर्तन का आधार है। केवल आर्थिक कारण को सामाजिक जीवन का एकमात्र कारक किस प्रकार माना जा सकता है।

(2) मार्क्स के सिद्धान्त की दूसरी मौलिक कमी उनकी अभिव्यक्ति की अनिश्चितता है। उनका यह कहना कि आर्थिक कारक सामाजिक तथ्यों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अन्तिम है, गलत है। यदि मार्क्स के सिद्धान्त में विश्वास कर लिया जाये तब इसका अर्थ यह होगा कि युद्ध और शान्ति, निर्धनता और समृद्धता, दासता और स्वतन्त्रता, क्रान्ति और शान्ति एक ही 'आर्थिक कारक' के परिणाम होंगे। कोई भी विवेकशील व्यक्ति इन दशाओं को केवल आर्थिक कारकों का परिणाम मान लेने की भूल नहीं करेगा।

(3) इस सिद्धान्त की तीसरी आलोचना यह कह कर की जाती है कि इसमें अनेक शब्दों जैसे 'आर्थिक कारक' 'उत्पादन की शक्तियाँ तथा सम्बन्ध' और 'प्रौद्योगिकी' आदि की परिभाषायें अधिक स्पष्ट रूप से नहीं दी गयी हैं।

(4) सोरोकिन के अनुसार "उपर्युक्त स्थिति के कारण प्रौद्योगिक परिवर्तन से सम्बन्धित कारकों के क्रम में भी अनिश्चितता आ गई है।

(5) मार्क्स और ऐन्जिल्स का वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त, बहुत पुराना होने के साथ ही अनेक दोषों से युक्त है। यह कहना बिलकुल भ्रान्तिजनक है कि समाज का सम्पूर्ण इतिहास वर्ग-संघर्ष का ही इतिहास है।" इसका तात्पर्य तो यह होगा कि जीवन में सहयोग का कोई महत्त्व है ही नहीं, जबकि वास्तव में यह प्रमाणित हो चुका है कि विभिन्न वर्गों में संघर्ष की अपेक्षा सहयोग की भावना अधिक मात्रा में पायी जाती है। क्रोपोटकिन की 'पारस्परिक सहायता' की धारणा सम्बन्धी अन्वेषण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मार्क्स के सिद्धान्त में कोई ऐसी नयी बात नहीं है जो पहले के विद्वानों द्वारा न कही जा चुकी हो। जो कुछ मौलिक बात कही भी गयी है, व्यावहारिक जीवन और वैज्ञानिक सत्य से बहुत दूर है। सारोकिन का तो यहाँ तक विश्वास है कि "मार्क्स और ऐन्जिल्स ने सामाजिक विज्ञान को प्रगतिशील बनाने के स्थान पर इसके विकास में अनेक बाधाएँ उत्पन्न की हैं।"[1] इसके उपरान्त भी हमें यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि

1. P. A. Sorokin : Idid, p. 546.

इस सिद्धान्त ने सामाजिक जीवन में प्रौद्योगिकी के प्रभाव को बड़े तर्कपूर्ण ढंग से प्रतिपादित किया है।"

(2) वेबलिन का सिद्धान्त

(Theory of Veblen)

मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या में प्रौद्योगिकी को एक अप्रत्यक्ष कारक माना है जबकि कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार प्रौद्योगिक दशाएँ प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक परिवर्तन के कारक हैं। इनमें **वेबलिन** का नाम प्रमुख है। **वेबलिन** को तो एक प्रौद्योगिक निश्चय-वादी (Technological determinist) ही मानना उचित होगा, क्योंकि आपने समाज की सभी दशाओं और सम्पूर्ण सामाजिक परिवर्तन को प्रौद्योगिकीय कारणों के आधार पर ही स्पष्ट किया है।

वेबलिन ने अपने इस सिद्धान्त की विवेचना में मानवीय विशेषताओं को दो भागों में विभजित किया है :

(क) **स्थिर विशेषताएँ** जो हमारी मूल प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं पर आधारित होती हैं, इसलिए इनमें बहुत कम परिवर्तन होता है, तथा

(ख) **परिवर्तनशील विशेषताएँ**, जैसे आदतें, विचार और मनोवृत्तियाँ आदि। सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध इन दूसरी श्रेणी की विशेषताओं से ही है। प्रौद्योगिकी वह महत्त्वपूर्ण तथ्य है जो हमारे भौतिक पर्यावरण (Material Environment) का निर्माण करता है और इसी पर्यावरण के अनुसार हमारी आदतों में परिवर्तन होता रहता है। **वेबलिन** का मानना है कि "मनुष्य जैसा कार्य करता है वैसा ही बन जाता है, वह उसी प्रकार सोचता है और कार्य करता है।" आदतों और विचारों में होने वाला परिवर्तन ही सामाजिक ढाँचे में होने वाले परिवर्तन का कारण है। उदाहरण के लिए, यदि मशीनों के अधिकाधिक प्रयोग से उन्नति होने के कारण मनाव-ज्ञान में परिवर्तन हो जाय तो हमारे चारों ओर का पर्यावरण पहले से बिलकुल भिन्न हो जायेगा। इसका प्रभाव पहले हमारी आदतों पर और बाद में विचारों पर पड़ेगा। फलस्वरूप नवीन सामाजिक संस्थाओं का जन्म होगा और इस प्रकार सम्पूर्ण सामाजिक ढांचे में परिवर्तन हो जायेगा। इस प्रकार वेबलिन द्वारा प्रस्तुत सामाजिक परिवर्तन के क्रम को अग्रांकित रूप से समझा जा सकता है :

(1) कार्य करने की मूलप्रवृत्ति
(Instinct of Workmanship)
(जो प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान है)
↓
(2) नयी प्रविधियों का आविष्कार
(Invention of new techniques)
(जो उपर्युक्त मूलप्रवृत्ति का परिणाम है)
↓
(3) भौतिक पर्यावरण में परिवर्तन
(Change in physical environment)
(जिसका कारण नई प्रविधियों का उपयोग है)
↓
(4) आदतों और विचारों में परिवर्तन
(Change in habits and thought)
↓
(5) सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन
(Change in social structure)
(जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं)

इससे स्पष्ट होता है कि वेबलिन ने प्रौद्योगिक कारकों अथवा नयी प्रविधियों के उपयोग को ही सामाजिक परिवर्तन का मौलिक स्रोत माना है। इसी आधार पर मैकाइवर एवं पेज का कथन है कि "कुल मिलाकर वेबलिन को एक प्रौद्योगिक निश्चयवादी माना जा सकता है।"[1]

आलोचना
(Criticism)

वेबलिन का सिद्धान्त भी प्रौद्योगिकी के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की धारणा को स्पष्ट करने में अधिक उपयुक्त नहीं है। इसमें लगभग वे सभी कमियाँ हैं जिनको हम मार्क्स के सिद्धान्त में देख चुके हैं, लेकिन तो भी कुछ विशेष दोषों का उल्लेख यहाँ पर किया जा सकता है :

(1) वेबलिन की मान्यता है प्रौद्योगिकीय परिवर्तन हमारी आदतों और विचारों में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। यदि प्रौद्योगिकी ही आदतों और विचारों का

1. MacIver and Page : Society, p. 566

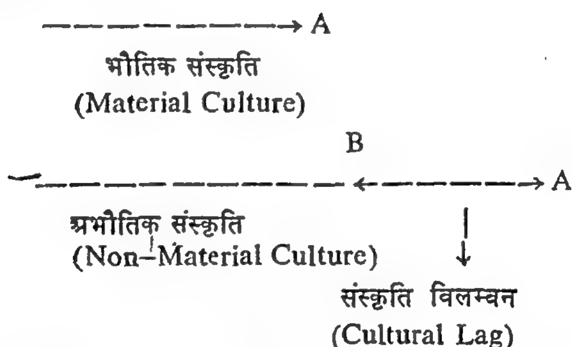
आधार है तो क्या कारण है कि समान प्रौद्योगिकी में रहने वाली विभिन्न जनजातियों के विचार और आदतें एक-दूसरे से अत्यधिक भिन्न हैं।

(2) वेबलिन के इस कथन में भी विश्वास नहीं किया जा सकता है कि भौतिक पर्यावरण में परिवर्तन होने से ही सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न होता है। कभी-कभी भौतिक पर्यावरण बिल्कुल भी नहीं बदलता, लेकिन धार्मिक और नैतिक परिवर्तनों के कारण ही समाज का रूप बिल्कुल परिवर्तित हो जाता है।

(3) वेबलिन का कथन इसलिए भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है कि उन्होंने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को इतने सरल रूप में प्रस्तुत कर दिया कि वह बिल्कुल अव्यावहारिक बन गई है।

3. ऑगबर्न का सिद्धान्त (OGBURNS THEORY)

ऑगबर्न के सांस्कृतिक परिवर्तन के सिद्धान्त को रेखीय परिवर्तन के अन्तर्गत रखा जा सकता है। ऑगबर्न का विचार था कि सभी समाजों में भौतिक संस्कृति, अभौतिक संस्कृति के आगे-आगे विकास करती चली जाती है और इस स्थिति के कारण ही सामाजिक परिवर्तन होता है। ऑगबर्न के इस मत को निम्न रेखाचित्र से व्यक्त किया जा सकता है—



ऑगबर्न संस्कृति को दो भागों में विभाजित करता है—(i) भौतिक संस्कृति, (ii) अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत उन सभी वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध भौतिक सुख-सुविधा से होता है जैसे—मकान, मोटर, रेलगाड़ी, वायुयान आदि। अभौतिक संस्कृति से तात्पर्य उन भाववाचक संज्ञाओं से अथवा वस्तुओं से है जिनका अप्रत्यक्ष सम्बन्ध मनुष्य के विचारों, मानसिक तृप्ति एवं सुखानुभूति से होता है तथा जो साधारणतः अमूर्त है जैसे कला, संगीत, विश्वास, धर्म आदि। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य अपने अनुभव और ज्ञान से जिन मूर्त वस्तुओं का निर्माण करता है, उसे भौतिक संस्कृति की संज्ञा दी जाती है, जबकि हमारे विचार, विश्वास, नैतिकता, धर्म आदि अभौतिक संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं।

ऑगबर्न का मत है कि भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति में निरन्तर विकास तथा परिवर्तन होता रहता है। एक दिये हुए समय में भौतिक संस्कृति, अभौतिक संस्कृति से अधिक विकसित तथा परिवर्तित हो जाती है। अभौतिक संस्कृति, सस्कृति से पीछे छूट जाती है जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन होता है। ऊपर के रेखाचित्र से जैसा कि स्पष्ट है कि एक निश्चित अवधि में जब भौतिक संस्कृति 'A' विन्दु तक पहुँच जाती है, लेकिन उसी अवधि में अभौतिक संस्कृति केवल 'B' विन्दु तक ही पहुँच पाती है और इस प्रकार 'A' विन्दु और 'B' विन्दु में दूरी के कारण जिसे ऑगबर्न सांस्कृतिक विलम्बना कहता है सामाजिक परिवर्तन होता है। ऑगबर्न के सांस्कृतिक विलम्बना का सिद्धान्त रेखीय प्रतीत होता है, क्योंकि यदि इसे रेखीय नहीं माना जाय तो विलम्बना की अवधारणा का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

आलोचना—(1) कोई भी परिवर्तन एक ही रेखा में निरन्तर होता चला जायेगा, इसे वैज्ञानिक आधार पर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(2) प्राकृतिक अथवा भौगोलिक दशाएँ सामाजिक सम्बन्धों को पूरी तरह प्रभावित करती रहती है, यह अधिकार के साथ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विज्ञान तथा प्रौद्योगिक आविष्कार अब भौगोलिक दशाओं को स्वयं प्रभावित कर रहे हैं।

(3) वंशानुगत लक्षण सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं, लेकिन इनके साथ-साथ पर्यावरण की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(4) परिवर्तन का कोई अकेला प्रतिमान नहीं हो सकता। इस 20वीं शती में उतार-चढ़ावदार तथा चक्रीय परिवर्तन रेखीय परिवर्तन से अधिक व्यावहारिक प्रतीत होते हैं।

(4) सोरोकिन का सांस्कृतिक सिद्धान्त[1]
(Cultural Theory of Pitrim Sorokin)

सोरोकिन का विचार है कि सामाजिक परिवर्तन केवल उत्थान-पतन की एक प्रक्रिया है जो इन्द्रियपरक (sensate) और विचारात्मक (ideational) संस्कृति की दो सीमाओं के बीच में क्रियाशील रहती है। इसका तात्पर्य है कि सांस्कृतिक विशेपताओं में परिवर्तन तो सदैव होता रहता है, लेकिन यह परिवर्तन इन्द्रियपरक संस्कृति की सीमा तक पहुँच जाने के बाद पुनः विचारात्मक संस्कृति की ओर लौट पड़ता है।

सोरोकिन के अनुसार सामाजिक परिवर्तन की कोई निश्चित दिशा नहीं होती। सामाजिक परिवर्तन वास्तव में उत्थान-पतन की एक प्रक्रिया है जिसे संगीत,

---

1. Pitrim Sorokin, *Social ond Cultural Dynamics.*

साहित्य, जीवन-पद्धति, धर्म, कला, विज्ञान, राजनीति और इसी प्रकार के दूसरे सांस्कृतिक तत्त्वों में देखा जा सकता है।

संस्कृति के उत्थान-पतन (अथवा दूसरे शब्दों में, चक्रीय परिवर्तन) की प्रकृति को समझने लिए संस्कृति के तीन स्वरूपों का उल्लेख किया जा सकता है—इन्द्रयपरक संस्कृति (sensate culture), **विचारात्मक संस्कृति** (ideational culture) तथा आदर्शवादी संस्कृति (idealistic culture)। इन्द्रियपरक संस्कृति का सम्बन्ध उन सभी वस्तुओं से है जो हमारी इच्छाओं को सन्तुष्ट करती है। इसमें सभी भौतिक वस्तुओं, आविष्कारों तथा विलास से सम्बन्ध पदार्थों का समावेश है। यह संस्कृति पूर्णतया भौतिकवादी है जिसमें अलौकिक विश्वासों तथा नैतिक मूल्यों का कोई स्थान नहीं है। **विचारात्मक संस्कृति** इसके पूर्णतया विपरीत है। विचारात्मक संस्कृति प्रत्येक स्थिति में ईश्वरीय न्याय, नैतिक मूल्यों समाजोपरिसत्ता' आत्मा और कर्तव्य को महत्त्व देती है। अध्यात्मवाद इस संस्कृतिक का सार-तत्त्व है। आदर्शवादी संस्कृति इन दोनों संस्कृतियों के बीच की स्थिति है जो व्यक्तिगत लाभ के साथ ही मानवीय मूल्यों को भी महत्त्व देती है।

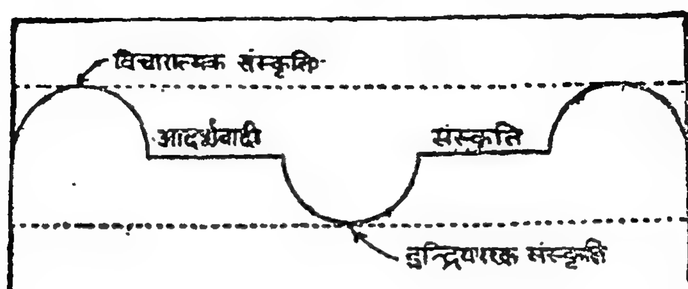
सारोकिन के अनुसार सभी परिवर्तन आदर्शवादी संस्कृति में ही होते हैं। इसका तात्पर्य है कि कभी आदर्शवादी सस्कृति में इन्द्रयपरक विशेपताएँ बढ़ने लगती हैं तो कभी इसमें विचारात्मक संस्कृति के तत्त्व अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाते हैं। इस परिवर्तन की भी अपनी एक सीमा है। यदि सांस्कृतिक परिवर्तन इन्द्रयपरक संस्कृति की ओर होते हैं, तो वे एक निश्चित सीमा तक पहुँच कर पुनः विचारात्मक संस्कृति की ओर लौटाने लगते हैं, जबकि विचारात्मक संस्कृति की सीमा तक जाकर उन्हें पुनः इन्द्रयपरक संस्कृति की ओर लौटना पड़ता है। इस प्रकार, जैसा कि आगे दिये चित्र से स्पष्ट होता है[1] इन्द्रयपरक और विचारात्मक संस्कृतियाँ केवल परिवर्तन की सीमाएँ हैं, जबकि अधिकांश समय तक समाज में आदर्शवादी संस्कृति ही प्रभावी बनी रहती है।

संस्कृति की इन्द्रियपरक और विचारात्मक सीमाओं के अन्तर्गत यह परिवर्तन किस प्रकार होता है, इसे समझाते हुए सोरोकिन ने एक उदाहरण दिया है, "यदि हम पियानो पर अँगुलियाँ चलायें तो एक आवाज निकलेगी, यदि और जोर से अँगुलियाँ चलायें तो आवाज और तेज हो जायेगी, लेकिन इसके बाद यदि और तेज भी तेज अँगुलियाँ चलायें भी तो हो सकता है कि और अधिक तेज आवाज न निकले, बल्कि पियानो ही टूट जाय।" इसी प्रकार संस्कृति एक दिशा में आगे बढ़ते-बढ़ते जब एक निश्चित बिन्दु तक पहुँच जाती है। तब वह और आगे न बढ़ती है, बल्कि पुनः पीछे की ओर लौट आती है।

---

1. W. E. Moore, *Social Change*, p. 43.

बिल्बर्ट मूर ने अपनी कृति में इस को निम्नलिखित चित्र के माध्यम से समझाया है—



यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि संस्कृति में यह परिवर्तन क्यों होता है? सोरोकिन के अनुसार जिस प्रकार कुछ आन्तरिक शक्तियों के कारण शरीर का विकास होता है, उसी प्रकार संस्कृति की व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के कारण भी कुछ आन्तरिक और कुछ प्राकृतिक नियम हैं। संस्कृति में परिवर्तन इसलिए होता है, क्योंकि यह एक प्राकृतिक घटना है। इस प्रकार सांस्कृतिक परिवर्तन की सम्पूर्ण प्रक्रिया प्राकृतिक रूप से अपना कार्य करती हैं, इसमें तनिक भी कृत्रिमता नहीं है। यही सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन का कारण है। अपने सिद्धान्त के आधार पर सोरोकिन ने निष्कर्ष दिया कि बीसवीं शताब्दी की पश्चिमी सभ्यता इन्द्रियपरक संस्कृति (sensate culture) की चरम सीमा तक पहुँच चुकी हैं जहाँ प्रत्येक व्यक्ति भौतिक सुखों की खोज में पागल हो रहा है, इसलिए यह सम्भावना की जा सकती है कि बहुत शीघ्र ही उसकी दिशा विचारात्मक संस्कृति (ideational culture) की ओर मुड़ जायेगी। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन को संस्कृति के रूप में होने वाले चक्रीय परिवर्तनों के आधार पर ही समझा जा सकता है।

आलोचना (Criticism)—यद्यपि सोरोकिन ने अपने सिद्धान्त को वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया है, लेकिन अनेक आधारों पर इसे सामाजिक परिवर्तन का निष्पक्ष सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। सर्वप्रथम, सोरोकिन यह स्पष्ट नहीं कर सके हैं कि इन्द्रियपरक सस्कृति की अन्तिम सीमा क्या है। केवल यह कह देना कि "पश्चिमी समाज इन्द्रियपरक संस्कृति की चरम सीमा पर पहुँच गये हैं जहाँ से उन्हें पुनः विचारात्मक संस्कृति की ओर लौटान पड़ेगा," पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त संस्कृति को एक सीमा से दूसरी सीमा तक पहुँचने में इतना लम्बा समय लग जाता है कि इस अवधि में होने वाले परिवर्तनों को 'सामाजिक परिवर्तन' कहना उचित प्रतीत नहीं होता। सोरोकिन ने संस्कृति की तीन श्रेणियाँ बनाकर परिवर्तन की

सभी घटनाओं को इन्हीं के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया है। ऐसी व्याख्या का पक्षपातपूर्ण हो जाना बहुत स्वाभाविक है। इस बात में भी विश्वास नहीं किया जा सकता कि सभी सामाजिक परिवर्तन इन्द्रियपरक और विचारात्मक संस्कृति के बीच में ही होते हैं। युद्ध, क्रान्ति और वैज्ञानिक आविष्कारों से सम्बन्धित परिवर्तनों को न तो पूर्णतया इन्द्रियपरक कहा जा सकता है और न ही विचारात्मक। अन्त में, सोरोकिन के सिद्धान्त से यह भी स्पष्ट नहीं होता है कि सामाजिक परिवर्तन अथवा आदर्शवादी संस्कृति में होने वाले उतार-चढ़ाव अर्थात् उत्थान-पतन का कारण क्या है? केवल यह कहना कि 'परिवर्तन इसलिए होता है कि ऐसा होना स्वाभाविक है' सोरोकिन के सिद्धान्त को बहुत अस्पष्ट और भ्रान्तिपूर्ण बना देता है।

(5) पैरेटो का सिद्धान्त
(Pareto's Theory)

विल्फ्रेडो पैरेटो का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त जो चक्रीय प्रतीत होता है, उसे उसने वर्गगत स्तरण के आधार पर सिद्ध किया है। परेटो के अनुसार पश्चिमी समाजों में दो प्रकार के स्पष्ट वर्ग मिलते हैं :

(1) अभिजात वर्ग (elite class), और

(2) निम्नवर्ग। (lower class)।

पैरेटो का मानना है कि वर्ग की सदस्यता व्यक्ति के अर्जित गुणों पर आधारित होती है। जिन लोगों के अर्जित गुण श्रेष्ठ हैं, उन्हें अभिजात वर्ग अथवा उच्च वर्ग में रखा जाता है तथा जिनमें अर्जित गुण निम्न कोटि के होते हैं, उन्हें निम्नवर्ग में रखा जाता है। लेकिन वर्ग की यह सदस्यता अन्तिम तथा स्थायी नहीं होती है। उच्च वर्ग के वे लोग जिनमें अब श्रेष्ठ गुण नहीं है, उन्हें निम्नवर्ग में आना पड़ता है तथा वर्ग के वे लोग जिन्होंने परिश्रम के द्वारा अपने अर्जित गुणों में विकास किया है, वे उच्च वर्ग में स्थान पाते हैं। इस प्रकार विभिन्न वर्गों में लोगों का परिभ्रमण होता रहता है। पैरेटो के इस सिद्धान्त को **अभिजात वर्ग के परिभ्रमण** (Circulation of Elite) का सिद्धान्त कहते हैं। यह परिभ्रमण चक्रीय गति में होता है। इस स्थिति के कारण सामाजिक संरचना परिवर्तित होती है।

पैरेटो ने अपने इस सिद्धान्त को तीन पहलुओं में परिवर्तन के आधार पर सिद्ध किया है—(1) राजनीतिक, (2) आर्थिक, और (3) आदर्शात्मक। इन तीनों क्षेत्रों में एक वर्ग श्रेष्ठ लोगों का दृष्टिगत होता है जिनमें कुशलता तथा योग्यता होती है। लेकिन धीरे-धीरे उनकी कुशलता तथा योग्यता में ह्रास होने लगता है। वे पथभ्रष्ट होते दीखते हैं, उनका पतन होता है जिनके कारण वे अभिजात वर्ग से बहिष्कृत होकर निम्नवर्ग में आ जाते हैं और उनका स्थान निम्नवर्ग के योग्य व्यक्ति ले लेते हैं।

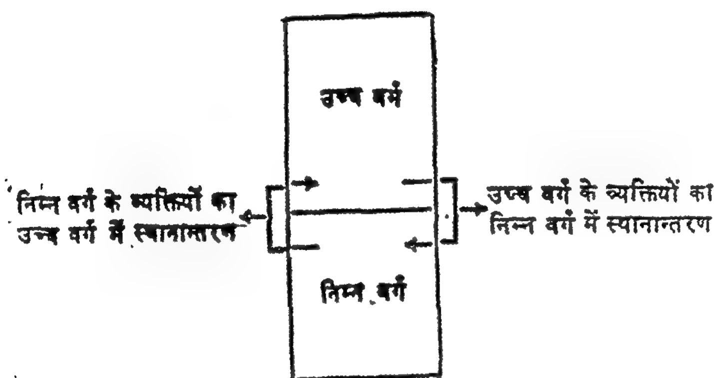
पैरेटो ने अपने परिभ्रमण के सिद्धान्त को दो प्रकार के अवशिष्ट चालकों के आधार पर स्पष्ट किया है।

(1) सम्मिलन के अवशिष्ट चालक (Residues of Combination),

(2) समूह के स्थायित्व के अवशिष्ट चालक (Residues of the persistence of Aggregate)।

सम्मिलन के अवशिष्ट चालकों की प्रधानता जिन व्यक्तियों में होती है, वे वर्तमान उद्देश्य को अधिक महत्त्व देते हैं। तथा उनका व्यवहार उनके स्वार्थ से प्रेरित होता है, जबकि ऐसे लोग जिनमें समूह के स्थायित्व के अवशिष्ट चालकों की प्रधानता होती है, वे परम्परागत आदर्शवादी स्थायी व्यवस्था को महत्व देते हैं। इन दोनों प्रकार के लोगों से निर्मित वर्गों में प्रभुत्व के लिए प्रयत्न स्वाभाविक है जिसके कारण सामाजिक परिवर्तन होता है।

पैरेटो के सिद्धान्त को निम्नलिखित रेखाचित्र के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है :



पैरेटो का यह मत है कि उच्चवर्ग से निम्नवर्ग में तथा निम्नवर्ग से उच्च-वर्ग में लोगों का आना-जाना तब तक चलता रहता है जब तक कि स्थानापन्न करने वाले लोग मिलते रहते हैं।

पैरेटो ने लिखा है कि इतिहास कुलीनतन्त्रों का कब्रिस्तान है, क्योंकि उच्च-वर्ग में निकृष्टों तथा निम्नवर्ग में श्रेष्ठों के संचरण से सामाजिक सन्तुलन में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। विकासवाद तब अन्तिम स्थिति में पहुँचता है जबकि उच्चवर्ग के पास निम्न वर्ग पर शासन करने के लिए अनुकूल अवशिष्ट नहीं रह पाता।

प्रत्येक समाज में जो अभिजातों का परिभ्रमण होता है, उसके कारण निम्न-लिखित हैं :

(1) स्तरीकरण का कोई स्वरूप पूर्णतया बन्द नहीं है।

(2) अभिजात वर्ग के लोग अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हैं जिनके कारण उनका विरोध होना स्वाभाविक है।

(3) निम्नवर्ग में भी कुछ लोग बुद्धिमान तथा श्रेष्ठ पैदा होते रहते हैं और उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

(6) ओसवाल्ड स्पेंग्लर का सिद्धान्त

ओसवाल्ड स्पेंग्लर की प्रमुख कृति का नाम 'Der Untergang des Abendlandes' है। जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'The Decline of the West' है। स्पेंग्लर की उपर्युक्त पुस्तक को अत्यन्त सफलता मिली और यह कृति अन्य आश्चर्य-जनक कृतियों की रचना-स्रोत बनी। 'पाश्चात्य का पतन' बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध की अति प्रसिद्ध, प्रभावशाली और सामयिक रचना है। इससे इतिहास, दर्शन, समाज विज्ञान और जर्मन चिन्तन से सम्बन्धित गहन वाद-विवादों को विशेष रूप से बल मिला। सोरोकिन ने लिखा है कि इस ग्रन्थ ने एक नामहीन पाठशाला के शिक्षक को बीसवीं शताब्दी के अति मौलिक और प्रभाववान् सामाजिक चिन्तकों के वर्ग में ला रखा।

स्पेंग्लर ने संस्कृतियों के विकास और ह्रास को एक चक्रीय क्रम में व्यक्त किया। उसके अनुसार प्रत्येक संस्कृति की नयी सम्भावनाएँ होती हैं जिससे आत्म-अभिव्यक्ति सम्भव होती है। संस्कृति पैदा होती है, परिपक्व बनती है और फिर उसका पतन होता है। इस प्रकार एक चक्रवत् रूप में किसी संस्कृति का अन्त होता है। स्पेंग्लर ने स्पष्ट लिखा है कि एक संस्कृति जिसका पतन हो गया, उसका फिर से लौटना सम्भव नहीं।

विश्व में केवल एक मूर्तिकला, एक चित्रकला, एक गणित, एक भौतिकशास्त्र विषय ही नहीं हैं, बल्कि अनेक विषय हैं। इनमें से प्रत्येक विषय एक-दूसरे से भिन्न है, सीमित है, काल में और अपने में पूर्ण है। संस्कृतियाँ, पुष्पों के समान ही उदात्त लक्ष्यहीनता के द्वारा इस विश्व में जन्म लेती हैं। विश्व इतिहास इन संस्कृतियों की रचना-प्रक्रिया के विभिन्न परिवर्तनों का लेखा रखता है। स्पेंग्लर के अनुसार ऐतिहासिक घटनाओं की मूल इकाई उस समाज की संस्कृति ही होती है।

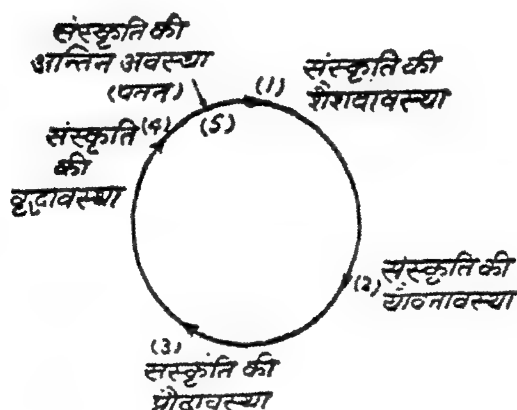
स्पेंग्लर का विचार है कि संस्कृतियाँ तान्त्रिक व्यवस्थाएँ हैं और विश्व-इतिहास उनके जीवन-चरित्र का संकलन है। संस्कृति उत्पन्न होकर विकसित होती है और अपने प्रलक्षित भाग्य को पूरा करने के बाद उसका अन्त होता है।

स्पेंग्लर ने अपनी पुस्तक 'The Decline of the West' में लिखा है कि प्रत्येक संस्कृति मानव-जीवन के समान—शैशव, यौवन, प्रौढ़ तथा वृद्ध अवस्था के मध्य से गुजरती है।

प्रत्येक सस्कृति की अपनी एक सभ्यता भी होती है। सभ्यता इस प्रकार प्रत्येक संस्कृति का अनिवार्य अन्त है। सभ्यताएँ संस्कृतियों की अति वाह्य और अत्यन्त कृत्रिम स्वरूप होती हैं।

स्पेंग्लर का यह स्पष्ट मत है कि प्रत्येक वस्तु जो निर्मित होती है, निर्माण-प्रक्रिया के वाद उस स्थान पर पहुँचती है जहाँ से उसका अन्त अनिवार्य है। यह क्रम उसी प्रकार चला करता है जिस प्रकार जीवन और मृत्यु का क्रम। इस प्रकार स्पेंग्लर द्वारा वर्णित सांस्कृतिक विकास एवं ह्रास को चक्रीय सिद्धान्त के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

स्पेंग्लर के मत को निम्नलिखित रेखाचित्र द्वारा व्यक्त किया गया है—



7. टोयनबी का सिद्धान्त
(Toynibee's Theory)

टायनबी का विचार इस मान्यता पर आधारित है कि वोधगम्य, अध्ययन की इकाई 'समाज' है। सामाजिक परिवर्तन विनाशकारी चुनौतियों और उनकी प्रतिक्रियाओं का परिणाम होता है। टायनवी का यह मत था कि ऐतिहासिक विवेचन की स्पष्ट इकाई न तो स्वतन्त्र विशेष घटनाएँ हो सकती हैं जो देश-काल में एक दूसरे के अत्यन्त नजदीक होती है, और न ही वह राज्यों का इतिहास ही वन सकता है, और न ही सम्पूर्ण मानवता को इकाई वना सकते हैं। अध्ययन की इकाई वह

समाज है, जिसका क्षेत्र देशकाल में राष्ट्रीय राज्यों और नगर-राज्यों अथवा अन्य किसी राजनीतिक समुदायों से अधिक विस्तृत है। समाज राज्य नहीं, वह 'सामाजिक अणु' है जिसको इतिहास का विद्यार्थी अपने अध्ययन का केन्द्र स्वीकार करता है और अपने अध्ययन के लिए प्रस्तावित करता है। टायनबी धार्मिक विशेषताओं और प्रादेशिक तथा राजनीतिक लक्षणों को समन्वित करके 'सभ्यता' को अध्ययन का विषय निर्धारित करता है। टायनबी के अनुसार सभ्यता समाज की एक उपजाति है। इस प्रकार की सभ्यताओं की संख्या को टायनबी पहले 21 और बाद में 26 बतलाता है जो कि सम्बन्वित तथा असम्बन्धित में विभाजित की जा सकती है।

टायनबी अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन तीन प्रश्नों का उत्तर देकर करता है : वे हैं—

(1) सभ्यता की उत्पत्ति की समस्या—ऐसा क्यों होता है कि कुछ समाज आदिम समुदायों के समान बने रहते हैं, जबकि कुछ समान बने रहते हैं जबकि कुछ समाज थोड़े ही समय में काफी आगे निकल जाते हैं।

(2) वह कौनसी ऐसी परिस्थितियां थीं जिनके फलस्वरूप 26 सभ्यताओं में से चार तुरन्त समाप्त हो गयीं, पांच अपने प्रारम्भिक स्तर पर पहुंचकर समाप्त हुईं, जबकि अन्य शेष 17 सभ्यतायें विकसित होकर अपनी भीतरी शक्ति एवं ओज के कारण चुनौतियों और प्रतिक्रियाओं से दूसरी चुनौतियों और प्रतिक्रियाओं तक बढ़ती गयीं।

(3) क्यों कुछ संस्कृतियों में विघटन उपस्थित होता है, क्यों वे टूट जाती हैं, और क्यों उनका लोप हो जाता है ?

टायनबी ने सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत किया जो निम्नलिखित हैं :

जब कभी किसी सभ्यता के इतिहास में एक कार्यशील समिति वर्ग एक प्रभुत्वशील शासक वर्ग में परिवर्तित हो जाता है और जो बलपूर्वक अपने उस गौरव को स्थित रखना चाहता है जिसे उसने अपने अर्जित योग्यता के आधार पर प्राप्त किया था। जनसाधारण अर्थात् सर्वहारा-वर्ग (श्रमजीवी वर्ग) (Proletariat) इस स्थिति का विरोध प्रारम्भ करता है। जनसाधारण अब संयुक्त रूप से न तो शासक वर्ग का अनुसरण करता है और न ही शासक वर्ग के प्रति उसमें कोई आन्तरिक सम्मान की भावना ही होती है। जनसाधारण में शासक वर्ग के प्रति विद्रोह की भावना पनपती है और उसमें एक आक्रोश की स्थिति का उदय होता है। इस जनसाधारण

को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है : (1) आन्तरिक पीड़ित दलित वर्ग—इसमें अधिकांश लोग आ जाते हैं। (2) वाह्य उत्पीड़ित वर्ग—ऐसे लोगों का जो उस पूँजीवादी संस्कृति-सभ्यता में समाहित होने का सशस्त्र विरोध करते हैं। इस प्रकार एक संस्कृति सभ्यता के भीतर वर्ग संघर्ष के बीज उगते हैं जिससे समाज परिवर्तित होता है।

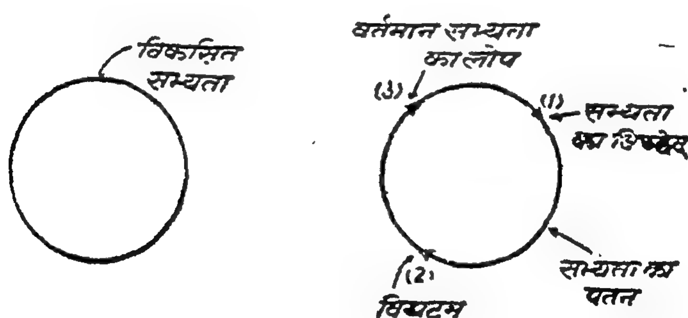
विकास से पतन का युग अपनी निम्नांकित उप-अवस्थाओं से गुजरता है :

(1) सभ्यता का विच्छेद,

(2) विघटन,

(3) वर्तमान सभ्यता का लोप।

पहली अवस्था (सभ्यता का विच्छेद) से अन्तिम अवस्था (सभ्यता का लोप) को कोई समाज कितने दिन में पहुँचेगा ! इसके उत्तर में टायनवी का मत है कि कभी-कभी इसमें सैंकड़ों वर्ष तथा कभी-कभी हजारों वर्ष लग सकते हैं। जैसे मिस्र की सभ्यता का विच्छेदन सोलहवीं सदी ई० पू० (1600 B. C.) में हो चुका था, लेकिन उस सभ्यता का लोप पाँचवीं सदी ई. (500 A.D.) में हुआ। इस प्रकार इस सभ्यता के विनाश में 2900 वर्ष कुल लगे। टायनवी अपनी पुस्तक 'सभ्यता की चुनौती' में यह मत व्यक्त करते हैं कि संस्कृतियों का जीवन वृत्ताकार और आवृत्ति-मूलक होता है।



टायनवी के उपर्युक्त मत को उपर्युक्त रेखाचित्र से व्यक्त किया जा सकता है :

विश्वविद्यालय प्रश्न
(UNIVERSITY QUESTIONS)

1. सामाजिक परिवर्तन को परिभाषित कीजिये। इसकी प्रकृति एवं विशेषताओं की विवेचना कीजिये।

(Define Social Change. Discuss its Nature and Character-is tics.)

2. सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में अन्तर कीजिए ।
(Distinguish Social Change and Cultural Change.)

3. सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख प्रतिमानों को स्पष्ट कीजिये ।
(Explain the main patterns of Social Change.)

4. सामाजिक परिवर्तन के कारकों को स्पष्ट कीजिये ।
(Explain the factors of Social Change.)

5

सामाजिक नियन्त्रण—अवधारणा एवं अभिकरण

(Social Control—Concept and Agencies)

सामाजिक नियन्त्रण—एक परिचय
सामाजिक नियन्त्रण के प्रकार।
सामाजिक नियन्त्रण के साधन एवं अभिकरण



सामाजिक नियंत्रण-एक परिचय
(Social Control-An Introduction)

समाज की विभिन्न क्रियाओं अथवा गतिविधियों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए प्रत्येक समाज में एक समुचित व्यवस्था होती है। एक व्यक्ति अपने किसी भी कार्य या आवश्यकता की पूर्ति-हेतु अन्य व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करता है। वह किसी व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करे, अमुक कार्य को करे या न करे, इसकी समाज में एक निश्चित कार्य-पद्धति होती है। सामाजिक ढांचा इस बात पर आधारित होता है कि समाज का प्रत्येक सदस्य उचित प्रकार से अपने कार्य को सम्पन्न करे। यदि प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करे तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी। विघटनकारी और अनियंत्रित तत्त्वों (Elements) का विस्तार होने लगेगा। इन आशंकाओं से बचने और एक निश्चित सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए सामाजिक नियंत्रण नितान्त आवश्यक है। सामाजिक नियंत्रण से समस्याओं का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक हल प्राप्त होता है तथा व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रतिमानित किया जाता है। इसके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) ने तो अपनी प्रमुख कृति **ह्यूमन सोसाइटी** (Human Society) में यहाँ तक लिखा है कि "बिना सामाजिक नियन्त्रण के समाज का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। उन्होंने लिखा है कि समाज का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों और नियन्त्रण की व्यवस्था द्वारा होता है। यदि इनमें से कोई भी एक कारक निकाल दिया जाय तो समाज की अवधारणा ही समाप्त हो जायेगी। व्यवस्थापित नियन्त्रण के साधन समाज में तभी से है जब से समाज का उद्‌गम हुआ है। इन नियन्त्रण के साधनों को व्यक्ति ने अपने सीखने की क्षमता तथा प्रतीकात्मक संचार के प्रयोग द्वारा ही ग्रहण किया है।"[1]

मेकाइवर और पेज (Maciver and Page) के अनुसार सामाजिक नियंत्रण से सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था एक परिवर्तनशील सन्तुलन के रूप में क्रियाशील रहती है। वस्तुतः सामाजिक नियंत्रण द्वारा मनुष्य के पूर्वानुभव सुरक्षित रहते हैं जो सामाजिक समस्याओं के निदान में सहायक होते हैं। इसके अन्तर्गत जनरीतियों,

1. *Kingsley Davis* : Human Society; p. 63.

परम्पराओं, संहिताओं, संविधानों आदि अनेक साधनों का प्रयोग किया जाता है। इनमें से कुछ परम्परागत होते हैं तथा कुछ का निर्माण तत्कालीन समस्याओं के अनुरूप किया जाता है।

सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण के संक्षिप्त परिचय के बाद अब हम सामाजिक नियन्त्रण के अर्थ एवं परिभाषाओं को समझने का प्रयास करेंगे।

ऑग्बर्न एवं निमकॉफ (Ogburn and Nimcoff) ने 'ए हेन्डबुक ऑफ सोशियोलोजी' में सामाजिक नियन्त्रण को एक 'प्रतिमान' के रूप में मानकर व्याख्या करने का प्रयत्न किया है, जिसके अनुसार, "सामजिक नियन्त्रण दवाव का वह प्रतिमान है जिसे कि समाज-व्यवस्था बनाये रखने तथा नियमों को स्थापित रखने के उपयोग में लाया जाता है।[1]

ऑग्बर्न एवं निमकॉफ ने उपर्युक्त परिभाषा में ऐसे दवावों (Pressure) पर जोर दिया है जो कि किसी भी तरह के हो सकते हैं, जैसे कि धर्म या नैतिकता, सामाजिक मूल्य अथवा कानून अर्थात् प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सभी साधनों द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखा जाता है।

मैकाइवर एवं पेज (R. M. MacIver and C. H. Page) के शब्दों में "सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ उस ढंग से है जिससे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था में एकता बनी रहती है तथा जिसके द्वारा यह व्यवस्था में एक परिवर्तनशील सन्तुलन के रूप में कार्य करती रहती है। जिसमें प्रमुख जोर सामाजिक व्यवस्था की एकता पर देकर उसके परिवर्तन-सन्तुलन को अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया है, जिससे कि विभिन्न पक्षों के बीच सन्तुलन बना रह सके।"[2]

गिलिन एवं गिलिन (Gillin and Gillin) ने सामाजिक नियन्त्रण को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "सामाजिक नियन्त्रण सुझाव, अनुनय (Presuasion), प्रतिरोध, उत्पीड़न तथा बल-प्रयोग जैसे साधनों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज किसी समूह के व्यवहारों को मान्यता-प्राप्त अभिमानों के अनुरूप बनाता है अथवा समूह सभी सदस्यों को अपने अनुरूप बना लेता है ,"[3]

गुरविच एवं मूरे (Gorvitch and Moore) ने सामाजिक नियंत्रण को परिभाषित करते हुए स्पष्ट किया है कि "सामाजिक नियंत्रण का सम्बन्ध उन सभी प्रक्रियाओं एवं प्रयत्नों से है जिनसे समूह अपने आन्तरिक तनावों और संघर्षों पर

---

1. *Ogburn & Nimcoff*; A Handbook of Sociology; p. 182.
2. *Maciver and Page*; Society; p. 137.
3. *Gillin and Gillin*: Cultural Sociology; p. 693.

नियन्त्रण रखता है और इस प्रकार रचनात्मक कार्यों की ओर अग्रसर होता है। इन्होंने आगे और भी स्पष्ट कहा है कि 'सामाजिक नियंत्रण का अभिप्राय मूल्यों और आदर्श नियमों की उस व्यवस्था से है जिसके द्वारा व्यक्तियों और समूहों के बीच उत्पन्न होने वाले तनावों तथा संघर्षों को दूर अथवा कम किया जाता है जिससे समूह की सुदृढ़ता को बनाये रखा जा सके।[1]

टी० बी० बाटोमोर (T. B. Bootomore) का सामाजिक नियंत्रण से आशय मूल्यों के उस संकलन से है जिसके द्वारा व्यक्तियों और समूहों के बीच तनावों तथा संघर्षों को दूर अथवा कम किया जा सके जिससे कि किसी अधिक समावेशी समूह (Inclusive group) की सुदृढ़ता बनायी रखी जा सके। इसका अर्थ ऐसे सम्बन्धों से भी है जिनके माध्यम से इन मूल्यों एवं आदर्शों का संचार किया जाता है तथा उनका समाज के भीतर समावेश होता है। "[2]

ब्रियरली (Brearly) ने सामाजिक नियन्त्रण को परिभाषित करते हुए कहा है कि "सामाजिक नियन्त्रण उन आयोजित अथवा अनियोजित प्रक्रियाओं तथा विधियों के लिए एक सामूहिक शब्द है जिसके द्वारा व्यक्तियों को सिखाया जाता है, आग्रह किया जाता है, अथवा बाध्य किया जाता है कि वे उन समूहों की रीतियों तथा जीवन के मूल्यों का पालन करें जिनके वे सदस्य हैं।"[3]

ई० ए० रॉस (E. A. Ross) के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण उन पद्धतियों की व्यवस्था है जिनके द्वारा समाज अपने सदस्यों को मान्य व्यवहार प्रतिमानों के अनुरूप बनाता है।"[4]

पी० एच० लैंडिस (P. H. Landis) ने सोश्यल कन्ट्रोल नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि "सामाजिक नियन्त्रण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था की जाती है और बनाये रखी जाती है।"[5]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि सामाजिक नियन्त्रण द्वारा मनुष्यों अथवा समूह के व्यवहारों को निश्चित कर, समाज की मान्यताओं के अनुरूप बनाया जाता है। इसके लिए अनुरोध से लेकर बल प्रयोग तथा नाना प्रकार के साधनों और अभिकरणों का प्रयोग किया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण का स्वरूप और विस्तार विभिन्न समाजों में परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग पाया जाता है।

---

1. *Gorvitch and Moore*; Twentieth century Sociology; p. 287-288
2. *T. B. Bootomore*; Sociology; p. 11.
3. *H. D. Brearly*; Quoted by Bogardus; Sociology; p. 470.
4. *E. A. Ross*; Sociology.
5. *P. H. Landis*; Social Control; p. 4.

सामाजिक नियन्त्रण बहुत कुछ समाजीकरण से मिलता-जुलता है। अगर समाजीकरण व्यक्ति में सामाजिकता का प्रादुर्भाव करता है तो सामाजिक नियन्त्रण जीवन-पर्यन्त उसकी परिपुष्टि करता है। सामाजिक नियन्त्रण आत्म-नियन्त्रण के भी बहुत निकट है। जब धर्म, प्रथा, कानून परिवार, चर्च, शिक्षा आदि द्वारा समाज के सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित किया जाता है तो यह नियन्त्रण के बाध्यकारी (obligatory or binding) साधनों में आता है, लेकिन व्यक्ति जब अपनी बुद्धि, विवेक, आदर्श, विचार शीलता आदि के द्वारा स्वतः अपने पर नियन्त्रण करता है तो इस प्रकार का नियन्त्रण आत्म-नियन्त्रण होता है। इस आत्म-नियन्त्रण की क्षमता को व्यक्ति अपने समाजीकरण द्वारा प्राप्त करता है। व्यक्ति जिस सीमा तक समाज के आदर्शों और मूल्यों से अपना सामंजस्य स्थापित करने में सफल होता है, उसी सीमा तक वह आत्म-नियन्त्रण में भी समर्थ होता है। इस प्रकार आत्म-नियन्त्रण को सामाजिक नियन्त्रण का ही एक रूप माना जा सकता है, जो सामाजिक नियन्त्रण से उत्पन्न होता है, और जिसका प्रयोग व्यक्ति अपनी बुद्धि व विवेक से अपने ऊपर स्वयं करता है।

सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता

(The need of Social Control)

साधारण रूप से यदि सामाजिक नियन्त्रण की परिभाषाओं का विश्लेषण किया जाय तो इसकी आवश्यकता का स्वतः ही ज्ञान हो जाता है। सामाजिक सम्बन्धों एवं व्यवहारों को नियन्त्रित करने की शक्ति को ही हम सामाजिक नियन्त्रण के नाम से पुकारते हैं। सामाजिक नियन्त्रण समाज को ठीक ढंग से चलाने के लिए एक आवश्यक तत्त्व कहा जा सकता है। इसके बुनियादी अथवा मौलिक कार्य ही समाज में नियमितता एवं व्यवस्था को बनाये रखना है। किसी समाज का निर्माण शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक योग्यता वाले विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से होता है। कोई आवश्यक नहीं है कि ये विभिन्न व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत ढंग से व्यवहार करें। अतः इन व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। एक गत्यात्मक समाज की जटिलता, परिवर्तनशीलता और सम्बन्धों की असंगति के कारण भी सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। समाज इन पर विभिन्न नियमों और अभिकरणों द्वारा इस प्रकार नियन्त्रण करता है कि उसकी नियमितता और व्यवस्था भंग न हो। आज समाज में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं तथा साथ ही सामाजिक जटिलताएँ बढ़ रही हैं। ये समाज में कुसमंजन उत्पन्न कर रही हैं। इन्हें रोकने के लिए सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

सम्पूर्ण राज्य के सुख एवं समृद्धि के लिए प्राचीन विचारक प्लेटो तथा अरस्तु ने भी सामाजिक नियन्त्रण को आवश्यक तत्त्व माना है। गिडिंग्ज (Giddings) ने

सामाजिक नियन्त्रण को "सजातीयता की भावना" का आधार माना है। दुर्खीम (Durkheim) इसे श्रम विभाजन के लिए आवश्यक मानता है स्पेन्सर का कहना है कि "मनुष्य यदि सामाजिक नियन्त्रणों को स्वीकार न करे तो वह प्रकृति के साथ संघर्ष में परास्त हो जायेगा।" टानीज (Tonnis) का मत है कि मनुष्य नियन्त्रण को अपनी आवश्यकता के कारण स्वीकार करता है। नियन्त्रण को अस्वीकार करने का अर्थ समाज को अस्वीकार करना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वियन्त्रण समाज की एक अनिवार्य आवश्यकता है। समाज के लिए नियन्त्रण की आवश्यकता के विविध पक्षों का उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

(1) समाज के अन्दर अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ क्रियाशील रहती हैं। अतः एक समाज को विघटन की स्थिति से वचने के लिए इन सभी प्रकार प्रवृत्तियों के वीच सन्तुलन स्थापित करना आवश्यक है। नियन्त्रण सामाजिक व्यवस्था में स्थिरता और सन्तुलन प्रदान करता है।

(2) सभी समाजों को अपनी एक संस्कृति होती है। साथ ही समाज में कुछ प्रथाएँ और परम्पराएँ प्रचलित रहती हैं। सभी समाज चाहते है कि उनकी संस्कृति, परम्परायें आदि सुरक्षित रहें। सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता समाज की संस्कृति व परम्पराओं आदि की सुरक्षा करना है। सामाजिक नियन्त्रण के डर के कारण व्यक्ति इनका भंग करने का साहस नहीं करता है।

(3) समाज में संगठन के लिए समूह के सदस्यों में एकरूपता का होना आवश्यक है सामाजिक नियन्त्रण समस्त सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित करता है तथा समान व्यवहार का आदेश देता है, साथ ही साथ नियम भंग करने वाले को दण्ड भी देता है, इस कारण सभी में एकरूपता पायी जाती है।

(4) व्यक्ति अपने स्वभाव से स्वतन्त्र होता है। वह अपनी इच्छानुसार कार्य करना चाहता है, लेकिन सामाजिक जीवन के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य और आचरण करने लगे तो समाज में अव्यवस्था एवं संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक व्यक्ति की स्वतन्त्रता दूसरे के लिए वाधा वन जाती है। अतः इस अव्यवस्था व संघर्ष की स्थिति के निराकरण के लिए समाज में नियन्त्रण आवश्यक है।

(5) समाज परिवर्तनशील है, परन्तु ये परिवर्तन ऐसे अनिश्चित नहीं होने चाहिए जो सामाजिक सम्वन्धों को इस सीमा तक प्रभावित करें कि समूह की स्थिरता ही भंग हो जाए। सामजिक नियन्त्रण सदस्यों के सामाजिक जीवन में अनिश्चितताओं को कम करता है, फलस्वरूप समाज में स्थिरता वनी रहती है।

सामाजिक नियन्त्रण के प्रकार
(Types or Form of Social Control)

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि समाज अपने सदस्यों पर नियन्त्रण

रखता है ताकि वे सामाजिक मूल्यों के अनुरूप ही अपने व्यवहारों को रखें। सामाजिक नियन्त्रण के कई प्रकार या स्वरूप हैं। हम यहाँ कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियों के द्वारा प्रस्तुत प्रकारों का विश्लेषण करेंगे :

(1) **प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष नियन्त्रण** (Direct and Indirect Control)—कार्ल मैनहीम (Karl Mannheim) ने सामाजिक नियन्त्रण को दो भागों में बाँटा है—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष। जब साथ-साथ रहने वाले व्यक्तियों द्वारा नियन्त्रण किया जाता है तो उसे प्रत्यक्ष नियन्त्रण कहते हैं; जैसे—माता-पिता, सहपाठी, शिक्षक तथा काम करने वाले व्यक्तियों के विचारों, आलोचना, प्रशंसा, निन्दा तथा सुझाव आदि का मानव-व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। प्राथमिक-समूहों के सदस्यों पर साधारणतया प्रत्यक्ष प्रकार का ही नियन्त्रण लागू रहता है। इस प्रकार के नियन्त्रण का प्रभाव स्थायी होता है, क्योंकि जो व्यक्ति इस नियन्त्रण की क्रिया को संचालित करते हैं, वे बहुत ही समीप के होते हैं। अप्रत्यक्ष नियन्त्रण द्वितीयक समूहों तथा विभिन्न संस्थाओं द्वारा लगाया जाता है। इसमें नियन्त्रण का स्रोत व्यक्ति के समीप न होकर दूर होता है। इसमें अधिकांशतया अधिकारियों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारकों के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित किया जाता है। इस प्रकार के नियन्त्रण के साधन साधारणतया सूक्ष्म होते हैं। आधुनिक समाजों में इसी प्रकार के नियन्त्रण के साधनों से सामाजिक नियन्त्रण किया जाता है। प्रत्येक नियन्त्रण तर्क पर आधारित होता है, और नियन्त्रण का उद्देश्य हमेशा ही समाज हित अर्थात् सामाजिक कल्याण होता है। इसके अन्तर्गत परम्परागत संस्थाओं, प्रमाणित व्यवहारों प्रथाओं, सामाजिक यन्त्रों, आदि को सम्मिलित किया जाता है।

(2) **सकारात्मक एवं नकारात्मक नियन्त्रण** (Positive and Negative Control)—**किम्बाल यंग** (Kimball Young) ने सामाजिक नियन्त्रण को दो भागों में बाँटा है—सकारात्मक और नकारात्मक। **सकारात्मक नियन्त्रण** पुरस्कार (Reward) पर आधारित है जैसे प्रशंसा, शाबासी तथा ऐसे ही अन्य कारकों से प्रेरित कर व्यक्तियों को किन्हीं समाज-विरोधी कार्यों को करने से रोका जाता है तथा अन्य कार्यों को करने के लिए प्रेरित किया जाता है। पुरस्कार का रूप तीन प्रकार का हो सकता है—**प्रथम**, मौखिक जैसे कुछ कहकर प्रोत्साहित किया जाय; **द्वितीय**, भौतिक जैसे धन, वस्त्र, आभूषण आदि देकर तथा **तृतीय**, प्रतीकात्मक: विभिन्न इनामों या उपाधियों से अलंकृत करना।

नकारात्मक नियन्त्रण 'दण्ड' (Punishment) के विधान पर आधारित है। जो व्यक्ति समाज-विरोधी कार्यों को करते हैं, उन्हें दण्ड दिया जाता है। दण्ड की व्यवस्था विभिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है, जैसे भारतवर्ष में प्राचीन काल में वाग्दण्ड की व्यवस्था थी, पश्चिमी देशों में अर्थदण्ड तथा शारीरिक

दण्ड का विधान है। हिन्दू जाति-व्यवस्था में इस बात का विधान है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी जाति-विरोधी कार्यों को या किन्हीं ऐसे कार्यों को करता है जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है, तो उसे जाति से वहिष्कृत कर दिया जाता है। इस प्रकार का सामाजिक अपमान व्यक्तियों को प्रेरित करता है कि भविष्य में वे समाज-विरोधी कार्य न करें, साथ ही साथ अपने दोषों के लिए वे क्षमा-याचना करें। दण्ड के अन्य प्रकार हैं—भला-बुरा कहना, हँसी-मजाक करना तथा व्यंग्य करना। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दो प्रकारों द्वारा सामाजिक कार्यों की निरन्तरता को कायम रखा जाता है तथा असामाजिक कार्यों को होने से रोका जाता है।

3. **चेतन एवं अचेतन नियन्त्रण** (Conscious and Unconscious Control)—मानव के समस्त व्यवहारों एवं कार्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। कुछ व्यवहार एवं कार्य हम जानबूझकर करते हैं अथवा दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि चेतन रूप में करते हैं, और कुछ कार्य हम अचेतन रूप में करते हैं। ये कार्य ऐसे हैं जो व्यक्ति को प्रभावित तो करते हैं, परन्तु उनका अनुभव हम साधारणतया नहीं कर पाते। जैसे विभिन्न लोक-रीतियों एवं प्रथाओं का पालन हम चेतन अवस्था में इसलिए करते हैं, क्योंकि वे समूह कल्याण के लिए आवश्यक हैं, लेकिन साथ ही साथ बहुत से धार्मिक कर्मकाण्ड ऐसे हैं जिनका पालन हम बिना कुछ सोचे-समझे अचेतन अवस्था में किया करते हैं, जैसे अपने से बड़े या प्रतिष्ठित व्यक्ति को देखकर हम उसका अभिवादन करते हैं। इसका प्रभाव समाज के अन्य व्यक्तियों पर पड़ता है, और वे भी ऐसा ही करने लगते हैं। इसी प्रकार विभिन्न संस्कारों का पालन हम बिना उनके प्रति जागरूक हुए किया करते हैं।

4. **औपचारिक एवं अनौपचारिक नियन्त्रण**—(Formal and Informal Control)—आधुनिक वैज्ञानिक समाज में औपचारिक नियन्त्रण का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। समाज का रूप ज्यों ज्यों जटिल होता जा रहा है, वैसे-वैसे ही द्वितीयक समूहों का प्रभाव भी बढ़ता जा रहा है। प्राथमिक समूहों के कार्यों को अपनाते जा रहे हैं। परिणाम यह हो रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवहारों को नियन्त्रित रखने के लिए औपचारिक नियन्त्रण के साधनों की ओर बढ़ता है। द्वितीयक समूह के सम्बन्ध भी अवैयक्तिक, अप्रत्यक्ष तथा अनुबन्धों (contracts) पर आधारित होते हैं। यही कारण है कि इन समूहों के सदस्यों को नियन्त्रित रखने के लिए निश्चित नियम (Law) एवं विभिन्न संहितायें (Codes) बनाई जाती हैं। इन नियमों का उल्लंघन करने पर आर्थिक एवं शारीरिक दण्ड दिये जाते हैं।

अनौपचारिक नियन्त्रण के अन्तर्गत सरकार या राज्य कोई नियम या कानून नहीं बनाते, बल्कि लोक-रीतियों, रूढ़ियों, परम्पराओं आदि के कारण मनुष्य अनायास ही अपने व्यवहारों को नियन्त्रित कर लेते हैं। इन विभिन्न सामाजिक मान्यताओं के प्रति व्यक्तियों की निष्ठा होने के कारण वे सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप व्यवहार करने की आदतों का निर्माण कर लेते हैं।

बिना किसी रोक-टोक एवं असुविधा के उनका प्रयोग किया करता है। व्यक्ति के ऊपर इस प्रकार के नियन्त्रण के साधनों का स्थायी प्रभाव पड़ता है, साथ ही साथ इनका प्रभाव व्यक्ति के जीवन के आन्तरिक पहलू पर भी पड़ता है। औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही प्रकारों का महत्त्व सामाजिक नियन्त्रण के लिए है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्रारम्भिक एवं सरल समाजों में अनौपचारिक साधनों का अधिक प्रयोग होता था, जबकि आधुनिक जटिल समाजों में अनौपचारिक साधनों का। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ अनौपचारिक नियन्त्रण के साधनों का महत्त्व कम होता जा रहा है।

5. संगठित तथा असंगठित नियन्त्रण (Organised and Unorganised Control)—गुरविच तथा मूर (Gurvitch & Moore) ने इस वर्गीकरण का नेतृत्व किया है। सामाजिक क्रियाओं के अनुरूप जो नियन्त्रण के साधन प्रवर्तित होते हैं, उन्हें संगठित सामाजिक नियन्त्रण के प्रकार से सम्बोधित किया जाता है। इनका विकास समाज की आवश्यकतानुसार ही होता है। असंगठित नियन्त्रण सांस्कृतिक प्रतीकों एवं नियमों के स्वरूप में देखने को मिलता है, जैसे संस्कार, लोक-रीतियों, रूढ़ियाँ, परम्पराएँ आदि। इसके अतिरिक्त, गुरविच ने स्वनियन्त्रण (Automatic Control) की भी बात कही है। व्यक्ति अपने व्यवहार को सामाजिक मूल्यों, आदर्शों एवं अनुभवों के आधार पर बना लेता है। ऐसे नियन्त्रण के साधन व्यक्ति के विकास तथा सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को किन्हीं साधारण नियमों के अन्दर रहना ही पड़ता है।

उपर्युक्त प्रकारों को देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामाजिक नियन्त्रण की दो प्रमुख विधियाँ हैं जिनको विभिन्न लोगों ने विभिन्न नाम दिये हैं। समाज में व्यक्तियों को व्यवहार इन्हीं दो प्रकारों में से किसी एक या दोनों ही के द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। हाँ, यह बात स्पष्ट है कि जिस प्रकार सरल या जटिल समाज होगा, उसी के अनुरूप औपचारिक अथवा अनौपचारिक साधनों का प्रयोग होगा।

सामाजिक नियन्त्रण की प्रविधियाँ या साधन और अभिकरण (Techniques and Mechanism of Social Control)

नियन्त्रण के तकनीक (Mechanism) या साधन (Means) वे यन्त्र हैं जिनके द्वारा सामाजिक नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। क्रोजर और रोजेनबर्ग का कथन है कि सामाजिक नियन्त्रण उस गतिकता की ओर संकेत करता है जिसे

समाज अपने अंगों (व्यक्तियों) पर आधिपत्य करने के लिए प्रयोग करता है। नियन्त्रण की प्रविधियों (Mechanism) या अभिकरण में इन तकनीक या साधनों का प्रयोग किया जाता है। सिखाना, प्रशिक्षण देना, रोकथाम लगाना आदि नियन्त्रण के सर्वव्यापी साधन हैं। प्रत्येक समाज की अपनी विशेषतायें और समस्याएँ होती हैं। इसलिए सामाजिक नियन्त्रण की तकनीक या साधनों की कोई ऐसी निर्धारित सूची अथवा शृंखला नहीं है जो व्यापक रूप से सभी समाजों एवं परिस्थितियों में लागू की जा सके। देश-काल और स्थिति के अनुसार नियन्त्रण की तकनीक में परिवर्तन होते रहते हैं तथा नूतन साधनों की खोज भी होती रहती है। मोटे तौर पर गिलिन एवं गिलिन ने सामाजिक नियन्त्रण की तकनीक को परम्परागत और समाज द्वारा निर्मित दो श्रेणियों में विभक्त किया है। एण्डसर एवं पार्कर ने नियन्त्रण की तकनीक को प्रशिक्षणात्मक एवं प्रतिबन्धात्मक दो श्रेणियों में बाँटा है। पहले के अन्तर्गत वे समाजीकरण तथा शिक्षा, विश्वास, सुझाव, अनुकरण प्रबोधन, भावात्मक अपील, पुरस्कार, हास्य-व्यंग्य तथा चेतावनी और धमकी को रखते हैं। दूसरे के अन्तर्गत शारीरिक दबाव, शारीरिक द्वन्द्व तथा अहिंसात्मक दबाव को रखा है। पार्कर तथा एण्डरसन का यह वर्गीकरण एक भ्रम ही उत्पन्न करता है, जैसे प्रशिक्षणात्मक विधियाँ प्रतिबन्धात्मक भी हो सकती हैं। समाजीकरण तथा शिक्षा व्यक्ति को प्रशिक्षण देती है, साथ ही उस पर समाज की प्रथाओं, परम्पराओं, मूल्यों, आदर्शों और संस्कृति के विपरीत आचरण करने पर प्रतिबन्ध भी लगाती है।

सामाजिक नियन्त्रण की विधियों या तकनीकों को संस्थाकृत तथा असंस्थाकृत श्रेणियों में भी बाँटा जा सकता है, जिन समाजों में विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया अपेक्षाकृत धीमी रहती है, उनमें परम्परागत सामाजिक नियन्त्रण बड़े प्रभावशाली होते हैं, किन्तु जिन समाजों में विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र होती है, वहाँ समाज द्वारा निर्मित नूतन तकनीक का प्रयोग किया जाता है।

वैसे सामाजिक नियन्त्रण की तकनीक और अभिकरणों में इतनी अधिक समानता है कि उनका वर्गीकरण करना एक कठिन कार्य है। किसी भी वर्गीकरण में 'ओवर लेपिंग' की सम्भावना सदैव बनी रहती है। अतः यदि इनका कोई भी वर्गीकरण किया जाय तो वह अपूर्ण ही होगा। सुविधा हेतु निम्नलिखित तालिका में सामाजिक नियन्त्रण की विधियों और अभिकरणों को औपचारिक की कोटियों में रखकर स्पष्ट किया जा रहा है—

सामाजिक नियन्त्रण के साधन और अभिकरण
(Means and Agencies of Social Control)

तकनीक विधियाँ या साधन (Techniques or Means)	औपचारिक अभिकरण (Formal Agencies)	अनौपचारिक अभिकरण (Informal Agencies)
समाजीकरण तथा शिक्षा	कानून	कला
विश्वास	परिवार	प्रचार
जनरीतियाँ एवं लोकाचार	राज्य	जनमत
भाषा, सुझाव और अनुकरण	धर्म	नेतृत्व
पुरस्कार तथा दण्ड	प्रथाएँ एवं परम्परायें	हास्य-व्यंग्य

यहाँ हम सामाजिक नियन्त्रण के कुछ साधनों की विस्तृत विवेचना करेंगे, जो निम्नलिखित हैं—

(1) धर्म (Religion)
(2) कानून (Law)
(3) जनमत (Public Opinion)
(4) शिक्षा (Education)
(5) परिवार (Family)

(1) धर्म (Religion)

'धर्म' (Religion) सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधनों में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। धर्म का आधार विश्वास' है और इसी विश्वास के आधार पर मनुष्य का व्यवहार नियन्त्रित रहता है। धर्म समाज को एक सूत्र में बाँधता तथा मानव-जीवन के अनेक पक्षों को प्रभावित करता है। किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) के शब्दों में, "धर्म मानव-समाज का ऐसा सर्वव्यापी, स्थायी एवं शाश्वत तत्त्व है जिसे समझे बिना समाज के रूप को बिल्कुल भी नहीं समझा जा सकता।"[1] 'धर्म क्या है' तथा सामाजिक नियन्त्रण में इसकी क्या भूमिका है, यहाँ पर यह समझना आवश्यक है—

हैरी एम. जॉनसन (Harry M. Johnson) के शब्दों में, "धर्म कम या अधिक मात्रा में अधिक प्राकृतिक तत्त्वों, शक्तियों, स्थानों एवं आत्माओं से सम्बन्धित विश्वासों तथा आचरणों की एक संगठित व्यवस्था है।"[2]

---

1. *Kingsley Devis* : Op. cit.
2. *Harry M. Johnson* : Op. cit., p. 392.

क्यूबर (J. F. Cuber) के विचार में, "धर्म सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित व्यवहार का वह प्रतिमान है जिसका निर्माण (अ) पवित्र विश्वासों, (ब) विश्वासों से सम्बन्धित उद्वेगपूर्ण विचारों तथा (स) इन्हें व्यक्त करने वाले बाहरी आचरणों आदि से होता है।

फ्रेजर (Frazer) के अनुसार, "धर्म से तात्पर्य मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियों की सन्तुष्टि अथवा आराधना करना है, जिसके बारे में व्यक्तियों का यह विश्वास हो कि वे प्रकृति और मानव-जीवन को नियन्त्रित करती हैं तथा उनको निर्देश देती हैं।"[1]

थॉमस ओडिया (Thomas Odea) ने धर्म के महत्त्व को प्रतिपादित किया है कि "धर्म व्यक्ति का समूह से एकीकरण करता है, अनिश्चितता की स्थिति में उसकी सहायता करता है, निराशा के क्षणों में उसे धैर्य बँधाता हैं, सामाजिक लक्ष्यों के प्रति व्यक्ति को जागरूक बनाता है, आत्म-बल में वृद्धि करता है और एक दूसरे के समीप आने की भावना को प्रोत्साहित करता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर धर्म की विचारधारा को समझने के लिए निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक है—

(1) धर्म विश्वासों की वह पूर्णता है जो किसी अदृश्य शक्ति से सम्बन्धित होते हैं।

(2) ऐसी शक्ति का एक दिव्य चरित्र होता है जिसके प्रति अटूट विश्वास पाया जाता है।

(3) धर्म में तर्क-वितर्क का कोई स्थान नहीं होता।

(4) प्रत्येक धर्म में कुछ विशेष व्यवहार-प्रतिमान (Behaviour Pattern) होते हैं।

(5) धर्म के अन्तर्गत पवित्रता एवं अपवित्रता की भावना का स्थान होता है।

(6) धर्म आस्था एवं विश्वास पर आधारित होता है।

(7) धर्म विज्ञानोपरि (Non-scientific) होता है।

इसलिए दुर्खीम (Durkheim) के शब्दों में ठीक ही कहा गया है कि "धर्म पवित्र वस्तुओं से सम्बन्धित अनेक विश्वासों और व्यवहारों की ऐसी संगठित व्यवस्था है जो उन व्यक्तियों को एक नैतिक समुदाय की भावना से बांधती है जो उसी प्रकार के विश्वासों और व्यवहारों को अभिव्यक्त करते हैं।"[2]

---

1. *Frazer* : The Golden Bough, p. 459.
2. *Emile Durkheim* : Elementry Forms of Religious Life.

कानून की व्याख्या करते हुए **बीरस्टीड** (Biersted) ने कहा है कि "कानून केवल उन्हीं समाजों में होते हैं जिनका राजनैनिक संगठन (अर्थात् सरकार) होता है। कानून व्यवस्थापिकाओं द्वारा स्पष्ट रूप से बनाये जाते हैं अथवा राजनैतिक अधिकारियों द्वारा वैधानिक सत्ता के विवेयकों (Acts) के रूप में घोषित किये जाते हैं। कुछ समाज इतने छोटे या साधारण होते हैं और उनमें इन औपचारिक कार्यों का अभाव होता है। कानून सदैव लिखित होते हैं और उनको किसी प्रमुख ढंग से लिखा जाता है। अतः स्पष्ट है कि अशिक्षित समाजों में कानून बन ही नहीं सकते।"[1]

कानून का स्वरूप अलग-अलग समाजों में भिन्न-भिन्न पाया जाता है। कानून के पीछे राज्य की स्वीकृति होती है तथा सरकार के द्वारा कानून को पालन कराने की समुचित व्यवस्था होती है। आदिम समाजों में, आधुनिक समाज की अपेक्षाकृत कानून का पलन कराने में अधिक कड़ाई से काम लिया जाता है। उनका पालन न करने पर दण्ड मिलता है। इस तरह कानून की विशेषताओं को निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है—

1. कानून एक लिखित, औपचारिक एवं स्पष्ट नियम होते हैं जिसकी स्वीकृति राज्य से होती है।

2. कानूनों का पालन करना अनिवार्य है, कानूनों को न मानने वालों को दण्ड दिया जाता है।

3. कानूनों का संरक्षण राज्य सरकार के अनेक न्यायालय करते हैं।

4. कानून व्यक्तियों के आचरण को नियन्त्रित रखते हैं।

5. कानूनों में दबाव एवं बाध्यकारी शक्ति निहित होती है।

6. कानून का स्रोत वास्तव में प्रथाएँ एवं परम्पराएँ ही होती हैं।

7. सभी कानून समान प्रकृति के न होकर अलग-अलग होते हैं।

8. कानून का उद्देश्य व्यक्ति के व्यवहार पर नियन्त्रण रखकर राज्य में कानूनी व्यवस्था बनाये रखना है।

कानून सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में
(Law as a Means of Social Control)

आधुनिक समय में कानून का महत्त्व इसलिए बढ़ता जा रहा है कि इसके कार्यों में वृद्धि हो रही है। समाज के सभी व्यवहारों तथा सामाजिक घटनाओं के लिए किसी न किस प्रकार के कानून का निर्माण हुआ है।

समाजशास्त्री **रोज** (A. M. Rose) ने सामाजिक कानूनों के कार्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "कानून व्यक्ति को सुसंगठित तथा व्यवस्थित रखता

---

1. Robert Biersted : The Social Order.

है तथा सभ्यता के विकास में सहायता पहुँचाता है।" इस प्रकार इनके अनुसार कानून को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(1) व्यक्ति को संगठित तथा व्यवस्थित करना, और

(2) व्यक्ति को प्रभावशाली बनाना ताकि वह सभ्यता का विकास कर सके।

साधारणतया कानून के निम्नलिखित कार्य हैं—

1. **सामाजिक नियन्त्रण का साधन**—आधुनिक समाजों में व्यक्तियों के व्यवहारों का नियन्त्रण कानूनों के द्वारा होता है। कानून को सामाजिक नियन्त्रण का औपचारिक साधन कहा जाता है। जैसे-जेसे समाज में प्राथमिक समूहों का प्रभाव सामाजिक नियंत्रण के साधन के रूप में कम होता जा रहा है, वैसे-वैसे ही कानून की महत्ता बढ़ती जा रही है। आज का प्रत्येक व्यक्ति तथा उसका प्रत्येक पहलू चाहे वह व्यवहारिक हो, पारिवारिक हो, व्यापारिक हो अथवा राजकीय हो, सभी कानूनों द्वारा निर्देशित होते हैं। आज समाज की हर समस्या का समाधान इन्हीं कानूनों के आधार पर ढूँढ़ा जा रहा है। आदिम समाजों में व्यक्तियों के अधिकांश व्यवहार परम्परा, प्रथा तथा रीति-रिवाजों द्वारा निर्देशित होते थे। व्यक्ति के जीवन पर नैतिकता तथा धर्म का प्रभाव अधिक होता था, लेकिन आधुनिक समाजों में व्यक्तियों का अधिकतम व्यवहार अब कानूनों के द्वारा नियन्त्रित होने लगा है। आज का व्यक्ति विज्ञान के चमत्कारों से अधिक प्रभावित है, यही कारण है कि वह अपने प्रत्येक व्यवहार में कार्य-कारण के सम्बन्धों को देखना चाहता है। इस कार्य-कारण की पुष्टि और व्याख्या कानून ही कर सकते हैं।

चूँकि समाज का रूप भी जटिल हो गया है—सामाजिक सम्बन्धों में निरन्तर जटिलता की वृद्धि होती जा रही है। अतः सामाजिक नियन्त्रण के साधन भी ऐसे होने चाहिए जो इन जटिल समाजों की हर आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। सरल समाजों में व्यक्तियों के व्यवहार अधिक जटिल इसलिए नहीं होते थे कि उनकी प्रस्थितियां आज की तरह अनेक नहीं हुआ करती थी,। एक व्यक्ति की एक परम्परागत प्रस्थिति होती थी, जिसके अनुसार वह कार्य करता था। यही कारण था कि किसी भी नियन्त्रण के साधन द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित कर लिया जाता था, लेकिन आजकल व्यक्तियों की अनेक प्रस्थितियाँ हो गयी हैं और उनके अनुरूप वे कार्य करते हैं। कभी-कभी इन कार्यों में संघर्ष शुरू हो जाता है, क्योंकि इनका स्वरूप विरोधात्मक होता है, जिसके कारण समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। विघटन की स्थिति न आने पाये, इसके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तियों में संघर्षात्मक स्थिति को न आने दिया जाय। कानून इसी में मदद करता है। आज के समाजों का कानून एक ऐसा साधारणीकृत यन्त्र है जिसके द्वारा सभी क्षेत्रों में नियन्त्रण किया जाता है।

2. **सहयोगी भावना की वृद्धि**—कानून के द्वारा मानव की मूलभूत प्रवृत्तियों (Instincts) को नियंत्रित किया जाता है। कानून के द्वारा व्यक्तियों को अनिवार्य व्यवहार करने के लिए प्रेरित किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप समाज में सहयोग की वृद्धि होती है। सभी व्यक्ति इस बात के लिए प्रेरित किये जाते हैं कि उन्हें सामान्य उद्देश्यों के लिए अपने-अपने स्वार्थों को त्याग करना चाहिए। इस प्रकार कानून के द्वारा सामूहिक एकता में वृद्धि की जाती है, कानून के द्वारा सामान्य क्रियाओं को करने पर बल दिया जाता है, यही कारण है कि समाज में एकमतता बनी रहती है। जिसबर्ट ने लिखा है कि कानून को किसी श्रेष्ठ सत्ता का आदेश (Command) माना जाता है इसलिए कि इसके द्वारा सामान्य क्रियाओं को करने के लिए व्यक्ति प्रेरित होते हैं। बार्कर (Barker) ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सीपल्स ऑफ पोलीटिकल एण्ड सोश्यल थ्योरी' (Principle of Political & Social Theory) में लिखा है कि "कानून वे नियम हैं जिनके द्वारा बाह्य दशाओं को इस योग्य बना दिया जाता है ताकि सर्व-सामान्य का उचित जीवन-स्तर सम्भव हो सके।'

3. **नैतिकता में वृद्धि**—यद्यपि कानून और नैतिकता अलग-अलग अवधारणाएँ हैं, फिर भी कानून के द्वारा उचित-अनुचित का बोध कराकर नैतिकता में वृद्धि की जाती है। यदि व्यक्ति केवल सही तथा उचित कार्यों को ही करता रहे तो निश्चय ही उसकी नैतिकता में विकास होगा। चूँकि कानून के द्वारा उन्हीं कार्यों को प्रोत्साहित किया जाता है जो समाज-हितकारी तथा उचित होते हैं, यही कारण है कि इनके द्वारा नैतिकता में भी वृद्धि होती है। कानून सामाजिक व्यवस्था को भी बनाये रखता है। यह एक महान् आदर्श है जिसे नैतिकता से सम्बन्धित माना जा सकता है।

4. **अधिकारों की रक्षा**—कानून के अभाव में अधिकारों की रक्षा नहीं हो सकती है। जिसबर्ट (Gisbert) ने लिखा है कि "समाज में अधिकारों की रक्षा हो ही नहीं पाती यदि समाज में कानून नहीं होते।" जब व्यक्ति कोई काम करता है तो वह उसके बदले में किन्हीं पुरस्कारों या फलों की आशा करता है, और इसे ही वह अपना अधिकार समझता है। अधिकार और कर्त्तव्यों में भी एक सम्बन्ध है, यदिव्यक्तियों को कोई अधिकार दिये जाते हैं तो उनसे किन्हीं कर्त्तव्यों की भी आशा की जाती है। जैसे यदि हमें अपने मत व्यक्त करने का अधिकार प्राप्त होता है तो इस अधिकार की प्राप्ति के साथ हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम दूसरे के ऐसे ही अधिकारों में बाधक न बनें और उनका मत भी जानें। बार्कर ने लिखा है कि "व्यक्ति के अधिकार और उसके कार्य करने की क्षमता में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।"

व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण प्रस्थितियों के अनुसार किन-किन कार्यों को करता है, इसी के आधार पर उसके वैधानिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। कानूनों के आधार

पर व्यक्तियों के जो अधिकार हैं, उनका पालन सभी व्यक्तियों तथा संस्थाओं के लिए अनिवार्य होता है। प्रत्येक राष्ट्र के संविधान अपने नागरिकों के अधिकारों की रक्षा की घोषणा करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी 1948 में मानव-अधिकारों की घोषणा की थी जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मानव-अधिकारों तथा राष्ट्रीय अधिकारों की सुरक्षा की व्यवस्था की गयी है। इस घोषणा के अन्तर्गत इस बात का विधान है कि कोई भी राष्ट्र संकट के काल में संयुक्त राष्ट्र-संघ से शक्ति का अनुरोध करके अपने अधिकारों को कायम रख सकता है।

5. **आवश्यकताओं की पूर्ति**—कानून के द्वारा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। कानून का रूप आदर्शात्मक होता है। राज्य की सत्ता के कारण व्यक्तियों के व्यवहार इन्हीं कानूनों के अनुसार होते हैं। कानून के अन्तर्गत किसी विशेष साधन की आवश्यकता पड़ती है जो उसका निर्माण कर उसे लागू कर सके। कानून का रूप साधारणतया अन्य संहिताओं से दृढ़ होता है, इसलिए वह अन्य संहिताओं की तुलना में आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक प्रभावकारी ढंग से कर पाता है। चूँकि कानूनों में समय के परिवर्तन के साथ-साथ संशोधन हुआ करता है, इसलिए उनके द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति ठीक प्रकार से हुआ करती है। मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है कि विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं के लिए विभिन्न प्रकार के वैधानिक नियम आवश्यक होते हैं। चूँकि यह विशेषता है कि वे विशेष कार्यों के लिए अलग-अलग बनते हैं, इसलिये वे उचित ढंग से विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल हो पाते हैं।

6. **परिवर्तनशील स्थितियों से शीघ्र अनुकूलन**—जैसे-जैसे सम्बन्धों में जटिलता आती जा रही है, वैसे-वैसे कानूनों की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। जब अर्थव्यवस्था या अन्य सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होता है तो उसके अनुरूप समाज के अन्य नियम अपने को नहीं बना पाते। केवल कानून में ही यह शक्ति होती है कि वे अपने को नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन कर लेते हैं। मैकाइवर तथा पेज ने लिखा है कि "केवल विधि-सम्बन्धी नियम ही आधुनिक सभ्यता के तीव्र परिवर्तनों को सन्तुलित रख सकते हैं।" सरल तथा आदिम समाजों में विभिन्न वैधानिक संहिताओं की आवश्यकता इसलिए नहीं थी कि सभी व्यक्ति एक साथ रहते थे और उनमें आमने-सामने का सम्बन्ध होता था। एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों का पड़ोसी होता था। सभी व्यक्ति अपने समूह के व्यवहारों को जानते थे और वे समूह-नियंत्रण से नियन्त्रित होते थे। लेकिन आजकल सम्बन्धों में विविधता के कारण तथा सामाजिक सम्बन्धों में वृद्धि के कारण केवल अधिकार-प्राप्त वैधानिक नियम ऐसे हैं जो विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल व्यवहार करने को प्रेरित करते हैं। वास्तविकता तो यह है कि विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार ही इन कानूनों का निर्माण होता है, यही कारण है कि अनुकूलन में कोई कठिनाई नहीं होती है।

(7) **कानून तथा संस्कृति**—संस्कृति और कानून में भी घनिष्ट सम्बन्ध होता है। दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। कानून के द्वारा सामाजिक नियन्त्रण कर समाज के बौद्धिक मूल्यों का विकास किया जाता है जो संस्कृति का एक महान् अंग है। संस्कृति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध किसी समाज के नैतिक तथा बौद्धिक पक्ष से है जिसकी प्राप्ति आधुनिक समाजों में कानून के द्वारा होती है। कानून विवेक पर आधारित होता है, तथा इसका सम्बन्ध सबके हित को सामने रखकर कार्यक्रम तैयार करना है। संस्कृति किसी व्यक्ति के जीवन का सम्पूर्ण ढंग होती है और कानून के संरक्षण में ही व्यक्ति सम्पूर्ण जीवन को व्यतीत करता है। संस्कृति के अन्तर्गत समाज का नैतिक, बौद्धिक तथा सौन्दर्य-पक्ष सम्मिलित होता है जिसका संरक्षण तथा विकास कानून पर आश्रित होता है। संस्कृति का अभौतिक पक्ष नैतिकता पर विशेष रूप से आधारित होता है जिसके अन्तर्गत साहित्य, कला, संगीत आदि को सम्मिलित किया जाता है। कानून इन सभी वस्तुओं को संरक्षित रखता है। कानून चूँकि समकालीन सामाजिक मूल्यों का उल्लंघन नहीं करता, इसलिए इससे सामाजिक विकास सम्भव हो पाता है। सामाजिक विकास के साथ-साथ सांस्कृतिक विकास भी होता रहता है। जिसका श्रेय आधुनिक समाजों में कानून को है। कानून के द्वारा विभिन्न कुरीतियों को दूर किया जाता है, जैसी सती-प्रथा का अन्त, दास-प्रथा का अन्त आदि।

(8) **अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध और कानून**—अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में वृद्धि भी कानून के द्वारा होती है। विभिन्न राष्ट्र ऐसे नियमों का निर्माण करते हैं जिनके द्वारा संस्कृतियों का आदान-प्रदान होता है तथा विभिन्न देशों के सम्बन्धों में निकटता बढ़ती है। संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O.) इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। शान्ति को बढ़ाने तथा युद्ध के वातावरण को कम करने के प्रयत्न विभिन्न कानूनों को बनाकर किये जाते हैं।

(3) जनमत
(Public Opinion)

आजकल समाजों में सामाजिक नियन्त्रण के रूप में **जनमत** (Public Opinion) का पर्याप्त व्यापक प्रभाव होता जा रहा है। जनमत का महत्त्व इतना बढ़ गया है कि हमारे राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन दिखायी पड़ता है। जनमत सदैव ही एक 'सामाजिक शक्ति' के रूप में कार्य करता है। जनमत से यहाँ पर तात्पर्य ऐसे निर्णय से है जो जनता द्वारा स्वीकार किया जाता है और जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक विषय से होता है। जनमत संक्षेप में एक सामाजिक उपज है, क्योंकि इसका निर्माण बहुत से मस्तिष्कों की पारस्परिक क्रिया से होता है। इस प्रकार जनमत सामान्यतया जनता की स्वीकृति है, जो शक्ति के रूप में विभिन्न संस्थाओं एवं व्यक्तिगत व्यवहारों को प्रभावित करता है।

जेम्स यंग (James Young) के शब्दों में, "जनमत एक आत्म-चेतन समुदाय का वह सामाजिक निर्णय है जो किसी सामान्य महत्त्व के प्रश्न पर विचारपूर्वक दिया जाता है।"[1]

जान डेवी (John Dewey) के अनुसार, "जनमत एक निर्णय है जो जनता का निर्माण करने वाले व्यक्तियों द्वारा बनाया तथा स्वीकार किया जाता है तथा जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक विषयों से होता है।"[2]

गिन्सबर्ग (Ginsberg) के शब्दों में, "जनमत का अर्थ समुदाय में प्रचलित उन विचारों और निर्णयों से है जिनका निर्माण बहुत कुछ निश्चयात्मक रूप से किया जाता है, जिनमें कुछ स्थायित्व होता है तथा जिसका निर्माण करने वाले इसे इसलिए सामाजिक समझते हैं कि यह बहुत से व्यक्तियों के सामूहिक निर्णयों का परिणाम है।"[3]

जनमत निर्माण के साधन
(Agencies of Public Opinion Formation)

(1) रेडियो प्रसारण।
(2) समाचार पत्र एवं पत्रिकाएँ, विचार गोष्ठी इत्यादि।
(3) राजनैतिक दल एवं स्वयं-सेवी संस्थाएँ।
(4) सिनेमा, थियेटर आदि।
(5) शिक्षा, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ।
(6) नेतृत्व।
(7) प्रचार।
(8) सार्वजनिक भाषण।
(9) महान् विभूतियों के विचार एवं कृतियाँ।
(10) जन-संचार के अनेक साधन जैसे टेलीविजन एवं प्रेस।

सामाजिक नियन्त्रण में जनमत का महत्त्व
(Importance of Public Opinion in Social Control)

जनमत के द्वारा मनुष्य के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखा जाता है जिससे कि सामाजिक नियन्त्रण में सहयोग प्राप्त होता है। गिन्सबर्ग (Ginsberg) के शब्दों में, "जनमत का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य उसका विभिन्न लोगों को अपने व्यवहारों पर नियन्त्रण रखने की ओर आग्रह करने का है। जनमत के द्वारा ही किसी निर्णय का

---

1. James T. Young : Quoted from W. B. Graves; Reading in Public Opinion; p. 102.
2. John Dewey : The Public and its Problems; p. 177.
3. Morris Ginsberg : Psychology of Society; p. 141.

वास्तविक मूल्यांकन किया जाता है।" जनमत औसत आदमी के मत से, यहाँ, तक कि अत्यधिक श्रेष्ठ व्यक्ति के मत से भी उत्तम होता है। जनमत स्वयं समाज में व्याप्त प्रथाओं, परम्पराओं तथा नैतिक मूल्यों से प्रभावित होकर लोगों के सामान्य व्यवहारों पर नियन्त्रण रखता है। जनमत समाज में गलत इरादों पर रोक लगाता है। जनमत राज्य की नीतियों, सिद्धान्तों, सरकार के व्यवहारों एवं सामाजिक सीख को अनेक दृष्टिकोणों से प्रभावित करता है। सामाजिक निन्दा एवं भय के कारण, जनमत नियन्त्रण का प्रमुख कारक है। चुनाव के समय जनमत बड़ा प्रभावशाली होता हैं। सरकार भी जनमत के आगे अपनी नीतियों में आवश्यक परिवर्तन करती है तथा उपयोगी सुझाव मानती है जो सार्वजनिक हित में होते हैं।

जनमत सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण अभिकरण है। जनमत की अवहेलना करना कोई आसान काम नहीं होता है। ऐसे व्यक्ति जो केवल औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के साधनों में विश्वास करते हैं, वे भी जनमत की अवहेलना नहीं कर सकते। प्रजातान्त्रिक समाजों में तो जनमत का महत्त्व सर्वाधिक होता है। नियमों तथा विभिन्न वैधानिक संहिताओं का निर्धारण जनमत पर ही आधारित होता है। जनमत व्यक्तियों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालकर उनके व्यवहारों का निर्देशन करता है। कुछ विचारकों का तो यहाँ तक कहना है कि **प्रजातन्त्र स्वयं जनमत की देन है**। आधुनिक युग में सभी समाज प्रजातन्त्र की स्थापना को उचित मानने लगे हैं, इसी तथ्य को देखकर जनमत के बारे में अनुमान लगाया जा सकता है। आधुनिक युग में असंख्य समस्याओं का समाधान केवल जनमत के द्वारा प्रदत्त हलों पर ही सम्भव है। साधारणतया सामाजिक संगठन के लिए जनमत का महत्त्व इस प्रकार है—

(1) **व्यक्तियों के व्यवहारों का नियन्त्रण**—जनमत के द्वारा समर्थित सभी व्यवहारों को लोग अपना समझकर अपना लेते हैं। यहाँ तक कि ऐसे व्यक्ति जो पहले जनमत के व्यवहारों का विरोध कर रहे थे, वे भी इसे यह जानकर स्वीकार कर लेते हैं कि इन व्यवहारों को अपनाये बिना सामाजिक कल्याण सम्भव नहीं।

(2) **राष्ट्रीय भावना का विकास**—जनमत के आधार पर निर्मित सरकार राष्ट्रीय उत्थान के कार्यों में लगी रहती है। जनता अपने मतों को व्यक्त कर किन्हीं ऐसे विचारों को अपनाने में समर्थ हो जाती है जिनसे कि राष्ट्रीय भावना का विकास होता है। इस राष्ट्रीय भावना से प्रेरित व्यक्यिों के व्यवहार भी ऐसे होते हैं जिनसे कि सामाजिक संगठन की एकता बनी रहती है।

(3) **नैतिक स्तर का विकास**—जनमत के द्वारा स्वीकृत उद्देश्य ऐसे होते हैं जिनसे नैतिकता का विकास होता है। इस नैतिक दृष्टिकोण से किये गये कार्यों का प्रभाव समाज के ऊपर स्थायी रूप से पड़ता है। व्यक्तियों में यह विश्वास घर कर

जाता है कि सभी लोग एक दूसरे की भलाई के लिए हैं। अतः सबका यह नैतिक कर्तव्य हो जाता है कि सभी लोग एक दूसरे का सहयोग करें।

(4) **सामाजिक नीति का निर्धारण**—चूँकि नेता तथा अनुयायी एक दूसरे के विचारों को जानते हैं, अतः वे ऐसी सामाजिक रीतियों का निर्माण करने में सफल हो जाते हैं जो सामाजिक आवश्यकता के लिए हैं तथा जिनसे समाज की प्रगति सम्भव है। जनमत के अभाव में नेता मनमानी करने लगते हैं जिससे सामाजिक संगठन के ढाँचे में परिवर्तन हो सकता है। सरकार जनमत को जानने के पश्चात् अपनी सभी नीतियों को उसी के अनुरूप कर लेती है। यही कारण है कि सरकार को जनता का समर्थन प्राप्त होता रहता है और समाज में कोई अव्यवस्था फैलने नहीं पाती।

(5) **जन-समुदाय का स्वर ईश्वरीय होता है**—समाज में जनमत की अवहेलना इसलिए सम्भव नहीं कि ऐसा माना जाता है कि जन-समुदाय द्वारा व्यक्त मत अलौकिक सत्ता द्वारा प्रदत्त है। पंच को जब परमेश्वर माना जाता है, तब तो जनमत में तो चूँकि असंख्यों लोगों के मतों का समावेश होता है, अतः इसे ईश्वरीय मानना कोई अनुपयुक्त वात नहीं है। जिस प्रकार धर्म के विरुद्ध कोई कार्य करना आसान नहीं, उसी प्रकार जनमत के विरुद्ध भी कोई कार्य सफल नहीं हो पाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जनमत सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रभावकारी साधन है जिसके द्वारा सामाजिक संगठन को व्यवस्थित रूप से बनाये रखा जाता है।

(4) शिक्षा
(Education)

'शिक्षा' (Education) सामाजिक नियन्त्रण के सबसे महत्त्वपूर्ण साधनों में से एक है। शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति जैविक प्राणी से सामाजिक प्राणी बनाया जाता है। शिक्षा का अर्थ केवल मात्र स्कूल एवं कॉलेज से प्राप्त शिक्षा से ही नहीं है, वरन् किसी भी प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करना तथा किसी भी स्थान पर कभी भी उसको आत्मसात् करना ही शिक्षा है। शिक्षा मनुष्य को सामाजिक जीवन से उसका परिचय कराती है। हमारा व्यक्तित्व तभी विकसित माना जाता है जबकि हम शिक्षा को न केवल बौद्धिक स्तर पर ग्रहण करते हैं, वरन् अपने विचारों एवं व्यवहारों में भी उसे स्थान देते हैं।

समाज में विपथगामी व्यवहारों की स्थिति तब आ जाती है जब व्यक्ति शिक्षा से वंचित रहकर समाज की व्यवस्थाओं को समझ नहीं पाते। शिक्षा दो प्रकार की होती है—

(i) औपचारिक शिक्षा (Formal Education)
(ii) अनौपचारिक शिक्षा (Informal Education)

औपचारिक शिक्षा से तात्पर्य उस ज्ञान-प्राप्ति से है जो ज्ञान प्रदान करने वाली संस्थाओं जैसे स्कूल; कॉलेज से प्राप्त किया जाता है तथा जिसमें प्रमाण-पत्र या उपाधि दी जाती है। हमारे देश में प्राथमिक शिक्षा से लेकर स्नातकोत्तर व उसके बाद की औपचारिक शिक्षा है।

अनौपचारिक शिक्षा का अर्थ ज्ञान-प्राप्ति के उस साधन से है जो शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से प्राप्त न करके जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त होता रहता है। जैसे परिवार में सामाजिक मानदण्डों को सीखना, मित्रों से नई-नई बातें सीखना, प्राथमिक तथा द्वितीयक समूहों में अनौपचारिक रूप से ज्ञान प्राप्त करना; अनौपचारिक शिक्षा है। सही अर्थों में शिक्षा एक पद्धति है जो हमें जीवन के विभिन्न पक्षों तथा परिस्थितियों से समायोजन करना सिखाती है।

शिक्षा के द्वारा व्यक्ति सामाजिक विरासत के तत्वों के प्रति जानकारी प्राप्त करता है। शिक्षा का प्रमुख सम्बन्ध व्यक्ति के आध्यात्मिक पहलू के विकास से है। शिक्षा को भी अनेक विद्वानों ने परिभाषित किया है।

ब्राउन और रूचक (Brown & Rouchk) ने लिखा है कि, "शिक्षा अनुभव का वह सम्पूर्ण परिणाम है जो बालक और वयस्क दोनों की मनोवृत्तियों को प्रभावित कर उनके व्यवहारों को निर्धारित करता है।"[1]

बार्कर (Barker) के अनुसार, "शिक्षा से तात्पर्य उस सामाजिक प्रक्रिया से है जिसके द्वारा समाज की इकाइयाँ, सामाजिक चेतना के साथ-साथ मूल प्रवृत्तियाँ बन जाती हैं तथा सभी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना सीख लेती हैं।"[2]

इमाइल दुर्खीम (Emile Durkheim) के अनुसार, "शिक्षा अधिक आयु के व्यक्तियों के द्वारा उन लोगों के लिए कार्यान्वित वह क्रिया है जो कि अभी सामाजिक जीवन में प्रवेश के योग्य नहीं हैं। इसका उद्देश्य शिशु में उन मौलिक, बौद्धिक और नैतिक दशाओं की जाग्रति एवं विकास करना है जो उसके सम्पूर्ण समाज और पर्यावरण के लिए आवश्यक हैं।"[3]

दुर्खीम की यह व्याख्या अधिक स्पष्ट तथा विस्तृत जान पड़ती है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि किसी भी समुदाय में वहाँ के बड़े लोग कम आयु के लोगों को इस प्रकार का ज्ञानार्जन कराते हैं जिससे कि नवजात व्यक्ति भी समाज में रहने के योग्य हो सकें। इसके द्वारा व्यक्ति का बौद्धिक तथा नैतिक विकास इस प्रकार से होता है जिससे कि उसका बौद्धिक जीवन भी सुखमय तथा कल्याणकारी

---

1. **F. J. Brown & J. S. Rouchk** : Our Racial and National Minorities.
2. **Barker** : Op. cit.
3. **Emile Durkheim** : Education and Sociology.

हो सके। शिक्षा के ही द्वारा व्यक्ति अपने सम्पूर्ण पर्यावरण से अनुकूलन करना सीखता है।

शिक्षा और सामाजिक नियन्त्रण
(Education and Social Control)

सामाजिक जीवन में शिक्षा का अत्यधिक महत्त्व है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह महत्त्व और अधिक बढ़ता जा रहा है। साधारणतया शिक्षा के द्वारा निम्नलिखित आवश्यकताओं की पूर्ति होती है जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक संगठन ठीक प्रकार से बना रहता है।

(1) **बच्चे को जीवन के लिए तैयार करना** (Prepares the Child for Life)—शिक्षा के द्वारा उन तमाम नवजात शिशुओं को समाज के योग्य बनाया जाता है जो अभी सामाजिक नहीं हैं। यदि ऐसा नहीं हो पाता तो मानव-समाज तथा पशु-समाज में अन्तर करना भी कठिन हो जाता। इस सन्दर्भ में दुर्खीम का मत है कि, "शिक्षा बच्चों को भाषा, धर्म, नैतिकता तथा सामाजिक प्रथाओं के माध्यम से सामान्य सामाजिक परम्पराओं का प्रसारण कर, सम्पूर्ण समाज में जीवन बिताने योग्य बनाती है।" बच्चों को राष्ट्रीय मूल्यों की शिक्षा शैक्षणिक संस्थाओं द्वारा ही प्रारम्भ की जाती है। भारतवर्ष में जो बेसिक शिक्षा की नींव महात्मा गांधी तथा जाकिर हुसैन द्वारा डाली गयी, उसमें भी राष्ट्रीय भावना की स्पष्ट झलक दृष्टिगत होती है।

(2) **शिक्षा के द्वारा एक बदलते हुए विश्व का निर्माण किया जा सकता है** (To Prepare Individuals for a Changing World)—शिक्षा के द्वारा ही बदलती हुई परिस्थितियों में सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। आधुनिक शिक्षा द्वारा व्यक्तियों को प्रेरित किया जाता है कि वे अपने व्यवहारों तथा विचारों को इस प्रकार से बदलें जिससे कि एक प्रगतिशील समाज की अवधारणा सम्भव हो सके। बोटोमोर ने लिखा है, "आधुनिक शिक्षा संचारित वैज्ञानिक ज्ञान में परिवर्तन की आशा है; साथ ही व्यक्तियों को स्थायी के बजाय एक परिवर्तित विश्व के लिये तैयार करने में शिक्षा की अत्यधिक आवश्यकता है। इस प्रकार आधुनिक समाजों में औपचारिक शिक्षा, विचारों एवं मूल्यों को जो व्यवहारों में नियमितता लाने का कार्य करते हैं, स्वतन्त्रतापूर्वक संचार करती है।"[1]

(3) **संस्कृति का संचरण** (Transmission of Culture)—शिक्षा के द्वारा संस्कृति का संचरण किया जाता है। शिक्षा का सम्बन्ध जहाँ एक ओर व्यक्ति को परम्पराओं की जानकारी कराना है, वहीं दूसरी ओर इसके द्वारा व्यक्ति को परिवर्तनोन्मुखी बनाना भी होता है। संस्कृति का प्रसारण शिक्षा के तीनों प्रकारों से

---

1. T. B. Bottomore : Op. cit., p. 255.

सम्भव हो पाता है। अनौपचारिक शिक्षण जो परिवार, मित्र-मण्डली, पड़ौसी तथा समुदाय द्वारा दिया जाता है, औपचारिक शिक्षण जिसके लिए स्कूल, कॉलेज तथा अन्य उच्च संस्थान बनाये गये हैं और सहायक शिक्षण जिसे प्रेस, चलचित्र तथा टेलीविजन द्वारा पूरा किया जाता है।

(4) **व्यक्ति का प्रारम्भिक समाजीकरण** (Socialisation of the Child)–शिक्षा के द्वारा व्यक्ति का समाजीकरण किया जाता है। बच्चों के स्कूलों में इस बात का विशेष प्रबन्ध किया जाता है कि उन्हें रहन-सहन, बोलचाल तथा अन्य तौर-तरीकों से अवगत कराया जाय। बोटोमोर ने लिखा है कि "शिक्षा ने स्वतन्त्र रूप से आचरण के निर्धारण में योगदान दिया है और वह शिशु का प्रारम्भिक समाजीकरण करती है जैसे **माण्टेसरी** और **फ्रोबेल** ने सुधारकों के कार्यों में छोटे बच्चों की शिक्षा में बड़े परिवर्तन लाने का प्रयास किया। समाजीकरण के कारण ही अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण सम्भव हो पाता है। जिस प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण करना होता है, वैसे ही सामाजिक मूल्यों को शिक्षा के द्वारा प्रसारित किया जाता है। शिक्षा के द्वारा अच्छे व्यक्तित्व का निर्माण कर सामाजिक व्यवस्था में सन्तुलन को बनाये रखा जाता है।

(5) **सामाजिक सन्तुलन** (Social Equilibrium)—शिक्षा के द्वारा परम्परागत व्यवहारों को तो अपनाया ही जाता है; साथ ही साथ उन व्यवहारों को भी अपनाने को प्रेरित किया जाता है जिनका सम्बन्ध ऐसी व्यवस्था के निर्माण से है जो समाज में स्थिर और परम्परागत व्यवस्था नहीं चाहता। शिक्षा इन दोनों अतिशयोक्तियों में सामंजस्य स्थापित कर सामाजिक सन्तुलन को बनाये रखती है। कार्ल मैनहीम ने लिखा है कि समाज की संरचना सदैव परिवर्तन के ही प्रक्रम में नहीं अपितु बहुत कुछ सन्तुलन पर भी आधारित रहती है। यह सन्तुलन समाज के इच्छित एवं अवांछित परिवर्तनों के बीच शिक्षा द्वारा प्राप्त किया जाता है।

(6) **सहयोग की भावना का विकास** (Development of Co-operative Feeling)—शिक्षा के माध्यम से सदस्यों में सहयोगात्मक भावना का विकास किया जाता है. जो सामाजिक संगठन के स्थायित्व के लिए आवश्यक है। सामाजिक नियन्त्रण के लिए भी यह आवश्यक है कि सदस्यों में समाज द्वारा निर्मित नियमों को ग्रहण करने की आस्था हो। शिक्षा का क्षेत्र जैसे-जैसे व्यापक होता जा रहा है, वैसे-वैसे सदस्यों में पारस्परिक सहयोग की भावना भी बढ़ती जा रही है।

(7) **आर्थिक पहलू का विकास** (Economic Development)—तकनीकी शिक्षा व्यक्ति की सुख-समृद्धि में प्रत्यक्ष रूप से मदद करती है। सामाजिक संगठन की निरन्तरता के लिए सामाजिक समृद्धि आवश्यक है, जो शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है। बेसिक शिक्षा का भी यही उद्देश्य है कि इसके द्वारा समाज के आर्थिक पहलू का विकास किया जाय। शैक्षणिक संस्थाओं में चल रहे विभिन्न प्रकार के अनुसन्धान-कार्य अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक समृद्धि में सहायक हो रहे हैं।

(8) **ज्ञान का अध्ययन** (Study of Knowledge)—शिक्षा के द्वारा वास्तविक ज्ञान का अध्ययन कर व्यक्ति अपने व्यवहारों को तर्कपूर्ण बनाता है। शिक्षा के ही कारण व्यक्ति किसी ज्ञान को प्राप्त करने के लिए उसकी उचित अध्ययन-विधि को अपना पाता है। समाज की वास्तविक स्थिति क्या है, समाज की गति-दिशा क्या है, आदि बातों की जानकारी शिक्षा के द्वारा ही करायी जाती है ताकि व्यक्ति उन्हीं के अनुरूप अपने व्यवहारों को कर सके।

अतः हम देखते हैं कि शिक्षा व्यक्ति को उस ज्ञान की प्राप्ति कराती है जिसके द्वारा व्यक्ति अपने व्यवहारों को नियन्त्रित कर सामाजिक आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करता रहता है। **बोटोमोर के शब्दों में,** "इस प्रकार शिक्षा एक व्यापक अर्थ में, बचपन से लेकर प्रौढ़ावस्था तक सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। शिक्षा के द्वारा नयी पीढ़ियाँ सामाजिक आदर्शों को सीखती हैं और उनके उल्लंघन पर दण्ड का निर्धारण करती हैं। आधुनिक समाजों में जहाँ औपचारिक शिक्षा महत्त्वपूर्ण बन गयी है और जहाँ शिक्षकों का एक महत्त्वपूर्ण व्यावसायिक समूह दृष्टिगत होता है, शिक्षा भी सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण प्रकार बन जाती है जो प्रतिस्पर्द्धा तथा कभी-कभी अन्य प्रकार के नियन्त्रणों से संघर्ष में दिखलाई देती है।

(5) परिवार
(Family)

'परिवार' (Family) एवं विवाह संस्थाओं का समाज में अद्वितीय स्थान है। इन दोनों संस्थाओं का विशेष योगदान भारतीय समाज की सुव्यवस्था के लिए है। परिवार तो भारतीय सामाजिक जीवन का सदैव से ही केन्द्र-बिन्दु रहा है। विवाह भारतीय समाज में संस्कार के रूप में प्रतिष्ठित है जिसके द्वारा पुरुष और स्त्री में संयोग होता है और वे इस सृष्टि को आगे बढ़ाने में सफल हो पाते हैं। मानव प्रजाति की निरन्तरता, पुरुष एवं स्त्री का उचित विकास तथा धर्म का पालन विवाह संस्था के माध्यम से ही सम्पन्न हो पाता है। प्रत्येक समाज में परिवार प्रारम्भ से ही सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में महत्त्वपूर्ण कार्य करता चला आ रहा है।

परिवार एक ऐसी सार्वभौमिक (Universal) संस्था है जिसका समाज में सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति का सम्बन्ध अपने परिवार से आजीवन रहता है। व्यक्ति की सभी प्रमुख आवश्यकताएँ जैसे—भोजन, आवास, यौन तथा सुरक्षा आदि की पूर्ति परिवार के ही अन्तर्गत होती है। व्यक्तित्व (Personality) का विकास परिवार में ही शुरू होता है। मनुष्य का उद्विकास तथा प्रगति परिवार से ही प्रारम्भ होती है। प्राचीन काल में भारतीय संयुक्त परिवार के अनेक कार्य थे जैसे सामाजिक नियन्त्रण, शिक्षा, धर्म, पेशा तथा बाह्य विपदाओं से रक्षा, आदि।

आज भी यद्यपि बहुत से कार्य अन्य संस्थाओं द्वारा हो रहे हैं, फिर भी परिवार समाज में महत्त्वपूर्ण कार्यों को कर रहा है जिसका वर्णन हम आगे करेंगे।

जैसा कि हम जानते हैं, भारतवर्ष की परिवार-प्रणाली संयुक्त परिवार प्रणाली (Joint Family System) के नाम से विख्यात है। कुछ प्रमुख समाज-शास्त्रियों ने संयुक्त परिवार-प्रणाली की व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से की हैं—

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) के अनुसार, "संयुक्त परिवार के अन्तर्गत पुरुष, उनके पूर्वज, अविवाहित सन्तानें तथा विवाह समूह में सम्मिलित की गयी स्त्रियां होती हैं। ये सभी सदस्य एक ही घर में रह सकते हैं या आस-पास के कई घरों में रहते हैं। इसके सदस्यों से यह आशा की जाती है कि वे अपनी आय एक जगह एकत्र करेंगे और उस सम्पूर्ण से कुल उत्पादन का अपना भाग प्राप्त करेंगे।"[1]

फेयरचाइल्ड (Fairchild) के अनुसार, "संयुक्त परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसमें सम्बन्धित कई व्यक्तिगत परिवार हो सकते हैं–विशेषतया पिता और उसके पुत्र तथा माँ और उसकी पुत्रियाँ, जो एक बड़े आवास में रहते हैं अथवा छोटे-छोटे आवासों में एक स्थान पर रहते हैं।"[2]

डॉ. इरावती कर्वे (Dr. Iravati Kerve) ने भारतीय संयुक्त परिवार की बहुत ही उपयुक्त परिभाषा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार, "संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का समूह है जो सामान्यतया एक घर में रहते हैं, जो एक रसोई-घर में बना भोजन ग्रहण करते हैं, जो सामान्य सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं, तथा जो सामान्य पूजा में भाग लेते हैं और किसी विशेष रूप से परस्पर रक्त सम्बन्धित हैं।"[3]

सामाजिक नियन्त्रण में परिवार का महत्त्व
(Importance of Family in Social Control)

साधारणतया सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में परिवारों के कार्य निम्नलिखित हैं—

(2) **नियन्त्रित काम-वासना**—परिवार विवाह-संस्था के माध्यम से एक पुरुष और एक स्त्री को पति-पत्नी के रूप में स्वीकार कर उन्हें काम तुष्टि की स्वीकृति देता है। भारतीय परिवारों की यह अनुपम विशेषता है कि यहाँ विवाह के पूर्व, स्त्री और पुरुष के किसी भी सम्बन्ध को अनैतिक माना जाता है। कुछ परिवार तो

---

1. Kingsley Davis : Op. cit.
2. H. P. Fairchild : Dictionary of Sociology.
3. Dr. Iravti Kerve : Kinship Organization in India.

इतने कट्टर हैं कि जिनमें पुरुष और स्त्री का आमना-सामना भी उचित नहीं माना जाता है। पश्चिमी देशों के परिवार यद्यपि इस प्रकार का नियन्त्रण अपने सदस्यों पर नहीं रखते, फिर भी साधारणतया सभी समाजों में नियन्त्रित काम-वासना को उचित माना जाता है। परिवार के इस कार्य के कारण कोई भी सदस्य ऐसा कार्य नहीं कर पाता जिसे काम-अपराध के अन्तर्गत रखा जा सके। समाज में नैतिकता को बढ़ावा भी इसी कारणवश मिल पाता है। इस प्रकार परिवार समाज के सदस्यों को नैतिक व्यवहार करने के लिए बाध्य कर सामाजिक संगठन को बनाये रखते हैं।

(2) **सन्तानोत्पत्ति कार्य**—पारिवारिक मान्यता केवल काम-वासनाओं की तुष्टि के लिए ही नहीं होती, बल्कि उसके पीछे एक आदर्श और छिपा हुआ है, वह है सन्तानोत्पत्ति का कार्य। भारतीय धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार किसी भी व्यक्ति को उसके अन्तिम उद्देश्य (मोक्ष) की प्राप्ति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि वह सन्तानोत्पत्ति के द्वारा पितृ-ऋण से मुक्ति नहीं पा लेता। साधारणतया सभी समाजों में परिवार का यह कार्य इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि इसके द्वारा किसी भी परिवार की निरन्तरता को बनाये रखा जाता है। इस प्रकार प्रजाति की निरन्तरता तथा रक्त की शुद्धता के लिए सन्तानोत्पत्ति आवश्यक है। प्रत्येक परिवार अपने-अपने सदस्यों को सन्तोनोत्पत्ति कार्य की महत्ता को बतलाकर तथा इसके पीछे धर्म की अवधारणा को व्यक्त कर, सामाजिक संगठन को बनाये रखने में उल्लेखनीय योगदान देता है।

(3) **सदस्यों की सुरक्षा**—प्रत्येक समाज में परिवारों का संगठन इस प्रकार से हुआ है जिसमें परिवार के सभी सदस्य अपने को सुरक्षित अनुभव करते हैं। परिवार का प्रत्येक सदस्य यह सोचकर कोई कार्य करता है कि उसका व्यवहार पूरे परिवार का व्यवहार है, अतः उसे कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे परिवार की परम्परागत मान-प्रतिष्ठा पर कोई ठेस लगे। इस भावना से प्रेरित होकर प्रत्येक सदस्य कार्य करता है। संयुक्त परिवार-प्रणाली तो अपने सदस्यों की सुरक्षा के लिए एक अनोखी संस्था रही है और अब भी न्यूनाधिक अंशों में है। घर का सबसे बड़ा-बूढ़ा व्यक्ति जो आर्थिक उत्पादन में बिल्कुल भाग नहीं ले सकता, उसे परिवार में तभी सर्वाधिक आदर और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। परिवार के वे व्यक्ति जो मानसिक तथा शारीरिक दृष्टिकोण से स्वस्थ नहीं हैं, उनकी भी प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति परिवार में हो जाया करती है। कौन व्यक्ति कम काम करता है और कौन अधिक, इसका प्रभाव भी व्यक्तियों के लिए उपलब्ध सुख-सुविधाओं पर कम पड़ता है। स्त्री, पुरुष तथा बच्चों को परम्परागत दृष्टिकोण से सम्मान प्रदान कर उनकी आवश्यकता की पूर्ति होती है। एकाकी परिवारों में यह गुण तथा कार्य अपेक्षित कम हो जाता है। जो कुछ भी हो, न्यूनाधिक अंशों में परिवार साधारणतया सभी समाजों में अपने सदस्यों की सुरक्षा प्रदान करता है।

(4) **समाजीकरण**—समाज के अनुरूप व्यक्ति व्यवहार कर सके, इसके लिए यह आवश्यक है कि परिवार के सदस्यों का समाजीकरण हो। समाजीकरण से तात्पर्य समाज द्वारा निर्धारित विधि-विधानों तथा मान्यताओं के अनुसार व्यवहार करने से है। परिवार ही वह संस्था है जहाँ से व्यक्ति का समाजीकरण शुरू भी होता है, और समाप्त भी। आजीवन व्यक्ति अपने परिवार से प्रभावित होकर अपने व्यवहारों को उसके अनुरूप बनाता रहता है और अन्य जितने साधन समाजीकरण की प्रक्रिया में योगदान देते हैं, वे द्वितीयक महत्त्व के होते हैं व्यक्ति का व्यक्तित्व उस प्रकार का ही बन जाता है जिस प्रकार का उसका समाजीकरण परिवार में हुआ है। सामाजिक आदर्श क्या हैं, सामाजिक प्रतिमान क्या हैं, उचित और अनुचित क्या हैं, इन सभी चीजों को व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सीखता है। एक नवजात शिशु समाजीकरण के कारण ही समाज का सक्रिय सदस्य बन पाता है। वह विभिन्न कार्यों को इसी प्रक्रिया द्वारा अपनाता है तथा आजीवन अपने उत्तरदायित्वों को निभाता है। इस प्रकार समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति सामाजिक आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है ताकि सामाजिक एकमतता बनी रहे। व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण परिवार समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा अधिक सरल बना देता है।

(5) **संस्कृति का हस्तान्तरण**—संस्कृति के अन्तर्गत उन सभी चीजों को सम्मिलित किया जाता है जिनका सम्बन्ध जीवन की सम्पूर्ण गतिविधियों से है। संस्कृति का प्रारम्भ परिवार से ही होता है और फिर भी उसका हस्तान्तरण भी परिवार पर ही आश्रित होता है। व्यक्ति का खान-पान, बोल-चाल, आचार-विचार कार्य-कुशलता तथा अन्य योग्यताएँ सभी अपने परिवार पर आश्रित हुआ करती हैं। अपने से बड़ों के व्यवहार का छोटे भी अनुकरण कर अपने जीवन में चरितार्थ करने का प्रयत्न करते हैं। किसी समाज की विशेषता उसकी संस्कृति हुआ करती है, और इस संस्कृति का संरक्षण तथा प्रसारण परिवारों के माध्यम से सम्भव हो पाता है। परिवार के माध्यम से सामाजिक एकरूपता बनायी रखी जाती है।

(6) **आर्थिक सुरक्षा**—श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण जो सामाजिक संगठन तथा सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक तत्त्व हैं, का प्रादुर्भाव परिवार से हुआ है। पहले एक वर्ग अथवा एक परिवार के निश्चित कार्य होते थे। एक परिवार में कार्यों का आयु तथा योग्यता के आधार पर बँटवारा हुआ करता था कि कौन कब क्या करेगा ? विशेषकर संयुक्त परिवारों में हमें स्पष्ट रूप से यह विशेषता देखने को मिलती है जिसमें अधिकांश स्त्रियाँ घरों का आन्तरिक कार्य करती हैं तथा पुरुष घर से बाहर का कार्य करते हैं। यद्यपि पश्चिमी एकाकी परिवार में यह विशेषता नहीं पायी जाती है, क्योंकि वहाँ पारिवारिक कार्य जन्म पर आधारित न होकर गुण तथा योग्यता पर आधारित होते हैं। फिर भी उन समाजों में जहाँ पेशों का निर्धारण

जाति पर होता है, वहाँ परिवार आर्थिक सुरक्षा का एक अद्भुत साधन है। शुरू से ही व्यक्ति में यह भावना घर कर जाती है कि वह आर्थिक दृष्टि से भी सुरक्षित है और जो व्यक्ति शुरू से ही इस प्रकार की मानसिक स्थिति में रहता है वह भविष्य में आशातीत सफलता प्राप्त कर लेता है। परिवारों में सम्पत्ति के बँटवारे का नियम इस प्रकार का होता है कि साधारणतया परिवार के स्त्री सदस्यों का सामूहिक रूप से सम्पत्ति पर अधिकार होता है।

(7) **धार्मिक विश्वासों की प्रधानता**—परिवार के सभी सदस्य किसी सामान्य देवी-देवता में विश्वास करते हैं, इसका प्रभाव यह होता है कि नैतिक दृष्टिकोण से सभी समाजों में समानता पायी जाती है। विश्व के समाजों में जितने भी परिवार हैं (केवल साम्यवादी देशों में से कुछ को छोड़कर), सभी में किसी न किसी देवी-देवता की आराधना की जाती है। इसके कारण लोगों में सन्तोष की भावना जाग्रत होती है। इसके द्वारा किसी असामान्य सामाजिक परिस्थिति में धैर्य की भावना जाग्रत होती है जिसके फलस्वरूप सामाजिक एकरूपता बनायी रखी जाती है।

सामाजिक नियन्त्रण के कुछ अन्य अभिकरण
(Some Other Agencies of Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण के उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण अभिकरणों के अलावा कुछ अन्य अभिकरण भी हैं। जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं—

1. **जनरीतियाँ एवं लोकाचार** (Folkways & Mores)
2. **प्रथायें एवं परम्परायें** (Customs & Traditions)
3. **भाषा, सुझाव एवं अनुकरण** (Language Suggestion and Imitation)
4. **पुरस्कार एवं दण्ड** (Reward and Punishment)
5. **कला** (Art)
6. **नेतृत्व** (Leadership)
7. **हास्य-व्यंग** (Humour and Satire)

यहाँ इनकी संक्षिप्त विवेचना प्रदान करते हैं—

(8) **जनरीतियाँ एवं लोकाचार** (Folkways and Mores) – **ग्रीन** (Green) के अनुसार जनरीतियाँ कार्य करने की वे रीतियाँ हैं जो एक समाज या समूह में सामान्य होती हैं तथा एक पीढ़ी तक परम्परागत रूप से चली आती हैं। इनसे दूसरे समूह की आदतों का बोध होता है, अतः इसमें समूह की शक्ति रहती है। समाज में व्यक्तियों को कपड़ा पहनने, अभिवादन करने तथा व्यवहार करने के ढंग आदि के रूप में जनरीतियाँ दिखलाई पड़ती है।

जनरीतियों का मुख्य उद्देश्य समाज में मानव के व्यवहारों को व्यवस्थित करना एवं सामाजिक संरचना को स्थायित्व प्रदान करना होता है। **समनर** के

अनुसार ये प्राकृतिक शक्तियों की उपज के समान होती हैं जिन्हें मनुष्य अचेतनावस्था में भी काम में लाते हैं। मैकाइवर के अनुसार जनरीतियों की शक्ति क्षीण हो सकती है, इनकी मान्यताओं में परिवर्तन हो सकता है, परन्तु किसी भी परिस्थितियों में व्यक्ति और समाज का नियन्त्रण करने के लिए ये सदैव सक्षम वनी रहती हैं।

मैकाइवर एवं पेज (Maciver & Page) के अनुसार जनरीतियाँ जब अपने साथ समूह के कल्याण और शुभाशुभ का विचार जोड़ लेती हैं तब वे लोकाचार में परिवर्तित हो जाते हैं। ये लोकाचार समाज के सम्पूर्ण जीवन तथा हितों पर आच्छादित रहते हैं। नवीन पीढ़ी को ये अनिवार्य रूप से मर्यादित अथवा सीमाबद्ध करते हैं। कोई भी तर्क या प्रमाण इन लोकाचारों को निरर्थक सिद्ध नहीं कर सकता। मेकाइवर के अनुसार लोकाचार हमारे सामाजिक जीवन में तीन प्रमुख कार्यों को करते हैं—प्रथम, ये हमारे वैयक्तिक व्यवहारों को निर्धारित करते हैं। द्वितीय, ये व्यक्ति का समूह में तादात्म्य कराते हैं। तृतीय, ये सामाजिक सुदृढ़ता के संरक्षक होते हैं। अतः निश्चय ही जनरीतियाँ एवं लोकाचार सामाजिक नियन्त्रण के प्रभावशील साधन हैं।

(2) प्रथाएँ एवं परम्पराएँ (Customs and Traditions)—प्रथाएँ और परम्पराएँ सामाजिक-नियन्त्रण के प्रभावी साधन हैं। बोगार्डस के अनुसार ये नियन्त्रण की समूह-सम्मत प्रविधियाँ हैं जो अच्छी तरह जमीं और मान्य होती हैं तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं। प्रथाओं के आदिकालीन होने के कारण समाज का प्रत्येक सदस्य इनके प्रति श्रद्धावान् रहता है तथा इनके अनुसार आचरण करके एक आदर्श सामाजिक जीवन का उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्रथाएँ सामाजिक आदर्शों के प्रतीक तथा सामाजिक नियमों के आधार होते हैं। इनके पीछे जन-विश्वास की शक्ति होती है, इस कारण समाज के सदस्य इनका पालन भयवश न करके श्रद्धावश करते हैं। वेस्टर मार्क के अनुसार स्वयं कानूनों का पालन भी इसलिए होता है कि वे स्वयं प्रथा होते हैं न कि इसलिए कि वे कानून होते हैं। प्रायः कानून के मुकावले प्रथा की जीत होती है। जिन समाजों में प्रथाओं का चलन अधिक होता है, उसमें दवाव मूल्य सामाजिक नियन्त्रण के साधनों और अभिकरणों की आवश्यकता बहुत कम महसूस की जाती है। इसीलिए सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में प्रथाओं का स्थान की जाती है। इसीलिए सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में प्रथाओं का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

परम्पराओं का आधार प्रथाएँ, जनरीतियाँ, विश्वास, आचार-विचार आदि होते हैं। परम्पराएँ बहुत कम परिवर्तनशील होती हैं तथा इनका परम्परागत रूप एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित होता रहता है। सामाजिक नियन्त्रण में परम्पराओं द्वारा महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न की जाती है। परम्पराएँ समाज के लोगों

के व्यवहार का संचालन करती हैं, व्यवहारों के लिए एक स्तर को निश्चित करती हैं और समाज के विविध सदस्यों के व्यवहारों में एकरूपता लाती हैं तथा परिवर्तन को नियन्त्रित करके सामाजिक जीवन को एक प्रतिमानित तथा प्रचलित स्वरूप में सुरक्षित रखती हैं। परम्पराओं के साथ सामाजिक मर्यादा जुड़ी रहती है, अतः इसका उल्लंघन नहीं किया जाता।

(3) **भाषा, सुझाव और अनुकरण** (Language, Suggestion and Imitation)—भाषा, विचार-विनिमय, अनुभूतियों के आदान-प्रदान व व्यक्तियों को समाज के अनुरूप तैयार करने का एक साधन है। भाषा मनुष्य के उन मानव-व्यवहारों को नियन्त्रित करती है जिनका सम्बन्ध उसकी मूल प्रवृत्तियों और सामाजिक आवश्यकताओं से होता है। भाषा मनुष्य की प्रगति और समाज में मानव के व्यवहारों को नियन्त्रित तो करती है, परन्तु इन संस्थाओं की कार्य-प्रणालियों तथा विधियों आदि को भाषा के ही माध्यम से स्पष्ट किया जाता है।

सामाजिक नियन्त्रण में भाषा की भाँति सुझावों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। है। धार्मिक नेता, सन्त-महात्मा, प्रतिष्ठित व्यक्ति आदि सुझाव का कार्य करते हैं। ये लोग जनता के समक्ष लिखित और अलिखित आदर्श प्रस्तुत किया करते हैं। इनसे जनता प्रभावित हो करके अपने आचरणों को नियन्त्रित करती है। अनुकरण के सन्दर्भ में सामाजिक नियन्त्रण की क्षमता इस बात पर निर्भर करती है कि समाज के स्वीकृत व्यवहार अथवा क्रियाएँ किस सीमा तक व्यक्ति के व्यवहारों में प्रतिफलित हो पाते हैं। प्रत्येक समाज यह चाहता है कि उसकी आने वाली पीढ़ी उसी के स्वीकृत और प्रचलित व्यवहारों का अनुकरण करे। अनुकरण सामाजिक अनुभवों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता हैं।

(4) **पुरस्कार तथा दण्ड** (Reward and Punishment)—पुरस्कार सामाजिक नियन्त्रण का एक सकारात्मक साधन है। यह सामाजिक मानदण्डों के अनुरूप व्यवहार करने को प्रेरित करता है। समाज द्वारा निर्धारित शैली, मूल्यों तथा मानदण्डों के अनुरूप जब व्यक्ति व्यवहार है तो समाज उसे विभिन्न प्रकार के पुरस्कार आदि देकर प्रोत्साहित करता है। इससे व्यक्ति का आत्म-विश्वास और मनोबल बढ़ता है साथ ही समाज में समंजनकारी प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं जो सामाजिक व्यवस्था के लिए एक अनिवार्यता है। पुरस्कार व्यक्ति पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है। **रोज** (Rose) के अनुसार, "दण्ड अधिक होते हैं, परन्तु प्रायः ऐसा होता है कि पुरस्कार अधिक संख्या में अधिक व्यापक तथा एक लम्बे समय में अधिक प्रभावी सिद्ध होते हैं।" सम्भवतः इसी कारण प्रत्येक सामाजिक संगठन में पुरस्कार की व्यवस्था देखने को मिलती है।

और मनोबल बढ़ता है साथ ही समाज में समंजनकारी प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं जो सामाजिक व्यवस्था के लिए एक अनिवार्यता है। पुरस्कार व्यक्ति पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है। रोज (Rose) के अनुसार, "दण्ड अधिक होते हैं, परन्तु प्रायः ऐसा होता है कि पुरस्कार अधिक संख्या में अधिक व्यापक तथा एक लम्बे समय में अधिक प्रभावी सिद्ध होते हैं।" सम्भवतः इसी कारण प्रत्येक सामाजिक संगठन में पुरस्कार की व्यवस्था देखने को मिलती है।

पुरस्कार जहाँ व्यक्तियों की समंजनकारी प्रवृत्तियों को बढ़ाता है, दंड व्यक्तियों को सामाजिक कानूनों के विपरीत कार्य करने से रोकता है। सामाजिक नियन्त्रण में दण्ड विचलन व प्रवृत्तियों को रोकने का अन्तिम बाध्यता-मूलक तथा आतंककारी साधन है। दण्ड यद्यपि व्यक्तिगत होता है, परन्तु इसका प्रभाव सामाजिक होता है। जैसा कि ग्रीन (Green) का कहना है कि "दण्ड का प्राथमिक उद्देश्य अपराधी को कष्ट देना अथवा पुनः अपराध करने से रोकना नहीं है, बल्कि उन व्यक्तियों के मस्तिष्क में भय उत्पन्न करना है जो अपराध करने के लिए लालायित होते हैं। अतः दण्ड के भय से व्यक्ति अपने आचरण व व्यवहार को नियन्त्रित रखता है जो कि समाज-व्यवस्था के लिए आवश्यक होता है। प्राथमिक स्कूलों में दण्ड की व्यवस्था सामाजीकरण की प्रक्रिया में अभिभावकों और अध्यापकों द्वारा की जाती है और राज्य में दण्ड की व्यवस्था कानून द्वारा की जाती है।

(5) **कला (Art)**—हॉबल (Hoebel) के अनुसार, "कला से तात्पर्य उन रेखाओं, आकारों, रंगों, गति, शब्द, रेखांकन, चित्रण, मूर्तिकला, नृत्य, ध्वनि, काव्य और साहित्य से है, जिनके द्वारा सार्वजनिक प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति की जाती है।" सामाजिक नियन्त्रण के क्षेत्र में कला, साधन और संस्था के रूप में विभिन्न प्रकार से अपना योगदान प्रदान करती है। मानवीय जीवन के सत्योद्घाटन कला के माध्यम से होते हैं। कलाकार अपने काल का युगदृष्टा और भविष्य-वक्ता होता है, जो अपनी कृतियों के माध्यम से समाज के आदर्शों और मूल्यों का सम्प्रेषण करता है और समस्त मानवता को एक सूत्र में बाँधता है। प्रो० राधाकमल मुखर्जी (Radhakamal Mukherjee) के अनुसार, "कला उन सामाजिक प्रतीकों, बिम्बों तथा परम्परागत विश्वासों को जन्म देती है जो मानव-जीवन को ऊँचा उठाकर समाज का इस प्रकार निर्देशन करते हैं कि जिनसे सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् साकार हो उठते हैं और जो मनुष्य के भय, त्रास और भ्रम का हरण कर लेते हैं। सृजनात्मक प्रवृत्तियों का विकास, लोक-प्रथाओं की रक्षा, सामाजिक आदर्शों का प्रसार, वैचारिकी और मानस प्रतिमानों का निर्माण, संस्कृतियों का समन्वय, जनमत की निर्दिष्ट दिशा की प्राप्ति आदि कार्यों में कला महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसलिए सामाजिक नियन्त्रण में कला को सर्वत्र स्वीकारा जाता है।

(6) नेतृत्व (Leadership)—प्रत्येक समाज में कुछ न कुछ प्रभावशाली व्यक्ति होते हैं, जिनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली होता है कि लोग उनका अनुसरण करना अपने लिए बड़ा हितकर समझते हैं। ऐसे लोग ही समाज में व्यक्तियों का नेतृत्व करते हैं। ये लोग ऐसी व्यवस्थाओं तथा जीवन की जटिलतम समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करते हैं, जिनसे समाज का संगठन अधिक सुदृढ़ होता है तथा समाज की बुराइयों और विघटन की प्रवृत्तियों का उन्मूलन होता है। भारत में महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री आदि का व्यक्तित्व ऐसा ही था, जिन्होंने प्रेरणा के स्रोत के रूप में समस्त जनता को प्रजातान्त्रिक मूल्यों, एकता और सामाजिक न्याय जैसे लक्ष्यों की ओर उन्मुख कर दिया था।

(7) हास्य-व्यंग्य (Humour and Satire)—हास्य-व्यंग्य सामाजिक नियन्त्रण का एक ऐसा अनौपचारिक अभिकरण है, जिसके द्वारा वस्तु-स्थिति के विपरीत पक्ष की ओर उसकी चरम सीमाओं को व्यंग्यात्मक दृष्टिकोणों से, अतिरेक से और परिहास से व्यक्त किया जाता है। व्यंग्य के डर से मनुष्य ऐसे कार्य नहीं करता जिसके लिए उसका दूसरों के द्वारा मजाक उड़ाये जाने का भय रहता है। मनुष्य की अनेक असामाजिक आदतें दूसरों के द्वारा उपहास किये जाने पर छूट जाती हैं। मनुष्य सामाजिक मान्यता के अनुसार अपने स्तर को इसलिए बनाये रखता है कि दूसरों के द्वारा वह उपहास का पात्र न बने। उपहास के भय से कला तथा संगीत का स्तर बना रहता है। कलाकार को भय रहता है कि दर्शक अथवा श्रोता उसकी कला का उपहास न करें। इस प्रकार समाज में व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करने की दृष्टि से हास्य-व्यंग्य का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है।

विश्वविद्यालय प्रश्न
(University Questions)

1. सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। इसकी क्या आवश्यकता है?

   (Explain the concept of social control. What is its need ?)

2. सामाजिक नियन्त्रण को परिभाषित कीजिए एवं इसके प्रमुख प्रकारों की विवेचना कीजिए।

   (Define social control and discuss its major types.)

3. सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख अभिकरणों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

   (Discuss major agencies of social control in brief.)

4. सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन कौन-कौन से हैं। संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
(What are the informal means of social control ? Discuss in brief.)

सन्दर्भ-ग्रन्थ

(SELECTED BIBLIOGRAPHY)

Alexander Chester : "Is Sociology An Exact Science ?" American Sociological Review, Vol. XI,

Allport, G. W. : personality, New York, Holt, 1937.

Berger P. : Invitation to Sociology, 1971.

Bierstedt, R. : The Social Order, McGraw-Hill Book. Co., New York, 1957.

Bossard, J. H. S. : The Sociology of Child Development. rev. ed. Harper, 1954.

Bottomore, T. B. : Sociology : A Guide to Problems and Literature, The English Language Book Society, London, 1964.

Broom, L. : Social Differentiation and Stratification in Merton, Broom and Cottrell, eds., 1959 pp. 429–441.

Broom and Selznick P. H. : Sociology : A Text with Adapted. Readings, Row Peterson, 1955.

Chase, Stuart : The Proper Study of Mankind, New York, 1948.

Cooley, C. H. : Human Nature and The Social Order, Charles Scribner's Sons, New York, 1902.

Cooley, C. H. : Social Organization, Charles Scribner's Sons, New York, 1909.

,, : Social Process, Charles Scribner's Sons, New York, 1922.

Davis, K. : A Conceptual Analysis of Stratification. American Sociological Review, 1942a. Vol. 7, No. 3. pp. 309–321.

,, : Human Society, Macmillan, 1949.

Dewey, J. : Human Nature and Conduct, London, 1922.

Dube, S. C. : Indian Village, London, Routledge and Kegan Paul, 1955.

,, : India's Changing Villages, London, Routledge and Kegan Paul, 1958.

Durkheim, Emile : The Rules of Sociological Method, trans. by Sarah A. Solovay and John H. Mueller and Edited by George E. G. Catlin, The Free Press, New York, 1964.

Elliott M. A. and Merrill, F. E. : Social Disorganization, Harper and Brothers Publishers, New York, 1950.

Fairchild, H. P. : Dictionary of Sociology, New York, 1944.

Faris, E : The Nature of Human Nature, New York, 1947 Part I.

Freud, S. : An Outline of Psycho-Analysis, London, 1949.

Gerth, H. H. and Mills, C. W. : From Max Weber–Essays in Sociology, London, Routlege and Kegan Paul, 1948.

Ghurye, G. S. : Caste and Class in India, Popular Book Depot, Bombay 1957.

Giddings, F. H. : Principles of Sociology, New York, 1898.

Gillin and Gillin : Cultural Sociology, The Macmillan Company, New York, 1950.

Ginsbergs, M. : Studies in Sociology, London, 1932.

" : Sociology, London, 1934.

Green, A. W. : Sociology : An Analysis of life in a Modera Society, McGraw-Hill, 1956.

Gurvitch, G. and Moore, W. E. eds. : Twentieth Century Sociology, Philosophical Library, 1945.

Hoebel, E. A. : Man in the Primitive World : An Introduction to Anthropology, McGraw-Hill. 1949.

Hutton, J. H. : Caste in India, Oxford University Press, 1961.

Inkeles, Alex : What is Sociology ? An Introduction to the Discipline and Profession, Prentice-Hall of India (Private) Ltd., New Delhi, 1965.

Johnson, H. M. : Sociology : A Systematic Introduction, Allied Publishers Private Ltd., New Delhi, 1970.

Koening Samuel : Sociology : An Introduction to the Science of Society, Barnes and Noble Books, New York, 1957.

Kroeber, A. L. ed. : Anthropology Today : An Encyclopaedic Inventory, University of Chicago Press, 1953.

Linton, R. : The Study of Man : An Introduction, Appleton Century, New York, 1936.

Lundberg, G. A., Schrag, C. C. and Larsen O. N. : Sociology, Harper, 1954,

MacIver, R. M. and Page, C. H. : Society : An Introductory Analysis, London, Macmillan & Co. Ltd,, 1962,

Majumdar, D. N. and Madan, T. N. : An Introduction to Social Anthropology, Asia Publishing House, Bombay, 1957.

Mead G. H. : Mind, Self and Society from the stand point of a Social Behaviourist. ed., with Introduction C. W. Morris, University of Chicago Press, 1934.

Merton, R. K. : Social Theory and Social Structure : Towards the Codification of Theory and Research, rev. and enlarged., Free Press, 1957.

Merton, R. K., Broom, L. and Jr. Cottrell, L. S. eds. : Sociology Today : Problems and Prospects, basic books, 1959.

Mills C. W. : Sociological Imagination : 1964.

Murdock, G. P. : Social Structure, Macmillan, 1949.

Parsons, T. : The Structure of Social Action, McGraw-Hill, 1937 (Free Press, ed. 1949).

" : The Social System, Free Press, 1951.

" : Essays in Sociological Theory, rev., ed. Free Press, 1954.

" : Family, Socialization and Introduction Process, Free Press, 1955.

Rrdcliffe-Brown, A. R. : Structure and Function in Primitive Society the Free Press, Glencoe, 1952.

Risley, H. H. : The Peoples of India, 1915.

Sorokin, P. A. : Contemporary Sociological Theorics, Harper and Row, Publishers, New York, 1964.

Srinivas, M. N. : Religion and Society Among the Coorgs South India, Oxford, 1952.

" : Social Change in Modern India, Orient Longman, Bombay, 1972.

Tripathi, B. D. : Nature of Sociological Theories : The Action Approach, Sterling Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 1977.

von Wiese, and Becker, H. : Systematic Sociology on the basis of the Beziehungslehre and Gebildelhre of Lecpold von Wiese, adapted and simplified by H. Becker, Wiley, 1932.

Weinberg, M. Shabat, C. E, : Society and Man, Prentice-Hall, 1956

सिघी एवं गोस्वामी : समाजशास्त्र विवेचन ।
